माध्यमिक विद्यालयों में हिन्दी शिक्षण

निरंजनकुमार सिंह



राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

प्राक्कथन

विश्व विभिन्न भाषाओं तथा संस्कृतियों का रंगस्थल है। यह रंग-बिरंगे फूलों का उपवन है। विविधता ही इसका सौंदर्य है। भाषायें और संस्कृतियाँ प्रदेश विशेष के भूगोल तथा इतिहास की देन है। एक देश या प्रदेश की जलवायु से ही मनुष्य का शरीर और मानस बनता है, उसका रहन-सहन, भाषा-बोली भी जलवायु से प्रभावित होती है। फिर अनेक वर्षों से एक विशिष्ट प्रकार की संस्कृति चलती है, अतः इतिहास का भी बड़ा महत्त्व है। दूसरी ओर मनुष्य की मातृभाषा जीवन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से संस्कृति और इतिहास की परम्परा प्रवहमान होती है। इसके अतिरिक्त मातृभाषा में ही मनुष्य का व्यक्तित्व सर्वांग रूप से निखरता है। अतः सर्वत्र यह स्वीकार किया गया है कि मनुष्य की सारी शिक्षा-दीक्षा, सर्वोच्च स्तर तक भी, उसकी मातृ-भाषा के माध्यम से ही होनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त विश्व का समस्त ज्ञान अनेक भाषाओं में संग्रहीत है और सभी लोग समस्त ज्ञान की प्राप्ति के लिये अनेक भाषाओं का अध्ययन नहीं कर सकते है। ऐसा करने से वे केवल भाषा-विज्ञ ही रह जायेंगे, न कि विषय-विज्ञ। भाषा तो एक साधन मात्र है। अतः यह आवश्यक है कि सभी भाषाओं में लिपिबद्ध ज्ञान सबको शीघ्रता एवं सुलभता से अपनी भाषा में ही उपलब्ध हो, अर्थात् ज्ञान के आदान-प्रदान का माध्यम मातृभाषा हो।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् जब इस दिशा में केन्द्र सरकार के शिक्षा मन्त्रालय ने कार्य करने का विचार किया तो यह तथ्य सामने आया कि माध्यम परिवर्तन के मार्ग में बहुत बड़ा अवरोध है सम्बद्ध भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रन्थों का अभाव, जिसे यथाशीघ्र पूरा किया जाना चाहिये, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये भिन्न-भिन्न राज्यो में अकादमियों/बोर्डों की स्थापना की गई। राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी इस योजना के अन्तर्गत पिछले दस वर्षों से मानक ग्रन्थ प्रकाशन का कार्य कर रही है और अब तक इसने विभिन्न विषयों (कला, वाणिज्य, विज्ञान, कृषि आदि) के लगभग 275 ग्रन्थ प्रकाशित किये है जो विश्वविद्यालय के वरिष्ठ प्राध्यापकों द्वारा लिखे गए हैं।

'माध्यमिक विद्यालयो में हिन्दी शिक्षण' पुस्तक का द्वितीय संशोधित संस्करण प्रकाशित करते हुए हम हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। पुस्तक को यथास्थान आवश्यक संशोधन द्वारा अद्यतन व और अधिक उपादेय बनाने की चेष्टा की गई है। इसमें भाषा-शिक्षण के सामान्य सिद्धान्तों के विवेचन के आधार पर हिन्दी-शिक्षण के सब

पक्षों—यथा वर्तनी, शब्द, वाक्य, व्याकरण आदि का विशद विश्लेषण प्रस्तुत हुआ है, जो निश्चय ही शिक्षा के स्नातक स्तर के छात्राध्यापकों के लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होगा। हम आशा करते हैं कि पाठक इस नये संस्करण का स्वागत करेंगे।

हम इसके लेखक श्री निरंजन कुमार सिंह, नई दिल्ली तथा समीक्षक द्वय श्री रामशक्ल पाण्डेय, आगरा तथा श्री विपिन विहारी वाजपेयी, बीकानेर के प्रति आभारी हैं, जिनके श्रम व सहयोग से पुस्तक प्रस्तुत रूप प्राप्त कर सकी है।

(चन्दनमल वैद)
शिक्षा मन्त्री, राजस्थान सरकार
एवं
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

(डा० पुरुषोत्तम नागर)
निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

आमुख

शिक्षक के लिए अपने विषय का ज्ञान ही पर्याप्त नही है, अपितु शिक्षण कला के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों का मर्मज्ञ होना भी आवश्यक है। अपने विषय से सम्बन्धित शिक्षण सिद्धांतों एवं विधियों के सम्यक् ज्ञान के आधार पर ही वह अपना शिक्षण-कार्य सोद्देश्य, सजीव, रुचिकर, सुग्राह्य एवं प्रभावपूर्ण बना सकता है। अतः भाषा-शिक्षण की ऐसी पुस्तकों की आवश्यकता सदा बनी रहेगी जो शिक्षकों को एक आधार प्रदान कर सकें और जो शिक्षण-कार्य सम्पन्न करने में ही सहायक न हों, वरन् शिक्षकों को इस दिशा में नवीन प्रयोग करते रहने के लिए भी अनुप्राणित एवं अभिप्रेरित करते रहें। प्रस्तुत पुस्तक इसी दिशा में एक प्रयास है।

शिक्षण मूलतः कला है। यह एक नैसर्गिक प्रतिभा है कवि एवं कलाकार की भाँति शिक्षक भी जन्मजात होता है। यह बात भाषा के शिक्षक पर और भी चरितार्थ होती है। अतः कुछ विद्वानों का मत है कि शिक्षण-विधियों, युक्तियो आदि का ज्ञान और प्रशिक्षण भाषा-शिक्षक के लिए आवश्यक नहीं। पर यह धारणा निर्मूल है। जिस प्रकार अन्य कलाओं में पारंगत होने के लिए प्रतिभा के साथ-साथ अध्ययन, प्रशिक्षण, प्रयोग एवं अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार भाषा-शिक्षण में भी इनकी आवश्यकता पडती है जिससे शिक्षक को नई अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो सके और वह अपनी प्रतिभा का दक्षता के साथ उपयोग कर सके। आशा है प्रस्तुत पुस्तक इस दृष्टि से उपयोगी सिद्ध होगी।

भाषा-शिक्षण की स्थिति अन्य विषयों के शिक्षण से कुछ भिन्न भी है। इसका क्षेत्र कहीं अधिक विशद और व्यापक है। वह अन्य विषयों की भाँति एक विषय ही नहीं है बल्कि बालकों के ज्ञानार्जन एवं अनुभव-प्राप्ति का माध्यम है। उनके सांवेगिक, बौद्धिक एवं सांस्कृतिक उत्कर्ष का आधार है। भाषा-शक्ति का अभाव भावात्मक प्रतिरोध, विचार-शून्यता, मानसिक विक्षिप्तता एवं क ात्मक जड़ता का प्रमुख कारण है। अतः भाषा शिक्षण को अधिकाधिक प्रभावशाली बनाने की आवश्यकता है। इस दृष्टि से भाषा-शिक्षण सम्बन्धी विविध विधियों, युक्ति ों, प्रणालियों, नवीन शोधों, प्रयोगों आदि से अवगत होना शिक्षक के लिए आवश्यक है जिससे वह बालको का उचित निर्देशन एवं मार्ग दर्शन कर सके। प्रस्तुत

पुस्तक में भाषा-शिक्षण सम्बन्धी यथासम्भव सभी पहलुओं पर विचार किया गया है जिससे हिन्दी भाषा के शिक्षक (मुख्यतः माध्यमिक विद्यालयों के) सम्मिलित हो सकें और प्रस्तुत सामग्री के आधार पर उपयुक्त विधि एवं दृष्टिकोण अपना सकें।

भाषा-शिक्षण में दो पक्ष स्पष्टतः सामने आते हैं—भाषा की शिक्षा एवं साहित्य की शिक्षा। पर ये दोनों परस्पर संबद्ध एवं अविच्छेद्य है। माध्यमिक स्तर पर साहित्यिक पाठ ही भाषिक तत्त्वों के शिक्षण के भी माध्यम होते हैं। भाषिक तत्त्वों के शिक्षण की दृष्टि से भाषा का शिक्षक एक विज्ञानी है तो साहित्य-शिक्षण की दृष्टि से कलाकार। वस्तुतः इस स्तर पर भाषा-शिक्षण विज्ञान और कला का संगम है। भाषा का ललित, अलंकृत एवं कलात्मक पक्ष एवं प्रयोग ही साहित्य है। मातृभाषा-शिक्षण में माध्यमिक स्तर के प्रारम्भ से ही भाषा का साहित्यिक रूप उभरने लगता है और उत्तरोत्तर उसमें सूक्ष्मता, चित्रोपमता एवं सांकेतिकता बढ़ती जाती है। अतः भाषा का शिक्षक माध्यमिक स्तर पर इन दोनों पक्षों–भाषिक एवं साहित्यिक–का यथोचित ध्यान बनाए रखता है। वह बालकों की भाषा-योग्यताओं की संवृद्धि के साथ-साथ साहित्यिक सौन्दर्य तत्त्वों के बोध एवं रसानुभूति की क्षमता बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक में इन दोनो ही पक्षों की शिक्षण-विधियो एवं प्रक्रियाओ पर विचार किया गया है।

भाषा-शिक्षण की सामान्य पृष्ठभूमि के परिचय के लिए भाषा की परिभाषा, प्रकृति, भाषा सीखने की प्रक्रिया, भाषा के विविध पक्ष, भाषा-अध्ययन सम्बन्धी दृष्टिकोण, शिक्षा में विविध भाषाओं का सापेक्षिक स्थान, मातृभाषा का महत्त्व, मातृभाषा-शिक्षण के उद्देश्य, भाषा-शिक्षण के सामान्य सिद्धांत आदि प्रकरणों का समावेश किया गया है। हिन्दी-भाषिक तत्त्वों के शिक्षण की दृष्टि से उच्चारण, वर्तनी, शब्द, वाक्य रचना एवं व्याकरण-शिक्षण (मुख्यतः व्यावहारिक व्याकरण) पर विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः इन भाषिक तत्त्वों के शिक्षण के लिए साहित्यिक पाठों (विशेषतः गद्य-पाठ) में भी यथेष्ट अवसर मिलता है और शिक्षक को इसका पूरा लाभ उठाना चाहिए।

प्रायः देखा जाता है कि माध्यमिक स्तर पर भाषिक तत्त्वों के शिक्षण की उपेक्षा इसलिए कर दी जाती है कि हिन्दी तो मातृभाषा है और बालक को इसका यथेष्ट ज्ञान स्वतः हो ही जाता है। अतः शिक्षक भी केवल वैचारिक विषय सामग्री एवं साहित्यिक पक्ष की शिक्षा पर ही बल देते हैं और भाषिक तत्त्वों की उपेक्षा कर देते हैं। इस उपेक्षा के कारण ही बालकों की भाषा-योग्यता का स्तर नीचे गिरता जा रहा है। शिक्षकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करने के लिए ही इन प्रकरणों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। पर हिन्दी भाषा-शिक्षकों से यह आशा की

जाती है कि पुस्तक में समाविष्ट सामग्री एवं शिक्षण बिन्दुओं से ही संतुष्ट न होकर वे हिन्दी भाषा एवं व्याकरण सम्बन्धी संदर्भ-ग्रंथों के अनुशीलन द्वारा इस पक्ष को और भी परिपूर्ण बनाने के लिए प्रयत्नशील रहेंगे।

साहित्यिक विधाओं की दृष्टि से गद्य, द्रुतपाठ, कहानी, नाटक, रचना, कविता आदि की शिक्षण विधियो पर विचार किया गया है और प्रत्येक साहित्यिक विधा की प्रकृति एवं शिल्पगत विशेषताओं का ध्यान रखते हुए मान्य शिक्षण-विधियो का उल्लेख किया गया है।

हमारे देश में राष्ट्र भाषा की समस्या अब भी जटिल बनी हुई है और राजनैतिक परिस्थितियाँ उसे दिनोंदिन जटिलतर बनाती जा रही हैं। इस समस्या के प्रति हिन्दी शिक्षकों को विशेष रूप से जागरूक रहते हुए अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करना है जिससे इसके समाधान में वे अपना योग प्रदान कर सकें। इस दृष्टि से "हमारी राष्ट्र भाषा : समस्या एवं समाधान" प्रकरण पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

हिन्दी एक विशाल भूखण्ड की मातृभाषा है और राष्ट्र भाषा होने के कारण अहिन्दी भाषी प्रदेशों में द्वितीय भाषा के रूप में उसकी शिक्षा प्रदान की जाती है। अतः "द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी-शिक्षण" की समस्याओं पर भी विस्तार से विचार किया गया है।

शिक्षण एक गत्यात्मक एवं विकासशील प्रक्रिया है। ज्ञान का सागर अथाह है और ज्ञान विकीर्ण करने की कला अति सूक्ष्म एवं जटिल। अतः शिक्षक को अनवरत अध्येता ही नहीं, वरन् शोधकर्त्ता, अन्वेषणकर्त्ता एवं प्रयोक्ता बने रहना है। इस दृष्टि से 'आधुनिक शिक्षण प्रणालियाँ एवं भाषा-शिक्षण', 'भाषा-शिक्षण एवं शैक्षणिक उपकरण', 'हिन्दी पाठ्यचर्या एवं उसका आलोचनात्मक अध्ययन', 'मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक', 'परीक्षा', 'क्रियात्मक शोध एवं हिन्दी-शिक्षण', 'शैक्षणिक निदान एवं उपचारी शिक्षण', 'इकाई योजना' आदि अध्याय निस्संदेह ही उत्प्रेरक एवं उपादेय सिद्ध होगे।

इस प्रकार पुस्तक को भाषा-शिक्षण सम्बन्धी सभी पहलुओं एवं दृष्टियो से उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है। विश्वास है कि इसमें माध्यमिक विद्यालयो के भाषा-शिक्षकों, प्रशिक्षण महाविद्यालयों के प्रशिक्षकों एवं प्रशिक्षार्थियो तथा अन्य सभी भाषा-शिक्षा अनुरागियो का सैद्धांतिक ज्ञानवर्द्धन ही नहीं होगा, वरन् वास्तविक एवं व्यावहारिक शिक्षण के आधार के रूप मे यह पुस्तक उपादेय सिद्ध होगी।

पुस्तक के प्रणयन में भाषा-शिक्षण सम्बन्धी पुस्तको और विभिन्न शिक्षा-संस्थानो (विशेषतः राजस्थान राज्य शिक्षा संस्थान, उदयपुर; विद्याभवन शिक्षक-

प्रशिक्षण महाविद्यालय, उदयपुर; सेण्ट्रल पेडागाजिकल इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद; राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद, दिल्ली) द्वारा प्रकाशित पुस्तिकाओं एवं प्रतिवेदनों आदि से मुझे यथेष्ट सहायता प्राप्त हुई है। इस सहायता के लिए मैं उन सभी लेखकों और संस्थानों का ऋणी हूँ और उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

मैं 'राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर' का विशेष आभारी हूँ जिसके तत्वावधान में यह पुस्तक प्रणीत और प्रकाशित हो सकी।

पुस्तक के सदासद् पक्ष के निर्णायक तो सुविज्ञ पाठक ही हैं। उनकी सम्मतियों एवं सुझावों का स्वागत करने और तदनुसार उचित सुधार करने के लिए हम सदा ही प्रस्तुत हैं।

निरंजनकुमार सिंह

द्वितीय संस्करण की भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक का द्वितीय संस्करण पाठकों के हाथ में देते हुए हमें हर्ष का अनुभव हो रहा है।

प्रथम संस्करण में पुस्तक का कलेवर बड़ा होने से प्रशिक्षार्थियों ने कुछ कठिनाई का अनुभव किया था। ऐसी प्रतिक्रिया समय-समय पर आती रही है। अतः इस संस्करण में उन अध्यायों को, जिनका सीधा संबंध माध्यमिक विद्यालयों के हिन्दी प्रशिक्षण से नहीं है, जैसे—हमारी राष्ट्रभाषा : समस्या और समाधान, पढ़ने-लिखने की प्रारम्भिक शिक्षा, हटा दिया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ पाठयोजनाओं के उदाहरण भी हटा दिए गए हैं। अन्य अध्यायों में भी यत्र-तत्र सशोधन किए गए हैं, जिनसे पुस्तक का आकार अपने आप कम हो गया है। पर आकार कम करने का तात्पर्य यह कदापि नही है कि हिन्दी शिक्षण से संबंधित आवश्यक विषय सामग्री की कोई क्षति हुई है। विषय सामग्री की यथावत् रक्षा करते हुए भाषा का विस्तार मात्र कम किया गया है।

वस्तुतः इस पुस्तक के प्रणयन में हमारा लक्ष्य केवल यही नहीं था कि विभिन्न विश्वविद्यालयों के बी. एड., एम. एड. पाठ्यचर्या में निर्धारित हिन्दी शिक्षण संबंधी सभी प्रकरणों पर प्रकाश डाला जाए, अपितु यह भी था कि भाषा-शिक्षण संबंधी ऐसी सामग्री भी प्रदान की जाए जिससे प्रशिक्षकों एवं प्रशिक्षार्थियों में एक व्यापक मौलिक दृष्टि का विकास हो सके और यह पुस्तक हिन्दी भाषा शिक्षण पर एक प्रकार से संदर्भ ग्रन्थ के रूप में उपयोगी सिद्ध हो। विगत वर्षों मे यह प्रमाणित भी हुआ है। इस सस्करण में कुछ सामग्री हटाते समय भी हमने इस बात का ध्यान रखा है कि उसकी वह मर्यादा बनी रहे। आशा है, इस रूप में यह पुस्तक विशेष उपयोगी और सुग्राह्य होगी।

—निरंजनकुमार सिंह

विषय-सूची

1
विषय प्रवेश

[भाषा का उद्भव, परिभाषा, प्रकृति एवं सामान्य विशेषताएँ, भाषा सीखने की प्रक्रिया, भाषा के व्यावहारिक रूप, भाषा के आधार-मानसिक, भौतिक, भाषा-अध्ययन सम्बन्धी दृष्टिकोण—भौतिक, समाजशास्त्रीय, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक]

"भाषा के कारण ही मनुष्य मनुष्य है, पर भाषा के आविष्कार के लिए उसका पहले से मनुष्य होना आवश्यक है।"[1] —वॉन हम्बोल्ट

भाषा एक मानवीय कलाकृति है

समस्त प्राणिजगत में केवल मनुष्य को ही भाषा का अमूल्य वरदान प्राप्त है। भाषा प्रकृति का वरदान है अथवा मानवीय कलाकृति अथवा ईश्वर प्रदत्त शक्ति, यह भाषा वैज्ञानिकों के लिए आज तक एक रहस्य अथवा शास्त्रार्थ का विषय बना हुआ है। बहुत दिनों तक भाषा की उत्पत्ति का 'दैवी सिद्धान्त' ही मान्य था जिसके अनुसार भाषा को ईश्वरीय कृति मान लिया गया था। प्राचीन भारतीय विचारक भी मानते थे कि ईश्वर ने ऋषियों को वैदिक भाषा का ज्ञान प्रदान किया। संस्कृत को इसी कारण 'देववाणी' की संज्ञा प्रदान की गई है। पतंजलि ने ईश्वर को ही भाषा का आदि गुरु माना है। मनुस्मृतिकार का कथन है—

"सर्वेषांतु सनामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेद शब्देभ्यः एवादौ पृथक् संस्थांच निर्मने॥"

"दैवी सिद्धांत' से भाषा की उत्पत्ति पर कोई प्रामाणिक प्रकाश नही पड़ता, पर इतना तो सर्वमान्य है कि भाषा के वरदान से ही मनुष्य इतना उन्नत प्राणी बन सका है। मैक्समूलर ने ठीक ही लिखा है कि भाषा यदि प्रकृति की देन है तो निस्सदेह ही वह प्रकृति की अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ रचना है जिसे प्रकृति ने केवल मनुष्य

---

1. "Man is man by means of speech but in order to invent speech, he must be already man."—Von Humboldt.

के लिए ही सुरक्षित कर रखा था। भाषा एक दिव्य, पवित्र वरदान है क्योंकि वह विचारों की जननी है और विचारों की निधि भी।

वैज्ञानिक युग के उदय से भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निराधार अनुमानों एवं कल्पनाओं का अन्त हुआ। डार्विन, हक्सले आदि विचारकों ने कहा कि भाषा ईश्वरप्रदत्त उपहार नहीं है, वह शनैः शनैः ध्वन्यात्मक शब्दों और पशुओं की बोली से उन्नति करके इस दशा को पहुँची है।

आधुनिक भाषाविज्ञान उपलब्ध भाषिक सामग्री के अध्ययन पर बल देता है, भाषा की उत्पत्ति जानने पर नहीं। भाषोत्पत्ति विषयक सिद्धान्तों की मीमांसा मानव विज्ञान, समाज विज्ञान या दर्शन का विषय हो सकता है। अतः भाषा की उत्पत्ति पर विचार करना हमारा अभीष्ट विषय नहीं है। एक भाषा-शिक्षक की दृष्टि से हमारे लिए तो केवल यह जानना अभीष्ट है कि मनुष्य में वे कौनसी विशेष क्षमताएँ हैं जिनके कारण वह भाषा को जन्म दे सका और उसका विकास कर सका।

आधुनिक विज्ञान विशेषतः शरीर विज्ञान एवं मनोविज्ञान की खोजों से यह पता चलता है कि मनुष्य में प्रकृत्या ही वे शारीरिक और मानसिक क्षमताएँ मौजूद हैं जिनके कारण वह उत्तरोत्तर विकास करते हुए भाषा का भी विकास कर सका और भाषा की अमूल्य निधि का स्वामी बन बैठा। इन शारीरिक और मानसिक क्षमताओं के कारण ही मानव-शिशु अनायास ही मातृभाषा सीख लेता है।

कुछ विचारकों का कहना है कि बुद्धि एवं विचार शक्ति के कारण ही मनुष्य भाषा का अधिकारी बन सका है। प्रसिद्ध शरीर-वैज्ञानिक वी० ई० नीगस का कथन है कि "अनेक पशु ऐसी ध्वनियाँ करते हैं जिनसे भाषा का विशाल शब्द-भण्डार बन सकता है पर उनमे मनुष्य की भाँति इस क्षमता से लाभ उठाने की बुद्धि नहीं है। यद्यपि पशु भी परिस्थितियों की उत्तेजना से प्रतिक्रिया रूप में ध्वनि करते है पर अति सीमित रूप मे। नृतत्त्वशास्त्री मेलविल, जेकब्स और वी० जे० स्टर्न ने वनमानुषों के संबंध में लिखा है कि वे अनेक सावेगिक ध्वनियों एवं ध्वनि-संकेतों से काम लेते है, पर अभीष्ट शारीरिक और मानसिक क्षमताओं के अभाव में उनके पास भाषा की शक्ति नही विकसित हो सकी। एक सोवियत लेखक वी० देलोव ने लिखा है कि "एक विशिष्ट मानवीय क्रिया के रूप में भाषा मनुष्य की सूक्ष्म चिंतन-क्षमता के साथ ही उत्पन्न होती है।" दूसरे वैज्ञानिक कोनरादी ने लिखा है कि "भाषा का व्यवहार सूक्ष्म चिंतन क्रिया का परिचायक है।" पर यह सूक्ष्म चिंतन क्रिया कोई या अमूर्त तत्त्व नहीं है। रूस के प्रसिद्ध जीव-वैज्ञानिक, पावलोव ने शरीर-की कसौटी पर मानसिक क्रियाओ की भी परीक्षा की और बताया कि संपूर्ण जगत–वातावरण एवं परिस्थितियाँ, हमारी ज्ञानेन्द्रियों एवं स्नायुमण्डल को ।वित करती हैं। इन्हें हम उत्तेजना कहते है। इन उत्तेजनाओं के संपर्क में आने ९ उससे संबंधित विशेष स्नायविक गति होती है जिसके प्रभाव एवं परिणामस्वरूप

व्यक्ति की प्रतिक्रिया प्रकट होती है। यह स्नायविक प्रतिक्रिया ही चिन्तन क्रिया, ज्ञान एवं बुद्धि का मूलाधार है।

पावलोव के अनुसार वातावरण, वाह्य पदार्थों एवं परिस्थितियों का प्रभाव पशुओं पर भी पडता है और उनमें प्रतिक्रियाएँ भी होती हैं। यह क्रिया प्रथम मूर्त चिन्तन है जो पशु और मनुष्य में सामान्य-सा है। इस मूर्त चिन्तन के अभाव में भापा की रचना असंभव है। पर केवल मूर्त चिन्तन की क्षमता से ही भापा नहीं बन सकती। भाषा के लिए तो मूर्त चिन्तन को ध्वनि-संकेतों में व्यक्त करने की क्षमता आवश्यक है। इन्द्रियों द्वारा गोचर संसार के संपर्क में आना, उत्तेजित होना तो पशुओ में पाया जाता है, पर अपनी प्रतिक्रियाओं को ध्वनि-सकेतों से अभिहित करना केवल मनुष्य का सौभाग्य है, पशुओं का नहीं। इसलिए पावलोव ने भापा को 'द्वितीय संकेत प्रक्रिया' कहा है। प्रथम संकेत प्रक्रिया वह है जिसमें पदार्थ हमारी इंद्रियों द्वारा स्नायुतंत्र से संबंध कायम करते है, फिर द्वितीय सकेत प्रक्रिया वह हुई जिसमें हम उस पदार्थ का नामकरण करते है।

पावलोव की खोजों के अनुसार भापा एक अभिसंधानित उत्तेजक[2] है। जैसे हमारा स्नायुतंत्र वाह्य पदार्थों से संबंध स्थापित करता है, वैसे ही हम इन पदार्थों से कुछ ध्वनियों का संबंध कायम कर लेते है। मांस का टुकडा दिखाने पर कुत्ते के मुँह में पानी आ जाता है। मास उत्तेजक हुआ और मुँह में पानी आना कुत्ते की सहज प्रतिक्रिया हुई। पर यदि मांस देते समय कुछ दिन घंटी वजायी जाए तो कुत्ते का स्नायुतंत्र मांस और घंटी की आवाज मे संवध स्थापित कर लेगा और मास के अभाव में भी नियत समय पर घंटी की आवाज सुनकर कुत्ता समझेगा कि मांस आने वाला है और उसके मुँह में पानी आ जाएगा। यह घटी की आवाज कुत्ते के लिए मांस के समान सहज उत्तेजक नही है। उसे हम अभिसंधानित उत्तेजक कह सकते हैं। भापा इसी प्रकार की एक अभिसधानित उत्तेजक है अर्थात् वस्तु के अभाव में भी उसके प्रतीक ध्वनि-सकेत (भापा) को सुनकर हमारे मन में वही प्रतिक्रिया हो जाती है जो उस वस्तु के उपस्थित होने पर होती। मदारी के शव्दो को सुनकर कार्य करने वाले वन्दर और भालू में यह प्रक्रिया देखी जाती है। मनुष्य ने भी अनेक पदार्थों और कार्यों से कुछ ध्वनियों को सम्बद्ध कर लिया है। ये ध्वनि-संकेत ही भापा की मूल पूँजी बनते है और उनके आधार पर परिस्थितियो एव जीवन-यापन की आवश्यकताओ के अनुसार नई शव्दावली का विकास होता जाता है।

वातावरण और परिस्थितियों से स्नायविक सम्पर्क-स्थापन की क्षमता रहने पर भी अन्य प्राणी भापा की शक्ति से क्यों वंचित रह गए और मनुष्य ही उसके विकास में क्यों समक्ष हो सका, इसका कारण मनुष्य का विशेष शारीरिक एवं

---

2. Conditioned Stimulus.

मानसिक गठन तथा उसका वातावरण एवं जीवनयापन की आवश्यकताएँ हैं। जीव-वैज्ञानिकों का कहना है कि निम्न श्रेणी के पशुओं से भिन्न उच्च श्रेणी के पशुओं में मस्तिष्क एवं इन्द्रियों के बीच दीर्घ सूचना-सूत्र होते हैं। परिवेश में कोई परिवर्तन होते ही इन्द्रियों द्वारा संदेश मस्तिष्क को मिलता है और मस्तिष्क उसका उत्तर कर्मेन्द्रियों को भेजता है। यह सूचना-कार्य स्नायुतंत्र द्वारा होता है। प्राणी के स्नायुतंत्र में जितनी ही अधिक संख्या में स्नायुकोश होते है, उतनी ही अधिक यह क्षमता होती है कि वह बाह्य उत्तेजक पदार्थों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया में परिवर्तन कर सके। साधारण स्नायुतंत्र वाले पशु वातावरण में होने वाली किसी भी क्रिया का उत्तर एक-सा और नपा-तुला देंगे, पर उच्च श्रेणी के स्नायुतंत्र वाले पशुओं की प्रतिक्रिया में बहुत-से परिवर्तन हो सकते हैं। मनुष्य का स्नायुतंत्र सभी प्राणियों से अधिक विकसित है, इसलिए उसकी प्रतिक्रियाओं में विविधता पाई जाती है और सबसे अधिक परिवर्तन देखा जाता है। इसी कारण वातावरण का ज्ञान प्राप्त करने और उसके अनुकूल बनाने में वह सबसे अधिक सक्षम है।

विशेष स्नायुतंत्र की रचना के अतिरिक्त मनुष्य के संग्राहक कोष[3] भी निम्न-कोटि के जीवों की तरह शरीर की समूची सतह पर बिखरे हुए न होकर निश्चित क्षेत्रों में केन्द्रित रहते है और इस कारण मनुष्य को कार्य-सम्पादन की विशेष क्षमता प्राप्त हो जाती है। इसी कारण इन्द्रिय-ज्ञान में मनुष्य सभी पशुओं से बढ़कर है। अपने इस विशेष शारीरिक गठन के कारण मनुष्य विविध ध्वनियों में अंतर करने और ध्वनि-संकेतों को बदलने में अन्य पशुओं से अधिक समर्थ है। मुख-विवर के संकुचन एवं प्रसार की क्षमता के कारण मनुष्य अनेक प्रकार की ध्वनियाँ करने में सफल होता है। मनुष्य का कंठपिधान[4] कोमल तालु से अलग रहता है, सामान्य पशुओं की भाँति जुड़ा नहीं होता। इस अलगाव के कारण मनुष्य स्वर एवं व्यंजनो के रूप में अनेक स्पष्ट एवं सुनिश्चित ध्वनियाँ निकालने में समर्थ होता है।

मनुष्य की भाषा-सामर्थ्य का सबसे बड़ा कारण उसके मस्तिष्क की रचना है। "मानव-मस्तिष्क में देखने, सुनने, बोलने, हाथ-पैर चलाने के विशेष केन्द्र स्थल होते हैं, जो निम्न श्रेणी के जीवों में नहीं होते। शब्दों के उच्चारण के लिए मनुष्य अपने ध्वनि-यन्त्रों का इच्छानुसार संचालन कर सकता है। इस संचालन-सामर्थ्य का सम्बन्ध मानव-मस्तिष्क के इन विशेष केन्द्र-स्थलों[5] से है। इसी कारण कभी-कभी सिर में चोट लगने पर मनुष्य के बोलने की क्षमता नष्ट हो जाती है। कभी-कभी मनुष्य जिह्वा और ओठ हिला सकता है, पर घोष-यंत्र का संचालन नहीं कर पाता।

---

3. रिसेप्टर सेल्स
4. एपिग्लॉटिस
5. लोकॅलाइजेशन

जिन अवयवों से हम ध्वनि करते हैं, उनकी गति इस बात पर निर्भर है कि मस्तिष्क मे ऐसे केन्द्र स्थल है या नहीं जो उनका संचालन कर सकें। जिन प्राणियों में ये केन्द्र-स्थल नही है, वे समझदार प्राणी रहने पर भी ध्वनि करने में असमर्थ रहते हैं, जैसे कुत्ता, हाथी, बन्दर आदि। पर जिन प्राणियों में ये केन्द्र स्थल है, वे समझदार न रहने पर भी कुछ ध्वनि करने में समर्थ हो जाते है, जैसे तोता। अतः भाषा-रचना में मस्तिष्क के इन विशेष संचालन-केन्द्रों का महत्त्व अधिक है जिनसे शारीरिक अवयव ध्वनि उत्पन्न करते है। मानव-मस्तिष्क इस दृष्टि से सर्वाधिक विकसित है।

मस्तिष्क की ही भाँति मनुष्य का घोष-यंत्र भी सभी प्राणियों से अधिक विकसित है। उसके कपाट-वलन की रचना ऐसी है कि उसकी आवाज तीखी न होकर स्वर में आरोह-अवरोह वाली होती है और उसके प्रवाह में यथेष्ट परिवर्तन किया जा सकता है। फिर मनुष्य की श्वासनली और पसलियों की बनावट ऐसी होती है कि अन्य पशुओं की अपेक्षा वह वायु-निष्कासन पर अधिक नियंत्रण कर सकता है। मनुष्य का गल-प्रतिस्वनक[6] भी उसकी अपनी विशेषता है। उसका घोष-यन्त्र गर्दन में धँसा होता है। उसका कंठपिधान कोमल तालु से अलग होता है। इस कारण मनुष्य के पास विशद गलगुहा होती है। ध्वनि करने के समय गलगुहा के आकार में काफी परिवर्तन संभव होता है। शारीरिक गठन तथा घोष-यंत्र की इन्ही सब विशेषताओं के कारण मनुष्य अन्य पशुओं की अपेक्षा अधिक और भिन्न कोटि की ध्वनियाँ कर सका। अन्य पशुओं के समान उसने भी ध्वनि-संकेतों से काम लेना शुरू किया। अन्य प्राणी उपयुक्त शारीरिक एवं मानसिक गठन के अभाव मे अति-सीमित मात्रा मे ही ध्वनि उत्पन्न कर सके, पर मनुष्य उपर्युक्त शारीरिक एवं मानसिक गठन की विशेषताओं के कारण ध्वनियों की बहुलता से नए-नए ध्वनि-संकेत निश्चित करता गया। जैसे-जैसे वातावरण के विभिन्न पदार्थों से उसका परिचय बढा, वैसे-वैसे उनके लिए ध्वनि-संकेत भी बढ़ते गए और मनुष्य की भाषा का विकास होता गया।

भाषा की दृष्टि से आवश्यक उपर्युक्त शारीरिक एवं मानसिक गठन में दोष या न्यूनता होने के कारण ही हम अनेक बालकों में भाषा-शक्ति का अभाव या न्यूनता भी पाते हैं। वागिन्द्रियों के दोष के कारण अनेक बालकों में उच्चारण-दोष, हकलाना, रुक-रुककर बोलना तथा अन्य प्रकार के भाषा संबंधी दोष पाए जाते है। चक्षु एवं श्रवण दोष के कारण भी बालक की भाषा-शक्ति का विकास अवरुद्ध हो जाता है। अतः जिस बालक में इस प्रकार के दोष हों, उनका उपचार अवश्य होना चाहिए। स्वस्थ शारीरिक एवं मानसिक गठन अभीप्सित भाषा-विकास की दृष्टि से आवश्यक है।

---

6. फेरिंगियल रिजोनेटर

भाषा की परिभाषा

सामान्य दृष्टि से "भाषा वह साधन है जिसके द्वारा एक प्राणी दूसरे प्राणी पर अपने विचार, भाव या इच्छा प्रकट करता है।" इस दृष्टि से भावाभिव्यक्ति के समस्त साधन—आंगिक या इंगित भाषा, जैसे हाथ या सिर द्वारा संकेत, भ्रूविकार या भावव्यंजक मुखमुद्राएँ, चिह्न-भाषा जैसे स्काउटों, सैनिकों या नाविको द्वारा झण्डों के संकेत आदि—सभी भाषा के अन्तर्गत आ सकते है। यही नही, पशु-पक्षी की ध्वनियाँ भी भाषा मानी जा सकती हैं। पक्षी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों मे भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनियाँ करते है और उनका समुदाय इन ध्वनि-संकेतो को समझ लेता है। आहार, मैथुन, युयुत्सा, संतान-रक्षा, यूथ-सपर्क आदि के लिए पशुओं को ध्वनि-संकेतों का प्रयोग करते हुए देखा जाता है। प्रसिद्ध आखेटक जिम कार्बेट ने लिखा है कि प्रत्येक जाति के पशुओ की अपनी भाषा होती है, इस भाषा को अन्य जातियों के पशु भी समझ लेते है और जंगल में रहकर मनुष्य भी पशुओ के ध्वनि-संकेतों के सहारे उनकी गतिविधि का पता लगा सकते हैं।

उपर्युक्त संकेतों को हम भाषा कह सकते है, पर भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से वे साधन अत्यन्त अपूर्ण एवं अस्पष्ट सिद्ध होते है। अतः इन्हे भाषा की संज्ञा नहीं दी जाती। मनुष्य अपने भावों, विचारो एवं अनुभूतियों को भलीभाँति केवल ध्वनि-संकेतो के माध्यम से ही प्रकट कर सकता है। अतः मनुष्य के ध्वनि-अवयवों से निःसृत ध्वनियाँ ही भाषा के अन्तर्गत आती है। इतना ही नही, बल्कि ये ध्वनियाँ सार्थक होनी चाहिए जिससे उनका विश्लेषण और अध्ययन हो सके। निरर्थक ध्वनियाँ भाषा के अन्तर्गत नही आती। यहाँ तक कि शोक, विस्मय एवं हर्ष व्यंजक सांवेगिक ध्वनियो पर भी भाषा की दृष्टि से विचार नहीं किया जाता। इस दृष्टि से कुछ भाषाविदो द्वारा प्रस्तुत भाषा की परिभाषाएँ नीचे लिखी जा रही है :—

स्वीट—"ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों का प्रकटीकरण ही भाषा है।"

जेस्पर्सन—"मनुष्य ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा अपना विचार प्रकट करता है। मानव-मस्तिष्क वस्तुतः विचार प्रकट करने के लिए ऐसे शब्दो का निरन्तर प्रयोग करता है। इस प्रकार के कार्यकलाप को ही भाषा की संज्ञा दी जाती है।"

वान्द्रिए—"भाषा एक प्रकार का चिह्न है। चिह्न से तात्पर्य उन प्रतीको से है जिनके द्वारा मनुष्य अपना विचार दूसरों पर प्रकट करता है। ये प्रतीक भी कई प्रकार के होते है, जैसे नेत्रग्राह्य, श्रोत्रग्राह्य एवं स्पर्शग्राह्य। वस्तुतः भाषा की दृष्टि से श्रोत्रग्राह्य प्रतीक ही सर्वश्रेष्ठ है।"

सुकुमार सेन—"अर्थवान् कण्ठोद्गीर्ण ध्वनि-समष्टि ही भाषा है।"

क्रोंचे—"भाषा अभिव्यक्ति की दृष्टि से उच्चरित एवं सीमित ध्वनियो का संगठन है।"

इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में भाषा की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

"भाषा यादृच्छिक मौखिक प्रतीकों की व्यवस्था है, जिसके द्वारा मनुष्य समाज एवं संस्कृति के सदस्य होने के नाते परस्पर विचारों एवं कार्यों का आदान-प्रदान करते है।"[7] इस परिभाषा में भाषा की प्रकृति एवं उसकी उपयोगिता का भी समावेश हो जाता है।

डॉ. भोलानाथ तिवारी ने भाषा में अन्तर्भूत सभी लक्षणों का ध्यान रखते हुए निम्नांकित परिभाषा प्रस्तुत की है :—

"भाषा निश्चित प्रयत्न के फलस्वरूप मनुष्य के मुख से निःसृत वह सार्थक ध्वनि समष्टि है, जिसका विश्लेषण और अध्ययन हो सके।"

भाषा की प्रकृति

ब्लाक तथा ट्रेगर ने भाषा की प्रकृति की दृष्टि से भाषा की जो परिभाषा प्रस्तुत की है वह बहुत कुछ इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में दी गई परिभाषा के ही समान है। इस परिभाषा से भाषा की प्रकृति सम्बन्धी विशेषताएँ स्वतः स्पष्ट हो जाती हैं। उनके अनुसार "भाषा यादृच्छिक मौखिक प्रतीकों की व्यवस्था है जिसके द्वारा उस भाषायी समुदाय के लोग परस्पर विचारों का आदान-प्रदान एवं सहयोग करते हैं।"[8]

इस परिभाषा में भाषा संबंधी पाँच बातें स्पष्ट हैं—

1. भाषा एक **व्यवस्था** है।
2. भाषा **प्रतीकों** की व्यवस्था है।
3. ये प्रतीक **मौखिक** अथवा **वाचिक** हैं।
4. ये प्रतीक **यादृच्छिक** है।
5. भाषा **सामाजिक क्रियाकलाप** का साधन है।

इन पाँच बातों में प्रथम चार का संबंध भाषा की रचना एव उसमें अंतर्भूत तत्त्वों से है और पाँचवी बात का संबंध भाषा की व्यावहारिक उपयोगिता एवं उसके महत्त्व से है। भाषा-शिक्षण की दृष्टि से इन पर पृथक्-पृथक् विचार कर लेना अधिक समीचीन होगा।

1. भाषा एक व्यवस्था है—किसी भी भाषा के स्वरूप पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि भाषा एक व्यवस्था है, वह एक संघटन है। अपनी प्रार-

---

7. "Language may be defined as an arbitrary system of vocal symbols by means of which human being, as members of social group and *participants in culture intract* and communicate."
8. "A language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which a social group cooperates."—Outline of Linguistic Analysis by Block and Trager.

म्भिक अवस्था में भाषा अपेक्षाकृत कुछ अव्यवस्थित रही होगी किन्तु उत्तरोत्तर विकास करती हुई वह अधिकाधिक व्यवस्थित और नियमित होती जा रही है।

भाषा के विधायक तत्त्वों अथवा उसके विविध अवयवों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि भाषा एक व्यवस्था है। "वह क्रमोच्चारित विभिन्न ध्वनियों की शृंखलाबद्ध रचना है।" भाषा की इस प्रकृति को हम संक्षेप में इस प्रकार समझ सकते हैं—

(i) भाषा का मूल तत्त्व ध्वनि है। प्रत्येक भाषा में कुछ मूल ध्वनियाँ मान्य हैं और उन ध्वनियों की भी एक मान्य व्यवस्था है, जैसे स्वर, व्यंजन संयुक्त स्वर और व्यंजन, ध्वनियों के उच्चरित एवं लिखित रूप आदि। (ii) किन्तु ये ध्वनियाँ ही भाषा नही है। पृथक्-पृथक् ध्वनि का कोई अर्थ नही। कुछ ध्वनियाँ मिलकर जब शब्द का निर्माण करती है तब वे सार्थक सिद्ध होती है क्योंकि शब्द ही किसी वस्तु, भाव या विचार का प्रतीक होता है। फिर शब्द के रूप, रचना, अर्थ एवं प्रयोग की भी एक व्यवस्था बन जाती है। (iii) किन्तु एकाकी शब्द से भी हमारा आशय नहीं प्रकट होता और स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए अनेक शब्दो को मिलाकर वाक्य का निर्माण करना होता है। प्रत्येक भाषा में वाक्य-संरचना या गठन की अपनी व्यवस्था है। हिन्दी वाक्य-रचना में शब्दों का जो क्रम है वह अंग्रेजी वाक्य-रचना में नही है। (iv) भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से वाक्य यद्यपि भाषा की इकाई माना जाता है पर जब वाक्य से पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाती तो अनेक वाक्यों को मिलाकर अनुच्छेद का निर्माण करना पड़ता है और एक या अनेक अनुच्छेदों से हम अपना पूरा आशय प्रकट करते है। इस प्रकार भाषा का आकार या ढाँचा वृहत् रूप धारण करता जाता है। यह आकार या ढाँचा ही भाषा की व्यवस्था का परिचायक है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि भाषा विभिन्न पदों का क्रमबद्ध रूप है जिसमें पद परस्पर अन्वय और संबंध से युक्त रहते है। ध्वनि, शब्द, पद और पदबंध, वाक्यांश, वाक्य और अनुच्छेद इन स्तरों पर भाषा की संरचना फैली रहती है। इसी कारण भाषा को 34 व्यवस्थाओं की व्यवस्था (System of systems) कहा जाता है। कुछ भाषाशास्त्रियों ने व्यवस्था के अन्तर्गत व्यवस्था के आधार पर भाषा को "परस्पर संबद्ध अवयवो से युक्त संश्लिष्ट व्यवस्था" भी कहा है।[9] ये परस्पर संबद्ध अवयव ध्वनि, शब्द, पदबन्ध, वाक्याश, वाक्य आदि ही हैं। भाषा के शब्दों से अर्थबोध होता है। शब्दात्मक संरचना में अर्थ संरचना निहित रहती है। इसलिए भाषा को व्यवस्थाओं का संयुक्त रूप (इंटरलाक्ड) कहा जाता है।

---

9. "Language is a complet whole consisting of interrelated parts."

भाषा शिक्षण में हमें भाषा के इस संरचनात्मक या व्यवस्था पक्ष का भली-भाँति ध्यान रखना चाहिए और उसके विविध अवयवों में से किसी की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए अन्यथा भाषा की कुशलता पूर्णतः प्राप्त नहीं हो पाती।

2. भाषा प्रतीकों की व्यवस्था है—शब्दों से भाषा का निर्माण होता है और ये शब्द किसी पदार्थ, भाव, विचार, अनुभूति आदि के ध्वन्यात्मक संकेत या प्रतीक है। हम कह सकते है कि किसी वस्तु या विचार को प्रकट करने के लिए उनके प्रतीक रूप से शब्द का प्रयोग किया जाता है। फिर परम्परागत प्रचलन के कारण शब्द और तद्निहित अर्थ (तत्संबंधी वस्तु, भाव या विचार) इतने संपृक्त हो जाते हैं कि शब्द (प्रतीक) मात्र को सुनते ही तत्संबंधी वस्तु, भाव या विचार का प्रत्यक्षीकरण हमारे मनस्पटल पर हो जाता है। इन प्रतीकों के अभाव में सृष्टि के किसी भी पदार्थ गोचर या अगोचर, जड़ या चेतन, का प्रत्यक्षीकरण संभव नही। "देखिये रूप नाम अधीना, रूप ज्ञान नाहिं नाम विहीना" में तुलसीदास ने 'नाम' का प्रयोग इन शब्द-प्रतीकों के लिए ही किया है। ये प्रतीक किसी न किसी वस्तु के नामकरण ही तो हैं जिनके माध्यम से एक व्यक्ति अपनी उत्तेजना को दूसरे व्यक्ति में संचारित करके प्रतिक्रिया उत्पन्न करने में समर्थ होता है। इन प्रतीकों को ही क्रमायोजित करके हम अपना आशय प्रकट करते है, अतः भाषा को प्रतीकों की व्यवस्था कहा गया है।

3. ये प्रतीक मौखिक हैं—जिन प्रतीकों से भाषा का निर्माण होता है, मूलतः वे मौखिक प्रतीक हैं। ये प्रतीक मनुष्य के मुख से निसृत ध्वनिसमूहों से निर्मित होते है। प्रतीक तीन प्रकार के हो सकते हैं—स्पर्शग्राह्य (चोरों का परस्पर हाथ दबाकर संकेत करना, ताली बजाना आदि), चक्षुग्राह्य (चित्र, झंडा, ट्रैफिक लाइट, सिगनल आदि), और श्रोत्रग्राह्य। पर केवल श्रोत्रग्राह्य प्रतीक अर्थात् मनुष्य के उच्चारणावयवों से निसृत ध्वनि-समष्टि को ही भाषा की संज्ञा प्रदान की जाती है। इसलिए ढोल पीटना, बिगुल बजाना, घंटा बजाना, साइरन की सीटी आदि ध्वनियाँ श्रव्य होते हुए भी भाषा के अन्तर्गत नही मानी जाती। इसी प्रकार सांवेगिक ध्वनियाँ जैसे कराहना, रुदन-क्रंदन, हर्ष-विस्मय आदि का भी कोई प्रतीकात्मक मूल्य नही है क्योंकि वे स्वयं से बाहर किसी वस्तु या विचार के प्रतीक नही।

भाषा के लिखित रूप मौखिक प्रतीकों का ही प्रतिनिधित्व करते है। यह लिखित रूप पुनः पठन एवं श्रवण प्रक्रिया के द्वारा मौखिक एवं श्रोत्रग्राह्य बन जाता है। फिर संसार में अनेक भाषाएँ ऐसी हैं जिनका केवल मौखिक रूप है, लिखित रूप नहीं। अतः भाषा का उच्चरित रूप ही उसका मूल रूप है। वस्तुतः 'भाषा' शब्द स्वतः मनुष्य की वाचिक भाषा का ही द्योतक है। भाषा विज्ञान मे भी मुख्यतः वाचिक भाषा का ही अध्ययन और विश्लेषण होता है। अतः भाषा निश्चित रूप से उच्चारण सापेक्ष है।

4. भाषायी प्रतीक यादृच्छिक हैं—भाषा में प्रयुक्त प्रतीक (शब्द) सार्थक तो होते हैं पर उनसे बोधित वस्तु, भाव या विचार (अर्थ) से उनका कोई सहजात या ईश्वरीय संबंध नहीं होता। यह संबंध यादृच्छिक या माना हुआ होता है। शब्द और अर्थ में कोई तर्कसंगत संबंध नहीं है। पर यह सही है कि शब्द और अर्थ का संबंध तर्क और विवेक पर आधारित न होने पर भी प्रयोग, व्यवहार एवं दीर्घ-कालीन प्रचलन के कारण इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि वह सहजात या स्वाभाविक लगने लगता है। वस्तुतः भाषा के प्रतीक या ध्वनि-संकेत रूढ़-अर्थ विशेष में प्रसिद्ध होते है। यह रूढ़ि परंपरागत प्रचलन से बन जाती है फिर शब्द और अर्थ का रूढ़ अर्थ हम बिना तर्क या कारण मानते चलते हैं। तभी तो तुलसीदास ने "गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न" लिखा है। पर यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि शब्द और अर्थ का संबंध यादृच्छिक ही है। यह संबंध यदि सहजात, स्वाभाविक या तर्कसम्मत होता तो सभी भाषाओं में एक वस्तु, भाव या विचार के लिए एक ही प्रतीक (शब्द) का प्रयोग होता। पर ऐसा नहीं है। एक ही पशु के लिए विभिन्न भाषाओं में विभिन्न शब्द हैं। कुत्ते सारे संसार में प्रायः एक-सा भौंकते हैं या घोड़े एक-सा हिनहिनाते है पर कुत्ते के भौंकने और घोड़े के हिनहिनाने के लिए भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न ध्वनि-संकेतों का प्रचलन है। यदि ये प्रतीक (शब्द) किसी विशिष्ट अर्थ के लिए माने हुए अथवा यादृच्छिक नहीं होते तो संसार की सभी भाषाएँ प्रायः एक-सी होतीं।

5. भाषा समाज सापेक्ष है—भाषा एक सामाजिक प्रक्रिया है। समाज में ही उसका उद्भव, पल्लवन और विकास होता है। यद्यपि समाजशास्त्रियों में आज भी यह विवाद बना हुआ है कि सामाजिक विचार-विनिमय की आवश्यकता ने भाषा को जन्म दिया अथवा भाषा की उत्पत्ति ने समाज-निर्माण का पथ प्रशस्त किया। शायद दोनों ही विचार सही हैं। पर इतना तो निर्विवाद है कि व्यक्ति समाज से ही भाषा सीखता है और भाषा द्वारा ही वह समाज से संबंध स्थापित करता है। अतः सामाजिक सहयोग का आधार भाषा ही है।

भाषा की और सामान्य विशेषताएँ

भाषा की प्रकृति संबंधी उपर्युक्त विशेषताओं के साथ-साथ भाषा की कतिपय और भी सामान्य विशेषताएँ विचारणीय हैं क्योंकि उनका ध्यान रखकर ही हम भाषा-शिक्षण को अधिक तर्कसम्मत, वैज्ञानिक और प्रभावपूर्ण बना सकते हैं। संक्षेप में ये विशेषताएँ निम्नांकित हैं :—

1. भाषा अर्जित सम्पत्ति है, पैतृक नहीं—मानव-शिशु माँ के उदर से कोई भाषा सीखकर नहीं आता, बल्कि जिन भाषा-भाषियों के बीच उसका जन्म होता है, उसका पालन-पोषण होता है और जो भाषा उसे सुनने को मिलती है, वही भाषा वह सीख लेता है। वह अपने पारिवारिक एवं सामाजिक वातावरण से ही भाषा

सीखता है। भाषा सीखने की यह प्रक्रिया इतनी साहजिक और अनायास रूप में होती है कि लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि शिशु अपने माता-पिता से उत्तराधिकार रूप में उनकी भाषा भी प्राप्त कर लेता है। पर यह मिथ्या धारणा है। यदि हिन्दी भाषी प्रदेश के शिशु को पैदा होने के बाद ही किसी अन्य भाषा-भाषी क्षेत्र में भेज दिया जाए तो वह हिन्दी न अर्जित कर उसी अन्य भाषा को ही अर्जित कर लेगा। यदि शिशु को मानव-समुदाय से ही अलग रखा जाए तो वह कोई भाषा नहीं सीख पाएगा। अतः बालक जिस समुदाय में रहता है, उस समुदाय की भाषा को ही वह अर्जित करता है।

2. भाषा आद्यन्त सामाजिक प्रक्रिया है—यह लिखा जा चुका है कि भाषा एक सामाजिक क्रिया है। भाषा का जन्म और विकास, अर्जन और प्रयोग सब कुछ समाज सापेक्ष है। यहाँ तक कि हम अकेले में जिस भाषा के माध्यम से सोचते है वह भी समाज सापेक्ष है। मनुष्य स्वतः सामाजिक प्राणी है और भाषा उसकी ही कृति है। *अतः भाषा पूर्णतः एवं आद्यन्त समाज की ही वस्तु है।*

3. भाषा अनुकरणजन्य प्रक्रिया है—भाषा हम अनुकरण द्वारा सीखते हैं। शिशु माता-पिता, भाई-बहन आदि से भाषा का व्यवहार सुन-सुनकर स्वयं कहने का प्रयास करता है। प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू के शब्दों में अनुकरण मनुष्य का सबसे बड़ा स्वभाविक गुण है। भाषा सीखने में मनुष्य इसी गुण का उपयोग करता है।

4. भाषा परम्परागत है, व्यक्ति उसका अर्जन कर सकता है, उत्पन्न नहीं कर सकता—भाषा परम्परा से चली आ रही है। व्यक्ति उस परम्परागत भाषा का ही समाज में रहकर अर्जन करता है। व्यक्ति भाषा को जन्म नहीं दे सकता पर प्रचलित भाषा को अर्जित कर उसके विकास में योग दे सकता है। भाषा का अस्तित्व तो समाज और परम्परा से ही सम्भव है।

5. भाषा सतत परिवर्तनशील प्रक्रिया है—अनुकरण द्वारा ही हम भाषा सीखते हैं और यह प्रक्रिया ही भाषा की परिवर्तनशीलता का या दूसरे शब्दों में विकासशीलता का एक प्रमुख कारण है। अनुकरण की कला मे बहुत सिद्धहस्त होने पर भी किसी वस्तु का पूर्ण एवं अविकृत अनुकरण होना सम्भव नही। अनुकृत वस्तु मूल से कुछ न कुछ भिन्न होगी ही। अनुकरणीय व्यक्ति से अनुकरणकर्ता के शारीरिक और मानसिक गठन की भिन्नता ही अनुकरण की क्रिया में भिन्नता ला देती है और भाषा में परिवर्तन होता जाता है। इस अनुकरण के अतिरिक्त प्रयोग से घिसने तथा बाह्य प्रभाओं जैसे अन्य भाषा-भाषियों के सम्पर्क एवं उनकी भाषाओं के प्रभाव से भी भाषा में परिवर्तन होता है।

भाषायी परिवर्तन ध्वनियों, शब्दों, पदबन्धों एवं वाक्य-रचनाओं आदि सभी स्तरों पर हो सकते हैं पर यह परिवर्तन इतने परोक्ष रूप से और इतने शनैः शनैः होते हैं कि उनका पता तत्काल नही चलता। आज के हिन्दी शब्दभण्डार तथा

उसकी संरचनाओं की तुलना यदि हम सौ-दोसौ वर्ष पूर्व की हिन्दी से करें तो अपने-आप इस परिवर्तन को देख सकते हैं। भाषा के शिक्षक को भाषा के इन परिवर्तनों तथा नव्यागत प्रयोगों के प्रति सदा ही जागरूक रहना चाहिए और शिक्षण के समय यथाप्रसंग उनका परिचय छात्रों को भी देना चाहिए।

6. भाषा का कोई अन्तिम रूप नहीं—भाषा की सतत परिवर्तनशीलता ही तथा तथ्य का परिचायक है कि उसका कोई अन्तिम रूप नहीं है। जो भाषाएँ बोलचाल में नहीं है, जिन्हें हम मृतभाषाएँ कहते हैं, उनका तो अन्तिम रूप निश्चित है, पर जीवित भाषाओं में तो परिवर्तन अवश्यम्भावी है। बोलचाल की भाषा यथावत् नहीं रह सकती, उसका विकास होता रहता है। उसकी अभिव्यक्ति के रूप और प्रकार बदलते रहते हैं। जीवंत भाषा का यही लक्षण है।

7. प्रत्येक भाषा की संरचना दूसरी भाषा से भिन्न होती है—किन्हीं दो भाषाओं की संरचना पूर्णतः एक समान नहीं होती। ध्वनि, शब्द रूप, वाक्य, अर्थ आदि दृष्टियों से किसी एक या अनेक स्तरों पर एक भाषा का ढाँचा दूसरी भाषा के ढाँचे से भिन्न होगा ही। यह भिन्नता ही एक भाषा को दूसरे से पृथक् कर देती है या विशिष्टता प्रदान कर देती है। इस विशिष्टता को न मानने या उस पर ध्यान न देने के कारण ही हम 'अन्य भाषा' सीखते समय अपनी भाषा के रूपों में आरोपित कर देते है। किसी भी भाषा की शिक्षा देते समय शिक्षक को यह मानकर चलना चाहिए कि वह भाषा अन्य भाषाओं से पृथक्, अपने में पूर्ण एवं स्वतन्त्र भाषा है।

8. भाषा स्वभावतः कठिनता से सरलता की ओर प्रवाहित होती है—भाषाओं के विकास पर यदि हम दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा कठिनता से सरलता की ओर प्रवाहित होती है। यह मानव-स्वभाव है कि वह कम से कम प्रयत्न मे अधिक से अधिक उपलब्धि चाहता है और इस स्वभाव के अनुसार वह भाषा के प्रयोग में भी सरलता की ओर उन्मुख रहता है। विकासक्रम में यह सरलता ध्वनियों के उच्चारण, शब्द एवं पद रचना, अर्थव्यंजना आदि सभी क्षेत्रों में परिलक्षित होती है। मुहावरों एवं सूक्तियों का प्रयोग इसी दृष्टि से प्रचलित होता है जिससे कम से कम शब्दो में अधिकाधिक आशय प्रकट हो सके।

9. भाषा स्थूल से सूक्ष्म एवं अपरिपक्वता से परिपक्वता की ओर विकसित होती है—भाषा अपनी प्रारम्भिक अवस्था में स्थूल वस्तुओं, घटनाओं आदि की अभिव्यक्ति में ही सक्षम रहती है पर उत्तरोत्तर सूक्ष्म भावों, विचारों एवं अनुभूतियों के प्रकाशन में भी समर्थ होती जाती है। प्रारम्भिक अवस्था में भाषा का शब्दभण्डार कम रहता है और उसका संरचनात्मक गठन भी शिथिल रहता है। पर जीवनयापन की आवश्यकताओं एवं ज्ञान-संवृद्धि के साथ-साथ शब्द-भण्डार में वृद्धि होती जाती है, भाषा की संरचना भी अधिकाधिक गठित, नियमित और परिष्कृत होती जाती है और भाषा के प्रयोग में परिपक्वता आती जाती है।

10. भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर विकसित होती है—आधुनिक भाषाओं के इतिहास एवं क्रमोत्तर विकास के शास्त्रीय अध्ययन से सिद्ध होता है कि भाषा संयोग से वियोग की ओर अग्रसर होती है। संयोगावस्था का अर्थ है शब्दांशों या शब्दों का संयुक्त रूप। उदाहरणतः संस्कृत संयोगावस्था की भाषा है क्योंकि उसमें क्रियाएँ संयुक्त रूप में प्रयुक्त होती है और विभक्ति भी शब्द में ही संयुक्त रहती है। हिन्दी में विभक्ति शब्द से वियुक्त हो गई है। क्रिया का रूप भी वियुक्त अवस्था मे है। 'गच्छति' (संयोगावस्था) का रूप हिन्दी में 'जाता है' वियोगावस्था का उदाहरण है।

11. प्रत्येक भाषा का एक मानक रूप होता है—भाषा के प्रयोग में हम अनेक विभिन्नताएँ पाते हैं। विशेषतः एक विशाल भूखण्ड में प्रयुक्त होने वाली भाषा के प्रयोग में भिन्नताएँ आ जाना और भी स्वाभाविक है। हिन्दी एक विशाल भूखण्ड में प्रचलित भाषा है और इस कारण विभिन्न भागों में उसकी ध्वनियों के उच्चारण, शब्द एवं रूप-रचना तथा अनुतान[10] में ही नहीं, वल्कि वाक्य-संरचनाओं से भी अन्तर पाया जाता है। किन्तु भाषा शिक्षण की दृष्टि से यह विशेष रूप से ध्यान देने की बात है कि भाषा का एक मानक रूप होता है और हमें सदा इस मानक रूप का ही प्रयोग करना चाहिए। स्थानीय उपभाषाओं के प्रयोग के कारण ही उपर्युक्त अन्तर पाया जाता है, अतः हिन्दी की शिक्षा प्रदान करते समय उन स्थानीय प्रभावों एवं अन्तरों को दूर करने तथा मानक रूप का प्रयोग करने का आग्रह ही अपेक्षित है।

भाषा सीखने की प्रक्रिया

प्रत्येक मनुष्य अपनी बाल्यावस्था में कम से कम एक भाषा (मातृभाषा) तो सीख ही लेता है जिसका वह जीवनभर प्रयोग करता है। वह उस भाषा की नवीन सामग्री, प्रयोगों और विकासशील रूपों से भी निरन्तर परिचत होता चलता है और इस कारण उसकी भाषा की क्षमता भी विकसित होती चलती है। भाषा सीखने की यह प्रक्रिया चाहे शैशवावस्था हो या बाद की अवस्था हो, मूलतः एक ही है और वह है भाषा सुनने और बोलने का अवसर। बालक को यदि अपने परिवेश की भाषा सुनने तथा सुने हुए ध्वनि-संकेतों को उच्चरित करने का पर्याप्त अवसर मिलता है तो वह भाषा सीख लेता है। वस्तुतः भाषा सीखने का सर्वप्रमुख साधन है—सीखी जाने वाली भाषा के बोलने वालो के बीच रहना, उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा को सुनना, उस भाषा का अनुकरण करना अर्थात् स्वयं बोलना। लेनार्ड ब्लूमफील्ड ने अपनी पुस्तक 'आउटलाइन गाइड फार दी प्रैक्टिकल स्टडी ऑफ फारेन लैंग्वेजेज' में भाषा सीखने की इस प्रक्रिया पर विस्तार से प्रकाश डाला है। संक्षेप में उसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं—

---

10. इन्टोनेशन

भाषा सीखने की कोई विशिष्ट प्रतिभा जैसी बात नहीं है जो किसी में विद्यमान होती है और किसी में नही होती। भाषा सीखने के लिए सामान्य बुद्धि की आवश्यकता होती है जो सभी बालकों को प्रायः प्रकृतिप्रदत्त रूप में सुलभ होती है। भाषा सीखने का सर्वप्रमुख स्रोत है उस भाषा के मूल प्रयोक्ताओं (नेटिव्ह स्पीकर्स) के बीच रहना, उस भाषा को सुनना और बोलना। प्रत्येक व्यक्ति जो गूंगा, बहरा और जड़ बुद्धि का नहीं है, पांच वर्ष का होते-होते अपनी मातृभाषा सीख लेता है चाहे वह भाषा अन्य भाषा-भाषियों के लिए कितनी ही जटिल क्यों न हो। सभी को अपनी मातृभाषा बड़ी सरल और सहज लगती है और इसका सबसे बड़ा कारण यही है कि उसके सीखने की प्रक्रिया बड़ी साहजिक होती है। इस साहजिक प्रक्रिया द्वारा यदि हम अन्य भाषा सीखें तो उसका अर्जन भी सरल हो जाए अर्थात् उस भाषा के मूल प्रयोक्ताओ से भाषा सुनने और बोलने का अवसर मिले।

भाषा एक आदत है और भाषा सीखना आदत-निर्माण की प्रक्रिया है। आदत डालने की प्रक्रिया में निम्नांकित चरणों पर हम विचार कर सकते है :—

1. ध्वनि संकेतों को सुनना और पहचानना—बालक घर में तथा पास-पड़ौस मे लोगों के मुख से निसृत ध्वनि-संकेतों को सुनता है और उनकी पहचान करने लगता है। पहले वह ध्वनियों को पहचानता है और फिर तत्सम्बन्धी अर्थ (वस्तु, कार्य, विचार आदि) भी जानने का प्रयत्न करता है। भाषा सीखने का यह प्रथम चरण है। इस स्तर पर बालक को यदि शुद्ध मानक भाषा को सुनने का अवसर मिलता है तो भाषा सम्बन्धी अच्छी आदत की नींव पड़ती है।

2. अनुकरण करना—बालक सुनी हुई भाषा का अनुकरण करता है। वह ध्वनि-संकेतों को पहचानता ही नही अपितु विभिन्न ध्वनियों का अन्तर भी समझने लगता है और तदनुसार उनका उच्चारण करने लगता है। प्रारम्भ में वह उन ध्वनि-संकेतों का अर्थ भली-भांति नही जानता, पर उन्हें बोलने का प्रयास करता है और धीरे-धीरे अर्थ भी जानने लगता है।

3. आवृत्ति—बालक को पुनः पुनः बोलने का अभ्यास कराना चाहिए। वस्तुतः बालक प्रयत्न और त्रुटि के सिद्धांत द्वारा ही भाषा भी सीखता है। उसका प्रारम्भिक उच्चारण अशुद्ध होता है पर वह बार-बार प्रयत्न करके उसे शुद्ध करता है। वाक्य रचना संबंधी त्रुटियाँ भी होती रहती है पर वह शुद्धता का प्रयास करता रहता है। अतः कथन, पुनर्कथन, भाषा-प्रयोग की आवृत्ति आदि भाषा सीखने के लिए आवश्यक साधन हैं।

4. विविधता—आवृत्ति के साथ-साथ भाषा संबंधी प्रयोगों एवं अभ्यासो में विविधता भी लानी चाहिए जिससे बालक विभिन्न ध्वनि-संकेतो एवं तद्निहित अर्थों तथा प्रयोग संबंधी विभिन्नताओं की पहचान कर सके। इसके द्वारा ही उसकी भाषा की शक्ति का क्रमोत्तर विकास होता है।

5. चयन—भाषा की कुछ क्षमता हो जाने पर बालक में यह योग्यता भी विकसित होनी चाहिए कि वह यथाप्रसंग एवं यथा अवसर उपयुक्त भाषा-सामग्री का चयन और प्रयोग कर सके। विविध प्रकार के भाषा संबंधी अभ्यास इस दृष्टि से आवश्यक है।

भाषा की आदत बनने की प्रक्रिया में ये अवस्थाएँ विशेष महत्त्व रखती हैं पर यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि ये अवस्थाएँ एक दूसरे से पृथक् और उत्तरोत्तर विकास की अवस्थाएँ न होकर परस्पर संबद्ध एवं पूरक अवस्थाएँ है। भाषा शिक्षक के लिए आवश्यक है कि वह इन अवस्थाओं का महत्त्व समझते हुए इनका यथोचित प्रयोग करे।

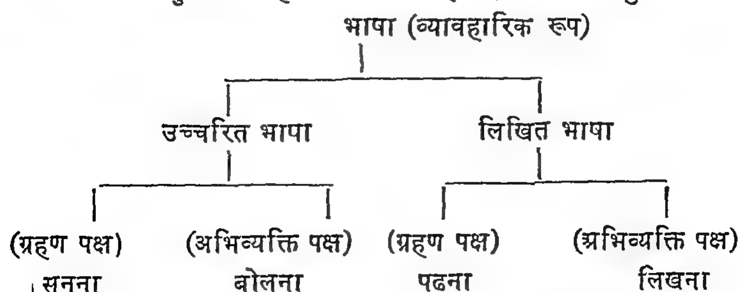
भाषा के व्यावहारिक रूप

व्यवहार की दृष्टि से भाषा के दो रूप है—(1) उच्चरित रूप और (2) लिखित रूप।

उच्चरित रूप में भाषा का जो व्यवहार होता है, उसके भी दो पक्ष है—**ग्रहण पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष**, जिन्हें हम **सुनना और बोलना** कहते हैं। उच्चरित भाषा की सूक्ष्मतम इकाई **ध्वनि** होती है। संसार की प्रत्येक भाषा की अपनी कुछ विशिष्ट ध्वनियाँ होती है। हिन्दी की भी अपनी ध्वनियाँ हैं जिनके आधार पर उसका पूर्ण स्वरूप निर्मित हुआ है।

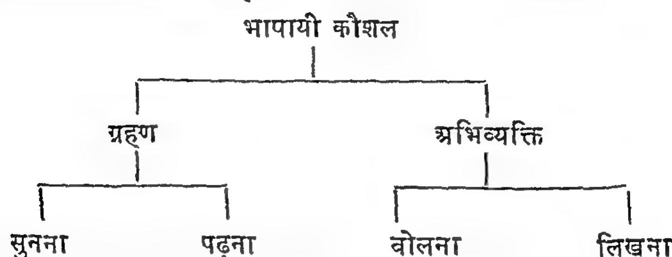
लिखित रूप में भाषा का जो व्यवहार होता है, उसके भी दो पक्ष है—**ग्रहण और अभिव्यक्ति** जिन्हें हम **पढ़ना और लिखना** कहते हैं। लिखित भाषा की अंतिम इकाई **वर्ण** है जो उस भाषा की प्रत्येक ध्वनि को लिखित रूप में व्यक्त करने के लिए चिह्न या प्रतीक रूप में प्रयुक्त होता है। सभी वर्णों के समूह को **वर्णमाला** कहते है। जिस रूप में इन वर्णों को लिखा जाता है उसे **लिपि** कहते हैं। भाषा के लिखित रूप का विकास उसके उच्चरित रूप के बहुत दिनों बाद हुआ होगा। पर आज भाषा एवं साहित्य को स्थायी रूप से अक्षुण्ण बनाए रखने की दृष्टि से लिखित भाषा का महत्त्व बढ़ गया है।

भाषा के उपर्युक्त व्यावहारिक रूपों को हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—



प्रयोग या व्यवहार की दृष्टि से भाषा के इन रूपों—सुनना, बोलना, पढ़ना

और लिखना–को ही भाषा के चार मूल कौशलों[11] से अभिहित किया जाता है। इनकी दक्षता प्रदान करना भाषा शिक्षण का मुख्य उद्देश्य है। विचारों के आदान-प्रदान की दृष्टि से इन कौशलों को हम ग्रहण और अभिव्यक्ति दो रूपों में विभक्त करते है। पुनः अभिव्यक्ति पक्ष को दो रूपो—बोलना और लिखना, तथा ग्रहण पक्ष को दो रूपों–सुनना और पढ़ना–में विभक्त किया जाता है। इस दृष्टि से भाषायी कौशलों के चार रूप निम्नलिखित है :—

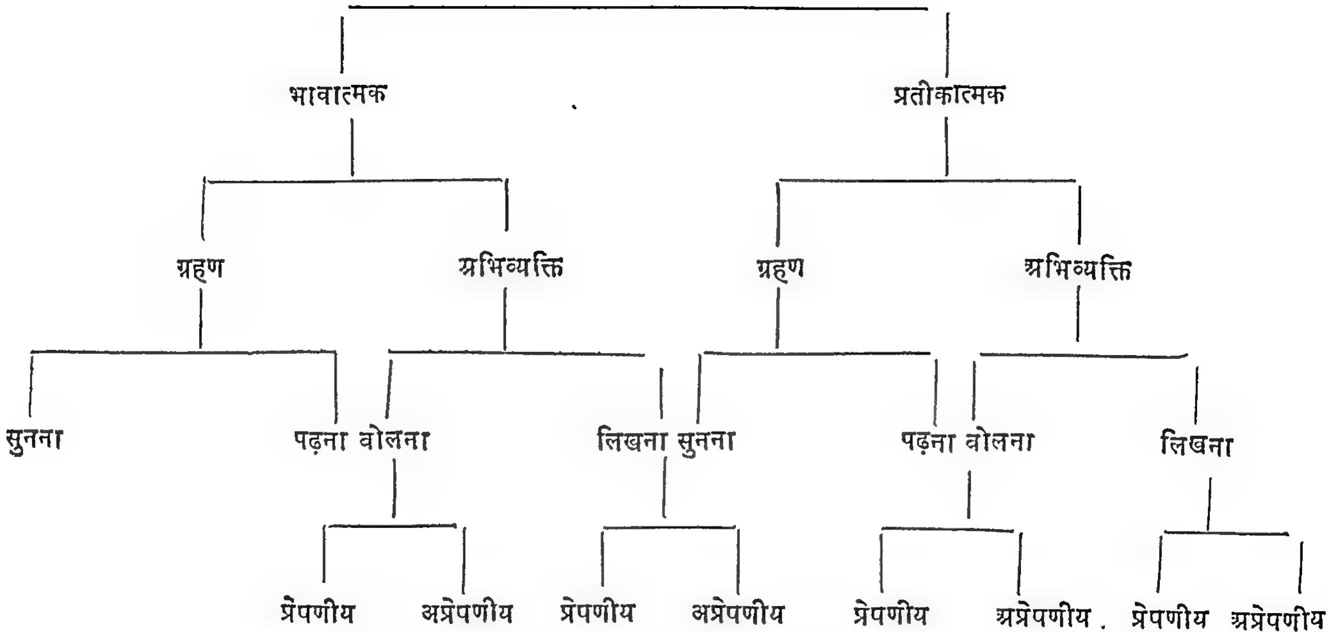


भाषा के उपर्युक्त कौशल भाषा के मूर्त्त या प्रत्यक्ष रूप हैं। ये हमारी चेतन प्रक्रिया के ही रूप है किन्तु भाषा का प्रवाह यहीं तक सीमित नही है, वह तो हमारे भीतर अचेतन प्रक्रिया के रूप में भी चलती रहती है। सोचना और स्वप्न देखना भी भाषा ही के माध्यम से होता है। जागरण ही नही, सुषुप्ति और तुरीयावस्था मे भी भाषा चलती रहती है। मनुष्य भाषा विहीन जीवन बिता नही सकता। एक लेखक के शब्दों मे "हम निरंतर भाषा के प्रवाह में ही जीते है। यह कहना एक ही बात है कि मनुष्य भाषा काम में लाता है या भाषा मनुष्य को काम में लाती है।" इस दृष्टि से भाषा के व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही रूप है। विद्वानों ने इस दृष्टि से भी भाषा के रूप पर विचार किया है। इस सदर्भ में ओग्डेन और रिचार्ड्स द्वारा वर्णित भाषा के रूपों का उल्लेख किया जा सकता है। उन्होंने भाषा के दो भाग किये है—भावात्मक (इवोकेटिव्ह) और प्रतीकात्मक (सिम्बॉलिक)। भावात्मक भाषा हमारे भावों एवं संवेगों की भाषा है और प्रतीकात्मक भाषा बौद्धिक विचारों एवं चिन्तन प्रधान भाषा है। इन दोनों ही भाषाओं के उपर्युक्त दो पक्ष ग्रहण एवं अभिव्यक्ति हैं जिनके पुनः दो दो रूप–सुनना और पढना तथा बोलना और लिखना है। बोलने और लिखने के भी दो रूप हैं—(1) व्यक्त या मुखर रूप जिसका उद्देश्य दूसरों तक अपनी बातें पहुँचाना है। (2) अव्यक्त या अप्रेपणीय रूप जिसे व्यक्ति अपने तक सीमित रखना चाहता है, जैसे मन ही मन सोचना, संकल्प करना आदि। इसी प्रकार लिखने मे भी निजी डायरी, रूपरेखा तैयार करना आदि अप्रेपणीय रूप हैं।

भाषा के इन रूपों को हम अगले पृष्ठ पर प्रदत्त रेखाचित्र द्वारा समझ सकते हैं[12]—

---

11. Primary skills of language.
12. माइकेल वेस्ट–'लैंग्वेज इन एजुकेशन' से उद्धृत


भाषा
भावात्मक
प्रतीकात्मक
ग्रहण
अभिव्यक्ति
ग्रहण
अभिव्यक्ति
सुनना
पढ़ना बोलना
लिखना सुनना
पढ़ना बोलना
लिखना
प्रेषणीय
अप्रेषणीय
प्रेषणीय
अप्रेषणीय
प्रेषणीय
अप्रेषणीय
प्रेषणीय
अप्रेषणीय

भाषा के आधार

भावों एवं विचारों को जब हम व्यक्त करते हैं तब भाषा का मुखर रूप हमारे सामने आता है किन्तु भावों एवं विचारों का उद्रेक एक विशिष्ट मानसिक क्रिया का द्योतक है, इसके बिना मुखर भाषा का कोई अस्तित्व नहीं है। विचार ही भाषा की आत्मा है। "इस आत्मा का शरीर रूप ही भाषा है।" (लैंग्वेज इज दि गारमेण्ट ऑफ थॉट)। इस दृष्टि से भाषा के दो आधार माने जाते हैं—

(1) मानसिक आधार और (2) भौतिक आधार।

1. **मानसिक आधार**—वह मानसिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम सोचते हैं, सुनते है, पढ़ते हैं और लिखते है। भावों और विचारों का उद्रेक और बोलने की प्रेरणा मानसिक व्यापार है।

2. **भौतिक आधार**—उद्रिक्त भावों और विचारों को प्रकट करने के लिए जिन ध्वनि-संकेतों से हम काम लेते है, वही भाषा के भौतिक आधार है। वागिन्द्रियाँ, आँख, नाक, कान, हाथ आदि शारीरिक अवयव भी जिनसे बोलने, सुनने, पढ़ने और लिखने में सहायता मिलती हैं, भाषा के भौतिक आधार है।

मानसिक और भौतिक आधारों से ही भाषा का स्फुरण होता है। इसे 'पाणिनीय शिक्षा' में बड़े सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया गया है[13]

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कामाग्निमाहन्ति सं प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यमिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः॥

—बुद्धि के साथ आत्मा अर्थों (वस्तुओं) को देखकर बोलने की इच्छा से मन को प्रेरित करती है; मन शारीरिक शक्ति पर दबाव डालता है जिससे वायु में प्रेरणा उत्पन्न होती है; प्रेरित वायु (श्वासवायु) फेफड़े में चलती हुई कोमल ध्वनि को उत्पन्न करती है फिर, बाहर की ओर जाकर और मुख के ऊपरी भाग से अवरुद्ध होकर वह वायु मुख में पहुँचती है और पंचधा विभक्त ध्वनियों को उत्पन्न करती है।

मानसिक प्रत्यय ध्वनि के रूप में कैसे अभिव्यक्त होता है, यह उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है। आत्मा से व्यक्ति का चेतना-पक्ष, बुद्धि से ज्ञान-पक्ष, मन से प्रेरणा-पक्ष, वायु के संचरण, निर्गमन और अवरोध से शरीर-पक्ष, निर्दिष्ट है। यह चेतना-पक्ष, ज्ञान-पक्ष और प्रेरणा-पक्ष मन के व्यापार हैं और इसलिए ये भाषा के मानसिक आधार हैं। इनके अतिरिक्त शरीर पक्ष उसका भौतिक आधार है। वाणी की उत्पत्ति के लिए चेतना, बुद्धि, मन और शारीरिक अवयव ये चारों आवश्यक हैं। जिस प्राणी में इन चारों में से किसी एक या अनेक का अभाव है, वह भाषा विहीन प्राणी है।

---

13. देवेन्द्रनाथ शर्मा कृत 'भाषा विज्ञान की भूमिका' से उद्धृत।

मनुष्य ही एक मात्र ऐसा प्राणी है जिसमें ये चारों पक्ष पूर्ण रूप से विद्यमान है और इसीलिए भापा की दृष्टि से वह सर्वश्रेष्ठ प्राणी है।

भाषा-अध्ययन सम्बन्धी कतिपय दृष्टिकोण

भापा इतना व्यापक विपय है कि उसका अध्ययन अनेक दृष्टिकोण से किया जाता है। ये दृष्टिकोण भापा की व्यापकता के साथ-साथ उसकी प्रकृति सम्बन्धी विविधता पर भी प्रकाश डालते हैं। इन दृष्टिकोणों का अति संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

1. भौतिक दृष्टिकोण—इस दृष्टि से भापा मनुष्य के मुख से निसृत ध्वनि-संकेतों का समूह है और इसी रूप में उसका अध्ययन अपेक्षित है। जीव वैज्ञानिको ने भापा के उद्भव और विकास का श्रेय मनुष्य की विशिष्ट शारीरिक एवं मानसिक रचना और क्षमता को ही दिया है। अतः भापा के अध्ययन के लिए शरीर रचना (वागिन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ) स्नायुमण्डल और मानसिक प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है। शारीरिक एवं मानसिक भिन्नता के कारण ही दो व्यक्तियों की भापा एक समान नही होती।

2. समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण—समाजशास्त्रीय विद्वान भापा को एक सामाजिक क्रिया मानते हैं। मनुष्य एकाकी जीवन नही व्यतीत कर सकता। यह प्रकृत्या सामाजिक प्राणी है। प्रत्येक मनुष्य एक या अधिक समाज का सदस्य होता ही है और वह अपने समस्त सामाजिक कार्यों के लिए भापा पर निर्भर है। विना भाषा के मानव-समाज का विचार ही कल्पनातीत है। सामाजिक रचना एवं समाज में विचार-विनिमय की आवश्यकता ने भापा को जन्म दिया। इसी कारण विभिन्न स्थानों एवं कालों में उत्पन्न भापाओं में भिन्नता पाई जाती है क्योंकि वहाँ के तत्कालीन समाज विशेप ने कुछ विशिष्ट ध्वनियो को मान्यता प्रदान की और उनके आधार पर वस्तुओं का नामकरण हुआ। धीरे-धीरे सामाजिक जीवनयापन की आवश्यकताओं से विभिन्न देश-काल गत समुदायों ने अपनी-अपनी भापा-ध्वनि, शव्द, वाक्य आदि का विकास किया। इस कारण समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण सामाजिक क्रिया के रूप में भापा के अध्ययन पर वल देता है।

3. सांस्कृतिक दृष्टिकोण—इस दृष्टिकोण के अनुसार भापा एक सास्कृतिक वस्तु है जो हमे परम्परा से प्राप्त होती है। इसीलिए हमें अपनी संस्कृति से जितना अनुराग होता है उतना ही अनुराग अपनी भाषा से भी होता है। अपने सांस्कृतिक विकास और ह्रास के साथ-साथ अपनी भापा और साहित्य मे भी विकास और ह्रास के चिह्न देखे जाते है। निस्सन्देह ही भापा और संस्कृति का वहुत प्रगाढ़ सम्वन्ध है। व्लाक और ट्रेगर के अनुसार भापा एक सास्कृतिक तत्त्व ही है। "समाज के क्रिया कलापों से ही संस्कृति का निर्माण होता है। नृतत्त्व विज्ञानियो ने संस्कृति के दो रूप

माने हैं—भौतिक संस्कृति और अभौतिक संस्कृति (मेटीरियल तथा नान मेटीरियल कल्चर)। भौतिक संस्कृति के अन्तर्गत भौतिक जीवन के व्यापार भोजन, वस्त्र, आवास, अर्थ व्यवस्था, उद्योग-धन्धे शामिल है जबकि अभौतिक संस्कृति के अन्तर्गत सामाजिक संस्थाओं का संगठन, धर्म, कानून, परम्परागत आदतें, शिष्टाचार और भाषा आदि शामिल है। भाषा भी परम्परागत आदत (कन्वेंशनलाइज्ड हैविट) है। भौतिक संस्कृति का अध्ययन तो भौतिक पदार्थो को देखकर किया जा सकता है पर अभौतिक संस्कृति का अध्ययन केवल यह समझकर हो सकता है कि उस समाज के सदस्य क्या कहते हैं और तदनुसार क्या आचरण करते है। यहाँ तक कि भौतिक संस्कृति का भी अध्ययन इस वात पर निर्भर है कि भौतिक पदार्थों एवं क्रिया-व्यापारो के नाम क्या हैं ? इस दृष्टि से भाषा संस्कृति के भौतिक एवं अभौतिक दोनों रूपों से सम्वन्धित है। अतः भाषा सस्कृति का तत्त्व मात्र नही है, अपितु समस्त सांस्कृतिक क्रिया-कलापों का आधार है और इस कारण किसी भी समाज की विशेषताओ के अध्ययन के लिए उस समाज की भाषा का अध्ययन आवश्यक है।"[14]

संस्कृति के अध्येताओं के लिए भाषा का क्या महत्त्व है, इसे लेनार्ड ब्लूमफील्ड ने और भी स्पष्ट किया है। "भाषा की क्रिया ही प्रत्येक समुदाय के निर्माण का आधार है। भाषा सामाजिक क्रिया-कलापों के समझने में सर्वाधिक प्रत्यक्ष अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है और उनको सम्पन्न कराने में महत्त्वपूर्ण योग भी देती है। किसी भी मानव समुदाय को भली-भाँति परखने के लिए हमें उसकी भाषा का समझना आत्यावश्यक है। यदि हम किसी समुदाय की जीवन पद्धति, और उसके ऐतिहासिक उद्गम का गहराई से अध्ययन करना चाहते है तो हमे उसकी भाषा का व्यवस्थित विवरण प्राप्त करना चाहिए। मानव जाति के सम्वन्ध मे कुछ भी जानने के लिए विभिन्न समुदायों की भाषाओं का ज्ञान अवश्य अपेक्षित है। मनुष्य के सम्वन्ध में जो थोड़ा-वहुत ज्ञान हमें हुआ है, वह भाषाओं के अध्ययन का ही परिणाम है। विना इस ज्ञान के हम इस सम्वन्ध में केवल अन्धविश्वास, पूर्वाग्रह, एवं कल्पित सत्य के ही शिकार वने रह जाते हैं।[15]

---

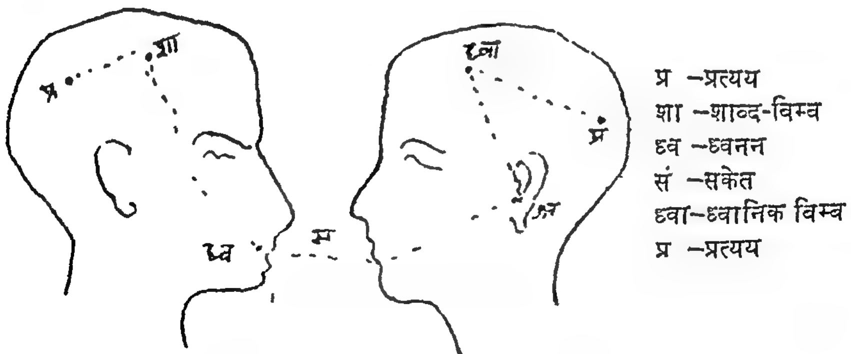
14. ब्लाक एण्ड ट्रेगर—'आउटलाइन ऑफ लिंग्विस्टिक अनेलिसिस्,' पृ. 5

15 "Each community is formed by the activity of language, speech utterances give us the most direct insight into its workings and play a part in everything that is done. In order to observe a human group, we must understand its speech. If we want to probe deeper into the ways of the community and their historical origin, we must possess, to begin with, a systematic discription, of its language. In order to know anything about mankind, we must study in this way a varied set of communities. What little we know about man has come from study of this kind. Without such knowledge, we are slaves, in this matter, to rationalisation, prejudice and superstition.

लेनार्ड ब्लूमफील्ड—"सिलॉसॉफिकल ऐस्पेक्ट्स ऑफ लैंग्वेज; स्टडिज इन दि हिस्ट्री ऑफ कल्चर"।

4. मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण—इस दृष्टिकोण के अनुसार भाषा का सम्वन्ध हमारी मानसिक प्रक्रिया से है। भाषा एक मानसिक व्यापार है। किसी उत्तेजना के फलस्वरूप हमारे मन में उत्पन्न प्रतिक्रिया जब ध्वनि रूप में प्रस्फुरित होती है तभी भाषा का जन्म होता है। भाषा एक प्रकार से उत्तेजना—प्रतिक्रिया—ध्वनन प्रक्रिया की ही शृंखला है। यही नहीं, वल्कि वाणी द्वारा एक व्यक्ति का मानसिक प्रत्यय दूसरे व्यक्ति के मन में उत्पन्न हो जाता है। भावो एवं विचारों का संप्रेषण इसी रूप में होता है। "भाषा अन्य प्रकार से असम्वद्ध स्नायु मण्डलों (विभिन्न व्यक्तियों) में सम्वन्ध स्थापित करती है और उसके द्वारा एक व्यक्ति को उद्वेलित करने वाली उत्तेजना दूसरे व्यक्ति में प्रभावपूर्ण प्रतिक्रिया भी उत्पन्न कर सकती है।" वक्ता के मन का प्रत्यय शब्द-प्रतीकों के माध्यम से श्रोता के मन का प्रत्यय वनता है। इस प्रक्रिया को देवेन्द्रनाथ शर्मा ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

एक व्यक्ति के मन का प्रत्यय शाब्द-विम्व (संकेत) का रूप ग्रहण करता है; वाद में वह शाब्द-विम्व ध्वनन के रूप में परिणत होता है; फिर श्रवण के द्वारा ध्वनन ध्वानिक विम्व का रूप ग्रहण कर श्रोता के मन मे प्रत्यय (संकेत) उत्पन्न करता है। इस तरह प्रत्यय—शाब्द विम्व—ध्वनन—ध्वानिक विम्व प्रत्यय का क्रम वक्ता और श्रोता में अनवरत चलता रहता है। वक्ता और श्रोता के प्रत्यय में सामान्याधिकरण्य ला देना अर्थात् उन्हें समान मनोवैज्ञानिक तल पर स्थापित कर देने में ही भाषा की उपयोगिता है। एक व्यक्ति का मानसिक प्रत्यय दूसरे व्यक्ति के मन में ठीक उसी प्रकार कैसे उत्पन्न होता है, यह निम्नांकित चित्र में देखा जा सकता है।[16]



वक्ता एवं श्रोता का सम्वन्ध

इस प्रत्यय और विम्व का सम्वन्ध मनोविज्ञान से है और इस रूप में भाषा का अध्ययन ही मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है।

---

16. देवेन्द्रनाथ शर्मा—भाषा विज्ञान की भूमिका, पृ. 23–24

सारांश

केवल मनुष्य ही भाषा की सम्पत्ति का अधिकारी है। भाषा एक मानवीय कलाकृति है और इसका कारण है मनुष्य की विशिष्ट शारीरिक एवं मानसिक रचना। विशेष प्रकार के स्नायुतन्त्र, वाक् अवयव या घोष यन्त्र, मस्तिष्क एवं संग्राहक कोश की रचना के कारण मनुष्य विविध प्रकार की ध्वनियों को उत्पन्न करने में समर्थ है और इन ध्वनियों के आधार पर भाषा का विकास करने में वह समर्थ हुआ।

परिभाषा—"भाषा निश्चिय प्रयत्न के फलस्वरूप मनुष्य के मुख से निसृत वह सार्थक ध्वनि समष्टि है, जिसका विश्लेषण और अध्ययन हो सके।"

भाषा की प्रकृति—"भाषा यादृच्छिक मौखिक प्रतीकों की व्यवस्था है जिसके द्वारा उस भाषायी समुदाय के लोग परस्पर विचारों का आदान-प्रदान एवं सहयोग करते हैं।" इस परिभाषा के आधार पर हम भाषा की प्रकृति समझ सकते हैं—

1. भाषा एक **व्यवस्था** है। 2. वह **प्रतीकों** की व्यवस्था है। 3. ये प्रतीक **मौखिक** हैं। 4. प्रतीक **यादृच्छिक** हैं।

सामान्य विशेषतायें—भाषा अर्जित सम्पत्ति है, वह आद्यन्त सामाजिक प्रक्रिया है, वह अनुकरण जन्य प्रक्रिया है, वह परम्परागत है, वह सतत परिवर्तनशील है, उसका कोई अन्तिम रूप नहीं है, प्रत्येक भाषा की संरचना दूसरी भाषा से भिन्न होती है, भाषा कठिनता से सरलता की ओर प्रवाहित होती है, स्थूल से सूक्ष्म और अपरिपक्वता से परिपक्वता की ओर विकसित होती है, वह संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर विकसित होती है, प्रत्येक भाषा का एक मानक रूप होता है।

भाषा सीखने की प्रक्रिया—भाषा सीखने का सर्वप्रमुख स्रोत है उस भाषा के मूल प्रयोक्ताओं के बीच रहना, उस भाषा को सुनना और बोलना। भाषा एक आदत है और इस आदत-निर्माण की प्रक्रिया में प्रमुख चरण हैं—ध्वनि संकेतों को सुनना और पहचानना, अनुकरण करना, आवृत्ति एवं अभ्यास, विविधता और चयन। ये चरण या अवस्थाएँ परस्पर सम्बद्ध एवं पूरक अवस्थाएँ हैं।

भाषा के व्यावहारिक रूप हैं—उच्चरित एवं लिखित भाषा, जिनके ग्रहण एवं अभिव्यक्ति पक्ष की दृष्टि से सुनना, पढ़ना बोलना और लिखना, चार कौशल भाषा के मुख्य रूप हैं।

भाषा के आधार—भौतिक एवं मानसिक आधार।

भाषा का अध्ययन—भौतिक, समाजशास्त्रीय, सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों से भाषा का अध्ययन किया गया है जो भाषा की प्रकृति एवं प्रक्रिया की व्यापकता और विविधता के ही परिचायक हैं।

प्रश्न

1. केवल मनुष्य को ही भाषा का सौभाग्य क्यों प्राप्त है ? आधुनिक वैज्ञानिकों का मत स्पष्ट कीजिए।
2. भाषा की प्रकृति पर प्रकाश डालिए और अपने विचारों की सप्रमाण पुष्टि कीजिए।
3. भाषा की सामान्य विशेषताएँ एवं प्रवृत्तियाँ क्या हैं ?
4. भाषायी कौशलों से आप क्या तात्पर्य समझते हैं ? मानव जीवन में उनका महत्त्व प्रतिपादित कीजिए।
5. भाषा का अध्ययन किन दृष्टिकोणों से किया जा रहा है और उनसे भाषा का क्या महत्त्व प्रकट होता है।

2
शिक्षा में विविध भाषाओं का स्थान और महत्त्व

[शिक्षा की दृष्टि से विविध भाषाओं का महत्त्व—(1) प्राचीन अथवा संस्कृति भाषा, भारत की संस्कृति भाषा—संस्कृत का महत्त्व; (2) मातृभाषा का स्थान और महत्त्व; (3) राष्ट्रभाषा या राजभाषा का महत्त्व, राष्ट्रभाषा की शिक्षा की आवश्यकता; (4) विदेशी भाषा; विद्यालयीय, शिक्षा में उपर्युक्त भाषाओं का सापेक्षिक महत्त्व, भाषा-शिक्षा-समस्या का मूल कारण, प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तर पर मातृभाषा की अनिवार्य शिक्षा, भाषा के सम्बन्ध में विविध आयोगों एवं समितियों के सुझाव तथा समाधान, त्रिभाषा सूत्र का प्रवर्त्तन]

"इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरा संसारं न दीप्यते ।"—दण्डी—काव्यादर्श

—"यदि सृष्टि में शब्द की ज्योति प्रदीप्त न होती तो यह त्रिभुवन घोर अन्धकार में निमग्न हो जाता ।"

उपर्युक्त कथन से ही भाषा अथवा भाषाओं का महत्त्व स्पष्ट है । आज के वैज्ञानिक एवं औद्योगिक युग में मनुष्य के लिए केवल अपने भाषा-भाषियों के बीच रहकर जीवन व्यतीत करना असम्भव-सा है । उसे अनेक अन्य भाषा-भाषियों के बीच रहना ही पड़ता है और उनसे सम्पर्क-स्थापन के लिए उन भाषाओं को सीखना पड़ता है । भारत जैसे बहुभाषी देश में अपनी-मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाएँ सीखना और भी आवश्यक है । यही नहीं, अपितु, आज के अन्तर्राष्ट्रीय युग में विश्व के अन्य राष्ट्रों से सम्पर्क-स्थापन के लिए विदेशी भाषाओं का अध्ययन भी आवश्यक है । इस कारण हमारी शिक्षा की एक बड़ी समस्या यह है कि किस स्तर पर किन-किन भाषाओं की शिक्षा प्रदान की जाए । इस दृष्टि से अनेक सुझाव दिए जाते है पर शिक्षाशास्त्रियों ने निम्नांकित चार भाषाओं पर विशेष बल दिया है :—

(1) प्राचीन भाषा अथवा संस्कृति-भाषा (2) मातृभाषा (3) राष्ट्र भाषा या राजभाषा (4) विदेशी भाषा या अन्तर्राष्ट्रीय भाषा ।

1. प्राचीन अथवा संस्कृति भाषा

जिस भाषा में राष्ट्र का प्राचीन साहित्य सुरक्षित हो और जिसके अध्ययन से

तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन, ज्ञान-विज्ञान, कला, शिल्प आदि का परिचय मिल सके, उस भाषा को हम प्राचीन अथवा 'संस्कृति भाषा' कह सकते हैं। भारत की यह भाषा संस्कृत है और यूरोप में ग्रीक और लेटिन।

संस्कृत हमारे देश की सांस्कृतिक भाषा है। हमारी शिक्षा में उसके अध्ययन का महत्त्व अनेक दृष्टियों से स्वीकार किया जाता है :—

1. प्राचीन भारतीय साहित्य इसी भाषा में है। प्राचीन भारतीय सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान आदि के परिचय के लिए यही मूल स्रोत है। वेद, उपनिषद, शास्त्र आदि भारतीय दर्शन के अनुपम ग्रन्थ हैं। रामायण, महाभारत तथा पुराण धर्म और साहित्य दोनों दृष्टियों से अमूल्य ग्रन्थ हैं। इन्हीं के आधार पर हम आज भी अतीत भारत की ज्ञान-गरिमा पर गर्व करते हैं।

2. उत्तर भारत की समस्त आधुनिक भारतीय भाषाओं की यह जननी है। संस्कृत से ही क्रमोत्तर प्राकृत, पाली और अपभ्रंश भाषाओं का विकास हुआ और अपभ्रंशों से ही आधुनिक उत्तर भारतीय भाषाएँ—हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगाली, असमिया, उड़िया, कश्मीरी, पंजाबी—विकसित हुई। इस कारण इन भाषाओं के शब्दभण्डार में बड़ी समानता है, संस्कृत के ज्ञान से इन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने में सफलता हो जाती है और साथ ही उनमें परस्पर एकता की भावना भी उत्पन्न होती है।

3. इन आधुनिक भाषाओं के साहित्य का उपजीव्य भी संस्कृत साहित्य रहा है। वेद, उपनिषद, पुराण, शास्त्र, रामायण, महाभारत तथा अन्य साहित्यिक ग्रंथों की विषय-सामग्री आधुनिक भारतीय भाषाओं में साहित्य-रचना के लिए आधार रही है। अतः अनेक आधुनिक साहित्यिक ग्रंथों का सन्दर्भ और स्रोत जानने के लिए संस्कृत का ज्ञान आवश्यक हो जाता है।

4. संस्कृत का सीधा सम्बन्ध आर्यकुल की उत्तर भारतीय भाषाओं से तो है ही, पर उसका प्रभाव दक्षिण भारतीय भाषाओं—तेलुगु, कन्नड, मलयालम और तमिल—पर भी यथेष्ट रूप में पड़ा है। वस्तुतः संस्कृत सम्पूर्ण भारत के लिए धर्म, दर्शन, नीति और ज्ञान की भाषा रही है। तेलुगु, कन्नड और मलयालम में तो लगभग सत्तर प्रतिशत शब्दावली संस्कृत से है। तमिल भाषा में भी लगभग पन्द्रह प्रतिशत शब्द संस्कृत के हैं। दक्षिण भारत के दार्शनिकों, संतों और आचार्यों ने संस्कृत के माध्यम से सारे भारत में अपना ज्ञान वितरित किया था, अतः दक्षिण भारत को उत्तर भारत से मिलाने वाली भाषा संस्कृत ही है। निस्सन्देह ही संस्कृत दसवीं शताब्दी तक भारत की राष्ट्रभाषा रही है।

5. संस्कृत भारतीय जीवन के धार्मिक विधि-विधानों, अनुष्ठानों और संस्कारों की भाषा रही है और बहुत कुछ आज भी बनी हुई है। इस कारण संपूर्ण देश को एक सांस्कृतिक सूत्र में आबद्ध करने का श्रेय और गौरव संस्कृत को प्राप्त है। संस्कृत की बड़ी विशेषता यह रही है कि उसका प्रभाव पाली, प्राकृत और

अपभ्रंशों की भाँति क्षेत्र-विशेष तक ही सीमित न रहकर संपूर्ण भारतवर्ष में व्याप्त रहा है और इसीलिए वह सदा ही सार्वदेशिक, अखिल भारतीय भाषा के रूप में सम्मानित रही है।

6. भाषा की सम्पन्नता और समृद्धिशालिता की दृष्टि से संस्कृत अद्वितीय भाषा है। अगाध साहित्य, अपार शब्दभण्डार, नवीन शब्द रचना की असीम शक्ति और सामर्थ्य, लालित्यपूर्ण अभिव्यंजन क्षमता आदि गुणों के कारण संस्कृत का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। आज भी पारिभाषिक शब्दावली की रचना के लिए हमें संस्कृत का सहारा लेना पड़ता है। इन विशेषताओं के कारण करुणापति त्रिपाठी ने संस्कृत को 'आकर-भाषा' की संज्ञा प्रदान की है।

उपर्युक्त गुणों एवं उपयोगिताओं के कारण संस्कृत की शिक्षा प्रत्येक भारतीय विद्यार्थी के लिए आवश्यक है।

2. मातृभाषा

व्यक्ति के जीवन में मातृभाषा का स्थान निसर्गतः सर्वोपरि है और सभी शिक्षाशास्त्री इससे सहमत हैं। बालक मातृभाषा अपने माता-पिता से सुनकर अनायास, अनुकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा सीख लेता है और उस भाषा से उसका सहज ही तादात्म्य स्थापित हो जाता है। अतः इस भाषा का सम्यक् ज्ञान उसके लिए अनिवार्य है। यही नहीं, अपितु, शिक्षा के माध्यम की दृष्टि से भी इस भाषा का स्थान असंदिग्ध रूप से अक्षुण्ण है।

इस सन्दर्भ में हमें मातृभाषा का सही अर्थ भी जान लेना चाहिए। मातृभाषा का अर्थ है, क्षेत्र-विशेष में समाज-स्वीकृत परिनिष्ठित भाषा, जिसके माध्यम से सामाजिक कार्य सम्पन्न होते है। जिस परिवार में शुद्ध परिनिष्ठित भाषा का व्यवहार नही होता, वहाँ बालक अपने माता-पिता से जो भाषा सीखता है, वह इस समाज-स्वीकृत मानक भाषा से भिन्न होती है। उसे हम मातृभाषा की संज्ञा नहीं दे सकते। बलार्ड ने ठीक ही माता-पिता से सुनकर सीखी हुई भाषा (घर की बोली) को 'माता की भाषा' (मदर्स टंग) कहा है और समाज द्वारा स्वीकृत मानक भाषा को मातृभाषा (मदर टंग) कहा है। उदाहरण के लिए जिस विशाल क्षेत्र में हिन्दी मातृभाषा है, उनमें अनेक बोलियाँ प्रचलित है। उत्तरप्रदेश में ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि बोलियों के क्षेत्र में पैदा होने वाले बालक अपने माता-पिता से इन्हें ही सीखते हैं, पर विद्यालय में आने पर उन्हें शुद्ध खड़ी बोली (हिन्दी) की शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। इन बोलियों को अब जनपदीय भाषा या उपभाषा की संज्ञा प्रदान की गई है।

मातृभाषा 'माता की भाषा' या बोली का ही परिष्कृत और साहित्यिक रूप होती है अतः बोध और व्यवहार की दृष्टि से उन दोनों में यथेष्ट सामीप्य पाया जाता है। शिक्षित घरों में तो परिनिष्ठित भाषा का ही व्यवहार होता है, पर गाँवों में यह अन्तर पाया जाता है। भाषा-शिक्षा की दृष्टि से इस परिनिष्ठित मातृभाषा का ही महत्त्व है क्योंकि वही हमारे साहित्य, ज्ञान-विज्ञान की भाषा है, वही शिक्षित जनोचित

शिष्ट भाषा है, वही पत्र-पत्रिकाओं की भाषा है और वही हमारे समस्त सामाजिक क्रिया-कलापों के संचार की भाषा है। यही भाषा हमारी सहज अभिव्यक्ति का साधन है और उसी भाषा में हमारे भाव एवं विचार बनते और स्फुरित होते हैं। मातृभाषा की शिक्षा के महत्त्व पर आगे विस्तार से विचार किया जायेगा।

भारत एक बहुभाषी देश है। बोलियाँ तो यहाँ सैकड़ों है, पर मातृभाषा के पद पर प्रतिष्ठित होने वाली भाषाएँ भी अनेक हैं, जो अपने-अपने क्षेत्रों में शिक्षा का माध्यम हैं। दुर्भाग्यवश ये भाषाएँ भी केवल माध्यमिक स्तर तक ही शिक्षा का माध्यम बन सकी है। विश्वविद्यालयीय शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में अभी तक (स्वतन्त्रता के पचीस वर्ष बाद भी) विवाद ही चल रहा है और अंग्रेजी (विदेशी भाषा, जो हमारी दासता का प्रतीक है) का स्थान अभी भी पूर्ववत् (जब हम पराधीन थे) बना हुआ है। यह सर्व स्वीकृत तथ्य है कि व्यक्ति का सहज और नैसर्गिक ज्ञानार्जन और उसकी भावाभिव्यक्ति की भाषा मातृभाषा ही है और उसी से उसके स्वतन्त्र और स्वाभाविक व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। अतः उच्च शिक्षा का माध्यम भी मातृभाषा ही होनी चाहिए। अंग्रेजी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाये रखने में निहित स्वार्थ (वेस्टेड इंटरेस्ट) का ही षडयन्त्र है जिसका शिकार भारतीय जनता बनी हुई है। जब तक मातृभाषा उच्च शिक्षा का माध्यम नहीं बन जाती, तब तक ज्ञान-विज्ञान ही नहीं, अपितु, विकास सम्बन्धी सभी दृष्टियों से हम परमुखापेक्षी बने रहेंगे।

3. राष्ट्रभाषा या राजभाषा

शिक्षा की दृष्टि से मातृभाषा के बाद राष्ट्रभाषा अथवा वैधानिक शब्द का प्रयोग करें तो राजभाषा का स्थान आता है। प्रत्येक बालक को अपनी मातृभाषा जानने के बाद एक ऐसी राष्ट्रभाषा का ज्ञान अवश्य होना चाहिए जिसके माध्यम से वह अपने देश के अन्य भाषा-भाषियों के साथ सम्पर्क स्थापित कर सके। यह ऐसी भाषा होनी चाहिए जो अखिल भारतीय स्तर पर सम्पर्क भाषा का कार्य कर सके। राष्ट्र के समस्त प्रशासनिक एवं न्यायिक, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक, औद्योगिक एवं वाणिज्यिक, वैज्ञानिक एवं प्राविधिक क्रिया-कलापों के संचरण का माध्यम बन सके, जिसके द्वारा राष्ट्र की बौद्धिक चेतना का विकास हो सके और जिसके स्वरों में भारतीय आत्मा का स्वर मुखरित हो सके। यह राष्ट्रभाषा अथवा राजभाषा पूरे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है। अतः अपने राष्ट्र की समग्रता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए और व्यक्ति के राष्ट्रीय व्यक्तित्व को साकार रूप देने के लिए इस भाषा की शिक्षा को अनिवार्य होना ही चाहिए। भाषाओं की शिक्षा-समस्या का यह स्वाभाविक समाधान है। पर हमारे देश में यह समस्या अभी तक क्यों है, इसका कारण विगत शताब्दियों से हमारी पराधीनता रही है। ब्रिटिश राज्यकाल मे भारत की राजभाषा अंग्रेजी थी और पराधीनता के कारण कोई राष्ट्रभाषा उसका आसन नहीं

ग्रहण कर सकी। स्वतन्त्रता संग्राम में राष्ट्रभाषा के लिए भी आन्दोलन हुआ पर इतनी सफलता नहीं मिली कि अंग्रेजी को हटाया जा सके, यद्यपि हमारे राष्ट्र के नेता बार-बार चिल्लाते रहे कि "बिना राष्ट्रभाषा के हमारी राष्ट्रीयता अधूरी है, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता अधूरी है और हमारे लिए विश्व में सम्मानपूर्ण स्थान पा सकना कठिन है।"

किसी भी राष्ट्र के लिए राष्ट्रभाषा की मान्यता क्यों आवश्यक है, इसे हम संक्षेप में इस प्रकार समझ सकते हैं—

1. राष्ट्र के निवासियों में परस्पर सम्पर्क-स्थापन एवं विचार के आदान-प्रदान के लिए एक राष्ट्रभाषा का होना आवश्यक है। ऐसी भाषा के अभाव में देश के निवासियों में परस्पर विचार-विनिमय हो सकना सम्भव ही नहीं है। भारत जैसे बहुभाषी देश में यह और भी आवश्यक है। इस भाषा के अभाव में देशनिवासियों की भावात्मक एवं राष्ट्रीय एकता की बात करना ही व्यर्थ है। राष्ट्रभाषा राष्ट्रीय एकता का वैसा ही महत्त्वपूर्ण प्रतीक है जैसा कि राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान।

2. राष्ट्रभाषा राष्ट्रीय गौरव और सम्मान का भी प्रतीक है। राष्ट्रभाषा का अभाव उस राष्ट्र को ही हीन बना देता है और वहाँ के निवासियों में भी हीनता की प्रवृत्ति घर कर जाती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं की प्राचीन भारत का गौरव यदि आज भी विश्व मे प्रतिष्ठित है तो इसका एक प्रमुख कारण है तत्कालीन संस्कृत भाषा और उसका समृद्धशाली साहित्य। संस्कृत भारत की प्रतिनिधि भाषा थी और हमारी आध्यात्मिक, बौद्धिक एवं सांस्कृतिक चेतना का स्वर उसी भाषा में प्रोद्-भासित हुआ था। भारत यदि किसी समय विश्व का गुरु बन सका था तो वह संस्कृत साहित्य के वैभव के कारण ही अतः हमारे देश में भी एक सार्वदेशिक स्तर पर राष्ट्र भाषा का होना अत्यन्त आवश्यक है।

3. भावात्मक एकता की दृष्टि से भी एक राष्ट्रभाषा की शिक्षा आवश्यक है। भावो की एकता परस्पर भाव-सप्रेषण पर निर्भर है और परस्पर भाव-संप्रेषण का स्वभाविक माध्यम राष्ट्रभाषा ही हो सकती है, विदेशी भाषा नही। अंग्रेजी ने हमारी भावात्मक एकता को कितनी क्षति पहुँचाई है, इसे कौन नही जानता। गांधी जी तो कहते थे कि अग्रेजी ने सारे भारतवासियों को ही दो भागो में बाँट दिया है एक सुसंस्कृत वर्ग (तथाकथित) अर्थात् जिसे अंग्रेजी आती है और दूसरा असंस्कृत वर्ग जिसे अंग्रेजी नही आती। हम सभी जानते है कि हमारे देश में अंग्रेजी का मोह इतना अधिक व्याप्त है कि अंग्रेजी का ज्ञान ही शिक्षा का पर्याय बन गया है। पर इस ज्ञान ने राष्ट्र की चेतना को कुण्ठित ही किया है और जब तक उसे निर्वासित कर कोई भारतीय भाषा उसका स्थान नहीं लेती, भावात्मक एकता का संकल्प केवल नारा ही नारा बन कर रह जाएगा।

4. हमारा देश जनतान्त्रिक देश है पर जन-भाषाओं को सम्मान नही दिया जाता यह हमारी मानसिक दासता का ही सूचक है। जनतान्त्रिक समाजवादी सामाजिक रचना की दृष्टि से क्षेत्रीय जनभाषाओ को अपने-अपने क्षेत्रों मे सम्मानपूर्ण

स्थान मिलना चाहिए और अखिल भारतीय स्तर पर एक ऐसी राष्ट्रभाषा का प्रचलन होना चाहिए जिसके माध्यम से हमारे समस्त राष्ट्रीय कार्य—राजनैतिक, सामाजिक, प्रशासनिक, आर्थिक, न्यायिक, सांस्कृतिक आदि और अन्तर्राष्ट्रीय कार्य सम्पन्न हो सकें।

उपर्युक्त आवश्यकताओं के कारण भारतीय शिक्षा में मातृभाषाओं के साथ-साथ राष्ट्रभाषा (राजभाषा) की शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए और उसे अंग्रेजी से ऊपर स्थान प्रदान करना चाहिए, अन्यथा स्वतन्त्रता के पच्चीस वर्ष बाद भी जो स्थिति बनी हुई है, शायद ही उसमे परिवर्तन हो सके। अनेक विद्वान् आज भी राजभाषा के पद पर अंग्रेजी को ही बनाए रखना चाहते है। उनका तर्क यह है कि हमारे देश मे अनेक राष्ट्रभाषाएँ है, अतः किस भाषा को अखिल भारतीय स्तर पर यह सम्मान दिया जाए। इस झगड़े से बचने का सीधा सरल उपाय यह है कि अंग्रेजी कभी भी इस देश की जनभाषा नहीं हो सकती। भारत एक संघ राज्य है। प्रत्येक राज्य की अपनी भाषा है और वह भाषा उस राज्य के समस्त कार्यों का माध्यम है और उसे होना ही चाहिए। पर पूरे भारतीय स्तर पर उन राष्ट्रीय भाषाओं में से ही किसी एक को—सर्वाधिक प्रचलित एवं सार्वदेशिक प्रकृति वाली भाषाओं को—केन्द्रीय भाषा या राजभाषा का स्थान और सम्मान देना पड़ेगा, क्योंकि सभी भाषाओं को केन्द्रीय स्तर पर अपनाना अव्यावहारिक ही नहीं असम्भव भी है। रूस में अनेक भाषाएँ है जो अपने-अपने क्षेत्र में समस्त सामाजिक एवं शैक्षिक कार्यों का माध्यम बनी हुई हैं, पर राष्ट्रीय स्तर पर केवल रूसी भाषा का ही व्यवहार होता है। चीन का भी ऐसा ही उदाहरण है। इन बहुभाषी देशों ने जिस प्रकार अपनी भाषा-समस्याओं का समाधान किया है (और उन्हें इस दिशा में पूरी सफलता भी मिली है) उसी प्रकार भारत को भी अपनी भाषा समस्या का समाधान करना होगा। वह समाधान यही है कि राष्ट्रभाषा (हिन्दी) की शिक्षा मातृभाषा के बाद (अहिन्दी भाषी प्रदेशों में) सर्वोपरि मानी जाय।[1]

4. विदेशी भाषा

इस अन्तर्राष्ट्रीय युग में विश्व के विविध राष्ट्रों से सम्पर्क-स्थापन के लिए विदेशी भाषाओं का अध्ययन आवश्यक है। ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में अद्यतन विकास से परिचित होने के लिए भी समुन्नत विदेशी भाषाओं से परिचित होना आवश्यक है। अमेरिका, रूस, जर्मनी, इंगलैण्ड, चीन आदि देशों में विज्ञान, टेक्नालॉजी आदि का उत्कर्ष तीव्रगति से हो रहा है, उनका परिचय इन भाषाओं में प्रकाशित साहित्य से ही सम्भव है। विदेशों में सांस्कृतिक, साहित्यिक, कलात्मक, वाणिज्यिक क्षेत्रों में

1. भारत में राष्ट्रभाषा की समस्या सुलझाने की जगह उलझती गई है, अतः उस पर विस्तार से आगे अध्याय 3 में विचार किया गया है।

होने वाला उत्कर्ष भी विदेशी भाषाओं के अध्ययन को हमारे लिए अपरिहार्य बना देता है।

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से परिचत होने के लिए इन विदेशी भाषाओं में सर्वाधिक महत्त्व अंग्रेजी का है क्योंकि वह विश्व की सबसे अधिक सम्पन्न और समृद्धिशाली भाषा है। उन्नत भाषाओं के साहित्य का अनुवाद अंग्रेजी में तत्काल ही सुलभ हो जाता है। अतः अंग्रेजी का महत्त्व इस दृष्टि से हमारी शिक्षा में सर्वमान्य-सा है। हमारे देश में अंग्रेजी की शिक्षा की परम्परा विगत डेढ़ सौ वर्षों से होने के कारण अब वह शिक्षा एक अंग बन भी गई है।

विगत डेढ़ सौ वर्षों की अंग्रेजी शिक्षा की परम्परा के कारण एक ओर जहाँ हमें यह लाभ हुआ है कि विश्व के ज्ञान-विज्ञान से हमारा सम्बन्ध स्थापित हुआ, वहाँ दूसरी ओर इसके कारण हमारी भारतीय राष्ट्रीयता खण्डित भी हुई है। वस्तुतः हमारे देश में अंग्रेजी ने दोनों ही स्थान ग्रहण कर रखे हैं—वह एक विदेशी भाषा है और दूसरी ओर राजभाषा भी बनी हुई है। इससे एक ओर हमारी भाषा समस्या जटिलतर होती गई है और दूसरी ओर अन्य उन्नत विदेशी भाषाओं—रूसी, फ्रेंच, जर्मन, चीनी आदि का अध्ययन उपेक्षित-सा है। हमारी शिक्षा-व्यवस्था में अंग्रेजी के साथ विकल्प रूप में इन भाषाओं के अध्ययन को भी बढ़ाना चाहिए।

विद्यालयीय शिक्षा में उपर्युक्त भाषाओं का सापेक्षिक महत्त्व

विद्यालयीय शिक्षा में उपर्युक्त चारों भाषाओं—संस्कृति भाषा, मातृभाषा, राष्ट्रभाषा और विदेशी भाषा—का अपना-अपना महत्त्व है। इन सभी भाषाओं का हमारे शैक्षिक पाठ्यक्रम में किसी न किसी स्तर पर समावेश नितान्त आवश्यक है। बालक के स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक विकास की दृष्टि से तथा जीवन की सामाजिक और राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से शिक्षा में इन भाषाओं का स्थान और उनकी सापेक्षिक प्रमुखता स्वतः निर्धारित है—मातृभाषा, राष्ट्रभाषा और वैकल्पिक रूप में विदेशी भाषा। संस्कृति भाषा को हम मातृभाषा या राष्ट्रभाषा के सा पाठ्यक्रम में संलग्न कर सकते हैं। विदेशी भाषा का स्थान वैकल्पिक इसलिए है कि (1) आवश्यकतानुसार बालक किसी भी विदेशी भाषा का अध्ययन कर सकता है, और (2) अनावश्यक बालक के ऊपर वह भार न बने। जैसे हमारे देश में हाईस्कूल के बाद छात्रों की बहुत बड़ी संख्या आजीविका के कार्यों में लग जाती है और उच्च शिक्षा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। इन छात्रों के लिए विदेशी भाषा की शिक्षा निरर्थक और धन, श्रम तथा समय का अपव्यय मात्र है।

अतः राष्ट्र की शिक्षा-व्यवस्था में भाषाओं की शिक्षा का स्वाभाविक रूप है—मातृभाषा, राष्ट्रभाषा और वैकल्पिक रूप में विदेशी भाषा। यह स्वाभाविक समाधान (विश्व के सभी राष्ट्रों में यही स्वरूप मान्य है) न मानने के कारण ही हमारे देश में भाषा-शिक्षा की समस्या, जिसे हम कृत्रिम समस्या कह सकते है, बनी हुई है और

आए दिन शिक्षा-आयोगों, परिषदों एवं समितियों की स्थापनाओं और संस्तुतियों का क्रम चलता रहता है। जिस प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर राजभाषा की समस्या बनी हुई है, उसी प्रकार शिक्षा-व्यवस्था मे यह समस्या बनी हुई है कि कितनी भाषाओं की शिक्षा आवश्यक है, किस स्तर पर किस भाषा का अध्ययन किया जाए, इन भाषाओं का उद्देश्य, और विस्तार क्या हो और शिक्षा का माध्यम किस भाषा को बनाया जाए, आदि-आदि।

भाषा-शिक्षा-समस्या का मूल कारण—हमारी राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था में विविध भाषाओं की शिक्षा की समस्या अभी तक पूर्णतः और स्पष्टतः क्यो नही सुलझ रही है, इसका कारण है—परम्परागत ब्रिटिशकालीन शिक्षा-व्यवस्था से मुक्त न हो पाना। उस परम्परागत ब्रिटिशकालीन शिक्षा-व्यवस्था में अंग्रेजी ने मातृभाषाओं और राष्ट्रभाषा को अपदस्थ कर स्वयं सर्वप्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया और तब से उनका वह स्थान अक्षुण्ण बना हुआ है। इसकी जड़ें क्यों इतनी गहरी हैं, इसे जानने के लिए इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त अवलोकन कर लें तो उचित ही होगा।

भाषा-शिक्षा-समस्या का सूत्रपात वस्तुतः उसी समय हुआ जब, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डाइरेक्टरों को परामर्श देने के लिए स्थापित जनशिक्षा समिति (दि कमिटी ऑफ पब्लिक इंस्ट्रक्शन) का अध्यक्ष होकर तथा 'सुप्रीम कौंसिल' का विधि सदस्य होकर मैकाले भारत आया और उसने भारतीय भाषा और साहित्य का उपहास करते हुए अपना प्रसिद्ध विवरण पत्र 1835 में प्रस्तुत किया। उसने नवीन ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा के लिए अंग्रेजी उपयुक्तता बताकर, अंग्रेजी को उच्च भाषाओं से सरल और अधिक सम्पन्न एवं समृद्धिशाली घोषित कर, अंग्रेजी में भारतीयों की रुचि प्रदर्शित कर और अंग्रेजी के लिए राजा राममोहन राय सदृश देशभक्तों के समर्थन का दावा करके अंग्रेजी भाषा की शिक्षा का सर्वप्रमुख स्थान इस देश की शिक्षा-व्यवस्था में दृढ़ता से स्थापित कर दिया। यह देश तभी से भाषा समस्या के कुचक्र जाल में उलझता गया। यह देश का दुर्भाग्य ही था कि राजा राममोहन राय जैसे समाज सुधारकों और देशभक्तों को भी भारतीय भाषाओं का विचार नहीं सूझा। गांधीजी का यह कथन कितना सही है कि "राजा राममोहन राय और भी उच्चकोटि के समाज सुधारक होते, यदि उन्हें अंग्रेजी में सोचने और उसी में विचार प्रकट करने की अस्वाभाविक क्रिया न करनी पड़ती।"[2]

आगे चलकर 1844 में लार्ड हार्डिंज की इस घोषणा ने कि—"सरकारी नौकरियों में उन लोगों को वरीयता दी जाएगी जो अंग्रेजी का ज्ञान रखते हों," अंग्रेजी को भारतीयों की आजीविका, रोटी और वस्त्र का भी आधार बना दिया।

---

2. Thoughts on National Language, P. 201

वह स्थिति आज भी बनी हुई है। 1854 के वुड-घोषणापत्र में भी अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा देने की नीति का समर्थन किया गया। फिर तो 'अंग्रेजी का ज्ञान' ही 'शिक्षा' का पर्याय बन गया।

प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब नवीन धार्मिक सांस्कृतिक और राजनैतिक जागरण की लहर उठी तब भारतीय भाषाओं की यह पुकार भी गूँजने लगी। 1833 ई० में प्रथम भारतीय शिक्षा आयोग ने सिफारिश की कि प्राथमिक विद्यालयों में देशी भाषाएँ ही शिक्षा का माध्यम हों, पर उसने भी माध्यमिक स्तर पर अंग्रेजी का ही समर्थन किया। पर देशी भाषाओं की शिक्षा की माँग बढ़ती गई। 1917 में 'कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग' ने तत्कालीन भारतीय भाषाओं को इंटरमीडियट स्तर तक शिक्षा का माध्यम बनाने का समर्थन किया। 1937 तक आते-आते लगभग सभी प्राथमिक तथा अधिकतर माध्यमिक विद्यालयों में मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम बन गई। 1937 में "जाकिर हुसेन समिति" की सभी संस्तुतियों को अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्वीकार किया और तदनुसार कांग्रेस मन्त्रिमण्डल वाले सभी प्रान्तों में मातृभाषाओं की शिक्षा प्रारम्भ हो गई और प्राथमिक स्तर पर मातृभाषाएँ ही शिक्षा का माध्यम मानी गई। 1944 में सर जॉन सार्जेंट ने भी माध्यमिक शिक्षा तक मातृभाषा को ही माध्यम बनाने की सिफारिश की फलतः 1947 तक प्रायः सभी माध्यमिक विद्यालयों मे भी शिक्षा का माध्यम मातृभाषाएँ ही हो गई। बहुत थोड़े से माध्यमिक विद्यालयों में ही अंग्रेजी माध्यम बनी रही।

माध्यमिक स्तर पर दूसरी एवं तीसरी भाषाओं की समस्या—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय भावना के उदय से धीरे-धीरे मातृभाषाओं को शिक्षा में माध्यमिक स्तर तक अपना अधिकारपूर्ण स्थान स्वतन्त्रता के पूर्व ही मिल गया था। पर माध्यमिक स्तर पर एक समस्या बनी रही। वह समस्या थी द्वितीय एवं तृतीय भाषा के सम्बन्ध में। इसका समाधान स्वतन्त्र भारत की शिक्षा-व्यवस्था में अभी तक पूर्ण और अन्तिम रूप से नहीं हो सका है। इसका सर्वप्रमुख कारण यह है कि परम्परागत शिक्षा प्रणाली में मातृभाषा के अतिरिक्त द्वितीय भाषा का स्थान अंग्रेजी ने ले रखा था और उसे हटाना हमारे शिक्षा-नीतिज्ञों को कबूल नहीं है। द्वितीय भाषा की समस्या का सीधा और स्वाभाविक समाधान था कि पराधीन भारत में जो स्थान अंग्रेजी को मिला हुआ था, वह स्वाधीन भारत मे राष्ट्रभाषा हिन्दी को (अहिन्दी भाषी प्रदेशों में) और किसी भारतीय भाषा को (हिन्दी भाषी प्रदेशों में) अपने-आप मिल जाना चाहिए था। पर इस दिशा में आज भी हमारी वही स्थिति है जो 1947 में थी। भारत सरकार ने शिक्षा में सुधार सम्बन्धी सुझाव देने के लिए अनेक आयोगो, परिषदों एवं समितियों की स्थापना की पर उनसे भी समाधान नहीं हुआ। इन सभी आयोगों एवं समितियों की संस्तुतियों को देखने से एक बात स्पष्ट

हो जाती है कि राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था में वे अभी भी राजभाषा हिन्दी की अपेक्षा सह-राजभाषा अंग्रेजी की प्रमुखता बनाए रखना चाहते हैं—

1. डॉ० ताराचन्द समिति—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् 1948 में माध्यमिक शिक्षा में सुधार हेतु डॉ० ताराचन्द की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त हुई। इसने सीनियर बेसिक स्तर (कक्षा 6 से 8) पर मातृभाषा के अतिरिक्त संघीय भाषा को अनिवार्य करने की सिफारिश की, पर माध्यमिक स्तर (कक्षा 9, 10) पर मातृभाषा के अतिरिक्त कुछ समय तक अंग्रेजी को अनिवार्य करने की सिफारिश की और अंग्रेजी के हट जाने पर संघीय भाषा को अनिवार्य करने की बात कही। उस समय तक संविधान बना नहीं था और संघीय भाषा का निर्णय विधानतः घोषित नहीं हुआ था, अतः अंग्रेजी अपने स्थान पर बनी रही। और, यदि विधानतः संघीय भाषा घोषित भी हो जाती तो इस समिति की सिफारिश के अनुसार, 'कुछ समय तक' अंग्रेजी को अनिवार्य बना ही रहता था।

2. मुदालियर कमीशन—अक्टूबर 1952 में डॉ० लक्ष्मण स्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में 'माध्यमिक शिक्षा आयोग' की स्थापना हुई और उसने जून 1953 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। भाषा के सम्बन्ध में उसके सुझाव इस प्रकार है—

(क) मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा सम्पूर्ण माध्यमिक शिक्षा का माध्यम हो।

(ख) पूर्व माध्यमिक स्तर पर कम से कम दो भाषाओं की शिक्षा प्रदान की जाए। अंग्रेजी और हिन्दी को जूनियर बेसिक स्तर की समाप्ति पर प्रारम्भ किया जाए, पर दो भाषाओं को एक साथ न प्रारम्भ किया जाए।

(ग) उच्चतर माध्यमिक स्तर (कक्षा 9 से 11 तक) पर कम से कम दो भाषाएँ पढ़ाई जाए जिनमें से एक मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा हो।

इस प्रकार 'मुदालियर कमीशन' की सिफारिशों के अनुसार माध्यमिक स्तर पर दो ही भाषाएँ अनिवार्य रखी गई थी :—

1. मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा
2. निम्नांकित में से कोई एक भाषा—
   (i) हिन्दी (उनके लिए जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है।)
   (ii) प्रारम्भिक अंग्रेजी (जिन्होंने मिडिल स्कूल में अंग्रेजी नहीं पढ़ी)
   (iii) उच्च अंग्रेजी (जिन्होंने पहले अंग्रेजी पढ़ी है)
   (iv) एक आधुनिक भारतीय भाषा (हिन्दी के अतिरिक्त)
   (v) एक आधुनिक विदेशी भाषा (अंग्रेजी के अतिरिक्त)
   (vi) एक प्राचीन सांस्कृतिक भाषा

3. 'त्रिभाषी सूत्र' का प्रदर्शन—'मुदालियर कमीशन' के द्वारा प्रस्तुत सुझाव से भाषा-शिक्षा-समस्या का समाधान नहीं हुआ। संविधान के अनुसार हिन्दी राजभाषा तो घोषित कर दी गई थी पर 15 साल तक के लिए अंग्रेजी के चलते

रहने की वात भी संविधान ने मान ली थी। फलतः अंग्रेजी-समर्थकों को कोई परेशानी नहीं थी और शिक्षा में इस कारण अंग्रेजी की प्रमुखता वनी रही। इसी बीच 1956 में 'केन्दीय शिक्षा सलाहकार मण्डल ने 'त्रिभाषा सूत्र' के रूप मे भापा-शिक्षा समस्या का समाधान प्रस्तुत किया। सन् 1957 में भारत सरकार ने इसे स्वीकार भी कर लिया और घोपणा भी कर दी। 1961 में मुख्यमन्त्रियो के सम्मेलन ने सर्वोत्तम समाधान के रूप में इस सूत्र की पुष्टि भी कर दी। इस सूत्र के अनुसार प्रत्येक वालक को निम्नलिखित तीन भाषाओं का अध्ययन अनिवार्य रूप से करना होगा:—

(i) मातृभापा या क्षेत्रीय भाषा

(ii) अंग्रेजी

(iii) हिन्दी (अहिन्दी भापी क्षेत्रों के लिए)

अथवा

एक आधुनिक भारतीय भाषा (हिन्दी भापी क्षेत्रों के लिए)

इस सूत्र मे भी अंग्रेजी के अनिवार्य अध्ययन की वात कही गई है और इस कारण अहिन्दी भापी प्रदेशों में अंग्रेजी को राजभाषा हिन्दी से अपने-आप प्रमुख स्थान मिल गया है क्योंकि सारी वर्तमान परिस्थितियाँ (उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है, प्रतियोगिता-परीक्षाओं का माध्यम अंग्रेजी है, सरकारी नौकरी के लिए अंग्रेजी का ज्ञान अनिवार्य है, अन्तःप्रान्तीय स्तर पर शिक्षितों की सम्पर्क भापा अंग्रेजी है, आदि-आदि परिस्थितियाँ) अंग्रेजी के अनुकूल हैं। इस कारण हिन्दी का स्थान गौण रह गया है और यदि ये वर्तमान परिस्थितियाँ वनी रहीं तो (अभी तो 25 वर्प ही व्यतीत हुए हैं) कभी भी हिन्दी राजभाषा नहीं हो पायेगी। यदि हिन्दी को सही अर्थों मे और वास्तविक रूप में सारे भारत में राजभाषा और सम्पर्क भापा वनाना है तो अहिन्दी भापी प्रदेशों में उनकी मातृभापा के वाद हिन्दी को ही सर्वोच्च स्थान देना होगा और अंग्रेजी को विकल्प भाषा रखनी होगी और उपर्युक्त वर्तमान परिस्थितियों को भी वदलना होगा जिससे वे सारी सुविधाएँ जो अंग्रेजी के कारण मिल रही है, वे हिन्दी के कारण मिलने लगें।

इसी प्रकार हिन्दी भापी प्रदेशो में भी दो भापाएँ अनिवार्य होनी चाहिए-- मातृभापा हिन्दी और दूसरी कोई भारतीय भापा। तीसरी भापा अंग्रेजी विकल्प रूप में रहेगी। हिन्दी भापी प्रदेशों के लिए दूसरी भापा के रूप में भारतीय भाषाओं का चयन उपयोगिता, सुविधा और आवश्यकता के अनुसार हो, जैसे एक विद्वान् लेखक का सुझाव है कि राजस्थान के वालक गुजराती का, मध्यप्रदेश के वालक मराठी का, विहार के वालक वंगला और उड़िया में से किसी एक भापा का, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश के वालक कश्मीरी या पंजावी का अध्ययन कर सकते है। द्वितीय भापाओं की इस सूची में संस्कृत का भी स्थान रहना चाहिए।[3] इस द्वितीय

3. डॉ० रामशकल पांडेय—शिक्षा और भापा, पृ० 24

भाषा पर इस दृष्टि से भी विचार आवश्यक है कि किसी भी प्रदेश में अनेक भारतीय भाषाओं के अध्ययन की व्यवस्था अव्यावहारिक और अत्यधिक व्ययसाध्य होगी।

4. **कोठारी कमीशन**—1964 में नियुक्त कोठारी कमीशन से जून 1966 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इससे उपर्युक्त 'त्रिभाषा सूत्र' को ही एक संशोधित रूप में रखा—

(i) मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा

(ii) केन्द्र की राजभाषा या सह राजभाषा

(iii) एक आधुनिक भारतीय भाषा या विदेशी भाषा जिसे सं० 1 या 2 में न लिया गया हो और जो शिक्षा के माध्यम से भिन्न हो।

इस आयोग ने भी माध्यमिक स्तर पर तीन भाषाओ के अध्ययन को अनिवार्य करने की संस्तुति की है। पर इसमें भी अंग्रेजी की हर प्रकार से प्रमुखता बनी हुई है।

उपर्युक्त संस्तुतियों से स्पष्ट है कि अंग्रेजी के अध्ययन को हमारी वर्तमान व्यवस्था में अनिवार्य ही नहीं, अपितु सर्वोच्च स्थान (कही कहीं मातृभाषाओं से भी) भी प्रदान किया गया है और यह जाल ऐसा है कि इसका अनुसरण करते रहने से केन्द्र की राजभाषा हिन्दी केवल विधानतः बनी रहेगी और व्यवहार में अंग्रेजी फलती-फूलती रहेगी। पर यदि हमें भारतीयता का, राष्ट्रीय एवं भावात्मक एकता का और भारतीय भाषाओं के विकास का कुछ भी ध्यान है और इस दृष्टि से सफलता प्राप्त करनी है तो माध्यमिक स्तर पर हमें भाषाओं का उचित स्थान निर्धारित करना ही होगा। यह निर्धारण निम्नलिखित रूप के अतिरिक्त और क्या हो सकता है:—

1. मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम हो और प्रथम भाषा के रूप में उसका अध्ययन अनिवार्य हो।
2. मातृभाषा के अतिरिक्त एक अन्य भारतीय भाषा का ही अध्ययन अनिवार्य हो। यह द्वितीय भाषा अहिन्दी भाषी प्रान्तों में केन्द्रीय भाषा (हिन्दी) हो और हिन्दी भाषी प्रदेशों में कोई एक भारतीय भाषा।
3. वैकल्पिक विषय के रूप में अंग्रेजी या किसी अन्य विदेशी भाषा का अध्ययन।

इस प्रकार सभी भारतीय भाषाओं को सम्मानपूर्ण पद देते हुए मातृभाषा तथा राष्ट्रभाषा (हिन्दी) का अध्ययन अनिवार्य करना तथा अंग्रेजी का विकल्प-रूप में अध्ययन करना ही भाषा समस्या का उचित समाधान है और इसी रूप में त्रिभाषा सूत्र राष्ट्रीय प्रगति में सहायक सिद्ध हो सकता है।

सारांश

व्यक्ति के जीवन में चार भाषाओ के अध्ययन का विशेष महत्त्व है—**प्राचीन-**

भाषा अथवा संस्कृति भाषा, मातृभाषा, राष्ट्रभाषा अथवा राज्यभाषा, विदेशी भाषा अथवा अन्तर्राष्ट्रीय भाषा ।

जिस भाषा में राष्ट्र का प्राचीन साहित्य सुरक्षित हो और जिसके अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक एव सांस्कृतिक जीवन, ज्ञान-विज्ञान आदि का परिचय मिल सके, उसे प्राचीन या संस्कृति भाषा कहते हैं । भारत की यह भाषा संस्कृत है । इसके अध्ययन के बिना प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, धर्म, दर्शन, नीति, ज्ञान और विज्ञान का वास्तविक परिचय दुर्लभ है, अतः इसकी शिक्षा का हमारे पाठ्यक्रम में समावेश आवश्यक है ।

शिक्षा की दृष्टि से मातृभाषा का स्थान सर्वोच्च है । मातृभाषा बालक अपने माता-पिता से सुनकर अनायास अनुकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा सीख लेता है और उस भाषा से उसका सहज ही तादात्म्य स्थापित हो जाता है । इस भाषा का सम्यक् ज्ञान बालक के लिए अनिवार्य है । शिक्षा के माध्यम की दृष्टि से भी मातृ-भाषा का महत्त्व सर्वोपरि है ।

शिक्षा में मातृभाषा के बाद **राष्ट्रभाषा अथवा राजभाषा** का स्थान आता है। हमारा देश बहुभाषी देश है । प्रत्येक राज्य की अपनी-अपनी क्षेत्रीय भाषाएँ हैं जिनके द्वारा वहाँ के निवासियों के कार्य सम्पन्न होते हैं । अतः अखिल भारतीय स्तर पर प्रयोग की जाने वाली भाषा राष्ट्रभाषा या राजभाषा कहलाती है । उसकी शिक्षा प्रत्येक भारतीय बालक के लिए अनिवार्य होनी चाहिए ।

आज का युग अन्तर्राष्ट्रीय युग है । अतः विश्व के विविध राष्ट्रों से सम्पर्क स्थापन के लिए **विदेशी भाषाओं** का अध्ययन आवश्यक है । आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से परिचित होने के लिए तथा अन्य देशो से सांस्कृतिक और राजनैतिक सम्बन्ध स्थापन के लिए भी विदेशी भाषाओं की शिक्षा होनी चाहिए । विदेशी भाषाओं में सर्वाधिक महत्त्व अंग्रेजी का है । हमारे देश में अंग्रेजी की शिक्षा की परम्परा भी विगत डेढ़ सौ वर्षों से बनी हुई है । अतः राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था में अंग्रेजी का अध्ययन आवश्यक है ।

विद्यालयीय शिक्षा में उपर्युक्त भाषाओं का स्थान निर्धारित है—**मातृभाषा, राष्ट्रभाषा और वैकल्पिक रूप में विदेशी भाषा । संस्कृति भाषा को** हम मातृभाषा या राष्ट्रभाषा के साथ संलग्न कर सकते हैं । इस सम्बन्ध में अनेक आयोगों एवं समितियों के सुझाव प्राप्त करने के बाद 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार मण्डल' ने 'त्रिभाषी सूत्र' का प्रतिपादन किया है—अर्थात् माध्यमिक स्तर पर प्रत्येक बालक को निम्नांकित तीन भाषाओ का अध्ययन अनिवार्य रूप से करना होगा ।

(i) मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा (ii) अंग्रेजी (iii) हिन्दी (अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के लिए) **अथवा** एक आधुनिक भारतीय भाषा (हिन्दी भाषी क्षेत्रो के लिए)

प्रश्न

1. प्राचीन अथवा संस्कृति भाषा से क्या तात्पर्य है? हमारे देश की संस्कृति भाषा क्या है और हमारी शिक्षा में किन दृष्टियों से उसका स्थान आवश्यक है?
2. हमारी शिक्षा व्यवस्था में मातृभाषा का स्थान सर्वोपरि क्यों होना चाहिए? मातृभाषा और जनपदीय भाषा का अन्तर स्पष्ट करते हुए अपना उत्तर लिखिए।
3. 'राष्ट्रभाषा' से क्या तात्पर्य है? भारत में राष्ट्रभाषा की आवश्यकता क्यों है और उसे शिक्षा में क्या स्थान मिलना चाहिए?
4. विदेशी भाषा की शिक्षा को आप क्यों आवश्यक समझते हैं? हमारे देश में अंग्रेजी शिक्षा की क्या स्थिति है और उसे आप कहाँ तक उचित समझते हैं?
5. भाषा-शिक्षा के सम्बन्ध में विविध आयोगों के सुझाव प्रस्तुत करते हुए 'त्रिभाषी-सूत्र' को स्पष्ट कीजिए और बताइए कि इससे हमारे देश को भाषा-शिक्षा-समस्या का समाधान कहाँ तक सम्भव है?

3

मातृभाषा का महत्त्व और पाठ्यक्रम में उसका स्थान

[मातृभाषा और अन्य भाषा, मातृभाषा का महत्त्व—भावाभिव्यक्ति की स्वभाविक भाषा; भावों एवं विचारों के उद्रेक का मूल उत्सः भावात्मक विकास का सर्वोत्तम साधन; सृजनात्मक शक्ति का विकास; बौद्धिक विकास, ज्ञानार्जन एवं चिन्तन; सामाजिक रचना, सामाजिक क्रिया-कलापों की दृष्टि से मातृभाषा का महत्त्व, सांस्कृतिक जीवन और मातृभाषा, जीवन के प्रति एवं मातृभूमि के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण का निर्माण, शिक्षा के माध्यम रूप में मातृभाषा का महत्त्व, उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रहने से राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक ह्रास, मातृभाषा का पाठ्यक्रम में स्थान]

"मातृभाषा हर्ष, आनन्द और ज्ञान का तत्क्षण साधन और स्रोत है, भावों और रुचियों का परिचालक है और ईश्वरप्रदत्त सर्वोच्च शक्ति अर्थात् सृजनात्मक शक्तियों के प्रयोग का साधन है जिससे हम उसके अति निकट पहुँच जाते हैं।"[1]

अध्येता की दृष्टि से भाषा के मुख्यतः दो भेद है—जन्म भाषा और अन्य भाषा। जन्म भाषा वह भाषा है जिसे मनुष्य शैशवावस्था में ही, उस भाषा के परिवेश में रहकर बिना नियमित एवं व्यवस्थित शिक्षण के अपने-आप सुनना, समझना और बोलना सीख लेता है। यह जन्मभाषा 'जनपदीय भाषा' भी हो सकती है या मानक मातृभाषा भी। शिक्षा की दृष्टि से मानक मातृभाषा ही विचारणीय है। शैशवावस्था से ही श्रवण, अनुकरण, ग्रहण आदि की अनवरत प्रक्रिया द्वारा मातृभाषा के साथ बालक का सहज तादात्म्य स्थापित हो जाता है और यह भाषा बालक के अन्तःकरण की भाषा बन जाती है।

'अन्य भाषा' वह भाषा है जो मातृभाषा से भिन्न है और जिसे व्यवस्थित अध्ययन विधि के द्वारा सीखना पड़ता है। उदाहरण के लिए हिन्दी मातृभाषी बालक

---

1. "The mothertongue is at once a tool, a source of joy and happiness and knowledge, a dictator of taste and feeling us, and means of using the highest power that God has given where we come closest to him, that is, our creative powers." W. M. Ryburn–'Teaching of Mothertongue'

के लिए बंगला, गुजराती आदि भारतीय भाषाएँ 'अन्य भाषा' की ही कोटि में मानी जाएँगी।

बालक जब ऐसे विद्यालय में प्रविष्ट होता है जहाँ उसकी मातृभाषा का ही साम्राज्य हो, वही शिक्षा का माध्यम हो, तो वह तत्काल ही उसके साथ आत्मीयता का अनुभव करता है, उसे विद्यालय का सामाजिक और भावात्मक वातावरण घर जैसा परिचित लगता है और शिक्षा भी उसे एक सरल, सहज और रुचिकर प्रक्रिया प्रतीत होती है। ठीक इसके विपरीत जब वह 'अन्य भाषा' के माध्यम वाले विद्यालय में प्रविष्ट होता है तो सारा सामाजिक और भावात्मक वातावरण अपरिचित लगता है और शिक्षा उसके लिए एक अस्वाभाविक प्रक्रिया प्रतीत होती है। अतः बालक के सहज, स्वाभाविक विकास की दृष्टि से मातृभाषा की शिक्षा और मातृभाषा के माध्यम से अन्यान्य विषयों की शिक्षा ही सर्वोत्कृष्ट साधन है। अतः मातृभाषा का क्या महत्त्व है और उसे शिक्षा में क्यों सर्वोपरि स्थान मिलना चाहिए, इस पर विचार करना ही इस अध्ययन में हमारा प्रतिपाद्य विषय है।

मातृभाषा का महत्त्व

सामान्यतः भाषा का महत्त्व उसके निम्नांकित उपयोगों के आधार पर प्रतिपादित किया जाता है :—

1. भाषा भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति का साधन है।
2. भाषा भावों एवं विचारों के उद्रेक का मूल उत्स भी है।
3. भाषा मनुष्य के भावात्मक विकास का साधन है।
4. भाषा हमारी सृजनात्मक शक्ति के विकास का साधन है।
5. भाषा हमारे बौद्धिक विकास, ज्ञानार्जन एवं चिन्तन का उत्कृष्ट साधन है।
6. सामाजिक रचना एवं सामाजिक क्रिया-कलापों का आधार भाषा है।
7. सांस्कृतिक जीवन एवं संस्कृति का आधार भाषा ही है।

भाषा की उपर्युक्त उपयोगिताओं पर विचार करते समय स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि मानव जीवन की इन समस्त उपलब्धियों की सर्वाधिक स्वाभाविक माध्यम भाषा कौन है? सबसे सरल, स्वाभाविक और स्पष्ट उत्तर है—मातृभाषा। अतः यह विचार करना सर्वथा समीचीन है कि उपर्युक्त उपयोगिताओं की दृष्टि से मातृभाषा का क्या महत्त्व है?

1. भावाभिव्यक्ति की स्वाभाविक भाषा मातृभाषा ही है—मातृभाषा की दक्षता एक विशिष्ट सूक्ष्म और सहज प्रक्रिया के द्वारा उत्पन्न होती है और फिर उसका व्यवहार भी व्यक्ति अनियन्त्रित अभ्यास के द्वारा सीख लेता है। मातृभाषा सीख लेने की साहजिक प्रक्रिया ही भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से उसे 'अन्य भाषा' की अपेक्षा अधिक सहज और स्वभावजन्य भाषा बना देती है। इसी कारण भाव एवं विचार मातृभाषा में अपने-आप स्फुरित होते, बनते और व्यक्त होते हैं। मातृभाषा बालक के शारीरिक एवं मानसिक विकास के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई स्वतः विकसित होती जाती है और इस कारण वह उसकी नैसर्गिक भाषा बन जाती है।

मातृभाषा ही सहज एवं नैसर्गिक भाषा क्यों होती है, इसका ठीक उत्तर जीव वैज्ञानिकों एवं मनोवैज्ञानिकों की खोजों से प्राप्त होता है। उनके अनुसार नवजात शिशु अपने मस्तिष्क में ध्वनि इकाइयाँ संग्रह करता है जिनके सहारे वह नई शब्दावली सीखता और जोड़ता है। ये इकाइयाँ उच्चारण तथा अर्थबोध सम्बन्धी इकाइयाँ होती हैं जो मस्तिष्क के स्नायुकोषों में अंकित हो जाती हैं। निश्चित ही ये इकाइयाँ मातृभाषा की होती हैं जब तक कि शिशु को जन्मस्थान से हटाकर किसी अन्य भाषा-भाषियों के मध्य न पहुँचा दिया जाय। शारीरिक एवं मानसिक वृद्धि के साथ-साथ ही मातृभाषा की इन इकाइयों में निरन्तर वृद्धि होती रहती है और इस कारण मातृभाषा ही बालक के भावों, विचारों एवं अनुभूतियों के प्रकाशन की स्वाभाविक भाषा के रूप में विकसित होती रहती हैं।

मातृभाषा सीखने की नैसर्गिक प्रक्रिया के साथ ही बालक की विचार-रचना सम्बन्धी मानसिक प्रक्रिया भी उत्तरोत्तर सम्पन्न और समृद्ध होती है। प्रारम्भिक अवस्था में बालक प्रत्यक्ष, स्थूल एवं मूर्त्त वस्तुओं का सम्बन्ध नामवाची शब्दों के साथ जोड़ता है, फिर आगे चलकर अप्रत्यक्ष, सूक्ष्म एवं अमूर्त्त भावो और विचारों का सम्बन्ध भी समाज में उनके लिए प्रयुक्त शब्दों के साथ स्थापित करता है और इस प्रकार बालक का अमूर्त्त भावों एवं विचारों के क्षेत्र में मातृभाषा के ही माध्यम से प्रवेश होने लगता है। इस प्रक्रिया के कारण सौंदर्यप्रियता, कलात्मक भावना एवं चिन्तन के स्तर पर भी अभिव्यक्ति का स्वाभाविक माध्यम मातृभाषा ही बनती है। यह स्थान किसी और भाषा को प्रदान कर देने से बालक के स्वतन्त्र भाव एवं विचार-प्रकाशन का मार्ग अवरुद्ध-सा हो जाता है और इसके फलस्वरूप उसके बौद्धिक एवं भावात्मक विकास की गति में भी व्याघात उत्पन्न होता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वतन्त्र भाव एवं विचार-प्रकाशन की क्षमता से ही सृजनात्मक प्रतिभा का भी विकास होता है।

भावाभिव्यक्ति का उपयोग सामाजिक स्तर पर अधिक महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति-व्यक्ति का सम्बन्ध भाषा द्वारा ही सम्भव है। परस्पर वार्तालाप, शिष्टाचार प्रदर्शन, काव्यशास्त्र विनोद, विचार-विमर्श, शास्त्रार्थ आदि भाषा के माध्यम से ही सम्भव है और ये क्रियाएँ अपने भाषा-भाषियों के बीच जितने स्वाभाविक रूप में मातृभाषा के माध्यम से सम्पन्न हो सकती हैं, उतनी और किसी भाषा के माध्यम से नहीं। इसी कारण एक मातृभाषा-भाषी जब अंग्रेजी में कुशल क्षेम पूछते या वार्तालाप करते है तो बड़ी कृत्रिमता आ जाती है।

भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से मातृभाषा का महत्त्व विशिष्ट अवसरों पर और भी परिलक्षित होता है। जब हम व्यक्ति या समुदाय-विशेष में कोई भाव जगाना चाहते हैं, उसे किसी कार्य के लिए प्रोत्साहित, उत्तेजित या उत्प्रेरित करना चाहते हैं तो मातृभाषा का महत्त्व अपने-आप स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः प्रेरणाप्रद भाषा मातृभाषा ही होती है। राजनैतिक नेता, धर्मोपदेशक, समाजसुधारक, प्रवचक आदि मातृभाषा के इस प्रेरणाथक रूप से खूब अपना काम बनाते है। किसी भाव-विशेष

को संचरित करने का सर्वोत्तम साधन मातृभाषा ही है। इसी कारण स्वतन्त्रता-संग्राम के समय जन-जागरण के लिए हमारे देश के नेताओं ने मातृभाषाओं को ही चुना था।

2. भावों एवं विचारों के उद्रेक का मूल उत्स मातृभाषा है—मातृभापा का महत्त्व केवल भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति के सहज माध्यम की ही दृष्टि से नहीं बल्कि इस दृष्टि से भी है कि वही भावी एवं विचारों की उद्भाविका शक्ति भी है। भावोद्रेक का मूल उत्स मातृभापा ही है। भाषा के अभाव में भाव, विचार, यहाँ तक कि अनुभव भी अपना-अपना अस्तित्व या रूप नही ग्रहण कर पाते। "भापा विचारप्रसूत नहीं अपितु विचारों की जननी है। उसी से मनुष्य पशुओं से श्रेष्ठ प्राणी बन सका है अन्यथा सामान्य क्रिया-कलापों एवं सवेगों में वह पशुओं के ही समान है।"[2]

वेलार्ड ने लिखा है कि "भापा एवं विचार का अन्योन्याश्रित सम्वन्ध है। उनका उद्भव और अवसान साथ ही साथ होता है। अतः एक के विना दूसरे का अस्तित्व सम्भव नहीं। इस कारण मातृभाषा में जिसमें वालक सोचता और स्वप्न देखता है, उसे प्रशिक्षित करना विद्यालयीय शिक्षा का सवसे महत्त्वपूर्ण कार्य और मानव संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ सावन है"[3]

मातृभाषा में ही नूतन भावों का संचार होता है। हमारी कल्पना नया पंख पसारती है और मौलिक विचार एवं चिंतन अपना स्वरूप ग्रहण करते है। 'अन्य भापा' के माध्यम से भाव एवं विचारों के उद्बुद्ध होने की प्रक्रिया सहज प्रवाह के रूप में न होकर अस्वाभाविक और सचेत प्रयास की प्रक्रिया होती है। इसी कारण उसमें मौलिकता और मर्मस्पर्शिता का अभाव होता है। मातृभापा हमारे चिन्तन का स्वाभाविक माध्यम है और उसका उत्प्रेरक भी, यहाँ तक की मौन चिन्तन (सव वोकल स्पीच) में भी वह अन्तर्भूत रहती है।

यदि हम अपने देश की चिन्तन-धारा पर एक ऐतिहासिक दृष्टि डालें तो स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि दसवीं शताब्दी के लगभग ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, कला,

---

2. "there is no mode of action, no form of emotion that we do not share with the lower animals. It is only by language that we rise above them, by language which is the parent and not the child of thought." आस्कर वाइल्ड.
3. वेलार्ड—"लैंग्वेज एण्ड थॉट' "For if thought and inner speech are so closely interwoven that they grow and decay together, we can not cultivate one without cultivating the other. And training in the use of mother-tongue—the tongue in which a child thinks and dreams—becomes the first essential of schooling and the finest instrument of human culture."

संस्कृति आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्र चिंतन, मौलिक विचार, नूतन आविष्कार, नवीन जीवन-दर्शन आदि का जैसे अचानक लोप हो गया हो और टीकाकारों-भाष्यकारो का युग आ गया हो। इसके मूल में अन्य ऐतिहासिक कारणो के साथ-साथ एक बहुत बड़ा कारण मातृभाषाओं के प्रयोग का अभाव रहा है। संस्कृत जनभाषा नही रही, जिसमे हमारे प्राचीन काल का ज्ञान-विज्ञान, विचार-दर्शन आदि का मौलिक साहित्य रचा गया। कालान्तर में राजभाषाएँ क्रमशः फारसी और अंग्रेजी बनी फलतः मातृभाषाओ का विकास नहीं हो सका और ऐसा लगता है जैसे भारतीय मेघा ही कुण्ठित हो गई हो।

3. भावात्मक विकास का सर्वोत्तम साधन मातृभाषा—मनुष्य की रागात्मक वृत्तियो के साथ मातृभाषा का और भी अधिक साहजिक सम्बन्ध है। यह कथन सर्वथा सत्य प्रतीत होता है कि भाषा का प्रथम स्फुरण भावावेश के कारण ही हुआ होगा, चिंतन या विचार के कारण नही। आदिम मानव के क्रिया-कलाप उसकी रागात्मक वृत्तियों या भावनाओं पर ही बहुत कुछ आधारित रहे होंगे। बौद्धिक चिन्तन और विचार प्रक्रिया तो मनुष्य ने कुछ न कुछ विकसित हो जाने के परिचायक है। ओग्डेन और रिचार्ड्स ने भावना और बुद्धि के आधार पर भाषा के दो भेद किये है—भावात्मक (इवोकेटिव्ह) और प्रतीकात्मक (सिम्बालिक)। भावात्मक भाषा हमारे सवेगों की भाषा है तथा प्रतीकात्मक भाषा चिन्तन-प्रधान भाषा है। भावात्मक भाषा का स्फुरण मातृभाषा में ही होता है। यही भाषा परिष्कृत होकर ललित एवं कलात्मक साहित्य के रूप में विकसित होती है। बालक की भावात्मक रचना और विकास की दृष्टि से मातृभाषा के साहित्य की शिक्षा पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

मातृभाषा के साहित्य की शिक्षा द्वारा बालक की रागात्मक वृत्तियों का परिष्करण एक स्वाभाविक क्रिया है। विदेशी भाषा का साहित्य हमारे हृदय के भावो को उतना उद्वेलित नहीं कर सकता क्योंकि मातृभाषा के समान उसके साथ हमारा गहरा सांस्कारिक सम्बन्ध नही होता। प्रेम, उल्लास, करुणा, क्रोध आदि मनोवेगों का उदात्तीकरण मातृभाषा के साहित्य द्वारा अधिक सम्भव है। इसके अभाव में हमारी भावुकता और संवेदनशीलता कुंठित हो जाती है। काव्य के अनुशीलन से क्षोभ; रोष, घृणा, द्वेष, क्रोध, प्रतिशोध आदि प्रवृत्तियाँ प्रेम, सौहार्द, करुणा, सहानुभूति, उपकार आदि लोकोत्तरकारी वृत्तियों में रूपान्तरित हो जाती है और स्वस्थ भावात्मक रचना में सहायक सिद्ध होती हैं। यही नही भावात्मक साहित्य दूसरों के सुख-दुख आदि के साथ तादात्म्य-स्थापन को क्षमता प्रदान करता है और हमारे हृदय में दूसरों की भाव-दशा के प्रति संवेदना और सहानुभूति जगाकर सामाजिक भावों का पोषण करता है। इसी से सामाजिक सम्बन्ध और सहयोग का भाव भी विकसित होता है। स्वस्थ भावात्मक विकास के अभाव में बालक में मानसिक विक्षिप्तता, कुण्ठा और कलात्मक जड़ता आ जाती है। भावात्मक रचना ही चरित्र-

निर्माण का भी आधार है। माइकेल वेस्ट ने लिखा है कि भाषा का महत्त्व केवल बौद्धिक रचना में ही नहीं बल्कि चरित्र-निर्माण में भी है।

4. मातृभाषा और सृजनात्मक शक्ति का विकास—बालक की सृजनात्मक शक्ति का विकास मातृभाषा में ही होता है। हम 'अन्य भाषा' का ज्ञान कितना ही प्राप्त करलें, पर उस भाषा में कविता करना या ललित साहित्य की रचना करना बहुत कठिन है। यह एक शाश्वत सत्य है कि हमारी सर्जना शक्ति मातृभाषा में ही अपना रूप प्रकट करती है। टैगोर की श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियाँ बंगला में ही हैं। साहित्यिक प्रतिभा सृजनात्मक अथवा विधायक कल्पना का आश्रय लेकर प्रस्फुटित होती है और इस विधायक कल्पना का स्फुरण हमारे अन्तर्मन मे अपनी भाषा में ही होता है, अन्य भाषा में नही।

सर्जना शक्ति का विकास मातृभाषा में ही क्यों होता है, इसका कारण है दीर्घकालीन साहचर्य। मातृभाषा का सम्बन्ध अपने भौगोलिक, प्राकृतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश तथा उसके परम्परागत इतिहास से जुड़ा होता है। इस परिवेश में ही उसका उद्भव और विकास हुआ रहता है, अतः व्यक्ति का सम्बन्ध केवल बाह्य साधन रूप में न होकर आन्तरिक भावात्मक रूप ग्रहण कर लेता है और इसी कारण उस भाषा में अभिव्यक्त कलात्मक रूपों पर वह अनायास मुग्ध हो जाता है। वस्तुतः इस सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से मातृभाषा का स्थान सर्वोपरि है।

किसी भी साहित्य के सम्यक् अध्ययन के लिए उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा उसमें चित्रित जीवन एवं वातावरण का परिचय आवश्यक होता है। तभी वह साहित्य हमारे लिए अनुरंजनकारी सिद्ध होता है और हमारी सर्जना शक्ति को प्रेरणा भी मिलती है। यह कार्य जितना मातृभाषा के साहित्य से सम्भव है, विदेशी साहित्य से नही। कविता शिक्षण के सम्बन्ध में लिखते हुए अंग्रेजी के एक शिक्षक टी. एम. पैंकड़े ने अपना अनुभव लिखा है कि अंग्रेजी कविता के सौन्दर्य तत्त्व—स्वर, ध्वनि लय, छन्द, संगीत, भाव, बिम्ब, अलंकार आदि भारतीय विद्यार्थियों को मुग्ध नहीं कर पाते। पर तुलसी, सूर, मीरा के पदो के साथ ऐसी बात नहीं होती। यह स्वाभाविक ही है। मातृभाषा सांस्कारिक भाषा होती है, अतः उसके काव्यात्मक तत्व सहज ही बोधगम्य, मुग्धकारी और प्रेरणाप्रद सिद्ध होते है। अपने देश में पशु-पक्षी, पुष्प, निर्भर, पर्वत तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ हमारे भाव एवं विचार-सम्बन्ध इतने गहरे होते है कि हम उनके साथ एकात्मकता की अनुभूति सहज ही कर लेते हैं। राम, कृष्ण, बुद्ध आदि पर रचित काव्य हमे जितना मुग्ध कर लेते हैं, विदेशियों को नही, क्योंकि हमारे लिए तो ये व्यक्तिमात्र न होकर एक विराट भारतीय संस्कृति के प्रतीक है और उनके नाममात्र से ही अनेक भारतीय आदर्श और मूल्य हमारे मन में जागरित हो उठते हैं अतः मातृभाषा ही हमारी सर्जना शक्ति के विकास का सर्वोत्तम माध्यम है।

5. मातृभाषा और बौद्धिक विकास, ज्ञानार्जन एवं चिन्तन—आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगों से सिद्ध है कि भाषा का हमारी बुद्धि एवं उसके विकास से अभिन्न सम्बन्ध है। जी. एस. थाम्सन ने अपनी पुस्तक 'इंस्टिक्ट, इन्टेलिजेन्स एण्ड करैक्टर' में सोदाहरण सिद्ध किया है कि मूक और बधिर बालक बुद्धि-परीक्षाओं में सफल नही होते क्योंकि उनके पास भाषा की शक्ति नही होती। डॉ. सिरीलवर्ट के अनुसार भाषा-योग्यता के अभाव का परिणाम बिने-साइमन परीक्षाओं में भी देखा जा सकता है। यहाँ तक कि उन क्रियात्मक परीक्षाओ (परफार्मेंस टेस्ट्स) में भी वे बालक सफल नही होते जिनमें शब्दों के प्रयोग की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। इन प्रयोगों से सिद्ध होता है कि भाषा का मनुष्य की विचार प्रक्रिया से कितना अभिन्न सम्बन्ध है। भाषा के अभाव मे हमारी बुद्धि सक्रिय नहीं हो पाती। भाषा ही हमारी बुद्धि की क्रियाशीलता, कुशाग्रता एवं प्रखरता का भी कारण सिद्ध होती है क्योंकि वह चिन्तन क्रिया को सतत उत्तेजित और प्रवाहित रखती है।

ज्ञानार्जन जितनी सरलता से मातृभाषा के माध्यम से होता है उतनी सरलता से और किसी भाषा के माध्यम से नही। मातृभाषा में कही हुई बात बड़ी आसानी से बालक आत्मसात कर लेता है और उसे अपना बना लेता है। हम सभी जानते हैं कि ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा मातृभाषा में न होने से भारत को कितनी क्षति उठानी पड़ी है और आज भी उठानी पड़ रही है। मिसेज एनीबेसेण्ट ने बहुत पहले कहा था कि "मातृभाषा द्वारा शिक्षा न देने की स्थिति ने निश्चय ही भारत को विश्व के सभ्य देशों में अति अज्ञानी बना दिया है। यहाँ उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों की संख्या काईभर है और अशिक्षितों की अपार जलराशि।"

वस्तुत: ज्ञानार्जन द्वारा ही बालक के बौद्धिक विकास का मार्ग प्रशस्त होता है। अत: जब ज्ञानार्जन की क्रिया अन्य भाषा के माध्यम से सम्पन्न होती है तो उसकी ग्रहणशीलता की गति मंद और शिथिल पड़ जाती है। गांधी जी इसी कारण बालक के मानसिक विकास की दृष्टि से मातृभाषा द्वारा शिक्षा पर बल देते थे— "मनुष्य के मानसिक विकास के लिए मातृभाषा उतनी ही आवश्यक है जितना कि बच्चे के शारीरिक विकास के लिए माता का दूध। बालक पहला पाठ अपनी माता से ही पढ़ता है। इसलिए उसके मानसिक विकास के लिए उसके ऊपर मातृभाषा के अतिरिक्त कोई दूसरी भाषा लादना मैं मातृभूमि के विरुद्ध समझता हूँ।" इसलिए टैगोर ने विज्ञान को भी सामान्यजन-सुलभ बनाने के लिए मातृभाषा द्वारा विज्ञान की शिक्षा पर बल दिया था।[4] टैगोर का कहना था कि अंग्रेजी ने हमारे समूचे

---

4. "To make Sciences accessible to the general populace it is essential to prove the way for the cultivation of science through mothertongue."—'Education for fulness' by Mukharjee P. 20

शिक्षा जगत को विरुप और दुखद बना दिया है। अंग्रेजी भाषा का ज्ञान मातृभाषा के पूरक रूप में दिया जा सकता है। पाश्चात्य विचारों का प्रसार भी मातृभाषा के ही माध्यम से होना चाहिए।[5]

6. सामाजिक रचना एवं सामाजिक क्रिया-कलापों की दृष्टि से मातृभाषा का महत्त्व—भाषा एक सामाजिक क्रिया है। उस के द्वारा हमारे सामाजिक व्यवहार सम्पन्न होते हैं। डेविड अवरक्राम्वे लिखता है कि "भाषा को व्यक्तिगत आत्म-प्रकाशन का साधन न कहकर सामाजिक-क्रिया ही कहना चाहिए।" प्रसिद्ध भाषा-विद् ब्लूमफील्ड ने लिखा है कि "मनुष्य के समस्त व्यवहार एवं क्रिया-कलापों का आधार भाषा है क्योंकि वाह्य एवं आंतरिक उत्तेजना के फलस्वरूप व्यक्ति की प्रति-क्रिया जब तक वाणी के रूप में नहीं प्रकट होती तब तक क्रिया-सम्पादन में दूसरों का सहयोग नही प्राप्त होता।" मनुष्य के समस्त कार्य, व्यापार, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक सम्बन्ध भाषा पर निर्भर है। "भाषा प्रतीकों की वह व्यवस्था है कि जिसके द्वारा एक भाषा-वर्ग के सदस्य परस्पर सहयोग प्राप्त करने के लिए भावों तथा विचारो का आदान-प्रदान करते हैं।" किसी भाषा-वर्ग के सदस्यों का यह सहयोग निश्चित ही उनकी अपनी भाषा के प्रयोग पर निर्भर है। मातृभाषा द्वारा सामाजिक क्रिया-कलाप सम्पन्न होने से सामाजिक एकता बनी रहती है। हमारे देश में क्षेत्रीय एकता भी इसीलिए विनष्ट हो गई है क्यों कि उस क्षेत्र की मातृभाषा वहीं से समस्त सामाजिक, राजनैतिक सांस्कृतिक आदि कार्यो का माध्यम नही है। अंग्रेजी ने हमारे देश की क्षेत्रीय एकता को भी विखण्डित कर रखा है क्योंकि शिक्षितों की भाषा अंग्रेजी होने से वे सामान्य जन-जीवन से अलग जा पड़ते हैं। एक भाषा-भाषियो में जो सहज आत्मीयता होती है उसे भी अंग्रेजी ने क्षत-विक्षत कर दिया है।

बेन जॉन्सन के अनुसार 'मनुष्य सामाजिक प्राणी है' और वह एक भाषायुक्त प्राणी है', दोनों कथन एक ही अर्थ रखते हैं। भाषा विचार-सम्प्रेषण का साधन है यह कथन पूर्णतः सत्य नही। भाषा की अधिक सार्थक परिभाषा यह है कि 'वह एक सामाजिक नियन्त्रण का साधन है।' भाषा को सामाजिक नियन्त्रण का साधन मान लेने पर हम जिस भाषा का व्यवहार करते हैं उसमें हमारे सामाजिक जीवन की परम्परा, रीति-नीति, आचरण तथा मानवीय सम्बन्धों का ज्ञान अवश्य ही निहित होना चाहिए और निश्चित रूप से मातृभाषा ही हो सकती है।

नवीन सामाजिक रचना की दृष्टि से मातृभाषा का स्थान और भी महत्वपूर्ण है। मातृभाषा जनभाषा होती है, उसमें ही जनता की आशाएँ-आकांक्षाएँ और समस्त उद्‌गार अपने स्वाभाविक रूप में प्रगट होते है। जन-जीवन के साथ इस भाषा का गहरा सम्बन्ध होता है। अतः जनतांत्रिक सामाजिक रचना के लिए जनभाषा का प्रयोग आवश्यक है।

---

5. वही, पृष्ठ 20

जनतांत्रिक सामाजिक रचना की दृष्टि से जनतांत्रिक शिक्षा की व्यवस्था आवश्यक है और यह जनतांत्रिक शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से ही सफल हो सकती है। हमारे देश में मातृभाषाओं के स्थान पर अंग्रेजी को महत्त्व देने का ही यह दुष्प्रभाव है कि जन-शिक्षा (मास एजुकेशन) की जगह वर्ग-शिक्षा (क्लास एजुकेशन) को प्रोत्साहन मिला। गांधीजी इसलिए भी अंग्रेजी शिक्षा का विरोध करते थे कि "अंग्रेजी ने भारतीयों को दो वर्गों मे विभाजित कर रखा है, एक तथाकथित सुसंस्कृत वर्ग और दूसरा असंस्कृत वर्ग।" अतः यदि सच्चे अर्थों में हमें जनतांत्रिक शिक्षा को विकसित करना है तो मातृभाषाओं को ही सर्वोपरि स्थान देना होगा और उन्हीं को अन्य विषयों की शिक्षा का माध्यम भी बनाना होगा।

जनतांत्रिक सामाजिक रचना के लिए देश के नागरिकों में जनतांत्रिक गुणों का विकास आवश्यक है। रायबर्न ने लिखा है कि "एक उत्तम नागरिक के लिए आवश्यक सभी गुणो—स्पष्ट विचार, अभिव्यक्ति, विचार, भाव एवं क्रिया की निष्ठा और सच्चाई, भावात्मक और सृजनात्मक जीवन की पूर्णता आदि का उद्भव और विकास तभी सम्भव है जब बालक के भावात्मक और बौद्धिक जीवन के आधार—मातृभाषा—पर पर्याप्त ध्यान दिया जाय।"[6]

7. **सांस्कृतिक जीवन और मातृभाषा**—मातृभाषा हमारी संस्कृति का अंग होती है। सांस्कृतिक क्रिया-कलापों का आधार ही नहीं बल्कि वह स्वयं 'अभौतिक संस्कृति' है। किसी भी प्रदेश की मातृभाषा में वहाँ की संस्कृति निहित रहती है और उस भाषा के अध्ययन के द्वारा उस संस्कृति से वहाँ के निवासियों का भी सम्बन्ध अभिन्न रूप से जुड़ जाता है। इसी कारण हम देखते है कि मातृभाषा तथा उसके साहित्य से परिचित न होने पर हम अपने सांस्कृतिक वैभव से भी अपरिचित रह जाते हैं। इसी कारण हम यह भी देखते है कि मातृभाषाओ का स्थान अंग्रेजी को दे देने से बहुत से शिक्षित भारतीयों में यह भावना समा जाती है कि देशी साहित्य और संस्कृति तुच्छ है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने 'भाषा और समाज' नामक पुस्तक में लिखा है कि "हम अपने भाषा के शब्दों को इसीलिए प्यार नहीं करते कि वे विभिन्न पदार्थों और व्यापारों की ओर संकेत करते हैं वरन् इसलिए भी कि वे हमारे है, उनसे हमारा एवं हमारे पूर्वजों का सम्बन्ध रहा है। इसीलिए भारतीय बच्चे जब माँ को

6. "All the virtues that are necessary in a good citizen—clear thinking, clear expression, sincerity of thought and feeling and action, fullness of emotional and creative life—all these things can be properly cultivated and developed only if sufficiant attention is paid to the foundation of emotional and intellectual life—the mother tongue." रायबर्न—टीचिंग ऑफ-मदरटंग।

मम्मी और पिता को डैडी कहते हैं तो वस्तुगत अन्तर न होते हुए भी हमें अच्छा नहीं लगता।" मातृभाषा में अपनी संस्कृति निहित रहती है यह बात उसके प्रतीकों, अभिव्यंजना के विभिन्न रूपों, सूक्तियों, लाक्षणिक तथा सांकेतिक प्रयोगो से सहज ही स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए 'चार पुरुषार्थ', तीन गुण','त्रिदेव','त्रिनेत्र', 'क्षीरसागर', 'निर्वाण', 'निष्काम', 'योग' आदि शब्दो को भारतीय विद्यार्थी जितनी सरलता से समझ लेगा उतनी सरलता से विदेशी विद्यार्थी नही समझ सकते। 'दधीचि-सा त्यागी', 'कर्ण-सा दानी', 'हरिश्चन्द्र-सा सत्यवादी', 'भीष्म-सा व्रती', अर्जुन-सा धनुर्धारी', 'सीता-सी साध्वी' आदि प्रयोग हमारे सम्मुख अतीत भारत की सांस्कृतिक गरिमा का चित्र प्रस्तुत कर देते हैं क्योंकि इनके साथ हमारा भावात्मक सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। अतः अपनी संस्कृति से प्रेम तथा तज्जन्य गुणों के विकास की वृद्धि से मातृभाषा तथा उसके साहित्य का विशेष महत्त्व है।

8. जीवन के प्रति एवं मातृभूमि के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण का निर्माण—मातृभाषा एवं उसके साहित्य के अध्ययन का सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में है कि उसके द्वारा मातृभूमि के प्रति सच्चा अनुराग पैदा होता है और जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण भी। भाषा एवं साहित्य के अनुशीलन से जीवन का दृष्टिकोण निर्धारित होता है और जिस भाषा एवं साहित्य का हम अध्ययन करते हैं उसके प्रति अपने-आप एक भावात्मक संबंध स्थापित हो जाता है। मातृभाषा और उसका साहित्य अपनी धरती और परिवेश के प्रति आत्मीयता का भाव उत्पन्न करता है और उसके लिए हम त्याग तथा अर्पण करने के लिए तैयार रहते है।

मातृभाषा का योगदान बालक के व्यक्तित्व के गठन में विशेषरूप से रहता है और इस कारण उसका व्यक्तित्व मातृभूमि से संपृक्त रहता है। अतः वह मातृभूमि से पृथक अपनी सत्ता को स्वीकार नहीं करता और उसे वह सृष्टि मे सर्वोच्च स्थान प्रदान करता है। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' इसी भावना की सरस, गौरवपूर्ण अभिव्यक्ति है।

व्यक्तिव्य के निर्माण एवं आत्मा के गठन की दृष्टि से मातृभाषा का स्थान कोई अन्य भाषा नही ले सकती। जब हम मातृभाषा की उपेक्षा करके किसी अन्य भाषा और साहित्य का ही अध्ययन करने लगते हैं और उसे ज्ञानार्जन एवं भाव संप्रेषण में सहायक मात्र न समझ कर उसे ही सर्वस्व मान बैठते है तो अनजाने ही हम मातृभूमि एवं देशवासियों से दूर भटक जाते है। हमारे देश में अंग्रेजी शिक्षा के कारण ऐसी ही स्थिति हुई थी और अब भी उसका प्रभाव नहीं गया है। प्रसिद्ध शिक्षाविद् माइकेल वेस्ट ने अपनी पुस्तक 'लैंग्वेज एण्ड एजकेशन' में लिखा है कि "मैं तत्काल ही अंग्रेजी की शिक्षा बन्द कर देने का समर्थक हूँ यदि वह मातृभाषा की शिक्षा में बाधक है, क्योंकि ज्ञान की अपेक्षा आत्मा का मूल्य और महत्त्व अधिक है।" मातृभाषा से ही आत्मा का गठन होता है, उसी से हमारे 'स्व' का निर्माण, निजत्व

का प्रकाशन और व्यक्तित्व का परिस्फुटन होता है। इस दृष्टि से प्रो. बी. पेटिसन का यह कथन उल्लेखनीय है कि—

"जहाँ देशी साहित्य अपनी जीवित परम्परा के साथ विद्यमान है वहाँ यही वांछित है कि अंग्रेजी उसकी प्रतिद्वन्द्विनी न बने। उनके अनुसार साहित्य का सबसे बड़ा कार्य शिक्षात्मक है क्योंकि साहित्य सामाजिक संबन्धों के संदर्भ में जन-जीवन का चित्रण करता है और पाठकों को यथार्थ जीवन की परिस्थितियों से परिचित कराता है। साहित्य की महान देन यह है कि वह एक दृष्टि अथवा मनोवृत्ति की रचना करता है और जीवन-मूल्यों के निर्धारण में सहायक होता है। यह शैक्षिक दृष्टि साहित्य के अध्ययन को आवश्यक और अपरिहार्य बना देती है। यथार्थ शिक्षा की दृष्टि से यह साहित्य विद्यार्थी की अपनी पहली भाषा (मातृभाषा) में अथवा उस समाज की उपलब्ध भाषा में होना चाहिए जिसमें उसे अपना जीवन व्यतीत करना है।...... अनेक भारतीय भाषाओं में केवल प्राचीन साहित्यिक परंपरा ही नहीं है, बल्कि उन्होंने अपने विकास-क्रम में अंग्रेजी साहित्य से शैली एवं विधाएँ भी ग्रहण की हैं और वे आज के विद्यार्थियों की पिपासा को तृप्त करने का सामर्थ्य रखती हैं। इन परिस्थितियों में अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य का यही योगदान होगा कि भारतीय शिक्षक अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य के ज्ञान से कुछ नया प्रकाश प्राप्त कर हिन्दी तथा अन्य भारतीय साहित्य को उचित रीति से पढ़ाने की विधि विकसित कर सकें।"

इस लम्बे उदाहरण का केवल यह तात्पर्य है कि मातृभाषा के साहित्य की शिक्षा द्वारा बालकों को बौद्धिक एवं भावात्मक रचना की सही दिशा प्राप्त होती है क्योंकि उसमें हमें अपने सांस्कृतिक विकास एवं अपने पूर्वजों द्वारा निष्पन्न श्रेष्ठ साधनाओं की झलक मिलती है। इस साहित्य से हमें अपने सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन का परिचय मिलता है। उदाहरण के लिए भारतीय भाषाओं के साहित्य में भारतीय रीति-नीति, विश्वास एवं प्रथाएँ, सामाजिक मनोवृत्ति एवं आस्थाएँ, शिष्टाचार एवं मानवीय संबंध आदि सभ्यता एवं संस्कृति के तत्त्व अनायास ही प्रतिबिम्बित होते हैं और उनके अध्ययन से हमारे वर्तमान जीवन का संबंध अपने-आप अतीत के साथ जुड़ जाता है। वर्तमान पीढ़ी के बालक प्रेमचन्द के उपन्यासों को पढ़कर भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम की झलक पा लेते है, गाँवों का जीवन (किसान, मजदूर, जमींदार, महाजन तथा उनके परस्पर सम्बन्ध आदि) उनके सम्मुख जगमगा जाता है।

साहित्य हमारे मन में अनेक उन्नत और उदात्त विचारों को जन्म देता है और उनसे हम अपने भावी जीवन को उन्नत बनाने की प्रेरणा ग्रहण करते हैं। साहित्य के अध्ययन का मूल्य इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है कि हम मानव प्रकृति के परिचित होते हैं, हमें एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है जिससे विविध चरित्रों के विश्लेषण द्वारा हम जीवन की गहराइयों में उतर सकते है और अपना जीवन-दर्शन बनाने

की प्रेरणा ग्रहण करते है। मातृभाषा का साहित्य हमारे बालकों में एक स्वस्थ भारतीय दृष्टिकोण प्रदान करने में सहायक सिद्ध होता है और साथ ही अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता रखते हुए मानव संस्कृति के निर्माण एवं मानवप्रेम के लिए आधार-भूमि तैयार करता है।

मातृभाषा का साहित्य मातृभूमि की एकता में सहायक होता है। उदाहरण के लिए सारा भक्तिकालीन काव्य संपूर्ण भावात्मक एकता का परिचायक है। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा विद्यापति, चैतन्य, नामदेव आदि कवियों में भक्ति से परिपूर्ण एक ही निःस्पृह मानव हृदय उच्छ्वसित है। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि इस भक्ति-धारा के प्रवर्त्तक आचार्य दक्षिण भारत के संत विचारक थे। विष्णु स्वामी, रामानुज, रामानन्द, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य आदि ने भक्ति की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि तैयार की और उसे सरस कविता में व्यंजित करने का कार्य उत्तर भारत के सन्त कवियों ने किया। भारतीय सांस्कृतिक एवं भावात्मक एकता का कितना उज्जवल उदाहरण है। इस एकता को राज्य की सीमाएँ भंग नही कर सकीं और न ही भावों एवं विचारों के प्रसार में राजनैतिक शक्तियाँ बाधक हो सकीं। राजनैतिक दृष्टि से बँटा होकर भी तत्कालीन भारत सांस्कृतिक, भावात्मक एवं चिन्तन की दृष्टि से एक रहा और वाह्य विविधता के अंतर में एक भावधारा प्रवाहित होती रही। हिन्दी साहित्य ने उस भाव एवं चिन्तन को वाणी दी। आधुनिककाल की हिन्दी कविता में भी इस राष्ट्रीय भावात्मक एकता की दृष्टि से प्रभूत सामग्री मिल जाती है।

शिक्षा के माध्यम रूप में मातृभाषा का महत्त्व

मातृभाषा पाठ्यक्रम में समाविष्ट अन्य विषयों की भाँति एक विषय मात्र नहीं है अपितु सभी विषयों के ज्ञानार्जन एवं शिक्षा ग्रहण करने का माध्यम है। भाषा की शक्ति जितनी परिपक्व, गहरी और व्यापक होती है, बालक उतनी ही शीघ्रता और सरलता से विविध विषयों का ज्ञान ग्रहण करता है। 'अन्य भाषा' के द्वारा ज्ञानार्जन की क्रिया स्वाभाविक एवं सुबोधगम्य नहीं हो पाती। अतः मातृभाषा की शिक्षा का अर्थ केवल उसकी भाषिक एवं साहित्यिक शिक्षा ही नहीं, अपितु उसके माध्यम से समस्त विषयों का ज्ञान प्राप्त करना है। तभी मातृभाषा सम्पन्न और समृद्धिशाली भी होती है क्योंकि माध्यम होने पर बालक विविध विषयो की शब्दावली और अभि-व्यक्ति के विभिन्न प्रकारों से सहज ही परिचित होता जाता है। इसमें मातृभाषा का क्षेत्र ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से विस्तृत होता जाता है और भाषा अपने-आप समर्थ और सम्पन्न बनती जाती है। हिन्दी तथा अन्य भारतीय मातृभाषाओं का सबसे बड़ा दुर्भाग्य रहा है कि उनकी शिक्षा केवल एक विषय के रूप में दी जाती रही है। अनेक प्रयत्नों के बाद मातृभाषाएँ माध्यमिक स्तर तक शिक्षा का माध्यम बन सकी है पर उच्च शिक्षा एवं विश्वविद्यालयीय शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी ही बनी रही। इससे एक ओर हमारी मातृभाषाएँ पिछड़ती गयीं और दूसरी ओर ज्ञान-विज्ञान की

दृष्टि से हमारा राष्ट्र भी पिछड़ता गया। ब्रेल्सफोर्ड की यह उक्ति इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि—

"केवल एक ही भाषा में हमारे भावों की स्पष्ट व्यंजना हो सकती है। केवल एक ही भाषा के शब्दों के सूक्ष्म संकेतों को हम सहज और निश्चित रूप से ग्रहण कर सकते हैं। यह भाषा वह है जिसे हम माता के दूध के साथ सीखते हैं, जिसमें हम अपनी प्रारम्भिक प्रार्थनाओं, हर्ष एवं शोक के उद्गारों को व्यक्त करते हैं। दूसरी किसी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना विद्यार्थी के श्रम को अनावश्यक रूप से बढ़ाना ही नहीं, अपितु उसके मस्तिष्क की स्वतन्त्र गति को पंगु बना देना है।"[7]

गांधी जी तो इस बात से बड़े दुखी होते थे कि भारतवर्ष में मातृभाषा की इतनी उपेक्षा हो रही है। उनका कहना था कि "मातृभाषा के ही माध्यम से बालक अपने समाज की संस्कृति, आकांक्षाओं, विचारों और नैतिक मान्यताओं का ज्ञान अच्छी तरह प्राप्त कर सकता है और यही भाषा उसके विचारों और भावनाओं को उचित रूप से व्यक्त करने में सहायक हो सकती थी"।[8] गांधी जी मातृभाषा को माध्यम न बनाने के प्रश्न पर कभी-कभी तो अत्यन्त क्षुब्ध हो उठते थे। एक अवसर पर उनके जैसा शान्त, धीर और मनस्वी व्यक्ति भी कह उठा कि "यदि मैं कुछ दिनों के लिए तानाशाह हो जाऊँ तो मातृभाषाओं को तत्काल ही उच्च शिक्षा का माध्यम बना दूँ, इसके लिए भले ही उन प्रोफेसरों को हटाना पड़े जो अपने को मातृभाषा में पढ़ाने में असमर्थ कहने में गर्व समझते हैं।"

मातृभाषा को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने में जो सबसे बड़ी बाधा बताई जाती है वह है उस स्तर की पाठ्य-पुस्तकों का अभाव। पर मातृभाषाओं में पहले पाठ्य-पुस्तकें लिखकर फिर उन्हें उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने की क्रिया विपरीत क्रिया है। टैगोर ने इस सम्बन्ध में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—

"मातृभाषा माध्यम होने पर उसमें पाठ्य-पुस्तकें अपने आप लिखी जायेंगी। जब वह माध्यम नहीं है तो उसमें पाठ्य-पुस्तकें क्यों लिखी जायँगी? पाठ्य-पुस्तकों के अभाव में मातृभाषाओं को माध्यम न बनाना वैसी ही बात है जैसे वृक्ष उस समय तक न बढ़े जबतक पत्ते पहले न निकल आएँ या सरिता अपना प्रवाह रोक दे जब तक उसके तटों का निर्माण न हो जाय।"[9] "जब विश्वविद्यालय मातृभाषाओं को शिक्षा एवं परीक्षा का माध्यम मान लेंगे तो सभी विषयों में पाठ्य-पुस्तकें अपने-आप लिखी जायँगी। किसी भी आत्मसम्मानी जाति के लिए यह लज्जा की बात है कि वह सदा के लिए ज्ञानार्जन की दृष्टि से विदेशी भाषा पर आश्रित रहे।"[10]

---

7. के. के. शत्रिका—मातृभाषा शिक्षण, पृ० 5
8. हरिजन, 18 अगस्त 1946
9. Mukharjee—Education for fulness, p. 48
10. वही, पृ० 163

अतः मातृभाषा को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाकर उसे हम अधिक सम्पन्न और समृद्धिशाली बना सकते हैं और इस रूप में मातृभाषा का महत्त्व निर्विवाद है।

उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रहने से राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक ह्रास–हमारे देश में प्रारम्भिक शिक्षा के बाद ही माध्यम की दृष्टि से मातृभाषा का महत्त्व कम होने लगता है। माध्यमिक स्तर के बाद तो मातृभाषा का महत्त्व माध्यम की दृष्टि से नहीं के बराबर रह जाता है। हमारी राष्ट्रीय शिक्षानीति भी इसके लिए उत्तरदायी है। केन्द्रीय विद्यालयों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है, पर वहाँ भी केवल सामाजिक विषयों की शिक्षा हिन्दी माध्यम से होती है, शेष विषयों की शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। अतः माध्यमिक स्तर से ही अंग्रेजी शिक्षा का महत्त्व बढ़ता जाता है फलतः बालक न तो अपने विचार की भाषा (मातृभाषा) पर अधिकार पाता है और न अंग्रेजी पर ही (पब्लिक स्कूलों की बात छोड़ दीजिए, वे एक विशिष्ट साधनसम्पन्न वर्ग की सम्पत्ति हैं)। इससे बालकों की विचारशक्ति, पंगु-सी हो जाती है और मौलिक चिन्तन की क्षमता जाती रहती है। उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी के रहने से बालक वहाँ भावुक और चिन्तक न रहकर अनुकरणकर्त्ता के रूप में रह जाता है क्योंकि विदेशी भाषा में भावों एवं विचारों का विकासोन्मुख प्रवाह नहीं रह पाता। अंग्रेजी भाषा के कारण बालक का प्रमुख लक्ष्य भावों एवं विचारों की उद्भावना न रहकर विषय-सामग्री को अंग्रेजी शब्दों और वाक्यों में याद करना और परीक्षा में सफलता प्राप्त करना रह जाता है। हम भूल जाते है कि किसी भी स्वतन्त्र चिन्तन अथवा अनुभूति का आधार विषय सामग्री को ठीक-ठीक ग्रहण एवं आत्मसात करने तथा उसके सम्बन्ध में अभिव्यिक्त की पूर्ण क्षमता प्राप्त करने पर ही बन पाता है, केवल 'वाक्यज्ञान' मात्र से नहीं। शिक्षा में अंग्रेजी के माध्यम ने इस 'वाक्यज्ञान' को ही विद्यार्थियों के लिए परम लक्षण बना दिया है और इससे हमारे देश में स्वतन्त्रचेता विचारकों, अन्वेषकों एवं आविष्कारकों का अभाव होता गया है।

इस विडम्बना का सबसे बड़ा दुष्प्रभाव यह पड़ा है कि राष्ट्रीय स्तर पर बौद्धिक एवं भावात्मक दृष्टि से हम खोखले होते जा रहे है। शिक्षित वर्ग में सारे शास्त्रार्थ, विचार-विमर्श, परिचर्चाएँ अंग्रेजी में सम्पन्न की जाती हैं जो सामान्यजन धरातल पर काल्पनिक ही बनी रह जाती है। जन-जीवन से उनका कोई स्पर्श नहीं हो पाता। शिक्षा और ज्ञान का पर्याय है अंग्रेजी में विचारों की अभिव्यक्ति, जिसने भावात्मक दृष्टि से हमें हीन बना दिया है। हव जनतान्त्रिकता और भावात्मक एकता की बातें करते हैं पर समाज में तथाकथित शिक्षितों की भाषा पृथक है और सामान्य जन की भाषा पृथक है, दोनों के बीच संप्रेषण का साधन नहीं है। इससे हममें एक सांस्कृतिक विलगाव पैदा हो गया है। मातृभाषा की उपेक्षा ने सामान्य जन में हीनता की भावना पैदा कर दी है, अंग्रेजी को प्रमुखता ने साधनसम्पन्न वर्ग में प्रभुता की भावना भर दी है। हम ज्ञान एवं भावना की दृष्टि से परमुखापेक्षी बन गये है।

इसी कारण गांधीजी अंग्रेजी द्वारा दी गयी शिक्षा को 'अभारतीयकरण की शिक्षा' (डीइण्डियनाईजिग एजूकेशन) कहते थे।

अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य का अध्ययन करना, उसमें निहित ज्ञान एवं विचारों से लाभ उठाना और उससे अपनी भाषाओं को सम्पन्न एवं समृद्धिशाली बनाना तो सभी श्रेयस्कर मानते है किन्तु उसकी प्रभुता में अपनी सत्ता खो बैठना और अपनी भाषा, समाज और राष्ट्र की उपेक्षा करने लगना बहुत ही लज्जा की बात है। भारत के पब्लिक स्कूलों में छात्रों का दृष्टिकोण अपनी राष्ट्रीय भाषा एवं संस्कृति के प्रति कितनी हीनता और उपेक्षा से भरा हुआ है, जब वे कहते है कि देशी भाषाओं में कुछ भी नही, जो कुछ है अंग्रेजी में ही है तो उन्हें यह भी आभास नही होता कि वे स्वयं अपना अपमान कर रहे है। इस दूषित मनोवृत्ति के विरुद्ध हमारे शिक्षा-विचारकों ने बार-बार सावधान किया। अंग्रेजी साहित्य का जादू पब्लिक स्कूल के छात्रों पर इतना चढ़ जाता है कि वे शेक्सपीयर, मिल्टन, वर्ड्‌स-वर्थ का नाम तो जपते है पर यह नहीं मालूम कि कालिदास, वाल्मीकि और भवभूति भी कोई कवि थे। यह हमारे बौद्धिक, भावात्मक एवं सांस्कृतिक ह्रास का ज्वलन्त लक्षण है।

उच्च शिक्षा के माध्यम की वर्तमान स्थिति—स्वतन्त्रता के बाद शिक्षा विचारकों का ध्यान उच्च शिक्षा के माध्यम की ओर भी गया। 1949 में 'विश्व-विद्यालय आयोग' ने अंग्रेजी के स्थान पर भारतीय भाषाओं के प्रयोग का सुझाव दिया था पर उसे आज तक क्रियान्वित नहीं किया जा सका। 1949 के बाद भी अनेक समितियों के सुझाव आते रहे कि उच्च शिक्षा का भी माध्यम भारतीय भाषाओं को बनाना चाहिए। 1956 में 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' ने क्षेत्रीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया। 'भावात्मक एकता समिति' (1961–62) ने भी विश्वविद्यालयीय स्तर पर शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषाओं को ही रखने का सुझाव दिया। पर ये सुझाव प्रस्तावों के ही रूप में इसलिए पड़े रह गये कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक एवं प्राविधिक विषयों की शिक्षा का माध्यम बन सकने की क्षमता नहीं है। अंग्रेजी समर्थकों का यह तर्क ऐसा रामबाण है कि सारे सुझाव धरे के धरे रह जाते हैं। फरवरी 1965 को नई दिल्ली में अखिल भारतीय प्राविधिक शिक्षा समिति (ऑल इण्डिया कौंसिल फार टेक्निकल एजूकेशन) ने प्रस्ताव पास किया कि वैज्ञानिक और प्राविधिक शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी ही रहेगी और आश्चर्य तो यह है कि कोठारी आयोग (1966 ई०) ने भी उनसे अपनी सहमति प्रकट की[11] और आँसू पोंछने के लिए यह सुझाव दे दिया कि क्षेत्रीय भाषाओं को भी शीघ्र से शीघ्र सम्पन्न और उन्नत बनाया जाय जिससे वे अंग्रेजी का स्थान ले सके। इस आयोग

11. रिपोर्ट ऑफ दि एजूकेशन कमीशन 1964–66, पृ० 382

ने अपने सुझावों में एक और नया गुल खिला दिया है कि अखिल भारतीय स्तर के विश्वविद्यालय में अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम रहने दिया जाय। स्वतन्त्रता के पच्चीस वर्ष बाद भी इस दिशा में हमारी प्रगति का यही इतिहास है।

उच्च शिक्षा के माध्यम की समस्या तर्क-वितर्क की समस्या नहीं है, वह एक व्यावहारिक समस्या है। चाहे हम शिक्षा विज्ञान के सिद्धांतों की दृष्टि से देखें, ज्ञान-विज्ञान के प्रचार और प्रसार की दृष्टि से देखें, बालक के वैयक्तिक, बौद्धिक, भावात्मक और नैतिक विकास की दृष्टि से देखें, सामाजिक और सास्कृतिक गुणों की अभिवृद्धि की दृष्टि से देखें, राष्ट्रीय भावात्मक एकता की दृष्टि से देखे, मातृभाषा ही आद्यन्त शिक्षा का माध्यम होनी चाहिए। इसमें सबसे बड़ी बाधा एक ही है वह है एक साधनसम्पन्न वर्ग का अंग्रेजी में निहित स्वार्थ। इसलिए भारतीय भाषाओं की असमर्थता और अक्षमता का राग अलाप कर अंग्रेजी को बनाये रखना चाहते हैं।

हिन्दी को उच्च शिक्षा का माध्यम—जहाँ तक हिन्दी भाषी प्रदेशों का सम्बन्ध है, हम राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध मे विचार करते हुए यह देख चुके हैं कि हिन्दी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाया जा सकता है और हिन्दी भाषी प्रदेशो को इस दिशा में तत्काल कदम उठाना चाहिए। जहाँ तक अहिन्दी भाषी प्रदेशो का सम्बन्ध है, वहाँ भी मातृभाषाओ को ही माध्यम का स्थान मिलना चाहिए। उन प्रदेशों में भी हिन्दी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाना चाहिए, यह प्रश्न भी विवादास्पद है। कुछ विचारकों का कहना है कि यदि विभिन्न राज्यों में वहां की क्षेत्रीय भाषाएँ उच्च शिक्षा का माध्यम होंगी तो इससे प्रादेशिकता बढ़ेगी और यह सुझाव व्यावहारिक भी नहीं है क्योंकि सभी प्रादेशिक भाषाएँ माध्यम होने योग्य नही हो पाई है। अतः **हिन्दी को उच्च शिक्षा का माध्यम सार्वदेशिक स्तर पर होना चाहिए।** इससे निम्नांकित लाभ होंगे—

1. अपनी सार्वदेशिक प्रकृति के कारण और प्राविधिक एवं वैज्ञानिक शब्दावली की संपन्नता के कारण हिन्दी सरलतापूर्वक अंग्रेजी का स्थान ग्रहण कर सकेगी। उच्च शिक्षा का यह माध्यम होते ही वह राजभाषा के रूप में भी पूर्णतः व्यवहृत होने लगेगी।

2. क्षेत्रीय भाषाओं के उच्च शिक्षा के स्तर पर माध्यम होने से जो प्रादेशिक भावना बढ़ने की सम्भावना हैं, उसका भी निवारण हो जायगा।

3. हिन्दी का सच्चे अर्थों में एक सार्वदेशिक भाषा के रूप में विकास होगा और राष्ट्रीय एवं भावात्मक एकता मे वह अधिक साधक सिद्ध होगी।

4. विभिन्न प्रांतीय भाषाओं के पिछड़ेपन की दुहाई देकर अंग्रेजी को प्रचलित रखने का कुचक्र अपने-आप दूर हो जायेगा।

5. 'भारतीय भाषाओं में उच्च शिक्षा सम्बन्धी पाठ्य-पुस्तकों का अभाव है और उसके विकास में बहुत ही धन, श्रम और समय चाहिए, इस विरोध का भी अवसर नहीं रहेगा क्योंकि हिन्दी में इस समस्या का समाधान बहुत कुछ हो चुका है और जो कमी है, वह उच्च शिक्षा का माध्यम होते ही पूरी हो जायगी। एक ही भाषा (हिन्दी) को समृद्ध बनाने में अधिक समय, श्रम और धन नहीं लगेगा।

6. उच्च शिक्षा-स्तर पर हिन्दी के सार्वदेशिक प्रसार से शिक्षा के राष्ट्रीयकरण में सहायता मिलेगी और अंग्रेजी के भक्तों को यह कहने का अवसर नहीं मिलेगा कि अखिल भारतीय स्तर पर विचार-विनिमय की भाषा अंग्रेजी के अतिरिक्त कोई है ही नहीं।[12]

7. उच्च शिक्षा-स्तर पर एक राष्ट्र भाषा के माध्यम होने से ज्ञान-विज्ञान के शोध में भी सहायता मिलेगी।

उपर्युक्त सुझावों की उपयोगिता देखते हुए यदि इस दिशा में हमारी केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें विचार करें और संकल्पकृत हो अपना निर्णय व्यवहृत करें तो उच्च स्तर पर भी माध्यम की समस्या हल हो सकती है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि हम हिन्दी भाषी प्रदेशों में भी इसे विचारणीय प्रश्न कहकर टालते रहें। हिन्दी भाषी प्रदेशों में तो तत्काल ही उच्च शिक्षा के स्तर पर हिन्दी को माध्यम बना देना ही उपयोगी और कल्याणकारी सिद्ध होगा और सम्भव है इसके कारण अहिन्दी भाषी प्रदेशों को भी प्रेरणा मिले।

मातृभाषा का पाठ्यक्रम में स्थान

मातृभाषा के उपर्युक्त महत्त्व को देखते हुए पाठ्यक्रम में उसका स्थान अपने आप सर्वोपरि सिद्ध हो जाता है, फिर भी संकेत रूप में उनका उल्लेख अप्रासंगिक न होगा।

(1) पाठ्यक्रम-निर्धारण का प्रमुख सिद्धांत यह कि उन विषयों का समावेश शिक्षा में अवश्य होना चाहिए जो बालक के व्यक्तित्व-निर्माण में—उसके बौद्धिक, भावात्मक, चारित्रिक एवं सृजनात्मक शक्ति के विकास में—सहायक हो, जो उसमें सामाजिक और राष्ट्रीय गुणों की संवृद्धि करें, उसके सांस्कृतिक पक्ष को सबल बनाएँ, उसमें सामाजिक दक्षता और कार्यकुशलता उत्पन्न करें और उसके व्यक्तिगत, सामा-

---

12. भूतपूर्व शिक्षामंत्री श्री छागला ने प्रधानमंत्री को अपने त्यागपत्र में यह लिखा था कि यदि अंग्रेजी नहीं रही तो अखिल भारतीय स्तर पर विभिन्न समितियों, सभाओं में विचार-विनिमय के लिए हमारे पास कोई भाषा नहीं है।

जिक एवं राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हों। मातृभाषा के महत्त्व पर विचार करते समय हम देख चुके है कि इन सभी दृष्टियों से मातृभाषा की शिक्षा कितनी आवश्यक है। इस दृष्टि से उसे पाठ्यक्रम मे सर्वोच्च स्थान मिलना चाहिए। उसके अध्ययन के लिए यथासम्भव सर्वोत्तम व्यवस्था होनी चाहिए।

(2) मातृभाषा पाठ्यक्रम का एक विषय मात्र ही नहीं, बल्कि सभी पाठ्य-विषयों के ज्ञानार्जन का साधन है। अतः शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। मातृभाषा की योग्यता जितनी ही परिपक्व होती है, बालक उतनी ही शीघ्रता से शिक्षक का कथन एवं पाठ्य-पुस्तक में लिखित सामग्री ग्रहण कर लेता है। अतः मातृभाषा की शिक्षा पर और विशेष बल देना चाहिए। मातृभाषा की शिक्षा में कमी होने के कारण ही कम ज्ञानार्जन की दृष्टि से अंग्रेजी पर आश्रित बने हुए है। कोठारी कमीशन ने ठीक ही कहा है कि ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से हमारी वही स्थिति है जो अन्तिम पानी के नल की होती है जिसमें बूँद-बूँद पानी गिरता है। ज्ञान-विज्ञान की धारा इंगलैंड-अमेरिका से चलती है और अंग्रेजी पुस्तकों के माध्यम से छन-छनकर हमें प्राप्त होती है। अपनी भाषा माध्यम हो जाने पर स्वतः वह ज्ञान-विज्ञान एवं चिन्तन का आगार बन सकेगी।

(3) आज हमारे देश में विघटनकारी प्रवृत्तियाँ सिर उठा रही हैं और उनके कारण शिक्षा-जगत में भी उथल-पुथल मचा हुआ है। विद्यार्थी-वर्ग में माध्यम के कारण भी असंतोष है। मातृभाषा को उचित स्थान मिलने से विद्यार्थियों के ज्ञानार्जन में सरलता और सुग्राह्यता होगी। इससे भाषायी विवाद दूर होगा और एकता की भावना प्रबुद्ध होगी।

अपनी मातृभाषा से जिसका अनुराग नहीं, वह अपने समाज और राष्ट्र से प्रेम नहीं कर सकता। बालक का जैसा प्रगाढ़, निर्मल और सात्विक प्रेम अपनी माँ से होता है, वैसा ही प्रेम अपनी मातृभाषा और मातृभूमि से होना चाहिए। मातृभाषा से प्रेम किये बिना मातृभूमि के प्रति प्रेम का राग अलापना मिथ्या प्रदर्शन और प्रवंचना मात्र है।

उपर्युक्त दृष्टियों से मातृभाषा का पाठ्यक्रम में अनिवार्य एवं सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण स्थान है। मातृभाषा व्यक्ति के समस्त आंतरिक गुणों के विकास के साथ-साथ उसके बाह्य क्रिया-कलापों और व्यवहारों का भी मुख्य आधार है। बालक की शिक्षा मातृभाषा से ही प्रारम्भ होती है। भाषा के बिना किसी प्रकार की शिक्षा अथवा पाठ्यक्रम की कल्पना ही निराधार और निर्मूल है।

सारांश

अध्येता की दृष्टि से भाषा के दो भेद–**जन्मभाषा** (मातृभाषा) और **अन्य भाषा**।

मातृभाषा का महत्त्व—(1) मातृभाषा ही बालक के भावों एवं विचारों की

अभिव्यक्ति का सहज स्वाभाविक साधन है। वह उसके शारीरिक एवं मानसिक विकास के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई स्वतः विकसित होती जाती है। अतः वह उसके व्यक्तित्व का ही अविच्छिन्न अङ्ग है। (2) मातृभाषा में ही भाव एवं विचार उद्रिक्त एवं उद्भूत होते हैं। अतः स्वतन्त्र चिन्तन, उद्भावन एवं कल्पना की भाषा मातृभाषा ही है। (3) भावात्मक विकास का सर्वोत्तम साधन मातृभाषा है, हमारी एकात्मक वृत्तियों का उन्नयन और परिष्करण मातृभाषा के साहित्य द्वारा जितना सम्भव है, अन्य भाषा के साहित्य द्वारा नहीं (4) मातृभाषा में बालक की सर्जना शक्ति का विकास नैसर्गिक रूप में होता है। सौंदर्य-बोध एवं सौन्दर्यप्रियता मातृभाषा के साहित्य द्वारा विकसित होती है। (5) मातृभाषा द्वारा नूतन ज्ञानोपलब्धि की क्रिया सरल और सहज हो जाती है। हमारी बुद्धि की कुशाग्रता और प्रखरता बढ़ती है। (6) सामाजिक रचना एवं सामाजिक क्रिया-कलापों की दृष्टि से मातृभाषा अधिक व्यावहारिक एवं सुगम साधन है और उसी के द्वारा उस भाषा-समुदाय में एकता बनी रहती है। (7) सांस्कृतिक जीवन के उत्कर्ष की दृष्टि से मातृभाषा का विशेष महत्त्व है क्योंकि वह न केवल समस्त सांस्कृतिक क्रिया-कलापों का आधार है वरन् स्वयं अभौतिक संस्कृति है। (8) मातृभाषा द्वारा जीवन के प्रति एवं मातृभूमि के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण का निर्माण होता है। मातृभाषा से ही आत्मा का गठन होता है, व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

माध्यम की दृष्टि से मातृभाषा का महत्त्व सभी शिक्षा विशेषज्ञों एवं विचारकों ने स्वीकार किया है। उसके द्वारा बालक शीघ्रता और सरलता से नया ज्ञान प्राप्त कर लेता है और सीखने की क्रिया सरल और स्वाभाविक लगती है। वह स्वतन्त्र रूप से विचार कर सकता है, विवेचन, विश्लेषण, और संश्लेषण की दृष्टि से मातृभाषा ही उपयुक्त भाषा होती है। उत्तर भारत में मातृभाषा हिन्दी है। उसे उच्च-स्तरीय शिक्षा का भी माध्यम होना चाहिए।

मातृभाषा का पाठ्यक्रम में अनिवार्य एवं सर्वोपरि स्थान है—बालक के सर्वांगीण विकास की दृष्टि से, शिक्षा के माध्यम की दृष्टि से और विघटनकारी प्रवृत्तियों को दूर कर भाषायी एकता स्थापन की दृष्टि से।

प्रश्न

1. "मातृभाषा की शिक्षा द्वारा ही बालक का भावात्मक एवं बौद्धिक विकास सच्चे एवं स्वाभाविक रूप में सम्भव है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।
2. "बालक के मानसिक विकास के लिए मातृभाषा का वही महत्त्व है जो उसके शारीरिक विकास के लिए माँ के दूध का।" इस कथन की सम्यक् विवेचना कीजिए।

3. सर्जनात्मक शक्ति से क्या तात्पर्य है ? उसके विकास की दृष्टि से अन्य भाषाओं की अपेक्षा मातृभाषा का महत्त्व क्यों अधिक है ?
4. हमारे देश की शिक्षा में मातृभाषाओं को माध्यम न बनाने से हमारा क्या बौद्धिक एवं सांस्कृतिक ह्रास हुआ है ? मातृभाषा के सांस्कृतिक महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए इस प्रश्न का उत्तर लिखिए ।
5. भाषिक दृष्टि से अपने देश की सामाजिक स्थिति का उल्लेख करते हुए बताइये कि सामाजिक एकता और सामाजिक रचना की दृष्टि से मातृभाषा का क्या महत्त्व है ?
6. वर्तमान परिस्थितियों में हमारे देश में उच्च शिक्षा के स्तर पर शिक्षा का माध्यम क्या होना चाहिए ?
7. पाठ्यक्रम में मातृभाषा का स्थान विविध शैक्षिक दृष्टियों से निर्धारित कीजिये ।

4
मातृभाषा शिक्षण के उद्देश्य

[भापा एवं साहित्य के विभिन्न पक्ष, मातृभाषा शिक्षण के प्रमुख उद्देश्य—ज्ञानात्मक, कौशलात्मक, रसात्मक एवं समीक्षात्मक, सर्जनात्मक, अभिवृत्त्यात्मक, प्रमुख उद्देश्य एवं तत्सम्वन्धी अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्तन]

"भापा संसार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है—यह विश्व की हृदय-तंत्री की झंकार है, जिसके स्वर में यह अभिव्यक्ति पाती है।"

—सुमित्रानन्दन पंत

मातृभापा जीवन के समस्त क्रिया-कलापों के संचार की भापा है अतः उसके शिक्षण के उद्देश्य भी अनेकमुखी एवं व्यापक होंगे, विपय की प्रकृति, स्वरूप एवं जीवन मे उसके उपयोग की दृष्टि से विचार करने पर मातृभापा के दो पक्ष स्पष्टतः सामने आते हैं (क) भापिक पक्ष और (ख) साहित्यिक पक्ष।

(क) भापिक पक्ष के भी दो रूप हैं–(1) ज्ञान पक्ष और (2) व्यवहार अथवा कौशल पक्ष। इन दोनों पक्षों को सिद्धपक्ष और साध्यपक्ष भी कहा जाता है। सिद्ध रूप का तात्पर्य भापिक तत्त्वों से है। हम देख चुके हैं कि भाषा एक संरचना है और भापा की संरचना ध्वनि, शव्द, वाक्य, अनुच्छेद आदि स्तरों पर फैली रहती है। ये भापा के तत्त्व है और इनका ज्ञान भापा शिक्षण का प्रमुख उद्देश्य है।

(2) भापा के साध्य रूप से तात्पर्य भाषा की व्यवहारिक योग्यता अर्थात् कौशलों से है। वैयक्तिक एवं सामाजिक क्रिया-कलापों की निष्पन्नता इस कौशल पक्ष पर ही निर्भर है। भापायी कौशलों के भी दो पक्ष हैं—ग्रहण एवं अभिव्यक्ति जो श्रोता एवं वक्ता के कार्य हैं। ग्रहण पक्ष के अन्तर्गत दो कौशल—सुनना और पढ़ना तथा अभिव्यक्ति पक्ष के अन्तर्गत दो कौशल—बोलना और लिखना शामिल हैं। इस प्रकार भापा के साध्यरूप के अन्तर्गत इन चारों कौशलों—सुनकर समझना, वोलना, पढ़ना और लिखने की दक्षता प्रदान करना भाषा शिक्षण के प्रमुख उद्देश्य हैं।

(ख) साहित्यक पक्ष—किसी भापा में व्यक्त भाव एवं विचार ही साहित्य कहलाता है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "ज्ञानराशि के संचित कोश का ही नाम साहित्य है।" यह एक व्यापक परिभापा है। साहित्य के दो प्रकार हैं—एक तथ्यात्मक, सूचनात्मक अथवा ज्ञानात्मक साहित्य जैसे दर्शन, विज्ञान, वाणिज्य, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, आदि। इसे हम उपयोगी साहित्य भी कहते हैं, दूसरा

सृजनात्मक अथवा सौन्दर्यबोधात्मक है। इसे हम ललित साहित्य भी कहते हैं। इसमें भावों, विचारों की कलात्मक अभिव्यक्ति होती है। भाषा-शिक्षण में हमारा सम्बन्ध इस ललित साहित्य से ही रहता है।

ललित साहित्य के भी अनेक पक्ष हैं—**ज्ञानात्मक** (विषय सामग्री-तथ्य, भाव एवं विचार का ज्ञान), **सौन्दर्यबोधात्मक** (साहित्यिक सौन्दर्य तत्त्वों का बोध और रसास्वादन), विवेचनात्मक (वर्णित एवं चित्रित जीवन और जगत् के प्रति समीक्षात्मक दृष्टि), सर्जनात्मक (रचनात्मक प्रतिभा का विकास और अपनी रचना में मौलिकता लाना), प्रेरणात्मक (मनोभावों एवं मनोवेगों का उद्रेक एवं सत्कार्यों के प्रति रुचि), अनुरंजनात्मक (आनन्द प्राप्ति) आदि। इन पक्षों को विद्वानों ने **भावपक्ष एवं कलापक्ष** की दृष्टि से भी विभक्त किया है। भावपक्ष से हमारा आशय भावों, विचारों एवं अनुभूतियों से है और कलापक्ष से हमारा आशय उनकी अभिव्यंजना पद्धति, भाषा एवं शैली से है।[1]

उपर्युक्त सभी भाषिक एवं साहित्यक रूपों की दृष्टि से बालक को योग्य एवं दक्ष बनाना मातृभाषा-शिक्षण का उद्देश्य है। पर उपर्युक्त भाषिक एवं साहित्यिक पक्षों को परस्पर संबद्ध रूप में ही हमें समझना चाहिये। भाषा की परिभाषा एवं प्रकृति पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि भाषा परस्पर अविच्छिन्न रूप से संबद्ध अवयवों की सश्लिष्ट कला है। अतः इन्हें पृथक-पृथक अवयवों या रूपों में केवल तात्त्विक प्रमुखता की दृष्टि से विभक्त किया गया है। उदाहरण के लिए साहित्यिक पक्ष के अनेक रूपों का समावेश भाषिक कौशलों के अंतर्गत हो जाता है क्योंकि इन कौशलों की सार्थकता एवं प्रभविष्णुता भाषा के कलात्मक रूप का ज्ञान, प्रयोग, अर्थपूर्ण ग्रहण, साहित्यक सौन्दर्य तत्त्वों का बोध, भावानुभूति आदि की योग्यता पर ही निर्भर है। इसी प्रकार भाषिक एवं साहित्यिक ज्ञानात्मक पक्षों पर भी एक साथ विचार कर सकते हैं।

अतः मातृभाषा शिक्षण के उद्देश्यों का निर्धारण माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं की दृष्टि से निम्नांकित आधारों पर किया जा सकता है।[2]

(क) ज्ञानात्मक :

1. भाषिक तत्वों का ज्ञान प्राप्त करना
2. साहित्य की विविध विधाओं का ज्ञान प्राप्त करना (केवल उ० मा० कक्षाएँ)
3. विषय-वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना

---

1. 'भाषा शिक्षण तथा भाषा विज्ञान' केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा पृ० 7
2. जिन उद्देश्यों की प्राप्ति केवल उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के लिए ही उपर्युक्त समझा गया है, उनके सामने 'केवल उ० मा० कक्षाएँ' लिखा गया है।

4. रचना कार्य के विभिन्न रूपों का ज्ञान प्राप्त करना
5. हिन्दी साहित्य के इतिहास की रूपरेखा का ज्ञान प्राप्त करना (केवल उ० मा० कक्षाएँ)

(ख) कौशलात्मक एवं बोधात्मक :

6. दूसरों द्वारा वर्णित या पठित सामग्री सुनकर अर्थग्रहण करने की योग्यता प्राप्त करना।
7. शुद्ध एवं स्पष्ट वाचन की योग्यता प्राप्त करना।
8. गद्य या पद्य पढ़कर अर्थग्रहण की योग्यता प्राप्त करना।
9. बोलकर अपने भावों एवं विचारों को व्यक्त करने की योग्यता प्राप्त करना।
10. लिखकर अपने भावों एवं विचारों को व्यक्त करने की योग्यता प्राप्त करना।

(ग) रसात्मक एवं समीक्षात्मक : (केवल उ० मा० कक्षाएँ)

11. साहित्य का रसास्वादन करना
12. साहित्य की सामान्य समालोचना करने की योग्यता प्राप्त करना।

(घ) सर्जनात्मक :

13. रचना कार्य में मौलिकता लाने की योग्यता प्राप्त करना

(ङ) अभिवृत्यात्मक :

14. भाषा और साहित्य में रुचि लेना
15. सद्प्रवृत्तियों का विकास करना

उपर्युक्त योग्यताओं की प्राप्ति एवं उनकी व्यावहारिक कुशलता ही मातृभाषा शिक्षण के उद्देश्य हैं। आज की शिक्षा में ज्ञानार्जन को ही परम उद्देश्य न मानकर अर्जित ज्ञान को व्यावहारिक रूप देने पर बल दिया जाता है ? ज्ञानार्जन एवं कौशलों की प्राप्ति से बालक में जो व्यावहारिक परिवर्तन[3] होते है, वही उद्देश्य प्राप्ति के द्योतक और कसौटी हैं। इस दृष्टि से उपर्युक्त उद्देश्यों एवं तत्सम्बन्धी अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्त्तनों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है[4]—

---

3. Behavioural changes
4. राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद द्वारा प्रकाशित 'Preparation and evaluation of text books in mother tongue' (P. 53-59) में इन उद्देश्यों एवं अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्त्तनों का विस्तृत उल्लेख है। माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राजस्थान, अजमेर द्वारा प्रकाशित "माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक कक्षाओ के लिए हिन्दी (अनिवार्य एवं विशिष्ट) शिक्षण के उद्देश्य "पुस्तिका में भी इनका उल्लेख है। इन दोनों के ही आधार पर यह सामग्री दी गयी है।"

1. भाषिक तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना।

भाषिक तत्त्व	स्पष्टीकरण	अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्तन
1. ध्वनि : उच्चारण (स्वराघात, बलाघात, आरोह-अवरोह आदि) वर्तनी		1. विद्यार्थी इन्हें पहचान सकेगा। 2. वह इनका प्रत्यभिज्ञान (रिकॉल) कर सकेगा।
2. शब्द : शब्दभेद शब्द रचना (उपसर्ग, प्रत्यय, संधि, समास शब्दभण्डार (अर्थ, पर्याय, प्रयोग मुहावरे, लोकोक्तियाँ, अनेकार्थी शब्द, वाक्यांश के लिए एक शब्द आदि)		3. वह इनके अशुद्ध रूपों की त्रुटियाँ पकड़ सकेगा। 4. वह इनके उदाहरण दे सकेगा। 5. वह इनकी तुलना कर सकेगा। 6. वह इनमें परस्पर अन्तर कर सकेगा। 7. वह इनका परस्पर संबंध बता सकेगा।
3. वाक्य रचना : पद रचना वाक्य रचना, वाक्यों तथा उपवाक्यों के प्रकार वाक्यांश आदि		8. वह इनका विश्लेषण कर सकेगा। 9. वह इनका संश्लेषण कर सकेगा। 10. वह इनका वर्गीकरण कर सकेगा।

2. विविध साहित्यिक विधाओं का ज्ञान प्राप्त करना

साहित्यिक विधाएँ	स्पष्टीकरण	अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्त्तन
निबन्ध, कहानी, उपन्यास, नाटक, काव्य (प्रबंध, मुक्तक) गीत, गद्यगीत		प्रथम उद्देश्य में उल्लिखित सभी अपेक्षित परिवर्त्तन

3. विषय-वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना

विषय-वस्तु	स्पष्टीकरण	अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्त्तन
सांस्कृतिक मूल्य जीवनगत अनुभूतियाँ पौराणिक गाथाएँ सदाचार व्यावहारिक ज्ञान तथ्य व घटनाएँ लेखक परिचय रचनागत विशेषताएँ		प्रथम उद्देश्य में उल्लिखित सभी अपेक्षित परिवर्त्तन

रचनाओं की आलोचना छंद, अलंकार, रस चरित्र-चित्रण	केवल उ० मा० कक्षाएँ

4. रचना कार्य के विभिन्न रूपों का ज्ञान प्राप्त करना

रचना कार्य के विभिन्न रूप	विशिष्टीकरण	अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्तन
मौखिक—वार्तालाप		
सस्वर वाचन		प्रथम उद्देश्य में उल्लिखित सभी
अन्त्याक्षरी		अपेक्षित परिवर्तन
साक्षात्कार		
भाषण		
वादविवाद		
संवाद		
लिखित—निबंध		
सारलेखन		
कहानी		
आत्मकथा		
पत्र और तार		
संवाद		

5. हिन्दी साहित्य के इतिहास की रूपरेखा का ज्ञान प्राप्त करना (केवल उ० मा० कक्षाएँ)

विषय-सामग्री	स्पष्टीकरण	अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्तन
चारो कालों की अवधि		प्रथम उद्देश्य में उल्लिखित सभी
चारों कालो की सामान्य साहित्यिक प्रवृत्तियाँ		अपेक्षित परिवर्त्तन
चारों कालो के प्रमुख साहित्यकार		
प्रमुख रचनाओं का परिचय		
विविध साहित्यिक विधाओं का विकास		

6. दूसरों द्वारा वर्णित या पठित सामग्री सुनकर अर्थ ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त करना।

श्रुत सामग्री	स्पष्टीकरण	अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्तन
वार्तालाप		1. वह धैर्यपूर्वक सुनेगा।
वादविवाद		2. वह सुनने के शिष्टाचार का पालन करेगा।
प्रवचन		3. वह मनोयोगपूर्वक सुनेगा।

भापण		4. वह ग्रहणशीलता की मनः–स्थिति वनाये रखेगा।
आदेश-निर्देश		5. वह शब्दों, मुहावरों व उक्तियों का प्रसंगानुकूल अर्थ और भाव समझ सकेगा।
सस्वरवाचन		6. वह स्वराघात, वलाघात, स्वर के उतार-चढ़ाव के अनुसार अर्थग्रहण कर सकेगा।
कवितापाठ		7. वह श्रुत सामग्री के विषय को जान सकेगा।
आकाशवाणी से प्रसारित विभिन्न कार्यक्रम		8. वह महत्त्वपूर्ण विचारों, भावों एवं तथ्यों का चयन कर सकेगा।
		9. वह विचारों भावों एवं तथ्यों का परस्पर संवंध समझ सकेगा।
		10. वह सारांश ग्रहण कर सकेगा।
		11. वह केन्द्रीय भाव या विचार को ग्रहण कर सकेगा।
		12. वह वक्ता के मनोभाव को समझ सकेगा।
		13. वह भावानुभूति कर सकेगा।
		14. वह अभिव्यक्ति के ढंग को समझ सकेगा।
		15. वह भावों, विचारों व तथ्यों का तुलनात्मक महत्त्व समझ सकेगा।

7. शुद्ध वाचन करने की योग्यता प्राप्त करना :

पठन सामग्री	स्पष्टीकरण	अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्तन
गद्य		1. विद्यार्थी धैर्यपूर्वक पढ़ेगा।
पद्य		2. वह मनोयोगपूर्वक पढ़ेगा।
नाटक		3. वह ग्रहणशीलता की स्थिति वनाये रखेगा।
कहानी		4. वह शुद्ध उच्चारण व उचित स्वराघात, वलाघात व स्वर के उतार-चढ़ाव के साथ पढ़ सकेगा।
उपन्यास		5. वह विरामादि चिन्हों का

		समुचित ध्यान रखते हुए सस्वर वाचन कर सकेगा।
समाचारपत्र		6. वह विषयानुसार गतिपूर्वक पढ़ सकेगा।
पाण्डुलिपि		7. वह प्रसंगानुसार उचित गति और ध्वनि के साथ वाचन कर सकेगा।
		8. वह भावानुरूप सस्वर वाचन कर सकेगा।
		9. वह लयपूर्वक वाचन कर सकेगा।
		10. वह समुचित अनुभव-प्रदर्शन-पूर्वक वाचन कर सकेगा।

8. गद्य या पद्य पढ़कर (मौन पठन द्वारा) अर्थ ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त करना।

पाठन सामग्री	स्पष्टीकरण	अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्तन
कहानी		1. विद्यार्थी ध्यानपूर्वक मन में पढ़ सकेगा।
उपन्यास		2. वह शब्दों, उक्तियों, एवं मुहावरो का प्रसंगानुकूल अर्थ और भाव समझ सकेगा।
नाटक		3. वह शब्दों, उक्तियों, वाक्यांशों की स्थानीय विशेषता को समझ सकेगा।
निवन्ध		4. वह शब्दों के लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को भी समझ सकेगा।
आत्मकथा जीवनी		5. वह केन्द्रीय भाव या विचार ग्रहण कर सकेगा।
काव्य (प्रवन्ध, मुक्तक तथा अन्य कविताएँ)		6. वह उचित शीर्षक दे सकेगा।
		7. वह महत्त्वपूर्ण विचारों, भावो एवं तथ्यो का चयन कर सकेगा।
		8. वह विचारों, भावों एवं तथ्यों का परस्पर सम्वन्ध समझ सकेगा।
		9. वह सारांश ग्रहण कर सकेगा।
		10. वह भावों, विचारो और तथ्यों

		का तुलनात्मक महत्त्व समझ सकेगा।
		11. वह लेखक के मनोभाव को समझ सकेगा।
		12. वह मर्मस्पर्शी स्थलों की पहचान कर सकेगा।
		13. वह भाषा-शैली को समझ सकेगा।
		14. वह पठित अंश की पूर्व पठित अंश से तुलना कर सकेगा।

9. शुद्ध बोलकर अपने भावों एवं विचारों को व्यक्त करने की योग्यता प्राप्त करना।

मौखिक अभिव्यक्ति के रूप	स्पष्टीकरण	अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्तन
वार्तालाप		1. विद्यार्थी सुश्रव्य वाणी में बोल सकेगा।
भाषण, प्रवचन		2. वह प्रसंगानुसार उचित गति से बोल सकेगा।
वादविवाद		3. वह शुद्ध उच्चारण व उचित स्वराघात, बलाघात व स्वर के उतार-चढाव की गति से बोल सकेगा।
कविता-पाठ		4. वह उचित विराम के साथ बोल सकेगा।
आदेश-निर्देश		5. वह प्रवाह के साथ बोल सकेगा।
		6. वह व्याकरणसम्मत भाषा का प्रयोग कर सकेगा।
		7. वह प्रसंगानुकूल उचित शब्दों, मुहावरों, सूक्तियों का चयन कर सकेगा।
		8. वह प्रसंगानुकूल शब्दों, मुहावरों, तथा सूक्तियों का शुद्ध प्रयोग कर सकेगा।
		9. वह सरल मुहावरेदार भाषा का प्रयोग कर सकेगा।
		10. वह वाक्यों में शब्दों, वाक्यांशों

तथा उपवाक्यों का क्रम अर्थानुकूल रख सकेगा।
11. वह विभिन्न रचना वाले वाक्यों का शुद्ध गठन कर सकेगा।
12. वह अभीष्ट सामग्री प्रस्तुत कर सकेगा।
13. वह क्रमबद्धता ला सकेगा।
14. वह सुसंबद्धता ला सकेगा।
15. वह विषय की एकता को अक्षुण्ण बनाये रख सकेगा।
16. वह उचित भाव-भंगी के साथ बोल सकेगा।
17. वह यथावश्यक पुनरावृत्ति ही करेगा।
18. वह भाषा की दृष्टि से अभिव्यक्ति में संक्षिप्तता ला सकेगा
19. वह शिष्टाचार का पालन कर सकेगा।
20. वह प्रसंग तथा विषय के अनुकूल शैली का चयन कर सकेगा।

10. शुद्ध लिखकर भावों एवं विचारों को व्यक्त करने की योग्यता प्राप्त करना।

लिखित अभिव्यक्ति के रूप	स्पष्टीकरण	अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्तन
पत्र, प्रार्थनापत्र		1. वह सुपाठ्य लेख लिख सकेगा।
निबंध		2. वह प्रसंगानुसार आवश्यक गति से लिख सकेगा।
जीवनचरित्र, आत्मकथा		3. वह शब्दों की शुद्ध वर्तनी लिख सकेगा।
संवाद		4. वह विरामचिन्हों का यथोचित प्रयोग कर सकेगा।
भाषा संबंधी योग्यता :		
शब्द, शब्द युग्म,		5. वह लेखन-कार्य में अनुच्छेद रचना ठीक प्रकार से कर सकेगा
वाक्य, वाक्यरचना		6. वह व्याकरणसम्मत शुद्ध भाषा का प्रयोग कर सकेगा।

मुहावरे, लोकोक्तियाँ	7. वह प्रसंगानुसार शब्दों, मुहावरों तथा सूक्तियों का चयन कर सकेगा ।
विराम चिह्न, अनुच्छेद	8. वह प्रसंगानुसार शब्दों, मुहावरों तथा सूक्तियों का शुद्ध प्रयोग कर सकेगा ।
	9. वह सरल मुहावरेदार भाषा का प्रयोग कर सकेगा ।
	10. वह वाक्यों में शब्दों, वाक्यांशों तथा वाक्यों का क्रम अर्थानुकूल रख सकेगा ।
	11. वह विभिन्न रचना वाले वाक्यों को शुद्ध कर सकेगा ।
	12. वह अभीष्ट सामग्री प्रस्तुत कर सकेगा ।
	13. वह क्रमबद्धता ला सकेगा ।
	14. वह सुसंबद्धता ला सकेगा ।
	15. वह विषय की एकता को अक्षुण्ण रख सकेगा ।
	16. वह यथावश्यक पुनरावृत्ति ही करेगा ।
	17. वह भाषा की दृष्टि से अभिव्यक्ति में संक्षिप्तता लायेगा ।
	18. वह लिखित अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों व शिल्प का विधिवत् पालन कर सकेगा ।
	19. वह लिखित अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों के माध्यम से अभिव्यक्ति कर सकेगा ।
	20. वह विषय तथा अभिव्यक्ति के रूप के अनुकूल शैली का प्रयोग कर सकेगा ।

11. साहित्य का रसास्वादन करना (केवल उ० मा० कक्षाएँ)

अपेक्षित सामग्री	स्पष्टीकरण	अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्तन
काव्यात्मक साहित्य		1. विद्यार्थी मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सकेगा ।
		2. साहित्यिक सौन्दर्य तत्त्वों—नाद-सौंदर्य, भावसौन्दर्य, विचारसौंदर्य को पहचानेगा ।
		3. वह सुन्दर स्थलों को अनेक बार पढ़ेगा और आनन्द प्राप्त करेगा
		4. वह सुन्दर कविताओं को कंठस्थ करेगा ।
		5. वह भावानुभूति करेगा ।
		6. वह भावानुरूप अनुभवों एवं अपनी प्रतिक्रियाओं को अभि-व्यक्त करेगा ।

12. साहित्य की सामान्य समालोचना करने की योग्यता प्राप्त करना

समालोचनार्थ सामग्री	स्पष्टीकरण	अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्तन
कहानी		1. विद्यार्थी तथ्यों की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता को जान सकेगा ।
एकांकी नाटक		2. वह भावों और विचारो की उपयुक्तता एवं अनुपयुक्तता जान सकेगा ।
निबंध		3. वह भावपक्ष की दृष्टि से सुन्दर स्थलों की पहचान कर सकेगा ।
पद्य		4. वह साहित्यिक रस को पहचान सकेगा ।
		5. वह भाषा के रूप को जान सकेगा ।
		6. वह शब्द-सूक्तियों को पहचान सकेगा ।
		7. वह छन्द और अलंकार को पह-चान सकेगा ।

		8. वह प्रतीकात्मक प्रयोगों के सौन्दर्य को जान सकेगा।
		9. वह गुण (ओज, प्रसाद, माधुर्य) को पहचान सकेगा।
		10. वह भाषा एवं शैली का विश्लेषण कर सकेगा।
		11. वह भाषा एवं शैली का मूल्यांकन कर सकेगा।
		12. वह भाषा एवं शैली की दृष्टि से साहित्यिक अंकों की तुलना कर सकेगा।

रचना कार्य में मौलिकता लाने की योग्यता प्राप्त करना

रचना कार्य	स्पष्टीकरण	अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्तन
निबन्ध		1. वह विषय तथा उसके अंतर्गत भावों एवं विचारों के लिए साहित्य की उपयुक्त विधि का चयन कर सकेगा।
कहानी संवाद पत्र कविता		2. वह स्वानुभूत भावों तथा विचारों को अभिव्यक्त कर सकेगा।
		3. वह स्वानुभूत भावों तथा विचारों को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त कर सकेगा।
		4. वह गृहीत और स्वानुभूत भावों और विचारों को कल्पना की सहायता से नया रूप दे सकेगा।
		5. वह गृहीत और स्वानुभूत भावों और विचारों को अपने ढंग से अभिव्यक्त कर सकेगा।
		6. वह विषय तथा प्रसंग के अनुकूल भाषा एवं शैली का उपयोग कर सकेगा।

14. भाषा और साहित्य में रुचि लेना

अपेक्षित सामग्री	स्पष्टीकरण	अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्तन
भाषा और साहित्य		1. विद्यार्थी पाठ्यक्रम के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें पढ़ेगा।
		2. वह अच्छी-अच्छी कविताएँ एवं उद्धरण कंठस्थ करेगा।
		3. वह सूक्तियों का संकलन करेगा।
		4. वह कक्षा और विद्यालय की पत्रिका में योग देगा।
		5. वह कक्षा और विद्यालय में होने वाले साहित्यिक कार्यक्रमों में भाग लेगा।
		6. वह विद्यालय से बाहर होने वाले साहित्यिक कार्यक्रमों में भाग लेगा।
		7. वह साहित्यकारों के चित्र एकत्रित करेगा।
		8. वह साहित्यिक महत्त्व की पत्रिकाएँ एकत्र करेगा और पढ़ेगा।
		9. वह साहित्यिक महत्त्व के अनेक चित्र एकत्र करेगा।
		10. वह अपना एक पुस्तकालय बनायेगा।
		11. वह साहित्यिक संस्थाओं का सदस्य बनेगा।
		12. वह अपने मित्रों तथा सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों में भाषा और साहित्य के प्रति रुचि जागरित करने का प्रयास करेगा।

15. सद्प्रवृत्तियों का विकास करना

सद्प्रवृत्तियाँ	स्पष्टीकरण	अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्तन
आस्था		1. विद्यार्थी संस्कृति और सौंदर्य में आस्था रखेगा।
श्रद्धा		2. वह आदर्शों के प्रति श्रद्धा रखेगा।

प्रेम (साहित्य-प्रेम, देश-प्रेम, मानव-प्रेम)	3. वह साहित्य-प्रेम, देश-प्रेम तथा मानव-प्रेम की ओर अग्रसर होगा।
सहृदयता	4. वह वातावरण तथा मानवजीवन के प्रति संवेदनशील और सहृदय रहेगा।
संवेदनशीलता	5. वह सद्प्रवृत्तियों से सम्मत विचार रखेगा।
	6. वह सद्प्रवृत्तियों से सम्मत क्रियाएँ करेगा।

उपर्युक्त उद्देश्यों एवं तत्सम्बन्धी अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्तनों को ध्यान में रखकर भाषा की शिक्षा प्रदान करने में ही मातृभाषा-शिक्षण की सफलता निहित है।

सारांश

किसी भी विषय के शिक्षण-उद्देश्यों को निर्धारित करते समय उसकी प्रकृति, स्वरूप में एवं जीवन में उपयोग आदि पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। इस दृष्टि से भाषा एक बहुत ही व्यापक विषय है। भाषा के दो पक्ष स्पष्ट है-भाषिक एवं साहित्यिक। भाषिक पक्ष के भी दो रूप हैं—ज्ञान पक्ष और व्यवहार या कौशल पक्ष। साहित्यिक पक्ष के भी अनेक पक्ष है-ज्ञानात्मक, सौन्दर्यबोधात्मक, विवेचनात्मक, प्रेरणात्मक, अभिवृत्त्यात्मक आदि। इन दृष्टियो से भाषा-शिक्षण के प्रमुख उद्देश्य है—**ज्ञानात्मक**—भाषिक तत्त्वों, साहित्यिक विधाओं, विषय-वस्तु, रचना कार्य के विभिन्न रूपों एवं हिन्दी साहित्य के इतिहास की रूपरेखा का ज्ञान प्राप्त करना; **कौशलात्मक**—सुनकर समझना, वाचन, पढ़कर अर्थग्रहण, बोलना, लिखना, कौशलों में दक्षता प्राप्त करना; **रसात्मक एवं समीक्षात्मक**—साहित्य का रसास्वादन एवं सामान्य समालोचना की योग्यता प्राप्त करना; **सर्जनात्मक**—रचना कार्य में मौलिकता लाना; **अभिवृत्यात्मक**—भाषा और साहित्य मे रुचि लेना तथा सद्-प्रवृत्तियो का विकास करना।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति की दृष्टि से शिक्षण में यह देखना आवश्यक है कि इनसे सम्बन्धित व्यावहारिक परिवर्तन बालकों में क्या अपेक्षित हैं? इसका ध्यान रखने से शिक्षण प्रक्रिया अधिक सोद्देश्य और सार्थक हो सकेगी।

प्रश्न

1. मातृभाषा शिक्षण के उद्देश्यों को निर्धारित करते समय उसके किन स्वरूपों और पक्षों पर विचार करना आवश्यक है?

2. मातृभाषा शिक्षण के प्रमुख उद्देश्य क्या हैं ? माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं की दृष्टि से इनका उल्लेख कीजिए।
3. भाषिक तत्त्वों से क्या तात्पर्य है ? उससे सम्बन्धित व्यावहारिक परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए।
4. 'पठन योग्यता' के अन्तर्गत बालकों में कौन-कौनसी योग्यताएँ अपेक्षित है ?भाव एवं भाषा दोनों पक्षों के आधार पर उत्तर लिखिये।
5. लिखित अभिव्यक्ति के क्या रूप हैं ? तत्सम्बन्धी व्यावहारिक परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए।
6. साहित्य की समालोचना करने की योग्यता के अन्तर्गत बालक में क्या व्यावहारिक परिवर्तन अपेक्षित हैं ?

5

भाषा-शिक्षण के सामान्य सिद्धांत एवं हिन्दी भाषा का शिक्षक

[भाषा एक क्रियाप्रधान विषय है, भाषा सीखने की स्वाभाविक एवं स्वतः स्फूर्त शक्ति, भाषा सीखने की अध्ययनात्मक शक्ति, भाषा सीखना आदत बनने की प्रक्रिया है, बाल्यावस्था का महत्त्व, भाषा-शिक्षण के सामान्य सिद्धान्त–स्वाभाविक विधि, क्रियात्मकता एवं अभ्यास, मौखिककार्य का महत्त्व, शुद्धता एवं शिक्षक का आदर्श, भाषा के विविध अंगों का सापेक्षिक महत्त्व, क्रमायोजन, रोचकता, वैयक्तिक विभिन्नता, बहुमुखी प्रयास, कण्ठस्थ करना, मनोवैज्ञानिक शिक्षण-सूत्रों का प्रयोग]

"एक कुशल शिल्पी की भाँति शिक्षक को अपने कार्य की सभी सूक्ष्म विशेषताओं का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। उसे अपने कार्य सम्बन्धी उद्देश्यों की यथार्थ प्रकृति एवं अभीप्सित लक्ष्य का भी ज्ञान होना चाहिए। इस अभीष्ट उपलब्धि की प्रकृति को समझने के अतिरिक्त उनकी प्राप्ति के लिए आवश्यक विभिन्न प्रकार के अधिगम (सीखने) सम्बन्धी अनुभवों की प्रकृति का संबोध भी शिक्षक को होना चाहिए। उसे अधिगम सम्बन्धी अनुभवों के संगठन एवं निर्देशन की विधि भी ज्ञात होनी चाहिए और उन्हें सतोषपूर्ण ढंग से क्रियान्वित करने के लिए उपलब्ध सर्वोत्तम शिक्षण-विधियों एवं युक्तियों का भी प्रभावपूर्ण उपयोग जानना चाहिए।"[1]

---

1. Like a master architect, the teacher should have a very thorough knowledge of all the details essential to his work .... The teacher must know the real nature of the objectives of his work–the ends to be attained. Besides an understanding of the nature of the outcomes desired, he must understand the nature of the different kinds of learing experience necessary to attain them. He must know how to organise and direct such learning experience. Further to do this satisfactorily, he should know how to use effectively the best teaching techniques and devices available."

—Thomas M. Risk-'Principles and Practices of Teaching.'

भाषा एक सूक्ष्म क्रियात्मक विषय है :

शिक्षण की दृष्टि से पाठ्य-विषयों को सामान्यतः दो कोटियों में विभक्त किया जा सकता है—(1) **ज्ञानप्रधान विषय** ; जैसे, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान आदि, जिनके शिक्षण का आधार मुख्यतः सूचनात्मक, तथ्यात्मक एवं बौद्धिक होता है। (2) **क्रियाप्रधान विषय**; जैसे, शिल्प, कला, भाषा तथा वे विषय जिनके सीखने का आधार क्रियात्मक अर्थात् प्रयोग, आवृत्ति एवं अभ्यास होता है। पर भाषा एक सूक्ष्म क्रियात्मक विषय है जिसमें निरन्तर प्रयोग एवं अभ्यास के साथ सैद्धांतिक पक्ष के अध्ययन का भी महत्त्व बना रहता है। अतः उसके शिक्षण में ज्ञान और क्रिया दोनों पक्ष महत्त्वपूर्ण हैं, पर प्रधानता क्रिया पक्ष की है।

इसे और स्पष्ट समझने के लिए हमें भाषा सीखने की निम्नांकित प्रतिक्रियाओं पर ध्यान देना होगा :—

1. **भाषा सीखने की स्वाभाविक एवं स्वतःस्फूर्त शक्ति**—आत्माभिव्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति ही मनुष्य को भाषा सीखने के लिए उत्प्रेरित करती है और वह अनुकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा अपने परिवार एवं परिवेश की भाषा (मातृभाषा) सहज ही सीख लेता है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री गेटनबी का कहना है कि अनुकरण की प्रकृति भाषा सीखने में अत्यन्त सहायक होती है और अनुकूल वातावरण मिलने पर बालक मातृभाषा ही नहीं, परिवेश की अन्य भाषाएँ (यदि पास-पड़ोस में अन्य भाषा-भाषी रहते है) भी सीख लेता है। अन्य विषय बिना विधिवत् शिक्षा के बालक नहीं सीख सकता, पर भाषा अनजाने ही मानस-पटल पर अंकित हो जाती है। वातावरण में प्रयुक्त होने वाले ध्वनि-संकेत अपने-आप अनुकरण, ग्रहण एवं भाषण द्वारा उसकी सम्पत्ति बन जाते है। भाषा सीखने के लिए मनुष्य को यह प्रकृति-प्रदत्त शक्ति उपलब्ध है। इस शक्ति का लाभ उठाने के लिए अनुकूल वातावरण अर्थात् भाषा सुनने और बोलने का पर्याप्त अवसर मिलना ही चाहिए। प्रसिद्ध भाषाविद् हेराल्ड ई. पामर ने अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपल्स आफ लैंग्वेज स्टडी' में भाषा सीखने की इस स्वाभाविक शक्ति[2] को ध्यान में रखते हुए लिखा है —

"अधिकतर कलाओं में पारंगत होने के लिए हमें अध्ययन करने की आवश्यकता पड़ती है अर्थात् धैर्य और परिश्रम के साथ सचेत प्रयास करना पड़ता है और बुद्धि का प्रयोग करना पड़ता है, पर एक ऐसी भी सूक्ष्म कला है जिसे हम सभी बिना किसी ऐसे सचेत प्रयास और बुद्धि-प्रयोग के जान जाते है—वह है बोलने की कला। बोलना सीखने और उसे आत्मसात कर लेने की प्रकृति-प्रदत्त शक्ति बालक को उपलब्ध है, जिसके कारण प्रत्येक बालक अपनी मातृभाषा सहज

2. Spontaneous capacity of learning language.

ही सीख लेता है, वल्कि उस शक्ति के द्वारा वह अन्य भापाओं के सम्पर्क में आने पर उन्हें भी सीख लेता है। छोटे वच्चों में यह शक्ति अधिक सक्रिय रहती है और फलतः वह मातृभापा की ही भाँति विशेष सम्पर्क में रहने पर दूसरी-तीसरी भापाएँ भी सीख लेता है। प्रौढ़ व्यक्तियों में यह शक्ति प्रयोग न करने के कारण कुण्ठित और प्रच्छन्न-सी पड़ी रहती हैं, पर वह यदि चाहे तो इस शक्ति को सक्रिय वनाये रख सकता है। जो प्रौढ़ व्यक्ति[3] इन शक्तियों को सक्रिय वनाये रखते है, वे कई भापाओं में पारंगत हो जाते हैं।"

मनोवैज्ञानिकों ने शिशुओं द्वारा भाषा सीखने की इस स्वाभाविक विधि का अध्ययन किया है और इस प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है कि शिशु किस प्रकार ध्वनियों को सुनकर उन्हें उच्चरित करने का प्रयास करता है। छः महिने के वाद वह कुछ ध्वनियों का उच्चारण करने लगता है। वह पापा, मामा, वावा आदि ध्वनि-समूहों का वार-वार उच्चारण करता है। इसके वाद उसका शव्दभण्डार तेजी से वढता है। इसके दो कारण हैं—(1) उसकी वागिन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों का परिपक्व होते जाना और (2) वालक द्वारा भापा की सामाजिक उपयोगिता को समझने लगना। इसी कारण प्रारम्भिक अवस्था की भापा को 'युक्ति भापा' (ट्रिक लैंग्वेज) कहा गया है। यह एक प्रकार से शिशु की चाल है जिसका प्रयोग वह अपना काम निकालने के लिए करता है। आयु वढ़ने के साथ-साथ वालक का शव्दभण्डार वढ़ता जाता है।

6 वर्ष की आयु तक वालक अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा लगभग ढाई हजार शव्द जान जाता है। विधिवत् शिक्षा प्रारम्भ होने पर यह गति और भी वढ़ जाती है। भापाविदों के अनुसार 6 से 9 वर्ष की आयु तक उसका शव्दभण्डार 5000 हो जाता है।

2. भाषा सीखने की अध्ययनात्मक शक्ति—यद्यपि वालक में भापा सीखने की सहज, स्वाभाविक प्रवृत्ति और शक्ति होती है और वह सुनकर समझना तथा वोलना सीख भी लेता है पर उतने से ही वह भापा के सभी कौशल और रूप नहीं सीख सकता। इन कौशल और रूपों को सीखने के लिए विधिवत् शिक्षा की आवश्यकता

---

3. प्रसिद्ध है कि राहुल *सांकृत्यायन* और *डा.* रघुवीर को *तीस-पैंतीस भापाएँ* आती थी। संत विनोवा भी अनेक भापाओं के ज्ञाता है। भापा सीखने की स्वाभाविक शक्ति और उसके लिए उचित वातावरण की आवश्यकता के सम्वन्ध में राहुलजी के जीवन की एक घटना उल्लेखनीय है—"राहुलजी के एक मित्र ने चीन से उन्हें लिखा कि मुझे यहाँ रहते हुए कई महीने हो गये पर चीनी भापा मुझे नही आई। आप इतनी जल्दी भापा कैसे सीख लेते हैं? राहुलजी ने कोई काम वताकर उस मित्र को चीन में एक दूसरे स्थान पर रहने के लिए कहा। वहाँ केवल चीनी भापा के ही वोलने वाले लोग थे। मित्र को कुछ ही दिनों मे भाषा वोलनी आ गयी।" यह अनुकूल परिवेश का ही प्रभाव था।

पडती है। इसे पामर ने भाषा सीखने की अध्ययनात्मक शक्ति[4] कहा है। पढ़ना, लिखना सीखने तथा भाषा के साहित्यिक रूपों को सीखने के लिए अध्ययनात्मक शक्ति का प्रयोग आवश्यक है। इस शक्ति के प्रयोग को हम सचेत प्रयास (विश्लेषण एवं संश्लेषण) एवं रूपांतर की प्रक्रिया--लिखित भाषा को उच्चरित भाषा में व्यक्त करना (व्यक्त या सस्वर पाठ), उच्चरित भाषा को लिखित भाषा में बदलना (श्रुतलेख), भाषा की वाक्य रचना में विविध परिवर्तन, एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद आदि--कहते हैं। भाषा सीखने के लिए आवश्यक वे सभी अभ्यास जिसमें बुद्धि द्वारा सचेत प्रयास की आवश्यकता पड़ती है और हाथ, आँख, कान का प्रयोग करना पड़ता है, अध्ययनात्मक शक्ति के अन्तर्गत आते हैं।

भाषा सीखने की उपर्युक्त दोनों शक्तियों का अपना महत्त्व है। इनमें से केवल एक के द्वारा भाषा पर अधिकार नहीं हो सकता। स्वाभाविक शक्ति हमें दैनिक व्यवहार की, बोलचाल की भाषा सिखा देती है पर साहित्यिक भाषा एवं उसके रचनात्मक रूपों को सीखने के लिए अध्ययनात्मक शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है।

3. भाषा सीखना एक आदत बनने की प्रक्रिया है और इस दृष्टि से बाल्यावस्था का विशेष महत्त्व है--हम देख चुके हैं कि भाषा सीखने की स्वाभाविक एवं स्वतःस्फूर्ति शक्ति बाल्यावस्था में विशेष सक्रिय एवं जागरूक रहती है। इस समय की सीखी हुई भाषा में सहज प्रवाह पाया जाता है। बालक इस भाषा को सोचकर नहीं बोलता, बल्कि अभ्यास एवं आदत के कारण भाषा उसके कण्ठ से स्वतःस्फूर्त हो उठती है।

भाषा सीखना निश्चित ही एक आदत बनने की प्रक्रिया है और आदत बनने की दृष्टि से बाल्यावस्था का विशेष महत्त्व है। यदि इस अवस्था में अशुद्ध भाषा उच्चारण-दोष, वर्तनी दोष, शब्द प्रयोग एवं वाक्य रचना सम्बन्धी दोष आदि की आदत पड़ गयी तो उसका संशोधन कठिन हो जाता है और भाषा-शिक्षण की दृष्टि से और भी कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। अतः बाल्यावस्था में ही भाषा सीखने की अच्छी आदतें पड़ जानी चाहिए। पामर ने ठीक ही लिखा है कि "यदि हम भाषा सिखाने में प्रारम्भिक अवस्था का ध्यान रखलें तो आगे की अवस्था स्वयं ही अपना ध्यान रख लेगी।"

भाषा सीखने की प्रक्रिया बहुत कुछ वैसी है जैसे कोई कौशल या हुनर सीखना। जैसे साइकिल चलाने या तैरना सीखने में तर्क और ज्ञान की अपेक्षा प्रयोग, आवृत्ति और अभ्यास का अधिक महत्त्व है, उसी प्रकार भाषा सीखने में भी सतत प्रयोग, आवृत्ति एवं अभ्यास का अधिक महत्त्व होता है। साइकिल सीख लेने पर उसका चलाना यंत्रवत् (मेकेनिकल) सा हो जाता है, उसी प्रकार भाषा सम्बन्धी कौशलों की भी ऐसी आदत पड़नी चाहिए कि उनका प्रयोग यंत्रवत् हो जाय। इसी

4. Studial capacity of learning language

दृष्टि से भाषा को अचेतन मस्तिष्क का विषय कहा गया है जिसके प्रयोग में सचेत प्रयास न करना पड़े।

भाषा-शिक्षण के सामान्य सिद्धान्त

भाषा सीखने की उपर्युक्त प्रकृति एवं प्रक्रियाओं के आधार पर भाषा विशेषज्ञों ने भाषा-शिक्षण के सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण किया है। उनमें से प्रमुखतः निम्नांकित हैं :—

1. स्वाभाविक विधि का अनुसरण
2. क्रियात्मक एवं अभ्यास
3. मौखिक कार्य की प्रमुखता
4. शुद्धता एवं शिक्षक का आदर्श
5. भाषा के विविध अंगों का सापेक्षिक समन्वय
6. क्रमायोजन
7. रोचकता
8. वैयक्तिक विभिन्नता
9. वहुमुखी प्रयास
10. कण्ठस्थ करना
11. मनोवैज्ञानिक शिक्षण-सूत्रों का प्रयोग

1. स्वाभाविक विधि का अनुसरण—यह लिखा जा चुका है कि भाषा सीखना एक सहज प्रवृत्ति है और वालक मातृभाषा को उसी साहजिक प्रवृत्ति से श्रवण, अनुकरण, ग्रहण और अभ्यास की प्रक्रिया द्वारा सीख लेता है। इस प्रक्रिया में पहले "सुनना और समझना", 'उच्चारण करना और वोलना' क्रम स्वाभाविक है। इसके वाद 'पढ़ना और लिखना' वह सीखता है। शिक्षण मे हमें इसी स्वाभाविक क्रम को अपनाना चाहिए। सबसे पहले वालक को शुद्ध, स्पष्ट भाषा सुनने को मिले जिसका वह अनुकरण करे। इससे भाषा सीखने की पहली प्रक्रिया 'सुनकर समझना' का अभ्यास होगा। फिर उसे वोलने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। वोलने में प्रारम्भिक स्तर पर शुद्ध उच्चारण एवं शुद्ध वाक्य-प्रयोग पर वल देना चाहिए।

सुनने और वोलने की शिक्षा के वाद पढ़ने और लिखने का क्रम अपनाना स्वाभाविक विधि होगी।

2. क्रियाशीलता और अभ्यास—यह लिखा जा चुका है कि भाषा सतत प्रयोग, अभ्यास और व्यवहार से आती है।

भाषा एक क्रिया है, कला है। जिस प्रकार 'तैरना' एक क्रिया है। उसके सारे सिद्धान्तों को वताकर किसी वालक को नदी में डाल देना उसके लिए घातक है, वैसे ही केवल सिद्धांत वताकर किसी वालक से भाषा व्यवहार की अपेक्षा करना दुःसाध्य क्रिया है। अतः स्वयं प्रयोग एवं अभ्यास की विधि ही भाषा सीखने की सर्वोत्तम विधि है। यही क्रियाशीलता का सिद्धान्त है।

का अर्थ है सदा ही व्याकरणसम्मत परिनिष्ठित भाषा का प्रयोग। शिक्षक को स्वयं तो शुद्ध भाषा का प्रयोग करना ही चाहिए, पर विद्यार्थियों द्वारा भी शुद्ध प्रयोग का ही आग्रह करना चाहिए। अशुद्ध प्रयोग का उचित संशोधन और फिर उसका अभ्यास भी अपेक्षित है। उच्चारण, वर्तनी, शब्द–योजना, वाक्यरचना आदि किसी भी प्रकार की अशुद्धि की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

5. **भाषा के विविध अंगों का सापेक्षिक समन्वय**—भाषा अनेक परस्पर सम्बद्ध अवयवों का संश्लिष्ट रूप है अतः भाषा-शिक्षण में सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कोई अंग या अवयव उपेक्षित न रह जाय। भाषा के सभी अंगों का सम्यक ज्ञान, प्रयोग और अभ्यास आवश्यक है अन्यथा एक भी अंग उपेक्षित रहने से उसका प्रभाव अन्य अंगों पर भी पड़ता है। यदि उच्चारण दोष रह जाता है तो बालक का समग्र भाषा-व्यवहार दोषपूर्ण हो जाता है। सुनकर समझना, बोलना, पढ़ना और लिखना तो भाषा के मूल कौशल है ही, पर पृथक्-पृथक् इनके अन्तर्गत अनेक क्रियाएँ आ जाती हैं जिनकी शिक्षा पर ध्यान देना आवश्यक है। भाषा–शिक्षण के उद्देश्यों मे इन विविध क्रियाओं–व्यावहारिक परिवर्तनो का उल्लेख किया जा चुका है।

अतः भाषा–शिक्षण में भाषा एवं साहित्य की सभी अपेक्षित योग्यताओं का उचित अनुपात और उनका सापेक्षिक समन्वय एक सामान्य सिद्धांत है।

6 **क्रमायोजन**—भाषा-शिक्षण में विषय-सामग्री का उपयुक्त क्रमायोजन आवश्यक है क्योंकि इससे विद्यार्थियों के भाषा-ज्ञान में उत्तरोत्तर स्वाभाविक रूप में वृद्धि होती है और विषय सामग्री को ग्रहण करने में सुगमता भी होती है। इस दृष्टि से निम्नांकित बातें ध्यान देने योग्य हैं:—

(i) पाठों के चयन में पहले सरल पाठ पढ़ाए जायँ, फिर कठिन।

(ii) शब्दभण्डार की वृद्धि मे भी यही क्रम अपनाया जाय। पर्यायवाची शब्दो मे पहले सरल, प्रचलित शब्द बताये जायँ। शब्दार्थ के बाद शब्द-रचना का ज्ञान कराया जाय।

(iii) अर्थ-बोध की दृष्टि से पहले प्रत्यक्ष अर्थ (वाच्यार्थ), फिर लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ।

(iv) सुनने और बोलने के बाद पढ़ने और लिखने का क्रम। अभिव्यक्ति के पूर्व सुनने और ग्रहण करने का अवसर दिया जाय। पठन के पूर्व मौखिक अभ्यास कराये जायँ। स्थायी स्मरण के पहले सद्यःस्मरण का अवसर (जैसे कोई अंश सुनाकर बालक से तत्काल ही कहने को कहा जाय) दिया जाय। प्रारम्भिक कक्षाओं में वैयक्तिक पठन या वाचन के पूर्व सामूहिक वाचन का अवसर दिया जाय। स्वतन्त्र रचना के पूर्व अभ्यास-रचना पर बल दिया जाय।

तात्पर्य यह है कि जो भी विषय-सामग्री पढ़ानी है, उसे इस रूप में क्रमायोजित कर लेना चाहिए जिससे बालक सरलता से ग्रहण करते चलें और विषय-सामग्री का विकास युक्ति–युक्त पूर्वक होता चले।

7. **रोचकता**—भाषा-शिक्षण की सफलता इस बात पर निर्भर है कि बालक भाषा सीखने में रुचि बनाये रखें और उत्साह से सीखते रहें। केवल नियम एवं व्याख्या द्वारा भाषा पढ़ाने से पाठ नीरस और बोझिल हो जाते हैं, केवल प्रयोग, आवृत्ति एवं अभ्यास का ही आश्रय लेने से भी बालक ऊब जाते हैं, अतः शिक्षक अनेक क्रियाओं एवं प्रसंगों द्वारा भाषा-शिक्षण को रुचिर और हृदयग्राही बना सकता है। इस दृष्टि से निम्नांकित सुझाव ध्यान देने योग्य है :—

(i) पाठ आरम्भ करने के पूर्व पूर्वज्ञान सम्बन्धी प्रश्न पूछना एवं उचित वातावरण की सृष्टि द्वारा प्रस्तुत पाठ के प्रति बालकों को अभिप्रेरित करना।

(ii) पाठ-विकास में भी प्रश्नोत्तर विधि द्वारा एवं पाठ-विकास में छात्रों का सक्रिय सहयोग लेते हुए पाठ क प्रति रुचि स्थायी बनाये रखना।

(iii) पाठ का सम्बन्ध बालक के जीवन, वातावरण एवं परिचित वस्तुओ एवं घटनाओं से स्थापित करना।

(iv) यथाप्रसंग एवं यथावसर श्रव्य-दृश्य सामग्री का प्रयोग करना।

(v) पाठ में विविधता लाना अर्थात् भाषा के एक अंग का सम्बन्ध अन्य अंगों से जोड़ना। नीरस पाठों में भी उचित प्रसंगों का समावेश करके सरस बनाना। अभ्यासों में विविधता द्वारा भाषा-कार्य को रुचिकर बनाना। बदल-बदल कर अभ्यास देते रहना।

(vi) विद्यार्थियों को अर्जित भाषा-ज्ञान एवं सफलता की अनुभूति कराते रहना, जिससे उन्हें आगे और सीखने की प्रेरणा मिलती रहे।

(vii) भाषा सम्बन्धी खेलों का आयोजन—शब्दनिर्माण के खेल, समस्या पूर्ति, तुकबन्दी, अन्त्याक्षरी आदि। बालकों में इससे स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न होती है।

(viii) अनेक सह-शैक्षिक कार्यक्रमों का आयोजन—रोचक भाषण, व्याख्यान माला, वादविवाद-प्रतियोगिता, कवि-सम्मेलन, कवि-दरबार, जयन्ति समारोह आदि।

8. **वैयक्तिक विभिन्नता**—आधुनिक शिक्षा में बालकों की वैयक्तिक विभिन्नता का विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है। कक्षा के सभी बालकों की भाषायी योग्यता समान नहीं होती। सुसंस्कृत परिवारों के बालक शुद्ध मानक हिन्दी घर से ही सीखा हुआ आता है जबकि ग्रामीण क्षेत्र का बालक अपनी बोली का प्रयोग करता है। इसी प्रकार किसी बालक के उच्चारण में दोष होता है तो किसी के सुलेख में। किसी का शब्दभण्डार विपुल होता है और किसी का अल्प। किसी बालक की मौखिक अभिव्यक्ति अच्छी है तो उसकी लिखित अभिव्यक्ति दोषपूर्ण। अतः बालकों की वैयक्तिक विभिन्नता को ध्यान में रखते हुए उन्हें भाषा की योग्यता

प्राप्त करने में सहायता प्रदान की जाय। अलग-अलग उनके दोषों का परिमार्जन किया जाय, अपेक्षित योग्यता की प्राप्ति के लिए प्रोत्साहित किया जाय, प्रतिभाशाली एवं साहित्यिक अभिरुचि वाले बालकों को उचित निर्देशन दिया जाय और इस बात का ध्यान रखा जाय कि मन्द बुद्धि का बालक पिछड़ने न पाये और तीव्र बुद्धि के बालक को भी अपनी गति से आगे बढ़ने का अवसर मिलता जाए।

9. **बहुमुखी प्रयास**—भाषा के नियमों, प्रयोगों एवं व्यवहारों से साहजिक सम्बन्ध-स्थापन के लिए अनेक प्रकार से और अनेक दिशाओं से प्रयास होने चाहिए। शिक्षक इस दृष्टि से अनेक अभ्यासों की रचना कर सकता है। यदि वह एक शब्द का अर्थ बताता है तो उसे उस शब्द का प्रयोग, उस शब्द की रचना, शब्द का ठीक उच्चारण, वर्तनी आदि भी बता सकता है। इसी प्रकार वाक्य रचना में वाचन, उच्चारण, शब्द-क्रम, व्याकरण के नियम, प्रयोग एवं विविध उदाहरण आदि द्वारा शिक्षक अपेक्षित योग्यता को सुदृढ़ कर सकता है। वाचन के साथ लेखन द्वारा भी अपेक्षित योग्यता अधिक पक्की हो जाती है।

बहुमुखी प्रयास में कक्षा-शिक्षण के अतिरिक्त अन्य आयोजन भी शामिल हैं। अनेक सहशैक्षिक आयोजन इसमें सहायक होते हैं। फिर भाषा सिखाना केवल भाषा के शिक्षक का ही दायित्व नहीं है, बल्कि विद्यालय के अन्य शिक्षकों का भी परोक्ष दायित्व है। अन्य विषय यदि शुद्ध भाषा में पढाये जाते हैं तो बालक का शब्दभण्डार, भावाभिव्यक्ति की योग्यता और भाषा पर अधिकार आदि अपने आप विकसित होते हैं। विद्यार्थी निष्क्रिय श्रोता के रूप में भी भाषा अनजाने ही सीखता रहता है, जैसे दूसरों द्वारा सुपाठ, भाषण, संवाद आदि सुनना। अतः बालक को ऐसे अवसर अवश्य ही अधिक से अधिक प्रदान करने चाहिए।

10. **कण्ठस्थ करना**—आधुनिक शिक्षा में समझने की शक्ति पर बल देने के कारण रटने का विरोध किया जाता है, पर बहुत-सी ऐसी योग्यताएँ है जिनमें रटने का या कण्ठस्थ करने का भी विशेष महत्त्व है। भाषा ऐसी ही कला है। भाषा सीखना आदत डालना है। आदत डालने का एक बहुत बड़ा साधन भाषा-सामग्री को कण्ठस्थ करना है। भाषिक नियमों और अच्छे अंशों या अवतरणो को कण्ठस्थ करना उपयोगी होता है। कण्ठस्थ कर लेने से भाषा-सामग्री के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित् हो जाता है और उसका यथोचित प्रयोग आयासहीन बन जाता है। हेराल्ड ई. पामर का कहना है कि कण्ठस्थ कर लेने से बालक नियमों के भार से, अशुद्धियो की आशंका से और नवीन प्रयोग की द्विविधा से सहज ही मुक्त हो जाता है और बिना प्रयास के ही, बिना झिझक और संकोच के कण्ठस्थ भाषा-सामग्री एवं अवतरणों का यथोचित प्रयोग करने लगता है। अतः छात्रों को उपयुक्त, भाषा-सामग्री कण्ठस्थ करने के

लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।[5] किन्तु कण्ठस्थ करने योग्य भाषा-सामग्री के चयन में हमें सावधानी रखनी चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं—

(i) सूक्तियाँ, मुहावरे तथा योगरूढ़ शब्द तथा शब्दसमूह।

(ii) कथोपकथन,संवाद, वार्तालाप, भाषण आदि के उपयोगी अंश।

(iii) कुछ आदर्श रचनाएँ जिनके अनुकरण पर छात्र वैसी ही रचना करने का प्रयत्न करें।

(iv) साहित्यिक एवं आलंकारिक प्रयोग के कुछ नमूने।

(v) प्रेरणात्मक कविताएँ एवं गद्यावतरण।

11. **शिक्षण सूत्रों[6] का प्रयोग**—कुछ सामान्य शिक्षण-सूत्रों का भाषा-शिक्षण में प्रयोग बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। इनमें 'ज्ञात से अज्ञात की ओर' 'मूर्त से अमूर्त की ओर', 'पूर्ण से खण्ड की ओर', 'सरल से जटिल की ओर', 'विशेष से सामान्य की ओर', 'आगमन से निगमन की ओर', आदि शिक्षण-सूत्रों का यथा-प्रसंग प्रयोग विशेष रूप से उपयुक्त है।

हिन्दी भाषा-शिक्षक के सामान्य एवं विशेष गुण

सामान्य गुण :

शिक्षा सम्बन्धी समस्त क्रिया-कलापों की संपन्नता और सफलता शिक्षक पर निर्भर है। 'सेकेण्डरी एजुकेशन कमीशन' ने शिक्षक के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "शिक्षा के पुनर्निर्माण में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान शिक्षक—उसके वैयक्तिक गुण, शैक्षिक योग्यताएँ, शिक्षण-प्रशिक्षण तथा विद्यालय एवं समाज में उसका स्थान आदि–का है। विद्यालय की प्रतिष्ठा और उसका सामाजिक जीवन पर प्रभाव निश्चित ही शिक्षकों की कार्यकुशलता पर निर्भर है।"[7] हुमायूं कबीर ने

---

5. आये दिन का यह अनुभव है कि पुरानी पीढ़ी के अध्यापकों को सैकड़ों कविताएँ कण्ठस्थ रहती थीं, जबकि आज वैज्ञानिक शिक्षण पद्धति के नाम पर पढ़ाने वाले शिक्षकों के पास इस पूँजी का सर्वथा अभाव होता जा रहा है। कण्ठस्थ करने की प्रवृत्ति को हतोत्साहित करने का ही यह परिणाम है।
6. Maxmis of Teaching.
7. "That the most important factor in the contemplated educational reconstruction is the teacher–his personal qualities, his educational qualifications, his professional training and place he occupies in the school as well as in the community. The reputation of a school and its influence on the life of the community invariably depends on the kind of teachers working in it.

'एजुकेशन इन न्यू इण्डिया' में लिखा है कि किसी भी शिक्षा के पुनरुत्थान में शिक्षक का केन्द्रवर्ती स्थान है और उसकी शैक्षिक दक्षता के विकास पर ही शिक्षा की पुनर्रचना की सफलता निर्भर करती है।..........अच्छे शिक्षकों के अभाव मे अच्छी से अच्छी प्रणाली भी असफल होगी परन्तु अच्छे शिक्षको के रहने पर यदि किसी शिक्षा-प्रणाली में त्रुटि है तो वह भी बहुत कुछ दूर हो जायगी।..........हमारी शिक्षा-प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि हम सबसे पहले भवन के बारे में सोचते हैं फिर फर्नीचर के बारे मे, उसके बाद पुस्तकालय एवं प्रयोगशाला के बारे में और अन्त में शिक्षक के बारे में, अर्थात् सबसे पहली बात को सबसे अन्त में स्थान देते है।"

अतः शिक्षा में शिक्षक का केन्द्रवर्ती एवं सर्वोपरि स्थान है और उसमें अनेक गुणो की आशा और अपेक्षा की जाती है। हिन्दी शिक्षकों में भी वे सामान्य गुण अपेक्षित हैं, यथा—

1. **प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व**—शारीरिक स्वास्थ्य, उचित वेश-भूषा, कार्य-तत्परता एवं स्फूर्ति, उत्साह, शालीनता, सुरुचि, विनम्रता, दृढ़ता, आत्मनिर्भरता, आत्मनियन्त्रण, शान्ति एवं मानसिक संतुलन आदि गुणों से शिक्षक का व्यक्तित्व प्रभावपूर्ण होता है और वह शिक्षार्थियो को उचित दिशा में प्रभावित कर सकता है।

2. **मानसिक योग्यता**—अध्यवसायी प्रवृत्ति, कुशाग्रबुद्धि, विचारशीलता, सावधानी, सद्यः निर्णय शक्ति, परिस्थित्यनुकूलता एवं प्रत्युत्पन्नमतित्व आदि।

3. **नैतिक बल**—सदाचार, शिष्ट व्यवहार, सच्चरित्रता, निष्ठा, सहानुभूति, सद्न्याय, निष्पक्षता आदि।

4. **सामाजिक कार्यों, खेलकूद, स्काउटिंग, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक कार्यक्रमों आदि में अभिरुचि।**

5. **प्रशिक्षण**—अपने विषय को पढ़ाने के लिए उपयुक्त विधियों, युक्तियों का ज्ञान।

हिन्दी शिक्षक के विशेष गुण

ब्रिटिशकालीन भारत में भारतीय भाषाओं के शिक्षकों को उचित सम्मान नहीं प्राप्त था। इस कारण उनमें हीनता की भावना उत्पन्न हो जाती थी और जिस उत्साह एवं लग्न से शिक्षण कार्य करना चाहिए, वह नही हो पाता था। निराश, उदासीन एवं असन्तुष्ट शिक्षक कभी भी अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह अच्छी तरह नहीं कर सकता।[8] किन्तु अब स्थिति बदल गयी है। स्वाधीनता के बाद सभी विषयों के

---

8. "Various research studies show clearly that emotional stability of teachers affects that of pupils. Unhappy, frustrated, dissatisfied teachers can not help their pupils to become happy, well adjusted young people"—'The Education and Training of Teachers,' UNESCO Publication.

शिक्षक समान सम्मान के अधिकारी हैं। बल्कि कुछ विशेष स्थितियों के कारण भाषा के शिक्षक का स्थान महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि विद्यालय के अनेक साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक आयोजनों का उत्तरदायित्व भी उसी पर रहता है।

हिन्दी भाषा-शिक्षक के विशेष गुणों का संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार है—

1. **हिन्दी भाषा का ज्ञान**—हिन्दी शिक्षक का सर्वप्रथम गुण यह है कि हिन्दी भाषा पर पूर्ण अधिकार हो। भाषा के सभी तत्त्वों का वह ज्ञाता हो। ध्वनियाँ, शब्दभण्डार, वाक्य रचना एवं वाक्य विज्ञान सम्बन्धी सभी अंगों-उपांगों का उसे अच्छा ज्ञान होना चाहिए। मातृभाषा होने के कारण हिन्दी शिक्षक हिन्दी के भाषिक पक्ष पर उतना ध्यान नहीं देते क्योंकि वे समझते है कि बालक की यह मातृभाषा है और वह इसका प्रयोग जानता ही है। पर यह उसकी भूल है। हिन्दी एक वृहत् क्षेत्र की मातृभाषा है जिसमें अनेक जनपदीय भाषाएँ प्रचलित हैं जिनका प्रभाव मानक हिन्दी पर भी पड़ता है। अतः विभिन्न क्षेत्रों के बालकों के उच्चारण, बलाघात, अनुतान (इन्टोनेशन) में अन्तर पाया जाता है। शिक्षक को मानक हिन्दी के शुद्ध उच्चारण का ज्ञान होना चाहिए जिससे वह बालकों की उच्चारण संबंधी त्रुटियों को दूर कर सके। हिन्दी वर्तनी की त्रुटियां आजकल छात्रों से बहुत हो रही है। इसका भी कारण शिक्षकों में यथेष्ट ज्ञान का अभाव है। भाषा का व्याकरण पक्ष भी बहुत उपेक्षित हो गया है। हिन्दी शिक्षक का यह कर्त्तव्य है कि वह हिन्दी के विविध भाषिक पक्षों का पूरा ज्ञान प्राप्त करे। भाषा के व्यावहारिक एवं शास्त्रीय दोनों पक्षों के ज्ञान से ही भाषा पर अधिकार प्राप्त हो सकता है, यह हमें सदा स्मरण रखना चाहिए।

हिन्दी एक जीवन्त भाषा है। उसकी ध्वनियों में हजार वर्षों की परम्परा के कारण अनेक परिवर्तन हो चुके है, अनेक नयी ध्वनियां विकसित हुई हैं, अनेक ध्वनियो के मूल उच्चारण हम भूलते जा रहे है अतः एक विकासशील भाषा के रूप में हिन्दी का ज्ञान आवश्यक है। हिन्दी का शब्दभण्डार भी बहुत बढ़ा है। उसके वाक्यरचना-विधान में भी अनेक नये रूपों का आगमन हुआ है, विशेषतः अंग्रेजी के प्रभाव से। अतः इन सभी दृष्टियों से हिन्दी भाषा का उसे ज्ञान होना चाहिए तभी वह शिक्षार्थियों को उचित रूप से भाषा की शिक्षा प्रदान कर सकता है।

2. **हिन्दी साहित्य का ज्ञान**—भाषिक पक्ष के साथ-साथ हिन्दी शिक्षक को साहित्यिक पक्ष का भी ज्ञाता होना चाहिए। हिन्दी शिक्षक को केवल पाठ्य-पुस्तक में वर्णित साहित्यकारों एवं उनकी कृतियों का अध्ययन करके ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नही समझनी चाहिए, उन्हें हिन्दी साहित्य के आद्यन्त विकास का अनुशीलन करना चाहिए। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ और उसके उत्तरोत्तर विकास का, प्रमुख साहित्यकारों—कवियो, निबन्धकारों, उपन्यासकारो, कहानीकारों, नाटककारों आदि की जीवनी, उनकी कृतियाँ एवं उनकी साहित्यिक पृष्ठभूमि का भलीभाँति अध्ययन होना चाहिए। तभी वह पाठ्य-पुस्तक के पाठों का अच्छा विवेचन कर

सकता है। साहित्य के ज्ञान के साथ-साथ साहित्यशास्त्र का ज्ञान भी शिक्षण को अधिकाधिक उपादेय और रुचिकर बनाने के लिए आवश्यक है। भारतीय साहित्य शास्त्र एवं साहित्यालोचन के सिद्धान्तों के अध्ययन से हिन्दी शिक्षक अपने विद्यार्थियों को भी साहित्यिक अध्ययन के प्रति अभिरुचि एवं अंतर्दृष्टि प्रदान कर सकता है। सतत अध्ययनशीलता ही सच्चे शिक्षक का गुण है–"यावज्जीवमधीते विप्रः।"

3. साहित्यक अभिरुचि—हिन्दी शिक्षक के लिए केवल भाषा और साहित्य का ज्ञाता होना ही पर्याप्त नहीं, अपितु उसमें साहित्यिक अभिवृत्ति, रुचि एवं सर्जनात्मक शक्ति का भी होना आवश्यक है। साहित्य के प्रति अनुराग होने से ही साहित्यिक अभिरुचियों का विकास होता है। हिन्दी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओ का अध्ययन इस दृष्टि से विशेष उपयोगी है। अपने विद्यालय में साहित्यिक कार्यक्रमों का आयोजन करके हिन्दी-शिक्षक विद्यार्थियों में भी साहित्यिक अभिरुचि जागरित करने का प्रयत्न करता रहे। विशिष्ट हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ अपने विद्यालय में अवश्य मंगानी चाहिए। नवीन रचनाओं के प्रति आकर्षण एवं उनका अध्ययन साहित्यिक अभिरुचि का द्योतक है। कविता, कहानी, उपन्यास आदि विधाओ में अनेक नई प्रवृत्तियो का विकास हुआ है। उनके अध्ययन के बिना हम आज के हिन्दी साहित्य का परिचय नही प्राप्त कर सकते। अतः हिन्दी शिक्षक को साहित्य के प्रति अपनी अभिरुचि सदैव बनाये रखनी चाहिए।

4. हिन्दी के प्रति गौरव एवं अपने दायित्व की भावना—मातृभाषा की दृष्टि से हिन्दी के प्रति हिन्दी शिक्षक में गौरव की अनुभूति होनी चाहिए। हिन्दी भारत के विशालतम क्षेत्र की मातृभाषा है और विश्व में चीनी एवं अंग्रेजी के बाद उसी का स्थान है। अतः इतने बड़े समुदाय की भाषा का शिक्षक होने के कारण उसका उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता है। उसे मातृभाषा की दृष्टि से इस भाषा को इतना सम्पन्न और समृद्धिशाली बनाना है कि वह शीघ्र ही इस विशाल प्रदेश के समस्त क्रिया-कलापों को संचार भाषा बन सके और साथ ही छात्रो में इसके प्रति वह अनुराग उत्पन्न करना है कि वे भी इसके प्रति गौरव का अनुभव करें और उसका अच्छा ज्ञान प्राप्त करें।

हिन्दी की दूसरी स्थिति भारत की राजभाषा के रूप में है। यह भी हिन्दी शिक्षक के लिए गौरव की बात है, पर यह गौरवानुभूति संकीर्णता या क्षेत्रीयता का कारण न हो, यह सावधानी भी अपेक्षित है। सभी भारतीय भाषाओं के प्रति समादर का भाव रखते हुए हिन्दी के उत्थान और प्रसार में उसे संलग्न होना चाहिए। यदि सम्पूर्ण हिन्दी भाषी राज्य हिन्दी को पूर्णतः राजभाषा बना लें तो वह अपने-आप सारे भारत की राजभाषा व्यवहार में हो जायगी। हिन्दी को यह सामर्थ्य प्रदान करने का उत्तरदायित्व हिन्दी शिक्षकों पर ही है।

5. भाषा-शिक्षण विधियों का ज्ञान—भाषा और साहित्य के अध्ययन के अतिरिक्त हिन्दी शिक्षक को भाषा-शिक्षण की आधुनिक विधियों एवं युक्तियों का

सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। प्रत्येक भाषा-शिक्षक को प्रशिक्षण अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए। विद्यार्थियों के सम्मुख कौन ज्ञान किस प्रकार प्रस्तुत किया जाय, छात्रों को प्रस्तुत पाठ के प्रति किस प्रकार अभिमुख किया जाय, पाठ को किस प्रकार सजीव, रुचिकर, आकर्षक और ग्राह्य बनाया जाय और पाठ-विकास में उनका सक्रिय सहयोग कैसे प्राप्त किया जाय, आदि बातें शिक्षणशास्त्र के अध्ययन से ज्ञात होती हैं।

शिक्षण-कार्य एक कला है, क्रिया अथवा प्रयोग है जो अवसर तथा स्थिति के अनुकूल अपना रूप धारण करता रहता है। शिक्षण-सिद्धांत तथा विधियाँ स्वयं कोई साध्य नहीं हैं, अपितु वे साधन हैं जिनके द्वारा शिक्षण-कार्य सरल, सुग्राह्य एवं रुचिकर बनाया जा सके। भाषा-शिक्षक में यह योग्यता होनी चाहिए कि वह बालकों की स्थिति के अनुकूल, यथावसर एवं यथाप्रसंग शिक्षण-सिद्धांतों एवं विधियों का प्रयोग कर सके।

शिक्षा का शिक्षण-कार्य से सीधा सम्बन्ध रहता है और वह प्रतिदिन शिक्षण प्रणालियों एवं विधियों के प्रयोग के सम्बन्ध में नये-नये अनुभव प्राप्त करता रहता है। अतः उसका यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वह स्वयं उन अनुभवों के आधार पर शिक्षण-कार्य सम्बन्धी नयी खोजों को प्रकाश में लाये। उसे नवीन मौलिक प्रयोग भी करते रहना चाहिए।

शिक्षक को यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि शिक्षणशास्त्र एक सतत विकासशील शास्त्र है। नवीन शिक्षा-दर्शन, सिद्धांत और प्रयोग प्रवर्तित होते रहते हैं। भाषा-शिक्षण के सम्बन्ध में भी यही बात है। अतः भाषा-शिक्षक को नवीन शिक्षण-प्रणालियों और विधियों के प्रयोग से भी अवगत रहना चाहिए। भाषा-शिक्षण सम्बन्धी विचारगोष्ठियों, सम्मेलनों तथा कार्यगोष्ठियों में भाग लेते रहना चाहिए जिससे शिक्षण-कार्य सम्बन्धी नवीनतम प्रयोगों एवं युक्तियों से भलीभाँति परिचित होते रहें।

हिन्दी शिक्षक का कर्त्तव्य और कक्षा-शिक्षण सम्बन्धी तैयारी

भाषा-शिक्षण को अधिक से अधिक प्रभावपूर्ण बनाने की दृष्टि से हिन्दी-शिक्षक को निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए:—

1. कक्षा में जाने के पहले पाठ अच्छी तरह तैयार कर लेना चाहिए।
2. कक्षा में उत्साह, लगन, रुचि और तत्परता के साथ शिक्षण-कार्य करना।
3. यथोचित साधनों एवं प्रसंगों द्वारा छात्रों में हिन्दी के प्रति अनुराग उत्पन्न करना।
4. छात्रों के सम्मुख सदा शुद्ध, शिष्टजनोचित परिनिष्ठित हिन्दी का प्रयोग करना और उचित आदर्श द्वारा छात्रों को भी अच्छी भाषा के प्रयोग के लिए प्रोत्साहित करना।

5. कक्षा में भाषा के सर्वाङ्गीण रूप का ध्यान रखना जिससे भाषा का कोई अंग उपेक्षित न रहे। विद्यालयों मे प्रायः पठन कार्य एवं व्याख्या पर ही बल दिया जाता है, पर भाषा के सभी कौशलों एवं साहित्यिक अभिरुचियों के विकास पर बल देना चाहिए। व्यक्त-पाठ, मौनपाठ, शब्द-भण्डार, अर्थबोध, समीक्षा आदि सभी पक्षों पर दृष्टि रखने से पाठ-शिक्षण की उपयोगिता बढ़ जाती है।
6. पाठ्य-पुस्तक के माध्यम से पढने, लिखने और बोलने का परस्पर स्वाभाविक सानुबन्ध स्थापित करना चाहिए और सैद्धांतिक ज्ञान को सदा व्यावहारिक बनाने पर बल देना चाहिए उदाहरणतः नवीन शब्दावली या वाक्यरचना का ज्ञान प्रयोग में परिणत कराना चाहिए।
7. पाठ्य-पुस्तक शिक्षण में ही प्रासंगिक रूप से व्याकरण-शिक्षा को सम्बद्ध करना चाहिए। इससे व्याकरण का ज्ञान व्यावहारिक बन जाता है।
8. कक्षा-शिक्षण को अधिक रुचिकर, आकर्षक और उपादेय बनाने की दृष्टि से श्रव्य-दृश्य सामग्री का यथोचित प्रयोग करना चाहिए।
9. बालको की वैयक्तिक कठिनाइयो को दूर करना चाहिए और उन्हें सीखने के लिए प्रोत्साहित करते रहना चाहिए।
10. भाषा-शिक्षण में संशोधन कार्य एक जटिल और बहुत ही जिम्मेदारी का कार्य है। प्रायः इसकी उपेक्षा हो जाती है। इससे छात्रों में अशुद्ध भाषा-प्रयोग की आदत बनी रह जाती है अतः मौखिक एवं लिखित रचना-शिक्षण में संशोधन कार्य नियमित रूप से आवश्यक है।
11. संप्राप्ति-परीक्षण एवं मूल्यांकन द्वारा छात्रों को उनकी प्रगति बताते रहना चाहिए और अधिक उपलब्धि के लिए प्रोत्साहित करते रहना चाहिए।
12. पाठ्येतर क्रियाओं—वादविवाद, भाषण, अन्त्याक्षरी, कविता-पाठ, कविदरबार, भाषा के विविध खेल आदि—के आयोजन से बालकों में भाषा के प्रयोग के लिए रुचि जागरित करना चाहिए।

सारांश

भाषा एक क्रियात्मक विषय है। सुनना और बोलना सीखने के लिए मनुष्य को प्रकृति-प्रदत्त शक्ति उपलब्ध है। इसे स्वाभाविक एवं स्वतः स्फूर्त शक्ति कह सकते हैं। किन्तु भाषा के अन्य कौशल—पढ़ना और लिखना सीखने के लिए विधिवत् शिक्षा (अध्ययनात्मक शक्ति) की आवश्यकता पड़ती है।

भाषा सीखना एक आदत बनाने की प्रक्रिया है और इस दृष्टि से बाल्यावस्था

का विशेष महत्त्व है क्योंकि इस अवस्था में भाषा की सही आदत पड़ जाने पर आगे कोई त्रुटि नहीं हो सकती।

भाषा-शिक्षण के सामान्य सिद्धांत हैं—

1. स्वाभाविक विधि का अनुसरण 2. क्रियात्मकता और अभ्यास 3. मौखिक कार्य की प्रमुखता 4. शुद्धता और शिक्षक का आदर्श 5. भाषा के विविध अंगों का सापेक्षिक समन्वय 6. क्रमायोजन 7. रोचकता 8. वैयक्तिक विभिन्नता 9. बहुमुखी प्रयास 10. कण्ठस्थ करना 11. मनोवैज्ञानिक शिक्षण-सूत्रों का प्रयोग।

हिन्दी भाषा शिक्षक के सामान्य एवं विशेष गुण

सामान्य गुण—प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व, मानसिक योग्यता, नैतिक बल, शैक्षिक योग्यता एवं उपाधियाँ, प्रशिक्षण।

विशेष गुण— हिन्दी भाषा का ज्ञान, हिन्दी साहित्य का ज्ञान, साहित्यिक अभिरुचि, हिन्दी के प्रति गौरव एवं अपने दायित्व की भावना, भाषा-शिक्षण विधियों का ज्ञान।

हिन्दी शिक्षक का कर्त्तव्य है कि कक्षा-शिक्षण की पूर्व तैयारी अच्छी प्रकार से करे, उत्साह, लगन और रुचि से पढ़ाए और बालकों में हिन्दी के प्रति रुचि और अनुराग उत्पन्न करे।

प्रश्न

1. भाषा सीखने की स्वतःस्फूर्त शक्ति से क्या तात्पर्य है?
2. भाषा को क्रिया-प्रधान विषय क्यों कहा गया है?
3. भाषा-शिक्षण के प्रमुख सिद्धांत क्या हैं?
4. मनोवैज्ञानिक शिक्षण-सूत्रों का प्रयोग आप भाषा-शिक्षण में किस प्रकार करेंगे, सोदाहरण समझाइए।
5. हिन्दी शिक्षक में कौन से विशेष गुण आवश्यक हैं?
6. कक्षा-शिक्षण में हिन्दी शिक्षक को किन बातों का ध्यान रखना चाहिए?

6

हिन्दी उच्चारण–शिक्षण

[उच्चारण-शिक्षण का महत्त्व, शुद्ध उच्चारण का तात्पर्य, माध्यमिक स्तर पर उच्चारण-शिक्षण की उपादेयता एवं उद्देश्य, हिन्दी ध्वनियाँ तथा उच्चारण की दृष्टि से उनका वर्गीकरण, सामान्य उच्चारण संबंधी दोष तथा शिक्षण द्वारा उनका निराकरण, माध्यमिक कक्षाओं में उच्चारण-शिक्षण के अवसर एवं शिक्षण-प्रक्रिया]

"व्याकरण से भी दुगुना महत्त्व उच्चारण का है। एक सु-उच्चरित वाक्य व्याकरकण-असम्मत रहने पर भी अर्थप्रदान करता है किन्तु पूर्ण व्याकरणसम्मत वाक्य अशुद्ध उच्चरित होने पर श्रोता समझ नहीं पाता या अपूर्ण रूप से समझता है अथवा प्रयत्न करके ही समझ पाता है।"[1]

प्राचीन भारत में उच्चारण-शिक्षण पर बहुत बल दिया जाता था। अशुद्ध उच्चारण तो एक प्रकार से पाप माना जाता था। इस कारण सभी लोगों को वेद-मंत्रों का उच्चारण करने की अनुमति नहीं दी जाती थी। मंत्रों का प्रभाव उसके यथावत् शुद्ध उच्चारण पर निर्भर माना था। पर जिस देश में उच्चारण का इतना अधिक महत्त्व था, वहीं उच्चारण की इतनी उपेक्षा की जाती है। इस उपेक्षा के कारण ही हिन्दी में उच्चारण की इतनी अधिक अशुद्धियाँ पायी जाती हैं।

भाषा-शिक्षण में उच्चारण-शिक्षण का महत्त्व

भाषा मूलतः 'बोलना' है और बोलने की सार्थकता तथा प्रभविष्णुता बहुत कुछ उच्चारण पर निर्भर है। फिर भी उच्चारण की शिक्षा हमारे

---

1. "...that pronunciation is of atleast twice as much importance as grammar, a well pronounced sentence in a very bad grammar can still convey you meaning, but a sentence in perfect grammar very baaly pronounced will either not be understood at all, or imperfectly understood or understood only with effort on the part of the listener."—रामप्रकाश कुलश्रेष्ठ—"हिन्दी उच्चारण-शिक्षण का महत्त्व," में उद्धृत, भाषा-शिक्षण तथा भाषा-विज्ञान, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा।

विद्यालयों में एक उपेक्षित विषय है। इसका सर्वप्रमुख कारण शायद यह है कि हिन्दी भाषी प्रदेशों में बालक विद्यालय में प्रविष्ट होने के पूर्व ही हिन्दी (मातृभाषा होने के कारण) बोलना सीख चुका होता है और शिक्षक इतने से ही संतोष कर लेता है कि बालक उसकी बातें सुनकर समझ लेता है और अपनी बातें व्यक्त कर लेता है। पर उसके बोलने में उच्चारण की शुद्धता और स्पष्टता है या नहीं, इस ओर वह ध्यान नहीं देता; परिणामतः बालक की पूर्वार्जित अशुद्ध उच्चारण सम्बन्धी आदत यथावत् बनी रहती है। इस समस्या का निराकरण उच्चारण-शिक्षा की समुचित व्यवस्था से ही सम्भव है।

सामान्य परिवारों के बालक शैशवावस्था से ही मातृभाषा हिन्दी जिस रूप में सीखते है, वह हिन्दी मानक या परिनिष्ठित हिन्दी नही होती, अपितु स्थानीय बोलियो से प्रभावित होती है। एक विशाल क्षेत्र की भाषा है और इस क्षेत्र में अनेक बोलियाँ हैं, जिनमें उच्चारण की बडी भिन्नता है। कक्षा में अनेक बोलियाँ बोलने वाले बालक आते हैं। उनकी उच्चारण संबंधी कठिनाई भी एक समान न होकर भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। इस दृष्टि से उच्चारण-शिक्षण का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

हिन्दी ध्वन्यात्मक अथवा नादानुगामिनी भाषा है। उसमें वर्ण या लिपि प्रतीक और उसकी उच्चरित ध्वनि एक ही है, जो अंग्रेजी या उर्दू में नही है। यह देवनागरी की सबसे बड़ी विशेषता है। यदि वर्ण का नाम 'क' है तो उसकी उच्चारण-ध्वनि भी 'क' ही है। अतः वर्ण की शिक्षा ठीक से प्रदान की जाय तो उच्चारण-दोष रहे ही नही। पर विभिन्न प्रदेशों मे वर्णमाला की प्रारम्भिक शिक्षा देते समय प्रत्येक वर्ण के उच्चारण में जो भिन्नता हो जाती है, वही उच्चारण-दोष का कारण है। अतः वर्ण-परिचय के समय ही शुद्ध मानक उच्चारण की शिक्षा आवश्यक है।

हिन्दी भाषी प्रदेशो मे भी वर्णमाला का एक-एक वर्ण विभिन्न प्रकार से उच्चरित होता है। काशी मे वर्णमाला सीखने वाले बालक क, ख, ग, घ, ङ स्वाभाविक रूप से कहते है, वही उत्तरप्रदेश के पश्चिमी भाग और राजस्थान के बालक कै, खै, गै, घै, ङै, कहते हैं। पंजाब के बालक का, खा, गा, घा, अंगा पढते है और बगाली बालक (अपनी भाषा के उच्चारण-प्रभाव के कारण) को, खो, गो, घो, ङो कहते है। इस भिन्नता को हटाकर शुद्ध स्वाभाविक मानक उच्चारण सिखाने के लिए उच्चारण की शिक्षा अति आवश्यक है।

वर्णमाला के उच्चारण की भिन्नता उस समय और भी उलझन उत्पन्न करती है जब हम देखते है कि उनके कारण शब्दों का रूप विकृत हो जाता है। पंजाबी बालक 'भ' को 'प' कहने के कारण 'भानु' को 'पानु' 'ध' को 'त' कहने के कारण 'धेनु' को 'तेनु' 'भ्राता' को 'प्रा' 'पुत्र' को 'पुत्तर', 'हँसना' को 'हंसना कहता है। राजस्थान की कुछ जगहों पर 'कौन' को 'कोन' कहते है। व्रजभाषी प्रदेश मे 'उसने' को 'उसनै' कहते है। बैसवाड़ी में 'श' ध्वनि का स्थान पूर्णतः 'स' ने ले लिया है।

हिन्दी के उच्चारण में स्थानीय बोलियों का प्रभाव प्राथमिक स्तर पर समुचित उच्चारण–शिक्षण द्वारा दूर हो सकता है, अन्यथा अशुद्ध उच्चारण की आदत बनी रह जाती है और माध्यमिक स्तर पर उच्चारण-दोष की समस्या और भी गंभीर हो जाती है।

हिन्दी ध्वन्यात्मक भाषा है, इस कारण अशुद्ध उच्चारण का प्रभाव वर्तनी पर भी पड़ता है, अतः भाषा के शुद्ध-लेखन की दृष्टि से भी उच्चरण-शिक्षण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अगले अध्याय में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला जायगा कि अशुद्ध उच्चारण के कारण वर्तनी की अशुद्धियाँ कितनी अधिक पायी जाती हैं।

उच्चारण-शिक्षण का महत्त्व केवल विद्यार्थियों की ही दृष्टि से नहीं है, बल्कि शिक्षकों की भी दृष्टि से है। प्रत्येक भाषा-शिक्षक को शुद्ध उच्चारण की दृष्टि से प्रशिक्षित होना चाहिए। अधिकतर ग्रामीण स्कूलो में शिक्षक स्वयं स्थानीय बोली का प्रयोग करते है और उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा एवं उच्चारण का अनुकरण बालक करते है। परिणामतः दोनों के ही हिन्दी उच्चारण मे बोलीगत उच्चारण का प्रभाव बना रहता है। इस समस्या का समाधान केवल यही है कि शिक्षक हिन्दी-ध्वनि विज्ञान की दृष्टि से प्रशिक्षित हो और वे सतत सचेष्ट रहे कि कक्षा में उनसे कोई भी अशुद्ध उच्चारण न हो। वे शिक्षण के समय बालकों से भी यही आग्रह करें कि वे शुद्ध उच्चारण के साथ बोलें। अतः हिन्दी ध्वनियों के शुद्ध उच्चारण प्रशिक्षण के लिए आयोजित कार्यगोष्ठियों में प्राइमरी एवं माध्यमिक कक्षाओ के शिक्षकों को सम्मिलित होने का अवसर अवश्य प्रदान किया जाय।

शिक्षकों को उच्चारण की दृष्टि से प्रशिक्षित करने के लिए दो-दो या तीन-तीन महीने के सेवाकालीन पाठ्यक्रम की भी व्यवस्था होनी चाहिए। अब प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में भाषिकी-विभाग (डिपार्टमेण्ट ऑफ लिंग्विस्टिक्स) खुल गये हैं जिनमें ध्वनियों की विशेष रूप से शिक्षा दी जाती है। किन्तु यह प्रशिक्षण प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तर के शिक्षकों के लिए सुलभ नहीं हो पाता। यदि किसी प्रकार इन भाषा-शिक्षको के लिए यह प्रशिक्षण सुलभ हो जाए तो उच्चारण की शिक्षा वैज्ञानिक ढंग से संभव होगी और साथ ही हिन्दी का मानक उच्चारण ही संपूर्ण हिन्दी-भाषी प्रदेशों में प्रयुक्त होगा।

शुद्ध उच्चारण का तात्पर्य—शुद्ध उच्चारण का तात्पर्य परिनिष्ठित अथवा मानक उच्चारण से है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि एक ही भाषा के बोलने वालों में भी उच्चारणभेद पाया जाता है। यह भेद क्षेत्रीय भिन्नता के कारण है। जिस भाषा का क्षेत्र जितना विशाल और विस्तृत होता है, उसमे उच्चारण-भिन्नता की संभावना उतनी ही अधिक होती है। हिन्दी के सम्बन्ध में यही बात चरितार्थ होती है। मेरठ या दिल्ली के पास बोली जाने वाली 'खड़ी बोली' ही विकसित एवं परिष्कृत होकर आज की साहित्यिक हिन्दी भाषा बनी है, पर वह अब मूल खड़ी बोली से

अनेक दृष्टियों से भिन्न हो गई है। वहाँ के लोगों का ही उच्चारण परिनिष्ठित या मानक हिन्दी उच्चारण नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार,हम देखते हैं कि उच्चारण की दृष्टि से शुद्ध साहित्यिक हिन्दी का रूप भी पटना, वाराणसी, दिल्ली, जयपुर, भोपाल आदि स्थानों पर भिन्न है। चाहे वह भिन्नता कितनी ही कम क्यों न हो, पर है अवश्य। ऐसी स्थिति में उच्चारण की एकरूपता अथवा मानक उच्चारण की दृष्टि से हमें विचार करना पड़ता है।

उपर्युक्त भिन्नताओं (वर्णों के उच्चारण की भिन्नता का कुछ उल्लेख किया जा चुका है।) के रहते हुए भी उच्चारण सम्बन्धी कुछ तथ्य ऐसे हैं जिन्हें अधिकांशतः सर्वमान्यता प्राप्त है और उसी को हम मानक उच्चारण मानते है, जैसे, क,ख,ग,घ, आदि उच्चारण ही शुद्ध माना जाता है, कँ, खँ.........या का, खा.........या को, खो आदि अशुद्ध हैं। इसी प्रकार 'श' के स्थान पर 'स' का उच्चारण सभी को खटकता है और अशुद्ध माना जाता है। 'ष' का उच्चारण 'श' के रूप में मान्य हो गया है, भले ही वर्तनी में 'ष' यथास्थान प्रयुक्त होता रहे। 'ज्ञ' का उच्चारण अब 'ग्यँ' हो गया है। यही स्थिति 'ऋ' के साथ भी है। 'ऋ' और 'रि' के उच्चारण में भेद नहीं रह गया है। अतः जिस उच्चारण को सर्वमान्यता प्राप्त है, वही मानक उच्चारण है, और उसकी शिक्षा हमें बालकों को प्रदान करनी है। शुद्ध उच्चारण एक सापेक्ष व्यापार है, किसी देश-काल अथवा परिस्थिति के अनुकूल जो मानक उच्चारण प्रचलित होता है, उसी को शुद्ध उच्चारण मान लिया जाता है।

उच्चारण-शिक्षण का तात्पर्य केवल ध्वनियों अथवा वर्णों के ही उच्चारण से नहीं है, बल्कि शब्दों तथा वाक्यों के स्तर पर भी शुद्ध उच्चारण से है। पृथक्-पृथक् वर्ण—स्वर, व्यंजन, संयुक्ताक्षर आदि का उच्चारण शुद्ध होते हुए भी शब्द-स्तर पर उच्चारण की अशुद्धियाँ पायी जाती है। अतः शब्द, शब्द-समूह, वाक्यांश, वाक्य आदि भाषिक स्तरों पर उच्चारण की शिक्षा आवश्यक हो जाती है। उच्चारण-शिक्षण की दृष्टि से ध्वनियों मे व्यवहृत रागात्मक अभिलक्षणों का शिक्षण देना भी नितांत आवश्यक है। जब हम उचित स्वराघात, अनुतान, सुर, यति, गति आदि का ध्यान रखते हुए भाषा का व्यवहार करते हैं तभी शुद्ध उच्चारण की पहिचान होती है। अतः ध्वनियाँ, अनुतान (इनटोनेशन) और लय (रिदम) तीनों का ध्यान उच्चारण-शिक्षण में आवश्यक है।

माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक स्तर पर उच्चारण शिक्षण की उपादेयता एवं उद्देश्य—उच्चारण-शिक्षण के महत्त्व पर विचार करते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि उच्चारण-शिक्षण का सर्वोपयुक्त स्तर प्राथमिक स्तर ही है और उसी समय समुचित शिक्षण द्वारा बालकों में शुद्ध उच्चारण की आदत पड़ जानी चाहिए। किन्तु सभी भाषा-शिक्षक जानते है कि प्राथमिक स्तर से उत्तीर्ण होकर आने छात्रों से उच्चारण की अशुद्धियाँ होती रहती हैं। इस स्थिति को देखते हुए

ऋ	ट, ठ, ड, ढ, ण, ड़, ढ़, ष	मूर्धा	मूर्धन्य
	त, थ, द, ध	दन्त	दंत्य
	न, र, ल, स, ज	वर्त्स (ऊपर के दांतों के भीतरी मसूढ़े)	वर्त्स्य
उ, ऊ	प, फ, व, भ, म	ओष्ठ	ओष्ठ्य
ए, ऐ		कण्ठ-तालु	कण्ठतालव्य
ओ, औ		कण्ठ-ओष्ठ	कण्ठोष्ठ्य
	व, फ़	दंत-ओष्ठ	दंतोष्ठ्य

व्यंजन के पाँच वर्ग (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग) के प्रत्येक के प्रथम दो अक्षर (क, ख; च, छ; ट, ठ; त, थ; प,फ) कठोर; तीसरे और चौथे अक्षर (ग, घ; ज, झ; ड, ढ; द, ध; ब, भ) कोमल कहे जाते हैं। प्रत्येक वर्ग का अन्तिम अक्षर (ङ, ञ, ण, न, म,) सानुनासिक कहे जाते हैं, इनके उच्चारण में नासिका का भी प्रयोग होता है।

य, र, ल, व अन्तस्थ वर्ण कहलाते हैं अर्थात् वे आधे स्वर आधे व्यंजन हैं।

प्रयत्न अथवा उच्चारण-प्रकृति की दृष्टि से हिन्दी ध्वनियों का वर्गीकरण

व्यंजन

स्पर्श —क, ख, ग, घ, क़, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, प, फ, ब, भ	स्पर्श उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण में मुख के अन्दर या बाहर के दो उच्चारण-अवयव एक-दूसरे को इतनी जोर से स्पर्श करके सहसा खुलते हैं कि निःश्वास थोड़ी देर के लिए बिल्कुल रुक कर फिर वेग के साथ सहसा बाहर निकलती है। स्पर्श-ध्वनियों को स्फोटक भी कहते हैं।
स्पर्श संघर्षी—च, छ, ज, झ	इन ध्वनियों के उच्चारण में स्पर्शी व्यंजनों की भाँति ही निर्गत श्वास एक क्षण के लिए पूर्णतया अवरुद्ध होती है किन्तु इनके निष्कासन के समय वायु संघर्षण के साथ निकलती है।
अनुनासिक—ङ, ञ, ण, न म	इन ध्वनियों के उच्चारण में वायु-प्रवाह कोमल तालु के नीचे झुक जाने के कारण नासिका विवर से निकल जाता है।
पार्श्विक—ल	जीभ की नोक ऊपरी मसूड़े से लगी रहती है, किन्तु जिह्वा का एक पार्श्व या दोनों पार्श्व खुले रहते हैं और निर्गत वायु इन्हीं पार्श्वों से बाहर निकलती है।

लुंठित—र	जब जिह्वा की नोक वर्त्स (मसूड़ा) पर एक या कई बार टक्कर मारे तो उच्चरित ध्वनि लुंठित या लोड़ित कहलाती है।
उत्क्षिप्त—ड़, ढ़	जीभ की नोक को उलटकर नीचे के हिस्से से कठोर तालु को झटके के साथ कुछ दूर तक छूकर उच्चारण किया जाता है।
संघर्षी—ख़, ग़, ज़, फ़ व, श, स, ह : (विसर्ग)	संघर्षी व्यंजनों के उच्चारण में निर्गत वायु का पूर्ण रूप से अवरोध नहीं होता है। इन ध्वनियों के उच्चारण में मुखविवर इतना सँकरा कर दिया जाता है कि वायु रगड़ खाकर बाहर निकलती है। ह और : (विसर्ग) के उच्चारण में हवा जोर से फेंकते है। श, ष, स को (उच्चारण में एक प्रकार का घर्षण होने से) ऊष्म वर्ण भी कहते हैं।
अर्द्धस्वर अथवा—य, व ईषत्-विवृत	इन्हें स्वर तथा व्यंजन की मध्यवर्ती ध्वनि कहा जाता है। इनके उच्चारण में जिह्वा संवृत-स्थान से विवृत स्थान की ओर जाती है।

स्वर

विवृत—आ, ऑ	जब जिह्वा तथा स्वर-सीमा के मध्य अधिक से अधिक स्थान खाली रहता है।
अर्द्धविवृत—अ	जब जिह्वा तथा स्वर-सीमा के मध्य विवृत की अपेक्षा कुछ कम स्थान खाली रहता है।
संवृत—इ, ई, उ, ऊ	जब जिह्वा तथा स्वर-सीमा के मध्य कम से कम स्थान खाली रहता है।
अर्द्धसंवृत—ए, ओ	जब जिह्वा तथा स्वर-सीमा के मध्य संवृत की अपेक्षा कुछ अधिक स्थान खाली रहता है।

वाह्य प्रयत्न की दृष्टि से स्पर्श व्यंजनों के दो भेद है—[4]

अल्पप्राण—क, ग, च, ज, ट, ड, त, द, प, ब, । ङ, ञ, ण, न, म, अनुनासिक अल्पप्राण है।

महाप्राण—ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, फ, भ। श, ष, स अल्प ध्वनियाँ

---

4. जिन व्यंजनों में ह कार की ध्वनि मिश्रित होती है, वे महाप्राण और शेष अल्पप्राण हैं।

भी महाप्राण हैं। वाह्य प्रयत्न की दृष्टि से वर्णों का **अघोष** और **सघोष** के रूप में वर्गीकरण किया जाता है—

अघोष—जिन ध्वनियों के उच्चारण मे स्वरतन्त्रियों में कम्पन नहीं होता है वे अघोष कहलाती है।

क, क, ख, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प, फ, श, ष, स

सघोष—जिन व्यंजन-ध्वनियों के उच्चारण में स्वरतन्त्रियों में कंपन होता है, वे घोष या सघोष कहलाती हैं।

सुविधा की दृष्टि से हिन्दी वर्णमाला का उपर्युक्त वर्गीकृत रूप चार्ट के रूप में प्रस्तुत है।[5]

देवनागरी वर्णमाला—उच्चारण की दृष्टि से

स्थान	अघोष		घोष								
	स्पर्श		ऊष्म	ऊष्म	स्पर्श				स्वर		
	अल्पप्राण	महाप्राण	महाप्राण	महाप्राण	अल्पप्राण	महाप्राण	अल्पप्राण + अनुनासिक	अंतस्थ	ह्रस्व	दीर्घ	संयुक्त[6]
कंठ	क	ख			ग	घ	ङ		अ	आ	
तालु	च	छ	श		ज	झ	ञ	य	इ	ई	एऐ[2]
मूर्धा	ट	ठ	ष		ड	ढ	ण	र	ऋ		
दंत	त	थ	स		द	ध	न	ल			
ओष्ठ	प	फ			व	भ	म	व[1]	उ	ऊ	ओऔ[3]
ड़, ढ़ = द्विस्पृष्ट; ज = दंततालव्य फ = दंतोष्ठ्य							स्थान + नासिका	1 दंत + ओष्ठ			2 कंठ + तालु 3 कंठ + ओष्ठ

5. 'हिन्दी व्याकरण'—कामताप्रसाद गुरु, पृ० 43 से
6. संयुक्त स्वरों को भी आधुनिक वैयाकरण अब मूल स्वर ही मानने लगे हैं क्योंकि उनके उच्चारण में मुख-प्रयत्नगत स्थिति एक स्वर जैसी ही है।

सामान्य उच्चारण संबंधी दोष तथा शिक्षण द्वारा उनका निराकरण

सामान्य रूप से उच्चारण संबंधी दोष निम्नांकित प्रकार के पाये जाते हैं जिनके निराकरण के लिए शिक्षक को विशेष रूप से सचेष्ट रहना चाहिए:—

1. ऋ, ञ, ष, और ज्ञ का मूल उच्चारण अब नहीं रह गया है और इनका उच्चारण क्रमशः रि, यँ, श, और ग्यँ के रूप में होता है। कहीं-कहीं 'ऋ' को 'रु' के रूप में भी उच्चरित करते हैं जैसे कृपा अथवा प्रकृति जो अशुद्ध है। 'ऋ' का मानक हिन्दी उच्चारण अब 'रि' की भाँति मान लिया गया है। पर 'ऋ' वर्तनी में मौजूद है अतः 'ऋ' वाले शब्दों को समझा अवश्य दिया जाय—ऋग् (वेद), ऋजु, ऋण, ऋत, ऋतु, ऋद्धि, ऋषभ, ऋषि आदि। ऋ मात्रा युक्त शब्दों को भी समझा दिया जाए—कृपा, कृषि, कृतज्ञ, कृतार्थ, गृह, घृणा, दृश्य, नृप, नृत्य, मृत्यु आदि। इसी प्रकार 'ज्ञ' वाले शब्दों के उच्चारण भी बता देने चाहिए—ज्ञान, विज्ञान, सर्वज्ञ, मर्मज्ञ, अभिज्ञ, अनभिज्ञ, संज्ञा, विज्ञापन, कृतज्ञ आदि। 'ञ' का हिन्दी में स्वतन्त्र प्रयोग नहीं है। 'ष' के सम्बन्ध में आगे विस्तार से लिखा जायगा।

2. 'इ' को दीर्घ 'ई' के रूप में उच्चारित करने का दोष बहुत अधिक पाया जाता है। हरि, कवि, यदि, यद्यपि, क्योंकि, कान्ति, त्रुटि, मुनि, शांति, व्यक्ति, बुद्धि आपत्ति, नियुक्ति, अनुभूति, कृषि आदि शब्दों, में हम ह्रस्व 'इ' की जगह दीर्घ 'ई' की मात्रा का उच्चारण करते हैं। अतः ऐसे शब्दों में ह्रस्व 'इ' का उच्चारण-अभ्यास खूब करना चाहिए।

कभी-कभी दीर्घ 'ई' को ह्रस्व 'ई' के रूप में भी बालक बोलते हैं, जैसे 'आशीर्वाद' को 'आशिर्वाद', 'ईश्वर', 'तीर्थ' को 'तिर्थ'।

ऐसे शब्दों में जिनमें ह्रस्व 'इ' एवं दीर्घ 'ई' दोनों हों उनका उच्चारण और भी अशुद्ध होता है, जैसे नीति, प्रीति, रीति। दो ह्रस्व 'इ' वाले शब्दों का उच्चारण भी बालक अशुद्ध करते हैं जैसे स्थिति, परिस्थिति, तिथि, इति आदि।

3. 'उ' को दीर्घ ऊ बोलने का दोष। गुरु, मधु, साधु, आयु, शत्रु, बिन्दु, तालु, भानु, कटु, पशु, शिशु, प्रभु, शंभु, दयालु, कृपालु आदि शब्दों में अन्तिम 'उ' का उच्चारण गलती से 'ऊ' के समान हो जाता है। अतः ऐसे शब्दों के शुद्ध उच्चारण का अभ्यास अपेक्षित है।

'ऊ' का उच्चारण कभी-कभी 'उ' के रूप में विद्यार्थी करते है। पूज्य, पूज्यवर, पूर्ति, पूजा, मूल्य, शून्य, शूद्र आदि का पुज्य, पुज्यवर, पुर्ति, पुजा, मुल्य, शुन्य, शुद्र के रूप में अशुद्ध उच्चारण पाया जाता है। अतः इनके शुद्ध उच्चारण का अभ्यास आवश्यक है।

4. 'ऐ' को 'अय', 'अ+ए' और 'अ+इ' की भाँति तथा 'औ' को 'अ+ओ', 'अ+व' और 'अ+उ' की भाँति उच्चरित करते है। इस कारण कभी-कभी पैसा को 'पयसा', जैसा को 'जयसा' पौरुष को 'पवरुष', औषधि को 'अवषधि' बोलते हुए

देखा जाता है। कभी-कभी इसका विपरीत भी होता है, जैसे नवनीत का 'नौनीत', अवसर का 'औसर'। इस दोष का निराकरण आवश्यक है।

ऐ, औ का उच्चारण तद्भव शब्दों में तो अ + ए और अ + ओ की भाँति होता है, जैसे, पैसा, कैसा, भैसा; और, ठौर, दौड़ा, चौड़ा आदि। पर तत्सम शब्द मे अ + इ और अ + उ के समान होता है, जैसे, मतैक्य, धैर्य, सैन्य, दैन्य, दैत्य, वैर, ऐश्वर्य, वैभव, वैराग्य, नैराश्य, सैनिक आदि; औदार्य्य, गौरव, पौरुष, शौर्य, मौर्य्य पौत्र, कौतुक, कौरव, सौन्दर्य, कौशल, मौलिक आदि।

5. 'क़', 'ख़', 'ग़', 'ज़' 'फ़' ध्वनियाँ अरबी, फारसी तत्सम शब्दों में होती है। ये देवनागरी की मूल ध्वनियो में नही हैं, इस कारण कुछ विद्वानों का मत है कि इन्हे क,ख,ग,ज, फ के रूप मे ही उच्चरित करना चाहिए। किन्तु इन ध्वनियों वाले अनेक अरबी-फारसी के तत्सम शब्द हिन्दी भाषा में आ गये हैं, अतः उन्हे शुद्ध रूप मे अंगीकार करके उच्चरित करना चाहिए। ऐसे शब्दो की भी एक सूची बनाकर उनके उच्चारण का अभ्यास अपेक्षित है, जैसे, क़लम, क़बूल, क़ाबिल, ख़र्च, सुर्ख़, ख़याल, दाख़िल, ख़ुदा, ख़ादिम, ग़रीब, ग़ालिब, ग़रूर, ग़ाफ़िल, ज़मीन, ज़्यादा, ज़ुल्म तमीज़, कर्ज़, ज़नाना, बाज़, फ़ारसी, नफ़ा, माफ़, साफ़ आदि।

6. 'छ', 'च्छ' और 'क्ष' के उच्चारण में प्रायः भूल ('क्ष' को 'छ' और 'छ' को 'क्ष', 'च्छ' को 'छ' या क्ष' रूप में उच्चारण) पायी जाती है। इनका उच्चारण छात्रो को अलग-अलग स्पष्ट रूप से समझा देना चाहिए। 'छ' चवर्ग का एक वर्ण है। 'च्छ' में च् और छ' का संयोग है। 'क्ष' क् + ष का संयोग है। इस प्रकार इन तीनों अक्षरों—'छ', 'च्छ', 'क्ष' का स्पष्ट ज्ञान और उच्चारण आवश्यक है। इस दृष्टि से निम्नांकित प्रकार की शब्द-सूची बनाकर उनके सही उच्चारण का अभ्यास उपयोगी हो सकता है:—

'छ'—छत्र, छल, छिद्र, छवि, छलना, छंद, छपाना, छमाछम, छात्र, छात्रालय, छाया, छिन्न, छुट्टी, छुरी, छेद, छेकानुप्रास आदि।

च्छ—अच्छा, इच्छा, स्वच्छ, प्रच्छन्न, स्वच्छंद, उच्छवास, शुभेच्छु, हितेच्छु, आच्छादन आदि।

क्ष—क्षत्रिय, लक्ष, लक्ष्य, पक्ष, दक्ष, यक्ष, वृक्ष, क्षण, प्रत्यक्ष, कक्षा, रक्षा, रक्षक, भिक्षा, क्षमा, शिक्षा, शिक्षक, भिक्षु, भिक्षुक, पक्षी, प्रतीक्षा, परीक्षा, अपेक्षा, उपेक्षा, अक्षर, साक्षात्, समीक्षा, दक्षिण, दक्षिणा आदि।

7. 'ट' और 'ठ' के उच्चारण में भी प्रायः भूल होती है। यद्यपि दोनो का उच्चारण स्थान मूर्धा है पर 'ट' अल्पप्राण है और 'ठ' महाप्राण है। विद्यार्थी 'ट' को 'ठ' के रूप में और 'ठ' को 'ट' के रूप में प्रायः अशुद्ध उच्चारण करते हैं। इन दोनो का योग होने पर तो 'ट्' का उच्चारण 'ठ्' जैसा ही हो जाता है जैसे 'चिट्ठी' का 'चिठ्ठी'। इन दोनों के स्पष्ट उच्चारण-ज्ञान और प्रयोग के अभाव में

वर्तनी की त्रुटियाँ भी होती हैं। अतः ऐसे शब्दों का उच्चारण-अभ्यास आवश्यक है—इष्ट, शिष्ट, दृष्टि, कष्ट, पुष्ट, संतुष्ट, व्यष्टि, आकृष्ट, परिशिष्ट; पृष्ठ, कनिष्ठ, ज्येष्ठ, घनिष्ठ, काष्ठ, सौष्ठव, अनुष्ठान, प्रतिष्ठा आदि।

8. 'ड' 'ढ' को 'ड़' और 'ढ़' के रूप में उच्चरित करने का दोष भी बालकों में पाया जाता है। इसी कारण गुडाकेश का गुड़ाकेश और गूढ को गूढ़ कहने और लिखने लगे हैं। ड, ढ के उच्चारण मे जिह्वा का अग्रभाग मूर्धा को छूता है, पर ड़ और ढ़ में जिह्वा पहले हलके रूप मे मूर्धा को छूती है, पर रुकती नही और 'र' की भाँति कुछ रगड़ होती है। यह अन्तर छात्रों को स्पष्ट कर देना चाहिए। सड़का, घोड़ा, पढ़ना, चढ़ना आदि शब्दों के स्पष्ट उच्चारण से उनका भ्रम दूर किया जा सकता है।

9. 'ण' और 'ड़' का उच्चारण-भ्रम भी पाया जाता है; जैसे गणेश को गड़ेश और गरुड़ को गरुण। बिहार और सिन्ध में 'ड़' को 'र' भी बोलते हैं, सड़क को सरक, दौड़ना को दौरना आदि। कण, क्षण, रण, चरण, शरण, संरक्षण, दक्षिण, भाषण, लक्षण, लक्ष्मण, गुण, भीषण, विभीषण, विलक्षण, भूषण आदि शब्दों का अभ्यास आवश्यक है।

'न' और 'ण' के उच्चारण मे विद्यार्थियों से प्रायः भूल हो जाती है। ठीक शब्द ज्ञान न होने से और इन दोनों वर्णों के उच्चारण-अंतर को न समझने से छात्र प्रायः 'ण' की जगह 'न' का उच्चारण कर देते है, जैसे—चरण, मिश्रण, साधारण, उत्तरायण को चरन, मिश्रन साधारन और उत्तरायन। दूसरी ओर दक्षिणायन को दक्षिनायण कर देते है। अतः 'न' और 'ण' वर्ण वाले शब्दो के उच्चारण का अभ्यास करा देना चाहिए।

10. 'द्य' का उच्चारण विद्यार्थी 'ध्य' अथवा 'द्द' के रूप में करते है। विद्यार्थी का उच्चारण विध्यार्थी या विद्दार्थी हो जाता है। यह भ्रम द्+य के संयुक्त रूप 'द्य' के रूप मे लिखने से भी हो सकता है। यद्यपि यह रूप परपरागत सिद्ध है, पर इसकी जगह 'द्‌य' रूप लिखा जाय तो उच्चारण-भ्रम दूर हो जाय। 'विद्‌या', विद्‌यालय, गद्‌य, पद्‌य, वैद्‌य, वाद्‌य, उद्‌योग, विद्‌यमान, उद्‌यान, द्‌युति, उद्‌यम, खद्‌योत, विद्‌युत, गद्य आदि शब्दों के शुद्ध उच्चारण से यह दोष दूर किया जा सकता है।

11. 'द्य' के साथ ही 'द्' से युक्त अन्य संयुक्ताक्षरों का भी उच्चारण-अभ्यास करा दिया जाय तो शुद्ध उच्चारण में सरलता होगी, जैसे, 'द्ध' 'द्‌भ', द्‌म', 'द्द'। इनसे मिलती-जुलती ध्वनि 'ध्य' है, अतः 'ध्य' वाले शब्दों का उच्चारण भी सिखा दिया जाय। (i) प्रसिद्ध, सिद्ध, शुद्ध, वृद्धि, पद्धति, उद्धत, उद्धार, उद्धरण; (ii) उद्‌भव, अद्‌भुत, उद्‌भिज, उद्‌भट; (iii) पद्म, छद्म, पद्मिनी, पद्माकर, (iv) मध्य, मध्यान्तर, साध्य, ध्यान, आराध्य, आदि; (v) उद्देश्य, उद्दाम, उद्दीपन, उद्दंड आदि,

12. 'व' 'ब' का उच्चारण-भ्रम भी बहुत है। इसके कारण व, ब संबंधी वर्तनी की त्रुटियां भी बहुत होती हैं। अतः 'व' युक्त शब्दों का शुद्ध उच्चारण-अभ्यास आवश्यक है—वन, वृक्ष, वर्षा, वेश, विषय, वृद्ध, विद्या, वीणा, विशाल, व्यंजन, विलास, विभव, वामन, विकार, विनय, विष्णु, वैश्य, विराम, वर्णन, विवरण, विज्ञान, विवाह, विपत्ति, विपरीत, विशेषण, वस्त्र, वस्तु, विनाश, विदेश, विदेह आदि।

13. 'र्' जिस वर्ण के ऊपर लगता है, उसके पहले उच्चरित होता है, जैसे धर्म, कर्म, मर्म, चर्म, गर्व, वर्ग, पर्व, कर्ण, पर्ण, विवर्ण, सुवर्ण, मार्ग, स्वर्ग, दुर्ग, अर्थ, गर्भ, मूर्ख, दुर्गा, अर्जन, गर्जन, निर्जन, विसर्जन, दर्शन, प्रदर्शन, आदर्श, विमर्श, तीर्थ, व्यर्थ, विद्यार्थी, स्वार्थ, परामर्श, समर्थ, सामर्थ्य, हार्दिक, दर्पण, अर्पण, हर्ष, संघर्ष, उत्कर्ष, अपकर्ष आदि।

'र्' पहले उच्चरित होने के कारण बालक प्रायः '‌ ' चिह्न भी पहले वर्ण पर ही लगा देते हैं। यह भूल वर्तनी में बहुत पायी जाती है। उच्चारण के समय ठीक ज्ञान करा देने से वर्तनी भी शुद्ध होगी।

14. 'श', 'ष', 'स' के उच्चारण में सबसे अधिक दोष पाया जाता है। 'श' तालव्य है, 'ष' मूर्धन्य है और 'स' दन्त्य है। पर तीनों ही ऊष्म ध्वनियाँ हैं और प्रायः इनके उच्चारण में भ्रम हो जाता है।

'श' और 'ष' का भ्रम अधिक है क्योंकि 'ष' का मूल उच्चारण हम भूल गये हैं। पर वर्तनी में 'ष' बना हुआ है। अतः 'ष' युक्त शब्दों का अभ्यास आवश्यक है, उसका उच्चारण भले ही 'श' के रूप में हो। 'स' की भिन्नता स्पष्ट है। अतः ऐसे शब्दों का उच्चारण कराया जाय जिससे बालकों को श, ष, स का ठीक ज्ञान और अभ्यास हो जाय।

(श) देश, वेश, शोभा, शिखा, शंकर, शांत, शिक्षा, शीतल, अशोक, राशि, वंश, कुशल, केशव, कौशल, कुश, आशा, शुचि, शिशिर, शैशव, शिशु, शशक, शीशा, पाश्चात्य, पश्चिम, निश्चय आदि।

(ष) कोष, रोष, दोष, कृषि, ऋषि, हर्ष, वर्ष, विषय, विषम, संतोष, धनुष, द्वेष, अभिलाषा, अन्वेषण, गवेषण, संघर्ष, अभिषेक, उत्कर्ष, अपकर्ष, पुरुष, पौष, पुष्ट, दुष्ट, निष्कर्ष, बहिष्कार, आविष्कार, विष्णु, तृष्णा, ज्येष्ठ, कनिष्ठ, वाष्प आदि।

(स) सार, साहस, सुधा, साधन, सहस्र, सरल, सरस, सनाथ, सहित, सुमन, सुकुमार, सेवा, संचालन, सुगम समीर आदि।

श, ष, स में से किन्हीं दो का प्रयोग-शासन, संशय, सुरेश, संशोधन, प्रशंसा, सुशील, सुशोभित, शास्त्र, मस्तिष्क, शुष्क, शीर्ष, शीर्षक, श्लेष, श्वसुर, शीतोष्ण, यशस्वी, स्वदेश, सौराष्ट्र, सौष्ठव, विश्वास, शस्य, शोषक, शोषण, षोडस, विशेष, विशेषण आदि।

ऐसे शब्दों के उच्चारण में प्रायः भूल होती है जिनमें श, ष, स के मिलेजुले रूप हों। अतः इनका शुद्ध उच्चारण-अभ्यास विशेष रूप से कराया जाय।

15. विसर्ग (:) कंठ्य वर्ण है। इसके उच्चारण में 'ह' के उच्चारण को एक झटका-सा देकर श्वास को मुँह से एकदम छोड़ते है। अनुस्वार या अनुनासिक के समान विसर्ग का उच्चारण भी किसी स्वर के पश्चात् होता है। यह हकार की अपेक्षा कुछ धीमा बोला जाता है, जैसे दुःख, अन्तःकरण, छिः आदि।

16. स्वर के ऊपर चन्द्र बिन्दु (ँ) लगने पर स्वर का उच्चारण आधा अनुनासिक हो जाता है, जैसे हँसना, चाँद, भाँति, ऊँट आदि।

17. शब्दांत में जब किसी वर्ण में 'य' का संयोग रहता है तो 'य' का उच्चारण पूर्णतः मुखरित होना चाहिए। यही स्थिति शब्दांत में 'व' की भी है। अतः ऐसे शब्दों का उच्चारण-अभ्यास आवश्यक है। अवश्य, वाक्य, लक्ष्य, उद्देश्य, रम्य, सभ्य, गम्य, सत्य, पुण्य, पण्य, वाच्य, क्षम्य, स्वास्थ्य, वैषम्य, काव्य, श्रव्य, लभ्य, दृश्य, वक्तव्य, द्रष्टव्य, असंख्य, सह्य, मध्य, मत्स्य, कृत्य, दृष्टव्य आदि का शुद्ध उच्चारण-अभ्यास अपेक्षित है। इसी प्रकार सत्त्व, द्वन्द्व, पार्श्व, स्वत्व, महत्व आदि का भी उच्चारण अभ्यास करना चाहिए।

18. 'ईय' प्रत्यय युक्त शब्दो में भी अंतिम 'य' का उच्चारण पूर्णतः मुखरित न होने की प्रवृत्ति पायी जाती है। ऐसे शब्दो का भी उच्चारण-अभ्यास आवश्यक है, जैसे, भारतीय, राष्ट्रीय, पर्वतीय, ईश्वरीय, आदरणीय, राजकीय, विचारणीय आदि।

इसी प्रकार 'इक' प्रत्यक्ष लगने पर प्रारम्भिक स्वर 'अ' 'आ' हो जाता है, पर भूल से उसका उच्चारण अ के ही रूप में करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। जैसे, समाज, व्यवसाय, व्यवहार का 'इक' लगने पर सामाजिक, व्यावसायिक, व्यावहारिक उच्चारण करना चाहिए और सामाजिक, व्यावसायिक, व्यवहारिक की अशुद्धता दूर कर देनी चाहिए।

19. 'लोप', 'आगम' और 'विपर्यय' के कारण उच्चारण-दोष बालकों में पाया जाता है, जैसे—

(i) शब्द के बीच या कभी-कभी अंत में भी जब एक ही वर्ण की आवृत्ति रहती है, तो उच्चारण में भूल से एक वर्ण का प्रायः हम लोप-सा कर देते है जैसे, स्वावलम्बन का स्वालंबन, अध्ययन का अध्यन, उपाध्याय का उपाध्या आदि।

'य', 'व', भी शब्द के बीच में आने पर उच्चारण-दोष पाया जाता है, अध्यवसाय, व्यवसाय, पर्यवसान आदि। अतः ऐसे शब्दों का भी शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण अपेक्षित है।

(ii) 'लोप' की तरह 'आगम' के कारण भी उच्चारण-दोष पाया जाता है। जब किसी शब्द के आरम्भ 'स्' युक्त संयुक्ताक्षर रहता है तो प्रारम्भ में 'अ' या

'इ' की भाँति झटके के साथ एक हलकी ध्वनि निकल आती है, जैसे स्पर्श, स्पष्ट, स्थान, स्तर, स्नान, में 'अ' की ध्वनि पहले लग जाती है। इसी प्रकार स्कूल, स्टेशन, स्त्री आदि में 'इ' की ध्वनि पहले मुखरित हो जाती है। ऐसे शब्दों का शुद्ध उच्चारण-अभ्यास करा देना चाहिए जिससे पहले 'अ' या 'इ' की ध्वनि न निकलने पाये।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि केवल 'स्' व्यंजन ही ऐसा है जो 'य', 'र', 'ल', 'व' को छोड़कर अन्य सभी व्यंजनों के पूर्व संयुक्त होने पर उच्च-रित होने के लिए 'अ' अथवा 'इ' की सहायता चाहता है।

'स्' जब 'य', 'र' 'व' के साथ युक्त होकर आता है तब किसी आगम ध्वनि की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती, जैसे स्यंदन, स्यमंतक, स्यात्, स्यार; स्रोत, स्राव, स्रग, स्रष्टा; स्वर, स्वयं, स्वतंत्र, स्वाधीन; स्वस्थ, स्वागत, स्वस्तिक, स्वाति, स्वाद आदि।

(iii) उच्चारण में वर्ण-विपर्यय का भी दोष पाया जाता है, जैसे चिह्न, ब्रह्म, ब्राह्मण, लखनऊ, अपराह्न, आशीर्वाद को चिन्ह, ब्रम्ह, ब्राम्हण, नखलऊ, अपरान्ह, आर्शीवाद के रूप में उच्चरित करते हैं और इसी कारण वर्तनी में भी अशुद्धियाँ हो जाती है। इनका यथावत् शुद्ध उच्चारण अपेक्षित है।

20. जब संयुक्त ध्वनियाँ शब्द के बीच में आती हैं तो प्रायः उसकी पहली ध्वनि पूर्ववर्ती स्वर के साथ और दूसरी परवर्ती स्वर के साथ उच्चरित होती है, जैसे, 'भगवद्गीता' 'द्ग' संयुक्ताक्षर के उच्चारण में 'द्' पूर्ववर्ती 'व' के साथ उच्चरित होता है और गीता एक साथ उच्चरित होता है। किन्तु जब संयुक्त ध्वनियाँ मिलकर एक-सी हो जाती हैं तो पूर्णतः अन्तिम स्वर के साथ ही उच्चरित होती हैं, जैसे उत्थान, उत्तम आदि।

21. अनुच्चरित 'अ'—हिन्दी यद्यपि ध्वन्यात्मक भाषा है पर लेखन और उच्चारण में भिन्नता संबंधी अपवाद भी हैं। रेखांकित वर्ण का अ अनुच्चरित है।

(i) शब्दांत में 'अ' का उच्चारण नहीं होता और व्यंजन लिखा तो पूरा जाता है पर उच्चरित हल् के समान होता है, जैसे जन, धन, मन, तन, हम, राम श्याम, जल, थल, ताज, आज, कमल, विमल, चरण आदि।

पर अकारांत शब्द का अन्त्याक्षर संयुक्त हो तो अन्त्य का उच्चारण पूरा होता है, जैसे, सत्य, इंद्र, धर्म, अशक्त आदि।

इ, ई, ऊ के आगे य हो तो अंत्य अ का उच्चारण पूरा होता है, जैसे, प्रिय, सीय, राजसूय आदि।

(ii) दीर्घ स्वरांत तीन वर्ण वाले शब्दों में यदि दूसरा वर्ण अकारांत हो तो

उसका उच्चारण अपूर्ण होता है जैसे, चलना, उठना, बकरा, कपड़ा, करना, बोलना, कमला आदि।

(iii) चार वर्णों का ह्रस्व स्वरांत शब्दों में यदि दूसरा वर्ण अकारांत हो तो उसके 'अ' का उच्चारण भी अपूर्ण होता है, जैसे, हलचल, दलदल, मलमल, गड़बड़, मानसिक, सुरलोक, कामरूप, बलहीन आदि।

पर यदि दूसरा वर्ण संयुक्त हो अथवा पहला वर्ण कोई उपसर्ग हो तो दूसरे वर्ण के अ का उच्चारण पूर्ण होता है, जैसे पुत्रलाभ, धर्महीन, आचरण, प्रचलित आदि।

(iv) दीर्घ स्वरांत चार वर्ण वाले शब्दों में तीसरे अक्षर के अ का उच्चारण अपूर्ण होता है, जैसे समझना, निकलना, फटकना, दहलना, प्रबलता आदि।

(v) यौगिक शब्दों में मूल अवयव के अंत्य अ का उच्चारण अपूर्ण होता है, जैसे, देवधन, सुरलोक, सुखदाता, मनमोहन आदि।

22. **स्वराघात**—शब्दों के उच्चारण में अक्षरों पर जो जोर या धक्का लगता है, उसे स्वराघात कहते हैं। स्वराघात संबंधी कुछ उदाहरण नीचे लिखे जा रहे हैं—

(i) यदि शब्द के अंत में अपूर्णोच्चरित अ आये तो उपांत्य अक्षर पर जोर पड़ता है जैसे, घर, तन, मन, सड़क आदि।

(ii) संयुक्त व्यंजन के पहले के अक्षर पर जोर पड़ता है, जैसे पत्थर, जस्था, करथा आदि।

(iii) यदि शब्द के मध्य भाग में अपूर्णोच्चरित अ आए तो उसके पूर्ववर्ती अक्षर पर आघात होता है जैसे अनबन, बोलकर, दिनभर, चलना, उठना, करना आदि।

(iv) विसर्गयुक्त अक्षर का उच्चारण झटके के साथ होता है, जैसे दुःख, अंतःकरण, अतः, स्वतः, फलतः, शतशः आदि।

(v) यदि इ, ई, ऊ के आगे य हो तो य पर आघात होता है, जैसे, प्रिय, तिय, सीय, पठनीय, मालवीय, भारतीय सराहनीय, राजसूय आदि।

(vi) अनेकार्थी शब्दों के अर्थों का अंतर स्वराघात से जाना जाता है; जैसे, 'वढ़ा' शब्द विधिकाल और भूतकाल दोनों में आता है, इसलिए विधिकाल के अर्थ में 'वढ़ा' के अंत्य 'आ' पर जोर दिया जाता है।

'की' संबंधकारक की स्त्रीलिंग विभक्ति और सामान्य भूतकाल (क्रिया) का स्त्रीलिंग एकवचन रूप है। इसलिए क्रिया के अर्थ में 'की' का उच्चारण आघात के साथ होता है।

माध्यमिक कक्षाओं में उच्चारण-शिक्षण के अवसर एवं शिक्षण-प्रक्रिया

उच्चारण-शिक्षण का उचित एवं उपयुक्त अवसर प्राथमिक स्तर है। माध्यमिक स्तर पर उच्चारण-शिक्षण के लिए अलग समय पाना कठिन है। अतः भाषा-शिक्षण सम्बन्धी कार्यक्रमों के अन्तर्गत प्रासंगिक रूप से उच्चारण-शिक्षण के लिए अवसर प्राप्त करना आवश्यक है, जैसे—

1. गद्य या पद्य पढ़ाते समय सस्वर वाचन के समय तथा भाषा-कार्य के अन्तर्गत; मौखिक रचना-शिक्षण के समय।

2. अतिरिक्त-शिक्षण की व्यवस्था।

3. सत्रारम्भ में भाषा-शिक्षण का समय एक या दो सप्ताह तक केवल उच्चारण एवं वर्तनी-शिक्षण के लिए दिया जाय।

1. (i) पाठ्य-पुस्तकों के गद्य एवं पद्य पाठ पढ़ाते समय सस्वर वाचन में उच्चारण-शिक्षण का अच्छा अवसर मिलता है। बोध-परीक्षण तथा बालकों द्वारा अन्य प्रकार की अभिव्यक्ति के अवसरों पर भी शुद्ध उच्चारण की शिक्षा प्रदान की जा सकती है। ऐसे अवसरों पर अशुद्ध उच्चरित शब्दों के शुद्ध रूपों की ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित करना चाहिए और शुद्ध उच्चारण का आदर्श प्रस्तुत करते हुए उनसे शुद्ध उच्चारण का अभ्यास कराना चाहिए।

(ii) सस्वर वाचन के समय वर्ण या शब्द-विशेष की उच्चारण-शुद्धता का ही नहीं, अपितु वाक्य स्तर पर भी उच्चारण-शुद्धता, उचित स्वराघात, सुर (पिच), अनुतान आदि के सम्यक् निर्वाह पर भी बल देना चाहिए।

(iii) गद्य-पाठों में भाषा-कार्य के अन्तर्गत-शब्दार्थ, शब्दप्रयोग एवं शब्द रचना के समय भी उच्चारण-शिक्षण का अवसर प्राप्त होता है। सन्धि, उपसर्ग, प्रत्यय, लिंग, वचन विकार आदि के कारण शब्दों के रूप बदल जाते हैं और उनके उच्चारण में अशुद्धियाँ हो जाती हैं। अतः ऐसे स्थलों पर उच्चारण की शुद्धता पर बल देना आवश्यक है।

(iv) कक्षा में आयोजित मौखिक रचना कार्य—वार्तालाप, भाषण, संवाद प्रतियोगिता, वादविवाद प्रतियोगिता, कविता-पाठ आदि के प्रसंग में भी उच्चारण-शिक्षण का अवसर सरलता से प्राप्त किया जा सकता है।

पर यह स्मरण रखना चाहिए कि संवाद या वार्तालाप या भाषण आदि कार्यों की पूर्व तैयारी अथवा उसके बाद की परिचर्चा और विचार-विमर्श में उच्चारण-पक्ष की ओर ध्यान दिया जाय, उस कार्य के बीच में नहीं।

2. **अतिरिक्त शिक्षण-व्यवस्था**—उच्चारण विषयक अशुद्धियों के संशोधन की दृष्टि से विशेष अभ्यास-मालाएँ तैयार की जा सकती हैं और उनके प्रयोग तथा अभ्यास के लिए विशेष शिक्षण की व्यवस्था की जा सकती है। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि नैदानिक परीक्षणों (डायोग्नास्टिक टेस्ट्स) द्वारा बालकों के उच्चारणगत दोषों एवं कठिनाइयों का पता लगाया जाय और उसे आधार बनाकर उपचारात्मक शिक्षण (रिमीडियल टीचिंग) की व्यवस्था की जाय।

3. सत्रारम्भ मे भाषा-शिक्षण के लिए निर्धारित समय में एक या दो सप्ताह तक केवल उच्चारण-शिक्षण अथवा वर्तनी एवं उच्चारण की सम्मिलित शिक्षा प्रदान की जाय। ध्वनियों के उच्चारण से लेकर शब्द एवं वाक्य स्तर तक के शुद्ध उच्चारण-अभ्यास कराये जाएँ। चुने हुए गद्यांशों, कविताओं के पाठ, संवाद और वार्तालाप आदि कार्यक्रमों द्वारा इस शिक्षण को रोचक और उपयोगी बनाया जा सकता है।

शिक्षण-प्रक्रिया

1. पाठ्य-पुस्तक के पाठ पढ़ाते समय, विशेषतः गद्य-शिक्षण के सस्वर वाचन के प्रसंग में—

(i) सस्वर वाचन के समय उच्चारण-दोष निराकरण का सबसे अच्छा और उपयुक्त अवसर मिलता है। इस समय शिक्षक का यही प्रयत्न होना चाहिए कि बालक अपना सस्वर पाठ शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारण के साथ प्रस्तुत करे। यह शुद्धता और स्पष्टता प्रत्येक वर्ण, शब्द एवं वाक्य स्तर पर बनी रहनी चाहिए। भाषा के रागात्मक तत्त्व-स्वराघात, लय, अनुतान, गति, यति आदि—का भी ध्यान रखना आवश्यक है।

(ii) उन शब्दों का चयन करना चाहिए जिनके उच्चारण में बालकों से अशुद्धियाँ होती है। शिक्षक स्वयं उन शब्दों के शुद्ध उच्चारण का आदर्श छात्रों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए उनसे शुद्ध उच्चारण का अभ्यास कराये।

(iii) ध्यान रखना चाहिए कि पढ़ना या बोलना समाप्त होने के बाद ही अशुद्ध उच्चारण का संशोधन किया जाय, छात्रों को बीच में न टोका जाय।

(iv) अशुद्ध उच्चरित शब्दों को संशोधन के बाद बालक अपनी अभ्यास पुस्तिका में लिख भी लें और घर पर भी उनके शुद्ध उच्चारण का अभ्यास करें।

(v) भाषा कार्य में (उपसर्ग, प्रत्यय, सन्धि, लिंग, वचन-विकार आदि प्रसंगों में शब्द रूप परिवर्तन एवं शब्द-रचना समझाते समय) भी उच्चारण-अशुद्धियों के निराकरण का अवसर मिल जाता है।

(vi) कक्षा में पाठ-विकास के समय बालकों का अधिकाधिक सहयोग लिया जाय, जिससे उन्हें बोलने एवं भावाभिव्यक्ति का पर्याप्त अवसर मिले और उन्हें शुद्ध उच्चारण के प्रशिक्षण का अवसर मिलता रहे।

2. मौखिक रचना—(i) कथन, भाषण, वार्तालाप, कथोपकथन या संवाद आदि के शिक्षण के समय अशुद्ध उच्चारण का संशोधन आवश्यक है। इस अवसर पर भी अशुद्ध उच्चरित शब्दो की सूची तैयार की जा सकती है। प्रायः होता तो यह है कि शिक्षक बालकों को शुद्ध उच्चारण दो-एक बार बता देता है, पर बालक उसका अभ्यास नहीं कर पाते। अभ्यास के लिए कक्षा में पर्याप्त समय भी नही मिलता। अतः ऐसे शब्दों की सूची से बालकों का ध्यान शुद्ध उच्चारण की ओर बना रहता है और वे सचेत रहते हैं।

(ii) जिन शब्दो के उच्चारण में अशुद्धियाँ होती है उन शब्दों का प्रयोग करते हुए बालक अपना कथन या भाषण प्रस्तुत करें। निर्देशित मौखिक रचना (गाइडेड ओरल कम्पोजिशन) द्वारा उच्चारण-शिक्षण में यथेष्ट सहायता मिलती है।

3. उच्चारण-शिक्षण पर स्वतन्त्र पाठ भी दिये जायँ। उच्चारण संबंधी अशुद्धियों का उचित वर्गीकरण करके एक-एक वर्ग की अशुद्धियों पर पाठ पढाये जा सकते हैं।

4. उच्चारण-शिक्षण में शिक्षक के आदर्श का विशेष महत्त्व है। शिक्षक का उच्चारण सर्वथा शुद्ध और स्पष्ट होना चाहिए जिससे बालक अनुकरण द्वारा शुद्ध उच्चारण सीख सकें।

(i) यदि किसी शब्द के उच्चारण में कठिनाई है तो शिक्षक उसकी विविध ध्वनियों को अलग-अलग करके स्पष्ट रूप से शुद्ध उच्चारण का आदर्श प्रस्तुत करे। जिस ध्वनि अथवा शब्द-विशेष का उच्चारण कठिन हो, उसके शुद्ध उच्चारण की आवृत्ति अनेक बार और अनेक बालकों द्वारा आवश्यक है।

(ii) यदि बालक शिक्षक द्वारा प्रस्तुत शुद्ध उच्चारण का अनुकरण नहीं कर पाता है तो शिक्षक को ध्वनि के उच्चारण स्थान और प्रयत्न का सचित्र उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए। इसके लिए उपयुक्त चार्टों की सहायता ली जा सकती है। वाक्-अवयवों के चार्ट सरलतापूर्वक तैयार किये जा सकते है।

(iii) आदर्श उच्चारण के उदाहरण टेपरेकॉर्डर की सहायता से प्रस्तुत किये जायँ। ऐसे टेप पहले से तैयार रहने चाहिए और उन्हें सुनाकर बालको से उसी प्रकार बोलने के लिये कहा जाय।

(iv) विशेष स्थितियों में छात्रों के कथन भी टेप करके सुनाये जा सकते है। इससे बालक स्वयं अपी त्रुटियों को समझ सकेंगे।

(v) यदि बालक के उच्चारण-दोष का कारण वागिन्द्रिय अथवा श्रवणेन्द्रिय दोष हो तो उसके उपचार की व्यवस्था होनी चाहिए, अन्यथा किसी भी प्रयत्न से उच्चारण दोष-निराकरण नही हो सकेगा।

(vi) उच्चारण-दोष वाले किसी एक शब्द का संशोधन कराते समय, उसी प्रकार के अनेक शब्दों का उच्चारण कराना चाहिए। विभिन्न वर्गों के उच्चारण-दोषों के उदाहरणों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उन्हें आधार बनाया जा सकता है।

5. उच्चारण की त्रुटियों के निराकरण के लिए विशेष शिक्षण-आयोजन—यदि उपर्युक्त प्रयासों के बाद भी बालक अशुद्धियाँ कर रहे है, तो विशेष कार्यक्रमों का आयोजन किया जा सकता है—

(i) अशुद्ध उच्चारण वाले शब्दों का संकलन और वर्गीकरण।

(ii) अशुद्धियों के कारण समझने का प्रयास।

(iii) अशुद्धियो के संशोधन के लिए उचित अभ्यास-मालाएँ और कक्षा में उनका अभ्यास।

(iv) प्रयोग एवं अभ्यास के बाद उच्चारण सम्बन्धी सुधार का मूल्यांकन और छात्रों को उनकी प्रगति से परिचित करना।

6. नैदानिक परीक्षण एवं उपचारात्मक शिक्षण—नैदानिक परीक्षणों द्वारा बालकों की अशुद्धियों के स्थल-विशेष की पहिचान और उनके कारणों की खोज में सहायता मिलती है। जैसे—

(i) कोई बालक-विशेष किसी विशेष ध्वनि का उच्चारण नही कर पाता अथवा अशुद्ध उच्चारण की आदत मात्र है; जैसे—श का स कहना, ण का न अथवा स का ह कहना।

(ii) स्थानीय बोली के प्रभाव के कारण विभिन्न ध्वनियों के उच्चारण में दोष।

(iii) ध्वनि लोपन (किसी ध्वनि को शब्दोच्चारण मे खा जाना), ध्वनि विकृति (अल्प उच्चारण अथवा अति उच्चारण दोष जिसके कारण श्रुतिकटुत्व दोष पैदा हो जाता है।), ध्वनि स्थानापन्न (स का फ, र का ल आदि) आदि दोषों का पता लगाकर उनके कारणो की खोज की जाती है।

(iv) वाक्-अवयव दोष, श्रवण दोष आदि के कारण उच्चारण-दोष।

नैदानिक परीक्षणपत्र तैयार करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक कठिनाई या समस्या के लिए अलग-अलग परीक्षणपत्र तैयार किये जायें। उस दोष या कठिनाई के जितने भी सभाव्य कारण हो सकते है, उन सबको परीक्षण का आधार बनाया जाय। परीक्षण में कठिनाई सम्बन्धी स्थितियो का क्रम सरल से

कठिन की ओर आयोजित हो; जैसे—वे शब्द जिनमें केवल 'स' प्रयुक्त हो, वे शब्द जिनमें केवल 'श' प्रयुक्त हो, वे शब्द जिनमें केवल 'ष' प्रयुक्त हो, वे शब्द जिनमें श, स दोनों प्रयुक्त हों, वे शब्द जिनमें श, ष दोनों प्रयुक्त हों, आदि क्रम।

(ख) नैदानिक परीक्षणों द्वारा ज्ञात उच्चारणगत भूलों, स्थल-विशेष की कठिनाइयों एवं तत्सम्बन्धी कारणों को ध्यान में रखते हुए उन्हें दूर करने के लिए उपचारात्मक शिक्षण की व्यवस्था की जाय। इस दृष्टि से निम्नांकित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(i) जिस स्थल-विशेष पर उच्चारण-अशुद्धि होती है, उस स्थल-विशेष का शुद्ध उच्चारण-अभ्यास।

(ii) अनेक उदाहरणों द्वारा उसके शुद्ध उच्चारण की आदत को स्थायी बनाना।

(iii) कठिनाई-निराकरण की दृष्टि से उपयुक्त शिक्षण-क्रम अपनाना।

(iv) इस दिशा में बालकों की प्रगति का मूल्यांकन एवं उन्हें उससे अवगत कराते रहना जिससे सुधार के प्रति उनका उत्साह बना रहे।

सारांश

भाषण की सार्थकता तथा प्रभविष्णुता शुद्ध उच्चारण पर निर्भर है। पर हमारे विद्यालयों में उच्चारण की शिक्षा बड़ी उपेक्षित अवस्था में है। हिन्दी ध्वन्यात्मक भाषा है। उसमें वर्ण का नाम और उसकी उच्चरित ध्वनि एक ही है। अतः वर्ण की शिक्षा ठीक से प्रदान की जाय तो उच्चारण की शिक्षा अपने आप ठीक हो जाय। हिन्दी में उच्चारण-दोष के मुख्य कारण हैं—(i) भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में वर्णों के उच्चारण की भिन्नता (ii) स्थानीय बोलियों का प्रभाव (iii) शिक्षकों का उच्चारण-शिक्षण की दृष्टि से अप्रशिक्षित रहना।

शुद्ध उच्चारण का तात्पर्य उस उच्चारण से है जिसे सर्वमान्यता प्राप्त है। मानक उच्चारण को ही शुद्ध उच्चारण की संज्ञा प्रदान की जाती है। उच्चारण-शिक्षण का अर्थ केवल ध्वनियों अथवा वर्णों के ही उच्चारण मात्र से नहीं अपितु शब्द, वाक्य और भाषा के रागात्मक तत्त्व—लय, अनुतान, सुर आदि से भी है।

माध्यमिक स्तर पर उच्चारण-शिक्षण का उद्देश्य शुद्ध उच्चारण का ज्ञान तथा उसके प्रयोग की क्षमता प्रदान करना है।

हिन्दी ध्वनियों का उच्चारण की दृष्टि से अनेक रूपों में वर्गीकरण किया गया है—(i) उच्चारण अवयवों की दृष्टि से, जैसे, कंठ्य, तालव्य, मूर्धन्य आदि; (ii) प्रयत्न की दृष्टि से, जैसे, स्पर्श, स्पर्श संघर्षी, अनुनासिक आदि; बाह्य प्रयत्न की दृष्टि से घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण आदि।

सामान्य उच्चारण सम्बन्धी दोषों को हम विभिन्न वर्णों, स्वरों, व्यंजनों, संयुक्त व्यंजनों, शब्द-स्तरों की दृष्टि से वर्गीकृत करके उनके अनुसार उचित शिक्षण द्वारा दूर कर सकते हैं। इसमें शुद्ध उच्चारण के ज्ञान के साथ-साथ निरंतर अभ्यास

कराते रहने की आवश्यकता है। इनके अतिरिक्त व्याकरणिक रूपों की दृष्टि से होने वाले अशुद्ध उच्चारण के निराकरण का प्रयत्न भी अपेक्षित है।

माध्यमिक कक्षाओं में उच्चारण-शिक्षण के लिए निम्नांकित अवसर प्राप्त होते है:—

(i) भाषा के पाठ पढ़ाते समय सस्वर वाचन के प्रसंग में, भाषा-कार्य के प्रसंग में।

(ii) मौखिक रचना-शिक्षण के प्रसंग में।

(iii) अतिरिक्त शिक्षण-व्यवस्था।

उच्चारण-शिक्षण में शिक्षक के आदर्श का विशेष महत्त्व है। नैदानिक परीक्षणों द्वारा बालकों की उच्चारण सम्बन्धी कठिनाइयों को जानना, उनके कारणों का पता लगाना और उपचारात्मक शिक्षण द्वारा उनका निराकरण उच्चारण-शिक्षण के लिए एक महत्त्वपूर्ण क्रिया-विधि है।

प्रश्न

1. भाषा-शिक्षण में उच्चारण-शिक्षण का क्या स्थान और महत्त्व है ?
2. हिन्दी में उच्चारणगत-अशुद्धियों के सामान्य कारण क्या है ? सोदाहरण उल्लेख कीजिए।
3. शुद्ध उच्चारण से क्या तात्पर्य है ?
4. माध्यमिक स्तर पर उच्चारण-शिक्षण के क्या उद्देश्य है ?
5. उच्चारण की दृष्टि से हिन्दी ध्वनियो का वर्गीकरण कीजिए। उसका एक चार्ट भी बनाइए।
6. उच्चारणगत दोषों का उल्लेख करते हुए उनके निराकरण के लिए उचित अभ्यासों का उल्लेख कीजिए।
7. हिन्दी की उन ध्वनियो का उल्लेख कीजिए जिनका मूल उच्चारण हम भूल-से गये है, पर वर्तनी मे उनका प्रयोग होता है। उदाहरण देकर समझाइए।
8. स्वराघात से क्या तात्पर्य है ? हिन्दी शब्दों के उच्चारण मे स्वराघात के उदाहरण दीजिए।
9. लोप, आगम और वर्ण विपर्यय के कारण होने वाले अशुद्ध उच्चारण पर प्रकाश डालिए और उसके निराकरण का उपाय बताइए।
10. माध्यमिक स्तर पर उच्चारण-शिक्षण के लिए आप किन अवसरो पर और किस प्रकार की क्रिया-विधि अपनायेंगे।
11. नैदानिक परीक्षण एवं उपचारात्मक शिक्षण का उच्चारण-शिक्षण में क्या महत्त्व है और आप उसका किस प्रकार प्रयोग करेंगे ?
12. स्वतन्त्र रूप से उच्चारण-शिक्षण की दृष्टि से कुछ पाठों का उल्लेख कीजिए और उनकी पाठ-योजना भी तैयार कीजिए।

7

हिन्दी वर्तनी-शिक्षण

[वर्तनी-शिक्षण का महत्त्व, माध्यमिक स्तर पर वर्तनी-शिक्षण के उद्देश्य, वर्तनी-संबंधी अशुद्धियों के कारण—लिपि की अनभिज्ञता, उच्चारण-दोष, व्याकरणिक रूपों की अनभिज्ञता, कुछ शब्दों के सर्वमान्य रूप का अभाव; वर्तनी संबंधी अशुद्धियों का वर्गीकरण एवं अभ्यास, वर्तनी-शिक्षण के अवसर एवं शिक्षण-प्रक्रिया ।]

"हमारे देश में लेखन की सुडौलता पर सदा ही बल रहा है। निस्संदेह ही लेखन मे सुलेख का उतना ही महत्त्व है जितना भाषण में सु-उच्चारण का। पर भारत मे लिपि को एक रहस्यपूर्ण धार्मिक महत्त्व प्राप्त है। परिणामतः सुन्दर, सुडौल लेखन के लक्ष्य का पालन बड़े धार्मिक भाव से किया जाता है।"[1]

—डी. पी. पट्टनायक

वर्तनीगत शुद्धता लिखित भाषा की शुद्धता का अनिवार्य अंग है। इसके अभाव में भाषा की शक्ति अपना महत्त्व खो देती है। अशुद्ध वर्तनी भाषा का एक विकृत रूप प्रस्तुत करती है और उसका प्रभाव उच्चारण, गठन तथा रचनागत अन्य रूपों पर पड़ता है, अतः वर्तनी की शिक्षा भाषा-शिक्षण का एक आवश्यक अंग है।

शिक्षण-क्रम की दृष्टि से वर्तनी की नियमित एवं विधिवत् शिक्षा का स्थान प्राथमिक स्तर पर ही है। माध्यमिक स्तर तक आते-आते विद्यार्थी को हिन्दी

---

1. In India emphasis has always been put on the well formedness of writing. There is no doubt that good handwriting is as important in writing as a good pronunciation in speech. But in India; script has assumed a mystico—religious significance. As a result well formed writing is almost religiously persued as a goal. D. P. Pattanayak. 'Teaching of script to Adult Learner'.

ध्वनियों के समस्त लिखित रूपों से भलीभाँति परिचित हो जाना चाहिए और उसके मस्तिष्क में शब्दों के उच्चरित और लिखित रूप का संबंध सुदृढ़ रूप से स्थापित हो जाना चाहिए ताकि उसके लिखने में कोई वर्तनीगत त्रुटि न हो।

परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही है। वर्तनी सम्बन्धी त्रुटियाँ माध्यमिक तथा आगे की कक्षाओं में भी पाई जाती है और यह कहकर उनकी उपेक्षा नही की जा सकती कि यह स्तर वर्तनी-शिक्षण के लिए नहीं है। अतः वर्तनीगत त्रुटियो के निराकरण के लिए माध्यमिक स्तर पर भी वर्तनी-शिक्षण को स्थान देना ही होगा। वास्तविकता तो यह है कि इस स्तर पर भाषा-शिक्षक का कार्य दोहरा हो जाता है—

1. प्राथमिक स्तर पर सीखे गये शब्दों की वर्तनीगत त्रुटियों का निराकरण, और

2. माध्यमिक स्तर पर पाठ्य-पुस्तकों में आये हुए नये शब्दों तथा अन्य प्रकार से सीखे गये नये शब्दों का ठीक ज्ञान कराना।

माध्यमिक स्तर पर वर्तनी-शिक्षण के उद्देश्य—इस स्तर पर वर्तनी-शिक्षण के मुख्यतः दो उद्देश्य है—

1. छात्रों को शुद्ध वर्तनी का ज्ञान होना—इस दृष्टि से पाठ्य-पुस्तक में आये सभी नये शब्दों की वर्तनी का ज्ञान छात्रों को हो जाना चाहिए। साथ ही उपसर्ग, प्रत्यय, सन्धि, लिंग-वचन-विकार आदि के कारण शब्द के रूपों में होने वाले परिवर्तनो का भी वर्तनी की दृष्टि से ज्ञान होना चाहिए।

इस स्तर पर छात्रों से यह अपेक्षा की जाती है कि वह शब्दों की वर्तनी सही रूप में पहचान सकेगा, वह प्रत्यभिज्ञान कर सकेगा, वह शब्दों के अशुद्ध रूप में त्रुटियाँ पकड़ सकेगा और उसकी वर्तनीगत अशुद्धियों को दूर कर सकेगा, वह उपसर्ग, प्रत्यय, संधि, तथा लिंग-वचन विकार के कारण शब्दों मे होने वाले वर्तनीगत परिवर्तनों को समझ सकेगा, वह अन्यान्य परिवर्तनो से प्रसूत वर्तनीगत विविध स्थितियों की तुलना कर सकेगा और इन परिवर्तनों के परिचायक स्वरूप अन्य उदाहरण दे सकेगा।

2. शुद्ध वर्तनी लिख सकने की क्षमता प्राप्त करना—इस स्तर पर बालकों से अपेक्षा की जाती है कि वे कक्षा में अथवा गृहकार्य के रूप में अथवा अन्यत्र कहीं भी लिखित कार्य में वर्तनीगत त्रुटियाँ नही करेंगे। दूसरो द्वारा बोले गये शब्दोच्चारण के अनुकूल वर्तनी लिख सकेंगे। वे किसी अवतरण की प्रतिलिपि करते समय अथवा स्वयं की लिखित रचनाओ में शुद्ध वर्तनी का प्रयोग करेंगे।

वर्तनी संबंधी अशुद्धियों के कारण तथा उनका निराकरण

हिन्दी में वर्तनी संबंधी अशुद्धियाँ कई कारणों से होती हैं जिन्हें हम शिक्षण एवं वर्तनीगत त्रुटियों के निराकरण की दृष्टि से निम्नलिखित भागो मे विभक्त कर सकते हैं :—

1. लिपि का सही ज्ञान न होना।
2. उच्चारण की अशुद्धता अथवा एकरूपता का अभाव।
3. व्याकरणिक रूपों की अनभिज्ञता।
4. कुछ शब्दों में वर्तनीगत सर्वमान्य एकरूपता का अभाव।

उपर्युक्त कारणों तथा उनके दूर करने के उपायों पर पृथक्-पृथक् विचार करना अधिक उपयुक्त होगा।

1. हिन्दी लिपि का सही ज्ञान

हिन्दी भाषा देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। इस लिपि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें एक ध्वनि के लिए एक ही प्रतीक (वर्ण) है और एक प्रतीक से एक ही ध्वनि व्यक्त होती है। इसी कारण हिन्दी को ध्वन्यात्मक भाषा कहा जाता है। उच्चारण एवं लिपि प्रतीकों की इस अनुरूपता एवं एकता के कारण अधुना प्रचलित अन्य लिपियों की अपेक्षा देवनागरी लिपि अधिक वैज्ञानिक मानी जाती है। इस विशेषता के कारण हिन्दी मे वर्तनी की अशुद्धियाँ नहीं होनी चाहिए।

हिन्दी वर्णमाला—हिन्दी ध्वनियो के लिए लिखित भाषा में जो चिह्न स्वीकृत है, वे वर्ण कहलाते है। वर्ण उस मूल ध्वनियों को कहते है जिसके खण्ड न हो सकें, जैसे अ, इ, क्, ख् आदि। उदाहरण के लिए 'कमल' शब्द मे—क्, अ, म्, अ, ल्, अ—छह मूल ध्वनियाँ है।

हिन्दी वर्णमाला का ज्ञान छात्रों को प्राथमिक स्तर पर ही भलीभाँति हो जाना चाहिए पर अनेक कारणों से माध्यमिक स्तर पर भी इनके लिखने में छात्रों द्वारा त्रुटियाँ होती है, विशेषतः मात्राओं, संयुक्त व्यंजनों, अनुस्वार, चन्द्रबिन्दु, हलन्त आदि के प्रयोगो में। कुछ वर्णों के लिखने में एकरूपता का अभाव भी पाया जाता है। अतः वर्तनी की शुद्धता की दृष्टि से उन पर विचार कर लेना अनुपयुक्त नही होगा।

स्वर—स्वरों का उच्चारण स्वतन्त्रता से होता है और व्यंजनों के उच्चारण में वे सहायक होते है। हिन्दी स्वर निम्नांकित हैं।[2]

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ए ऐ ओ औ

मात्राएँ—ा ि ी ु ू ृ े ै ो ौ

2. भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय (पत्र क्रमांक 12–17–60 एच (एस) दिनांक 14.7.1960) द्वारा स्वीकृत संशोधित हिन्दी वर्णमाला में स्वरों में 'लृ' को भी रखा गया है, पर हिन्दी में इसका प्रयोग नही है। अतः उसे छोड़ देना ही उपयुक्त है। 'ऋ' का मूल उच्चारण भी हम भूल गये हैं और उसे 'रि' उच्चरित करते हैं, पर तत्सम शब्दों में उसका लिखित प्रयोग चल रहा है। अतः उसे रखना ठीक ही है।

अंग्रेजी तत्सम शब्दों में प्रयुक्त स्वर ऑ
मात्रा ॉ

व्यंजन—व्यवहारतः लिखित रूप में और उच्चारण में सभी व्यंजन 'अ' से युक्त होकर पूर्ण रूप में बोले और लिखे जाते हैं, जैसे, क् + अ = क, ख् + अ = ख आदि। स्वररहित व्यंजन या तो हलन्त चिह्न युक्त क्, ख् रूप में लिखे जाते हैं अथवा संयुक्त व्यंजन रूप में आगे के अक्षर के साथ मिलाकर लिखे जाते हैं। यहाँ 'अ' युक्त सभी व्यंजन लिखे जा रहे हैं।[3]

क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द घ न
प फ व भ म य र ल व श ष स ह, ड़ ढ़
फारसी-अरबी के तत्सम शब्दों में प्रयुक्त व्यंजन—क़ ख़ ग़ ज़ फ़
संयुक्त व्यंजन[4]—क्ष (क् + ष), त्र (त् + र), ज्ञ (ज् + ञ) श्र (श् + र)

इन ध्वनियो के अतिरिक्त अनुस्वार (ं), चन्द्रविन्दु अथवा अर्द्ध अनुस्वार (ँ) और विसर्ग (:) का प्रयोग होता है। अनुस्वार और विसर्ग के उच्चारण में भी स्वर की आवश्यकता होती है, जैसे अं, अः। पर इनमें स्वर पहले हैं, अ + ं = अं; अ + : = अः किन्तु व्यंजनों में स्वर पीछे आता है, जैसे क् + अ = क, ख् + अ = ख आदि। इसी कारण अं, अः को स्वरों के साथ लिखने की परम्परा चल पड़ी है।

संयुक्त व्यंजन ध्वनियाँ—संयुक्त व्यंजन ध्वनियाँ देवनागरी लिपि की विशेपता है। स्वर रहित व्यंजन आधे लिखे जाते हैं। यदि ये स्वर रहित व्यंजन शब्द के अन्त में आते है तब तो हलन्त चिन्ह (्) लग जाता है, जैसे पृथक्, श्रीमान् आदि; पर यदि वे प्रारम्भ या बीच में आते हैं तो आधे रूप में आगे के अक्षर मिल जाते हैं; जैसे—म्लान. क्लांति, तुम्हारा आदि। हिन्दी में लगभग डेढ़ सौ संयुक्त व्यंजन-ध्वनियाँ है। वर्णक्रम के अनुसार ये निम्नांकित हैं:—

1. क्क, क्ख, क्त, या क्त, क्म, क्र, क्ल, क्ष।

---

3. शिक्षा मंत्रालय द्वारा स्वीकृत वर्णमाला में व्यंजनो मे ळ को भी रखा गया है, पर इसका प्रयोग हिन्दी में नहीं है।
4. हिन्दी संयुक्त व्यंजन तो वहुत है, पर इन तीनों—क्ष, त्र, ज्ञ—को हिन्दी वर्णमाला मे रखने की परम्परा चली आ रही है और इनका संयुक्त रूप मूल से वदला हुआ भी है, अतः इन्हें रखना ठीक ही है। शिक्षा मंत्रालय द्वारा स्वीकृत संशोधित वर्णमाला में से, पता नही, 'त्र' को क्यों निष्कासित कर दिया गया है। 'त्र' परम्परागत इतना प्रचलित है। कि उसे रखने में लाभ ही है। शिक्षा मंत्रालय वाली वर्णमाला में 'श्र' शामिल किया गया है। उसे रखना उचित प्रतीत होता है। यह रूप भी वहुत पुराना है और प्रचलित भी।

2. ख्य, ख्न, ख्त, ख्व ।
3. ग्घ, ग्न, ग्य, ग्र, ग्ल, ग्व ।
4. घ्न, घ्र ।
5. च्च, च्छ, च्य ।
6. छ्व ।
7. ज्ज, ज्य, ज्व ।
8. झ्झ ।
9. ट्ट, ट्ठ, ट्र ।
10. ठ्ठ, ड्ढ ।
11. त्क, त्त, त्थ, त्न, त्प, त्य, त्र, त्व, त्स ।
12. थ्य ।
13. द्ध, द्द, द्ध, द्भ, द्म, द्य, द्र, द्व ।
14. ध्य, ध्व ।
15. न्त, न्थ, न्द, न्ध, न्न, न्म, न्य ।
16. प्त, प्न, प्प, प्य, प्र, प्ल, प्स् ।
17. फ्य, फ्र ।
18. ब्ज, ब्त, ब्द, ब्ध, ब्ब ।
19. भ्य, भ्र ।
20. म्य, म्फ, म्ब, म्भ, म्म, म्य, म्र, म्ल ।
21. य्य ।
22. र्क, र्ख, र्घ, र्च, र्छ, र्ज, र्त, र्थ, र्द, र्ध, र्प, र्ब, र्म, र्य, र्र, र्व, र्श, र्ष, र्स, र्ह ।
23. ल्क, ल्प, ल्म, ल्य, ल्ल, ल्ह ।
24. व्य ।
25. श्क, श्च, श्त, श्र, श्ल, श्व ।
26. ष्क, ष्ट, ष्ठ, ष्ण, ष्प, ष्फ ।
27. स्त, स्थ, स्न, स्प, स्फ, स्म, स्य, स्र, स्ल, स्व, स्स ।
28. ह्न, ह्म, ह्र, ह्ल ।

वर्तनी शिक्षण की दृष्टि से उपर्युक्त से स्वरों, मात्राओं, वर्णों, संयुक्त वर्णों से संबंधित ध्यान देने योग्य बातें—

ठीक-ठीक ज्ञान और अभ्यास न होने से छात्र उपर्युक्त ध्वनियों के लिखने में अनेक प्रकार की त्रुटियाँ करते हैं, अतः निम्नांकित बातें उन्हें अच्छी तरह स्पष्ट कर दी जायँ और उनके लिखने का ठीक एवं प्रचुर अभ्यास कराया जाय ।

स्वर

1. 'अ' के दूसरे प्रचलित रूप 'अ' को छोड़ देना ही उचित है । इस से

एकरूपता बनी रहेगी । अन्य भारतीय भाषा-भाषियों के लिए 'अ' अधिक परिचित रूप है । मराठी मे 'अ' ही प्रयुक्त होता है । छात्रो से इस 'अ' का अभ्यास कराना चाहिए । शिक्षा मंत्रालय द्वारा स्वीकृत संशोधित वर्णमाला में 'अ' ही रखा गया है ।

2. 'ऋ' का मूल उच्चारण हम भूल चुके है और अब 'रि' के ही सदृश उसका उच्चारण करते हैं, पर वर्तनी में 'ऋ' और उसकी मात्रा (ृ) का प्रयोग वाछनीय है । संस्कृत तत्सम शब्दों में ही उसका प्रयोग होता भी है । ऐसे प्रचलित शब्दों की संख्या बहुत कम है, अच्छा होगा, उसकी सूची बनाली जाय और उनके लिखने का अभ्यास छात्रों से करा लिया जाय ।[5]

3. अंग्रेजी तत्सम शब्दों में यथास्थान 'ऑ' का प्रयोग भी बता देना चाहिए—कॉलेज, हॉस्पिटल, हॉर्न आदि ।

4. 'ऐ' और 'औ' के लिखने तथा इनकी मात्राएँ लगाने में भी क्रमशः 'अ + इ' और अ + उ' के उच्चारण-भ्रम से लिपि संबंधी त्रुटि बालको से हो जाती है । अतः इसका अभ्यास भी आवश्यक है ।

बालक 'ऐ' को 'एँ' भी लिख देते हैं—एँनक, एँसा आदि । यह त्रुटि 'ऐ' की मात्रा 'ै' के भ्रम से होती है । 'ओ' और 'औ' में क्रमशः ऊपर एक और दो तिर्यक् रेखाओ के सादृश्य से वे 'ए' और 'ऐ' पर भी क्रमशः एक और दो तिर्यक् रेखाएँ लगाने की गलती करते है । अतः इसे भली-भाँति स्पष्ट कर देना चाहिए ।

व्यंजन

5. कुछ व्यंजन दो रूपों में लिखे जाते हैं, जैसे—ख, ख; छ, छ; झ, झ; ण, ण; ध, ध; भ; भ. इनमें दूसरे रूप—ख, छ, झ, ण, ध, भ—ही अधिक उपयुक्त हैं । शिक्षा मंत्रालय द्वारा स्वीकृत वर्णमाला मे इन्हें ही मान्यता दी गयी है । ये अनेक दृष्टियों से अधिक उपयोगी है—

(i) 'ख' द्वारा र व का भ्रम 'ख' लिखने से दूर हो जायेगा ।

(ii) 'छ' और 'झ' रूप मराठी तथा गुजराती में भी प्रचलित है । 'झ' में खड़ी पाई रहने से सयुक्ताक्षर मे सरलता होगी ।

(iii) 'ण' भी अधिक प्रचलित है । 'ण' मे 'र' का रूप भ्रामक है ।

(iv) 'ध' और 'भ' अपना लेने पर शिरोरेखा का प्रयोग न करने पर भी घ और म का भ्रम नहीं होगा ।

---

5. 'ऋ' से प्रारम्भ होने वाले शब्द तो बहुत ही कम है—ऋचा, ऋजु, ऋण, ऋणी, ऋतु, ऋद्धि, ऋषि आदि । इसी प्रकार मात्रा की दृष्टि से अति प्रचलित शब्दों की सूची बनायी जा सकती है— कृत, कृतघ्न, कृतज्ञ, कृतार्थ, कृत्य, कृत्रिम, कृपण, कृपा, कृपालु, कृमि, कृश, कृषि, कृष्ण, गृह, गृहस्थ गृहिणी, घृणा, तृण, तृषा, दृष्टि, दृश्य, मृग, मृत्यु, सृष्टि आदि ।

(v) 'ल' तथा 'ळ' में से 'ल' रूप अधिक उपयुक्त है क्यों कि खड़ी पाई रहने से उसके संयुक्त रूप में आसानी होगी।

अतः ख, छ, झ, ण, ध, भ, रूपो का ही प्रचलन उपयोगी रहेगा।

2. (i) 'ञ' तो संस्कृत मे भी स्वतन्त्र रूप से नही आता। यह तत्सम शब्दों के बीच में प्रयुक्त होता है; जैसे चञ्चल, व्यञ्जन, अञ्जलि आदि। अब इनका स्थान भी (ं) अनुस्वार चिह्न ने ले लिया है, जैसे चंचल, व्यजन अंजलि आदि। ऐसे शब्दों का अभ्यास भी अपेक्षित है। कभी-कभी 'ञ्' अथवा अनुस्वार (ं) की जगह बालक 'न्' का प्रयोग कर देते हैं जो सर्वथा अशुद्ध है। अतः उन्हें 'ञ्' का संयोग अथवा अनुस्वार चिह्न (ं) का ही विकल्प बता देना चाहिए।

(ii) 'ण' स्वर सहित तो ठीक बोला जाता है पर स्वर रहित 'ण्' का उच्चारण 'न्' के समान हो जाता है, जैसे पण्डित का पन्डित। अतः इस अशुद्धि से भी बचना चाहिए। पण्डित या पंडित रूप में ही लिखना शुद्ध है।

वस्तुतः ङ्, ञ्, ण्, न्, म्, पाँचों अनुनासिकों का स्थान अनुस्वार की बिन्दी (ं) ने ले लिया है और उसी का प्रयोग विकल्प रूप से शुद्ध है। ङ्, ञ्, ण्, म् का स्थान न् किसी भी स्थिति में नहीं ले सकता, इसे अच्छी तरह स्पष्ट कर देना चाहिए।

'ण' का उच्चारण पूर्वी उत्तरप्रदेश में ड़ँ के समान होने से वर्तनी की त्रुटियाँ होनी है अतः ऐसे शब्दों का अभ्यास भी अपेक्षित है जिनमें 'ण' का प्रयोग होता है, जैसे, गण, गणेश, गणना, गौण, कण, कण्व आदि।

(iii) 'ष' का उच्चारण 'श' के समान हो गया है पर ऐसे संस्कृत तत्सम शब्दों का अभ्यास अपेक्षित है जिनमें 'ष' का प्रयोग होता जैसे वर्ष, कृषक, कष्ट आदि।

(iv) 'ज्ञ' का उच्चारण भी हम सर्वथा भूल-से गये हैं। प्रायः 'ग्य' या 'ग्यँ' के रूप में हम बोलते हैं। 'ज्ञ' ज् + ञ का संयुक्ताक्षर है। अतः ऐसे शब्दो का अभ्यास भी अपेक्षित है जिनमें 'ज्ञ' का प्रयोग हो, जैसे विज्ञान, अभिज्ञ, अनभिज्ञ, ज्ञान, ज्ञाता, आज्ञा, अवज्ञा आदि।

शिक्षक को इन व्यंजनों (ञ, ण, ष, ज्ञ) से बने हुए प्रचलित तत्सम शब्दों के लिखने का अभ्यास छात्रों को करा देना चाहिए, क्योंकि इन वर्णों के प्रयोग में उच्चारण-भ्रम होने से लिखने में भी प्रायः अशुद्धियाँ हो जाती हैं।

3. सानुनासिक वर्ण, अनुस्वार तथा चंद्रबिन्दु

(i) ङ, ञ, ण, न, म सानुनासिक वर्ण हैं पर हिन्दी में ण, न, म, का ही स्वतंत्र रूप से प्रयोग होता है, ङ और ञ का नही।

(ii) वर्गीय अक्षरों में सानुनासिक वर्ण और अनुस्वार चिह्न का प्रयोग विकल्प से होता है, जैसे, गङ्गा—गंगा, चञ्चल—चंचल, घण्टा—घंटा, पन्थ—पंथ,

आरम्भ–आरंभ आदि। हिन्दी में इन सानुनासिक वर्णों के प्रयोग की जगह अनुस्वार चिह्न के प्रयोग की ही प्रवृत्ति अधिक है।

(iii) अवर्गीय अक्षरों के साथ अनुस्वार का ही प्रयोग शुद्ध है, जैसे संशय, संहार, अंश आदि।

(iv) अनुस्वार (ं) और चन्द्रबिन्दु (ँ) के प्रयोग में प्रायः अशुद्धियाँ देखी जाती हैं। बालक को स्पष्ट बता देना चाहिए कि जहाँ पूर्ण अनुस्वार बोला जाता है वहाँ केवल बिन्दु (ं) लगाना चाहिए, जैसे, कंस, अंश, हंस, संग आदि। जहाँ अर्द्ध अनुस्वार हो वहाँ चन्द्रबिन्दु (ँ) लगाना चाहिए जैसे हँसना, अँधेरा, चाँद आदि। बालकों को उच्चारण-अभ्यास द्वारा इन दोनों का अन्तर समझाते हुए तदनुरूप लिखने का अभ्यास कराना चाहिए। तुलनात्मक दृष्टि से दोनों चिह्न वाले शब्दों की पृथक्-पृथक् सूची बनाकर अभ्यास के लिए बालकों को देनी चाहिए।

(v) दीर्घ स्वरों एवं उनकी मात्राओं के साथ चन्द्रबिन्दु का प्रयोग कठिन होता है, जैसे, हैँ, ईँधन, नहीँ आदि में। कामताप्रसाद गुरु ने अपने हिन्दी व्याकरण में लिखा है कि यदि मात्रा ऊपर है तो अनुस्वार (ं) लगाना चाहिए जैसे, है, ईंधन, नहीं, मैं आदि। जहाँ ऊपर मात्रा नहीं है वहाँ चन्द्रबिन्दु (ँ) लगाना ठीक है, जैसे, भाँति, ऊँट, आँगन आदि।

4. हलन्त (्) का भी ठीक प्रयोग प्रारम्भ से ही बता देना चाहिए। हिन्दी शब्दों के अन्तिम व्यंजन (अकारान्त) का उदाहरण प्रायः हलन्त के ही समान होता है; जैसे, राम, श्याम, दिन, रात, कल आदि, किन्तु इनमें हलन्त चिह्न का प्रयोग नहीं करते और पूरा वर्ण लिखते है। संस्कृत तत्सम व्यंजनांत शब्दों मे ही हलन्त का प्रयोग होता है, जैसे श्रीमान्, बुद्धिमान्, महत् आदि।

ह्रस्व स्वरांत चार अक्षर वाले शब्दों में दूसरा अकारांत अक्षर भी हलन्त के समान बोला जाता है, पर उसे पूरा लिखते है, जैसे, दलदल, हलचल, उलझना, गड़बड़ मे रेखांकित अक्षर पूरे स्वर सहित उच्चारित नही होते।

दीर्घ स्वरांत तीन अक्षर वाले शब्दो में बीच का अकारांत अक्षर भी हलन्त के समान बोला जाता है, पर उसे पूरा लिखते हैं, जैसे, चलना, करना, मरना, पढना, लिखना आदि।

दीर्घ स्वरांत चार अक्षरो के शब्दों में तीसरा अकारात अक्षर भी हलन्त के समान बोला जाता है, जैसे समझना, निकलना, टहलना, दुर्बलता, भटकना आदि पर इन्हें पूरा ही लिखा जाता है।

5. संयुक्ताक्षर

इनकी सूची पहले दी गयी है। इनके लिखने में प्रायः त्रुटियाँ होती हैं। अतः छात्रो को इनका स्पष्ट ज्ञान, प्रयोग और अभ्यास करा देना चाहिए—

(i) संयोग होने पर पाई वाले अक्षरों की पाई निकाल दी जाती है, जैसे ख्, ग्, घ् च्, ज्, त्, थ्, ध्, न्, प्, ब्, भ् म्, य्, ल्, व्, श्, स्, आदि।

(ii) क और फ में संयोग होने पर पूँछ निकाल दी जाती है, जैसे, क्, फ्,

(iii) गोलाकृत वर्णों—ङ, छ, ट, ठ, ड, ढ, द, ह के नीचे हलन्त (्) लगाकर ही इनके संयुक्त रूप लिखे जायँ क्योंकि इनका अर्द्ध रूप लिखना कठिन होता है और अशुद्धियाँ भी होती है। गद्दा, पट्टी, गट्ठर, हड्डी, वुड्ढा न लिखकर गद्‌दा, पट्‌टी, गट्‌ठर, हड्‌डी, वुड्‌ढा लिखना अधिक सुगम और स्पष्ट रूप है।

(iv) द् का य के साथ प्रचलित संयोग 'द्य' के रूप में लिखा जाता है, पर विद्यार्थी प्रायः ध के रूप मे लिख देते हैं और इनका प्रभाव उनके उच्चारण पर भी पड़ता है। अतः द् का भी संयोग हलन्त रूप में ही किया जाय तो ठीक होगा, जैसे विद्‌यार्थी।

(v) 'र' का संयोग अनेक प्रकार से होता है—

(क) जब किसी आधे अक्षर में पूरा 'र' मिलता है तब एक तिरछी रेखा (/) उस अक्षर के नीचे लग जाती है, जैसे, भ्रम, क्रम, नम्र आदि। इसमें भ, क और म आधे होते हुए भी पूरे रूप में लिखे गये है और 'र' का संयोग उनके नीचे तिरछी रेखा के रूप में हुआ है। ऐसे शब्दो के अभ्यास अपेक्षित हैं।

(ख) जब आधा 'र्', किसी पूरे अक्षर में मिलता है तो ध्वनि-स्थान के आगे वाले अक्षर के ऊपर (र्) इस रूप में लग जाता है; जैसे, धर्म, अर्थ, कर्म आदि। इस प्रकार के संयोग मे प्रायः त्रुटियाँ पायी जाती है और र्‍ चिह्न पहले अक्षर पर बालक लगा देते है, जैसे, आर्शीवाद, र्कम आदि। इन अशुद्धियों का संशोधन अति आवश्यक है।

(ग) ट, ठ, ड, ढ, मे 'र' नीचे इस प्रकार (्र) लगता है जैसे राष्ट्र, ड्रम आदि।

(घ) 'श' के साथ 'र' का संयोग होने पर 'श्र' होता है।

(ङ) 'र' में 'उ' और 'ऊ' की मात्रा भी अन्य अक्षरो की अपेक्षा भिन्न ढंग से लगती है, जैसे 'रु', 'रू'।

(च) 'त' के साथ 'र' का संयोग 'त्र' ही प्रचलित है।

(छ) क्+ष, ज्+ञ क्रमशः क्ष और ज्ञ तो वर्णमाला में ही शामिल है।

(vi) 'ह' के सयोग में प्रायः भूल हो जाती है और उसके आधे रूप में मिलने वाले अक्षर भूल से उनके पहले लिख दिये जाते है, जैसे ब्रम्ह, चिन्ह, आल्हाद आदि। पर ये अशुद्ध हैं। उन्हे ब्रह्म, चिह्न, आह्लाद रूप में लिखना चाहिए।

यदि 'ह्' का संयोग हलन्त रूप में ही हो तो यह भ्रम नहीं होगा, जैसे ब्रह्म चिह्न, आह्लाद आदि।

(vii) 'क्' और 'त' का संयोग 'क्त' और 'क्त' दोनों रूप में होता है, जैसे, भक्त, भक्त शक्ति, शक्ति।

(viii) 'त्' और 'त' का संयोग 'त्त' के रूप में होता है जैसे पत्ता, कुत्ता, सत्ता आदि।

(ix) ऊपर-नीचे अक्षरों का संयोग भी अच्छा नहीं माना जाता, जैसे क्क, ज्ज, च्च आदि। इनकी जगह क्क, ज्ज, च्च आदि रूप ही उपयुक्त हैं।

2. उच्चारण की अशुद्धता अथवा एकरूपता का अभाव

विगत अध्याय में हिन्दी ध्वनियों के उच्चारण पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। यहाँ उच्चारण संबंधी केवल उन अशुद्धियों का उल्लेख किया जा रहा है जिनका प्रभाव विशेषतः वर्तनी पर पड़ता है। हिन्दी ध्वन्यात्मक भाषा है। प्रायः हम जैसा बोलते हैं, वैसा ही लिखते है। वर्णों की उच्चारण-अशुद्धि के कारण शब्दों के लिखने में भी अशुद्धियाँ हो जाती है। अतः ऐसे शब्दों के उच्चारण की शुद्धता और तदनुरूप लिखने के अभ्यास पर बल देना चाहिए—

(i) अ तथा आ के शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारण न होने से बालक समाजिक, अराधना, वादाविवाद अदि अशुद्ध रूप लिखते है। सामाजिक, आराधना, वादविवाद के शुद्ध उच्चारण से ऐसी त्रुटियाँ दूर की जा सकती हैं।

(ii) इ, ई के उच्चारण-दोष से शांति, आपत्ति, विपत्ति आदि को बालक शांती, आपत्ती, विपत्ती लिख देते हैं। यह एक सामान्य प्रवृत्ति है कि ह्रस्व इकारांत शब्द का उच्चारण दीर्घ ईकारान्त हो जाता है, जैसे, हरि, रवि, छवि, कवि आदि का उच्चारण हरी, रवी, छवी, कवी आदि रूप में होता है और बालक वैसे ही लिख देते है।

(iii) उ, ऊ के उच्चारण दोष से भी वर्तनी की अशुद्धियाँ पाई जाती हैं, जैसे साधू (साधु), गुरू (गुरु), मधू (मधु) आदि। ये अशुद्धियाँ उकारांत को ऊकारान्त बोलने से होती है।

(iv) 'ऐ' और 'औ' का उच्चारण 'अइ' और 'आउ' के रूप में होने से विद्यार्थी 'पैसा' को 'पइसा' या 'पयसा', 'औरत' को 'आउरत', 'कौआ' को 'कउआ' लिख देते हैं। कभी-कभी ठीक इसके विपरीत जैसे 'नवनीत' को 'नौनीत', 'अवसर' का 'औसर' भी लिखा हुआ पाया जाता है।

(v) 'छ', 'च्छ', 'क्ष' की अशुद्धियाँ भी उच्चारण-दोष से होती है। 'छात्र', 'क्षात्र' भिन्न शब्द हैं जिनके अर्थ भिन्न हैं। केवल शुद्ध उच्चारण द्वारा इनकी वर्तनी शुद्ध हो सकती है। प्रायः बालक विद्यार्थी के अर्थ में 'क्षात्र' लिख देते है। प्रत्यच्छ, क्षत्रिय, इक्षा आदि त्रुटियाँ इसी कारण होती है।

(vi) ट और ठ की त्रुटियाँ भी शुद्ध उच्चारण के अभाव के कारण होती है। पृष्ठ, ज्येष्ठ, कनिष्ठ, भवन्निष्ठ, षष्ठ आदि 'ठ' वाले शब्दों के उच्चारण-दोष से विद्यार्थी प्रायः 'ठ' की जगह 'ट' लिखते है और अभीष्ट, इष्ट, परिशिष्ट, भ्रष्ट आदि में 'ट' की जगह 'ठ' लिख देते हैं। अतः स्पष्ट रूप से 'ट' और 'ठ' का उच्चारण बताते हुए इन शब्दों की शुद्ध वर्तनी का अभ्यास अपेक्षित है।

(vii) 'न' और 'ण' संबंधी त्रुटियों का भी एक कारण उच्चारण-दोष है। चरन, उत्तरायन, परिनाम, प्रमान, प्रनाली आदि त्रुटियाँ विद्यार्थियों द्वारा होती है, यदि उन्हें 'ण' का शुद्ध उच्चारण बताकर इन शब्दो को शुद्ध लिखने का अभ्यास करा दिया जाय तो ये त्रुटियाँ नही होंगी।

(viii) व, ब की अशुद्धि हिन्दी मे सर्वाधिक देखने में आती है। इन दोनो के लिखने की कुछ समानता के साथ-साथ उच्चारण-दोप भी इसका कारण है। अतः व, ब वाले शब्दो का शुद्ध उच्चारण करके तत्सबंधी वर्तनी की अशुद्धि दूर कर सकते है। वन, विषय, वर्षा, विवरण, विशेष, व्यंजन, विकार आदि 'व' वाले शब्दों का उच्चारण और फिर बल, ब्रह्म, ब्राह्मण, बहिष्कार आदि 'ब' वाले शब्दों का उच्चारण करके व, ब की शुद्धता को स्पष्ट किया जाय।

पंजाबी बालक संयुक्ताक्षरो का ठीक उच्चारण नही कर पाते। यह उनकी भाषा का हिन्दी पर प्रभाव है। इस कारण 'स्कूल' या 'सकूल', 'स्टेशन' का 'सटेशन', 'प्रसाद' का 'परसाद' लिखते है। अतः स्थानीय प्रभावों से उत्पन्न उच्चारणगत दोषों को दूर करके व तत्संबंधी वर्तनीगत अशुद्धियों को दूर करना चाहिए।

(ix) 'श', 'ष' 'स' के उच्चारण में सर्वाधिक दोष पाया जाता है और इस कारण लिखने मे भी अशुद्धियाँ हो जाती है। 'शासन' को 'साशन', 'विशेष' को 'विसेश' बोलते हुए प्रायः सुना जाता है। यदि इनका ठीक उच्चारण हो तो त्रुटियाँ-विशेषतः श और स की त्रुटियाँ—नहीं होगी। 'श' और 'ष' का उच्चारण प्रायः एक समान होने लगा है, अतः इनसे बने हुए शब्दो का अलग-अलग अभ्यास कराना ही होगा।

(x) हलन्त सम्बन्धी अशुद्धि भी उच्चारण-भ्रम के कारण होती है। ऐसे संस्कृत तत्सम शब्दो का वर्तनी की दृष्टि से अभ्यास अपेक्षित है जिनमे हलन्त का प्रयोग होता है। सत्, महत्, जगत् दिक्, वृहत्, तडित्, विद्युत्, आपद्, विपद्, परिषद्, भगवान्, महान्, श्रीमान् आदि शब्दो के अभ्यास इस दृष्टि से आवश्यक है।

(xi) लोप, आगम और विपर्यय संबंधी उच्चारण-दोप के कारण भी वर्तनी की अशुद्धियाँ पायी जाती हैं।

जब किसी शब्द में एक ही अक्षर की आवृत्ति होती है तब उसमे एक ही अक्षर के उच्चारण की प्रवृत्ति पायी जाती है, 'अध्ययन' का 'अध्यन', स्वावलम्बन का 'स्वालम्बन', 'उपाध्याय' का 'उपाध्या' आदि वर्तनीगत अशुद्धियाँ विशेष ध्वनि

के 'लोप' के कारण होती हैं। शब्द की प्रत्येक ध्वनि का स्पष्ट उच्चारण करने पर यह दोष नही रहेगा। शब्द के अंत मे 'य' रहने पर प्राय उच्चारण में 'लोप' होता है, जैसे 'उद्देश्य', 'विधेय', 'पर्वतीय', 'भारतीय' का उदेश, विधे, पर्वती, भारती आदि।

कभी-कभी जब आरंभ में ही संयुक्त व्यंजन होता है, तो प्रथम व्यंजन के पूर्व 'अ' या 'इ' की भाँति एक हल्की-सी ध्वनि उच्चरित होती है, जैसे 'स्नान' का 'अस्नान', 'स्पर्श' का 'अस्पर्श' 'स्पष्ट' का 'अस्पष्ट' 'स्कूल' का 'इस्कूल', 'स्टेशन' का 'इस्टेशन' आदि। इस 'आगम' के कारण भी वर्तनी की अशुद्धियाँ होती हैं। अतः शुद्ध उच्चारण बताते हुए यह अशुद्धि दूर की जा सकती है।

कभी-कभी उच्चारण में हम ध्वनियों का **विपर्यय** (विपरीत रूप से आगे-पीछे) कर देते है और इस कारण वर्तनी की अशुद्धियाँ हो जाती है, जैसे 'चिह्न' का 'चिन्ह' 'ब्रह्म' का 'ब्रम्ह', 'ब्राह्मण' का 'ब्राम्हण' आदि।

उच्चारण-दोष के कारण होने वाली वर्तनीगत अशुद्धियों का एक संकेत मात्र यहाँ प्रस्तुत किया गया है। शिक्षक इस आधार पर वृहत् सूची तैयार कर सकते है और आवश्यक अभ्यासों द्वारा वर्तनीगत त्रुटियो का निवारण कर सकते हैं।

3. व्याकरण संबंधी अनभिज्ञता

लिपि-अज्ञानता एवं उच्चारण-दोष के कारण वर्तनीगत अशुद्धियाँ तो होती ही है, किन्तु बहुत-सी अशुद्धियाँ शब्द-रचना का ठीक ज्ञान न होने से भी होती है। सबसे अधिक वर्तनीगत अशुद्धियाँ **संधि के नियमों** का ठीक ज्ञान न होने से होती हैं। **उपसर्ग या प्रत्यय** मिलाते समय भी संधि के नियम जानने की आवश्यकता पड़ती है। इनके अतिरिक्त हिन्दी शब्दों में **लिंग, वचन-विकार** के कारण जो परिवर्तन होता है, उसे न जानने के कारण भी वर्तनीगत अशुद्धियाँ हो जाती है। अतः इनके संबंध में विद्यार्थियो को अच्छी तरह बता देना चाहिए। इस दृष्टि से कुछ सामान्य बातें नीचे लिखी जा रही है—

(i) यदि दो सवर्ण स्वर पास-पास आयें तो दोनों के योग से सवर्ण दीर्घ स्वर होता है, अ+अ, अ+आ, आ+अ, आ+आ इन स्थितियों में 'आ' होगा, इसी प्रकार इ+इ, इ+ई, ई+इ, ई+ई का ई होगा और उ+उ, उ+ऊ, ऊ+उ, ऊ+ऊ का ऊ होगा। इसका ठीक ज्ञान न होने से बालक दीर्घ का ह्रस्व लिख देते है जैसे कविश्वर, भानुदय आदि। कभी-कभी बिना इनके योग के ही विद्यार्थी दीर्घ स्वर लगा देते हैं जैसे 'वादाविवाद'। वाद+विवाद में कोई संधि नहीं है अतः 'वादविवाद' ही शुद्ध है।

हलन्त के बाद यदि स्वर है तो अपूर्ण व्यंजन में वही स्वर लग जाता है पर बालक हलन्त को पूरा मानकर दीर्घ स्वर (ह्रस्व रहने पर भी) ही लगा देते है जैसे

अन् + अधिकार का 'अनधिकार' की जगह वे अशुद्ध शब्द 'अनाधिकार' लिख देते हैं।

(ii) जब 'इ' के पश्चात् 'अ' आता है तो 'इ' का 'य्' हो जाता है और 'अ' का योग होने पर 'य' पूरा होता है, किन्तु लोग भ्रमवश उसे 'या' बना देते है, जैसे, रीति + अनुसार से 'रीत्यनुसार', की जगह अशुद्ध 'रीत्यानुसार' वृत्ति + अनु-प्रास से 'वृत्यनुप्रास' की जगह अशुद्ध 'वृत्यानुप्रास' त्रुटियाँ पाई जाती है।

(iii) विसर्ग संधि में निः + अपराध का निरपराध' होगा पर 'निरापराध' विद्यार्थी इसलिए लिख देते हैं कि वे विसर्ग का 'र्' की जगह 'र' परिवर्तन मान लेते हैं।

(vi) यदि विसर्ग के आगे 'च' अथवा 'छ' हो तो विसर्ग का 'श्' हो जाता है, जैसे, निः + चल = निश्चल; निः + छल = निश्छल ।

यदि विसर्ग के आगे ट या ठ हो तो 'ष्' हो जाता है, जैसे, धनुः + टंकार = धनुष्टंकार ।

यदि विसर्ग के आगे 'प' या फ् हो तो 'ष्' हो जाता है, जैसे, निः + पाप = निष्पाप निः + फल = निष्फल ।

यदि विसर्ग के आगे 'क' हो तो भी 'ष्' हो जाता है, जैसे निः + कलुप = निष्कलुप, निः + कासन = निष्कासन, परिः + करण = परिष्करण आदि ।

विसर्ग के बाद 'क' के योग में कुछ अपवाद भी हैं जैसे नमः + कार = नमस्कार, पुरः + कार = पुरस्कार। अतः इन्हे अवश्य बता दिया जाय। इसके अतिरिक्त अन्तः + करण, अन्तः + कथा में विसर्ग ज्यों का त्यों बना रहता है, जैसे अन्तःकरण, अन्तःकथा। 'अन्तःकथा' को कुछ लोग 'अन्तर्कथा' लिखने लगे हैं, पर 'अन्तःकथा' ही लिखें तो अच्छा है।

व्याकरण का कोई भी नियम बताते समय अपवादों का बताना आवश्यक है। यदि विसर्ग के आगे 'त' या 'थ' हो तो विसर्ग का 'स्' हो जाता है, जैसे, निः + तेज = निस्तेज, अन्तः + तल = अन्तस्तल

(v) यदि विसर्ग के बाद 'श', 'स' हो तो कोई परिवर्तन नही होगा या विकल्प से आगे वाला वर्ण हो जायगा, जैसे, निः + सन्देह = निःसन्देह या निस्सन्देह, निः + शंक = निःशंक या निश्शंक ।

(vi) यदि विसर्ग के पूर्व 'अ' हो और आगे घोप व्यंजन हो तो विसर्ग का 'ओ' हो जाता है, जैसे, अधः + गति = अधोगति, मनः + योग = मनोयोग ।

(vii) विसर्ग के पश्चात् यदि 'र' आता है तो विसर्ग का लोप और उसके पूर्व का स्वर दीर्घ हो जाता है, जैसे, निः + रोग = नीरोग ।

निस्सन्देह ही इन नियमों के ज्ञान एवं शुद्ध शब्द रचना सम्बन्धी अभ्यास से वर्तनीगत अशुद्धियों का निराकरण हो सकता है। ऊपर स्वर एवं विसर्ग सन्धि के

ही उदाहरण दिये गये है, पर व्यंजन सन्धि के भी नियम, उदाहरण एवं अभ्यास देने चाहिए जिससे, तत्सम्बन्धी वर्तनीगत अशुद्धियाँ न हों।

(viii) 'इक' एवं 'ईय' प्रत्यय लगे हुए शब्दों में प्रायः वर्तनीगत अशुद्धियाँ पायी जाती है। अतः इनका योग अच्छी तरह बता देना चाहिए। 'अ', 'आ' से आरम्भ होने वाले शब्दों में 'इक' लगने से 'अ' या 'आ' का 'आ' हो जाता है, जैसे, समाज + इक = सामाजिक, व्यवसाय + इक = व्यावसायिक, व्यापार + इक = व्यापारिक आदि।

'इ', 'ई', 'ए' से आरम्भ होने वाले शब्दों में 'इक' लगने से 'इ', 'ई', 'ए' का 'ऐ' हो जाता है, जैसे, इतिहास + इक = ऐतिहासिक, नीति + इक = नैतिक, एक + इक = ऐकिक। 'उ', 'ऊ' 'ओ' से आरम्भ होने वाले शब्दो में 'इक' लगने से 'उ', 'ऊ' 'ओ' का 'औ हो जाता है, जैसे, उद्योग + इक = औद्योगिक, भूगोल + इक = भौगोलिक, लोक + इक = लौकिक।

ईय प्रत्यय लगने पर शब्द के प्रारम्भिक स्वर में कोई अन्तर नहीं पड़ता पर शब्दों के रूप बदल जाते हैं। अतः ऐसे शब्दों का भी अभ्यास अपेक्षित है। भारतीय, पर्वतीय, प्रान्तीय, राजकीय, अनुकरणीय आदि शब्दों द्वारा अभ्यास कराया जा सकता है।

(x) **लिग तथा वचन-विकार**—लिग एवं वचन-विकार से शब्द के जो रूप-परिवर्तन होते है, उन्हें न जानने से वर्तनी की अशुद्धियाँ हो जाती हैं। अनेक शब्द विद्यार्थी एक वचन में शुद्ध लिखते है पर उसका बहुवचन होने पर अशुद्ध; जैसे—'नदी' का बहुवचन 'नदियाँ' है, 'नदीयाँ' नही। 'घोड़ा' से 'घोड़े' ठीक है पर 'राजा' से 'राजे' नही।

लिग-परिवर्तन का ठीक नियम न जानने से भी वर्तनी की अशुद्धियाँ हो जाती हैं, जैसे स्वामी से 'स्वामिनी' की जगह बालक 'स्वामीनी' और कवि से 'कवयित्री' की जगह 'कवियित्री' लिख देते हैं।

वचन-विकार संबंधी कुछ सामान्य बातें यहाँ लिखी जा रही है, क्योंकि इनके कारण वर्तनीगत अशुद्धियाँ बहुत पायी जाती है—

(क) 'आ-कारान्त' पुल्लिग शब्द बहुवचन में 'ए-कारान्त' हो जाते हैं, जैसे घोड़ा से घोड़े, घड़ा से घड़े, लोटा से लोटे।

(ख) विभक्ति रहित स्थिति में अनेक शब्द बहुवचन में भी अविकृत ही रहते हैं जैसे संस्कृत की ऋ-कारान्त और न-कारांत संज्ञाओं से विकसित शब्द। देश-विदेश के **राजा** उपस्थित थे। अनेक **योद्धा** मारे गये। उस कक्षा के **बालक** बड़े तेज है। इस प्रकार के अनेक शब्द हैं—कर्ता, पिता, युवा, घर, भाई, ऋषि, पक्षी, साधु, डाकू आदि। पर विभक्ति के साथ बहुवचन होने पर इनमें परिवर्तन हो जाता है—राजाओं, डाकुओं, बालकों, साधुओं आदि।

(ग) स्त्रीलिंग इ-कारांत में 'याँ' और ई-कारान्त में 'इयाँ' लगाते हैं, जैसे, राशियाँ, नदियाँ, लड़कियाँ आदि। लता, वस्तु जैसे शब्दों में केवल 'एँ' लगाकर बहुवचन बनाते हैं, जैसे, लताएँ, वस्तुएँ।

(घ) विभक्ति के पूर्व आ-कारान्त, पुलिंग एकवचन ए-कारान्त हो जाते हैं और बहुवचन ओ कारान्त। राजा, योद्धा यदि शब्दो में 'ओं' अलग से जुड़ता है, जैसे, घोड़े, घोड़ों, राजाओं, योद्धाओं आदि।

(ङ) स्त्रीलिंग एकवचन में विभक्ति लगने पर भी विकार नहीं होता, जैसे, लता पर', 'नदी से'। किन्तु बहुवचन रूप में ई-कारान्त शब्दों में 'इयों' और शेष में 'ओं' लगता है—नदियों, लताओं।

इस प्रकार वचन-विकार के विभिन्न उदाहरणों द्वारा वर्तनी संबंधी अभ्यास कराये जा सकते है और वर्तनी की अशुद्धियाँ दूर की जा सकती है।

4. कुछ शब्दों में वर्तनीगत सर्वमान्य एकरूपता का अभाव

हिन्दी में अनेक शब्द ऐसे हैं जो दो या तीन रूपों में लिखे जाते है, विशेषतः य-श्रुति वाले शब्दों में यह उलझन अधिक होती है। आइए, आइये; आये, आए; आयेगा, आएगा, आयगा; चाहिये, चाहिए, आदि रूप प्रचलित हैं। इनका एक निश्चित रूप मान्य होना चाहिए और उन्हीं का प्रयोग करना चाहिए। इस संबंध में हिन्दी-वैयाकरणों का विचार निम्नांकित है—

(i) हिन्दी में 'व' श्रुति लुप्त हो गयी है और उसका प्रयोग अशुद्ध है, अतः आवेगा, जावेगा तो सर्वथा अशुद्ध है। आयेगा, आयगा, आएगा इन तीनों रूपों में 'आएगा' अधिक मान्य है अतः उसका प्रवचन ठीक है। अतः आएगा, जाएगा, खाएगा, धोएगा रूप लिखा जाता है। इनके बहुवचन में आएँगे, जाएँगे, खाएँगे, आदि शुद्ध रूप होंगे।

(ii) स्वरान्त क्रियाओं के सब रूपों में स्वर रहता है, जैसे, उठिए, चाहिए, चलिए आदि। उठिये, चाहिये, चलिये अशुद्ध हैं।

(iii) आ-कारान्त धातुओं के आज्ञाबोधक रूप में स्वर रहता है, जैसे, आओ, लाओ, खाओ, जाओ आदि। इस प्रकार कीजिए, लीजिए, आए, खाए, सोए आदि।

(iv) जहाँ एकवचन में 'य' होता है वहाँ बहुवचन में भी 'य' रखते है जैसे आया, आये, गया, गये, पर स्त्रीलिंग में आई, गई प्रचलित है।

(v) 'लिया' क्रिया का बहुवचन 'लिये' होता है पर अव्यय में 'लिए' लिखा जाता है, जैसे मैंने राम के 'लिए' (अव्यय) सतरे लिये (क्रिया)।

(vi) आ-कारान्त शब्दों के बहुवचन में स्वर का प्रयोग करते है, जैसे, संख्या–संख्याएँ, राजा–राजाओं।

इ-कारान्त और ऊ-कारान्त शब्दो के बहुवचन में 'य' का प्रयोग करते हैं, जैसे, रानी-रानियाँ, घड़ी-घड़ियाँ, कवि-कवियों, ऋषि-ऋषियों आदि।

(vii) उकारांत और ऊकारान्त शब्दो के वहुवचन में स्वर लिखा जाता है, जैसे-शिशु-शिशुओं, भालू-भालुओं आदि ।

इस प्रकार यदि बालकों को लिपि, उच्चारण, शब्द-रचना और रूपांतर तथा अनेक रूपों में लिखे जाने वाले शब्दों के निश्चित रूप का ठीक ज्ञान करा दिया जाय और उनको शुद्ध लिखने का अच्छी तरह अभ्यास करा दिया जाय तो वर्तनी की अशुद्धियाँ नहीं होगी ।

वर्तनी सम्बन्धी अशुद्धियों का वर्गीकरण

वर्तनी सम्बन्धी अशुद्धियों को अनेक प्रकार से विभिन्न वर्गों मे विभाजित करके अनेक अभ्यास तैयार किये जा सकते हैं । सामान्यतः इन अशुद्धियो को निम्न-लिखित वर्गों में विभाजित करके इनके शुद्ध रूप का अभ्यास कराया जा सकता है[6] प्रत्येक वर्ग के साथ कुछ शब्द उदाहरण के दे दिये गये है जो बालको की रचना-पुस्तिकाओं से संकलित है । इन शब्दो की सूची बहुत बडी है, अतः संकेत के लिए कुछ उदाहरण, रखे गये है । शिक्षक स्वयं वृहत् सूची तैयार कर सकते है।

(i) **'अ', 'आ' सम्बन्धी अशुद्धियाँ**—'अ' तथा 'आ' की भूलें अनेक शब्दों के लिखने में होती है । अंतरिक (आंतरिक), अजानु (आजानु), आधीन (अधीन), अध्यात्मिक (आध्यात्मिक), समाजिक (सामाजिक), व्यवसायिक (व्यावसायिक), अतिथेय (आतिथेय), स्वाभाव (स्वभाव), अविष्कार (आविष्कार), शहंशाह (शाहंशाह), अपादमस्तक (आपादमस्तक), आनेकानेक (अनेकानेक), आवकाश (अवकाश) वादाविवाद (वादविवाद), आदि ।

(ii) **'इ', 'ई' सम्बन्धी अशुद्धियाँ**–शान्ती (शान्ति), हरी (हरि), कवी (कवि), नदि (नदी), परीमार्जित (परिमार्जित), परिक्षा (परीक्षा), आशिर्वाद (आशीर्वाद), निरोग (नीरोग), कृषी (कृषि), प्रतीकार (प्रतिकार), पती (पति), स्त्रीयाँ, (स्त्रियाँ), नदीयाँ (नदियाँ), सुबुद्धी (सुबुद्धि), अनुभूती (अनुभूति), स्थिती (स्थिति), नर्तकीयाँ (नर्तकियाँ), तिक्ष्ण (तीक्ष्ण), अस्विकार (अस्वीकार) आदि।

(iii) **'उ', 'ऊ' सम्बन्धी अशुद्धियाँ**—साधू (साधु), गुरू (गुरु), मधू (मधु), दयालू (दयालु), कृपालू (कृपालु), शुन्य (शून्य), पुजा (पूजा), शुद्र (शूद्र), सुत्रपात (सूत्रपात) आदि ।

(iv) **'ए', 'ऐ', 'ओ',, औ की अशुद्धियाँ**—ऐनक (ऐनक), ऐतिहासिक (ऐतिहासिक), औसर (अवसर), नौनीत (नवनीत) ।

(v) **'ऋ' 'र्', 'र' सम्बन्धी अशुद्धियाँ**—क्रिपा (कृपा), कृया (क्रिया), ग्रहणी (गृहिणी), निर्पराध (निरपराध), प्रन्तु (परन्तु), शिष्टाचार्य (शिष्टाचार), प्रथक (पृथक), स्मर्ण (स्मरण), द्रिष्टि (दृष्टि), समृद्धि (समृद्धि), सौहार्द्र (सौहार्द),

---

6. शब्दों के शुद्ध रूप कोष्ठक में हैं ।

आर्शिवाद (आशीर्वाद), अनिणीत (अनिर्णीत), अर्कमक (अकर्मक), सर्कमक (सकर्मक), र्मम (मर्म), म्रित्यु, (मृत्यु), आदि

(vi) अनुस्वार (ं), चन्द्रविन्दु (ँ) तथा सानुनासिक वर्ण सम्बन्धी अशुद्धियां--पन्च (पंच, पच) कुन्ज (कुंज, कुञ्ज), दन्ड (दंड, दण्ड), सन्सकार (संस्कार), संम्स्कृत, सन्स्कृत, सन्सकृत, (संस्कृत), सन्सार (संसार), सन्मुख (संमुख), सम्मुख), सन्शय (संशय), सन्मान (सम्मान), गावं (गाँव), हन्स (हंस), हंसना (हँसना), भाति (भाँति), दांत (दाँत) आदि।

(vii) 'छ', 'क्ष' 'च्छ' सम्बन्धी अशुद्धियाँ--इक्षा (इच्छा), छमा (क्षमा), छेम (क्षेम), छत्रिय (क्षत्रिय), प्रत्यच्छ (प्रत्यक्ष), छुधा (क्षुधा), छेत्र (क्षेत्र), नच्छत्र (नक्षत्र), परीच्छा (परीक्षा) आदि।

(viii) 'ट' 'ठ', 'ड', 'ड़', 'ढ' 'ढ़' सम्बन्धी अशुद्धियाँ--पृष्ट (पृष्ठ), शिष्ठ (शिष्ट), घनिष्ट (घनिष्ठ), ज्येष्ट (ज्येष्ठ), भ्रष्ठ (भ्रष्ट), ठंडक (ठंडक), लकडहारा (लकड़हारा), अभीष्ठ (अभीष्ट), चिठ्ठी (चिट्ठी) आदि।

(ix) 'ण', 'न' सम्बन्धी अशुद्धियाँ--चरन (चरण), गुन (गुण), प्रमान (प्रमाण), प्रनाम (प्रणाम), उत्तरायन (उत्तरायण), दक्षिणायण (दक्षिणायन) आदि।

(x) 'व' 'ब', सम्बन्धी अशुद्धियां—बन (वन), बर्षा (वर्षा), बिषय (विषय), बृद्ध (वृद्ध), ब्रह्म (ब्रह्म), ब्राह्मण (ब्राह्मण), बहिष्कार (बहिष्कार), बिद्या (विद्या), बिलास (विलास, बैभव (वैभव), ब्यंजन (व्यंजन), बिभीषण (विभीषण) आदि।

(xi) 'श', 'ष', 'स' सम्बन्धी अशुद्धियां—श्रोत (स्रोत), दोश (दोष), साशक (शासक), प्रशाद (प्रसाद), असोक (अशोक), संतोश (संतोष), प्रशन (प्रसन्न), निष्चेष्ट (निश्चेष्ट), निष्चिन्त (निश्चिन्त), विसेश (विशेष), दृष्य (दृश्य), अभिशेक (अभिषेक), स्मशान (श्मशान), शष्ठ (षष्ठ), पुश्ट (पुष्ट), आविश्कार (आविष्कार), सहिश्णु (सहिष्णु), तिरष्कार (तिरस्कार), नमष्कार (नमस्कार), वेष (वेश), भूशा (भूषा), निश्फल (निष्फल) निश्कण्टक (निष्कंटक) आदि।

(xii) हल् सम्बन्धी अशुद्धियां—सत (सत्), महत (महत्), जगत (जगत्) सतत् (सतत) बृहत (बृहत्), दिक (दिक्), तड़ित (ताड़ित्), विद्युत (विद्युत्), मरुत (मरुत्), आपद (आपद्), विपद (विपद्), शरद (शरद्), परिषद (परिषद्), भगवान (भगवान्), महान (महान्), श्रीमान (श्रीमान्), पंचम् (पंचम), षष्ठम् (षष्ठ), सप्तम् (सप्तम), अष्टम् (अष्टम), नवम् (नवम), दशम् (दशम), उल्टा (उलटा), बिलकुल (बिल्कुल), उल्झन (उलझन) आदि।

(xiii) लोप, आगम, विपर्यय सम्बन्धी अशुद्धियाँ—अध्यन (अध्ययन), अध्यसाय (अध्यवसाय), स्वालम्बन (स्वावलम्बन), अध्या (अध्याय), उद्देश (उद्देश्य)

भारती (भारतीय), अस्नान (स्नान), इस्टेशन (स्टेशन), द्वन्द (द्वन्द्व), दिवेदी (द्विवेदी), व्रम्ह (व्रह्म), चिन्ह (चिह्न), परवा (परवाह), स्वास्थ (स्वास्थ्य), प्रतिद्वन्दिता (प्रतिद्वन्द्विता), प्रतिद्वन्दी (प्रतिद्वन्द्वी), मध्यान्ह (मध्याह्न), अपरान्ह (अपराह्न), पूर्वान्ह (पूर्वाह्न) आदि।

(xiv) **दो रूप वाले शब्द**—वर्तनी की दृष्टि से कुछ शब्दों के दो-दो रूप प्रचलित है, अतः उनके दोनों रूपों से विद्यार्थियों को परिचित करा देना चाहिए। प्रतिकार, प्रतीकार; परिहार, परीहार; प्रतिहार, प्रतिहार; परिहास, परीहास; पर इनमें प्रथम लिखे हुए शब्द अधिक मान्य हैं। अतः उनके प्रयोग पर ही वल देना चाहिए। कलश कलस; शायक, सायक; शूकर, सूकर; कोश, कोप; मूपक, मूषिक; दम्पति, दम्पती, पृथिवी, पृथ्वी; तेल, तैल; कैलाश, कैलास, अमावस्या, अमावास्या; पूर्णिमा, पूर्णमासी; भुजग, भुजंग, भुजंगम; तुरग, तुरंग, तुरंगम; विहग, विहंग विहंगमः आदि दो-दो या तीन-तीन रूप शुद्ध माने जाते हैं।

(xv) **सामासिक शब्दों की वर्तनीगत समस्या**—सामाजिक शब्दों को लिखने में भी अनेक भ्रांतियाँ है। कहीं हम सामासिक चिह्न (-) लगाते है और कही नहीं लगाते हैं पर भाषा का परिनिष्ठित रूप इस दृष्टि से निश्चित हो जाना चाहिए। इस संवंध में निम्नांकित रूप अधिक मान्य हैं :—

1. द्विगु, वहुव्रीहि और अव्ययीभाव समास से निष्पन्न शब्दों को विना-सामासिक चिह्न के एक साथ लिखना ठीक है, जैसे त्रिलोक, त्रिभुवन, चौपाया, पचवटी, पंचपात्र, सप्तपदी आदि द्विगु समास; लम्वोदर, दामोदर, पीताम्वर, नीलाम्वर आदि वहुव्रीहि समास; यथाशक्ति, यथासभव, प्रतिदिन आदि अव्ययीभाव समास। इन समासों के शब्दों को अलग-अलग लिखने से उनका अर्थ वदल सकता है, अतः मिलाकर लिखना ही ठीक है।

2. कर्मधारय समास में विशेषण-विशेष्य को अलग-अलग लिखना ठीक होगा जैसे, नील गाय, पूर्व काल, पुच्छल तारा, आदि। जहाँ सन्धि द्वारा दोनों शब्द एक हो जाते हैं, वहाँ अलग लिखने का प्रश्न ही नहीं, जैसे, पुरुषोत्तम, नराधम। इनमें विशेषण दूसरा पद है। अतः कर्मधारय में एक समान नियम नहीं है; शब्द की प्रकृति पर निर्भर है कि मिलाकर लिखे या अलग-अलग।

3. द्वन्द्व समास में शब्दों को अलग-अलग कॉमा देकर लिखना ठीक है—राम, कृष्ण, मोहन आदि। पर केवल दो शब्दों के द्वन्द्व समास को कॉमा देकर लिखना सही नहीं लगता, वहाँ सामासिक चिह्न देना अधिक उपयुक्त है, जैसे रात-दिन, सुवह-शाम, राम-कृष्ण। पर सीताराम, राधाकृष्ण जैसे शब्द तो मिलाकर ही लिखे जायँगे।

4 तत्पुरुष समास में छोटे शब्दों को तो मिलाकर लिखते हैं, जैसे भूपति नृपति आदि। दो वड़े शब्दों को अलग रखना उचित होगा, जैसे साहित्य-सम्मेलन,

साहित्य-परिषद् आदि । दो से अधिक शब्दों के समास को सामासिक चिह्न न देकर अलग ही रखना उचित होगा जैसे राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ।

(xvi) विभक्तियों (ने, को, से, के, का, की, आदि) को संज्ञा शब्द से अलग लिखना हिन्दी की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के अनुकूल है, जैसे, राम ने श्याम को, मोहन से आदि । पुरुषवाची सर्वनाम में इन्हें मिला देते हैं—तुमने, उसने, उसका, उन्होंने आदि ।

(xvii) संयुक्त क्रियाएँ भी अलग-अलग लिखना ठीक है, जैसे खा लिया होगा, किया जा सकता है आदि ।

(xviii) अरबी-फ़ारसी शब्दों के लिखने में दो मत हैं । एक मत यह है कि उन्हें तत्सम रूप में ही लिखा जाये और दूसरा मत है कि उन्हें हिन्दी की प्रकृति के अनुसार बना लिया जाय । पर तत्सम रूप में लिखने की ही दृष्टि से क़, ख़, ग़, ज़, फ़, आदि ध्वनियों को हिन्दी में मान लिया गया है । उनका सही रूप हिन्दी-शिक्षक को जान लेना चाहिए और उन्हें छात्रों को बता देना चाहिए । ऐसे शब्दों की सूची तैयार करलें तो अच्छा होगा ।

(xiv) अंग्रेजी के जो शब्द हिन्दी में आ गये हैं उनका भी सही रूप लिखना चाहिए । ऑ की मात्रा का उल्लेख पहले किया जा चुका है । कॉल, कॉलेज, हॉल आदि ऐसे ही शब्द है ।

अभ्यास के विभिन्न रूप

वर्तनी संबंधी अशुद्धियों को उपर्युक्त वर्गों में अथवा किसी और प्रकार से वर्गों में विभक्त करके उन पर अभ्यास तैयार किये जा सकते हैं । ये अभ्यास विविधता और रोचकता की दृष्टि से कई प्रकार के हो सकते है—

(i) शुद्ध एवं अशुद्ध वर्तनी वाले शब्दों की पहिचान ।

(ii) अशुद्ध वर्तनी वाले शब्दों के शुद्ध रूप लिखना ।

(iii) अपूर्ण शब्दो के रिक्त स्थानों में आवश्यक वर्ण या वर्ण समूह द्वारा पूर्ति कराना ।

(iv) संधि या संधि विच्छेद कराना । स्वर, व्यंजन और विसर्ग सभी प्रकार के अभ्यास हो ।

(v) इक, ईय आदि प्रत्ययों से शब्द रचना कराना ।

(vi) लिक, वचन-विकार सम्बन्धी अभ्यास ।

(vii) अनुस्वार, चन्द्रविन्दु, सानुनासिक, हलन्त आदि अभ्यास विशेष रूप से दिये जायें क्योंकि वर्तनी की दृष्टि से इनकी सबसे अधिक उपेक्षा की जाती है ।

इस प्रकार विविध अभ्यासों से छात्रों को शुद्ध वर्तनी का ज्ञान कराया जा सकता है ।

माध्यमिक कक्षाओं में वर्तनी-शिक्षण के अवसर एवं शिक्षण प्रक्रिया

इस दृष्टि से निम्नांकित सुझाव ध्यान देने योग्य हैं :—

1. भाषा सम्बन्धी किसी पाठ के साथ वर्तनी की शिक्षा

2. अतिरिक्त शिक्षण की व्यवस्था

3. सत्रारम्भ में भाषा-शिक्षण के घण्टों में एक या दो सप्ताह तक केवल वर्तनी की शिक्षा।

1. (i) पाठ्यपुस्तकों के गद्य पाठों को पढ़ाते समय भाषा कार्य के अन्तर्गत यथाप्रसंग वर्तनी की शिक्षा प्रदान की जा सकती है। सामान्यतः अशुद्ध लिखे जाने वाले शब्दों के शुद्ध रूप की ओर उस समय छात्रों का ध्यान आकर्षित करने से उन पर तत्काल प्रभाव पड़ता है, और वे उन्हें याद रखते हैं।

(ii) व्याकरणिक स्थितियों में जैसे शब्द रचना कराते समय वर्तनी-शिक्षण का अवसर मिल जाता है। सन्धि, उपसर्ग, प्रत्यय बताते समय अथवा लिंग, वचन-विकार आदि के समय शब्द के शुद्ध रूप बालकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए उन्हें वर्तनी का ध्यान दिलाया जा सकता है।

(iii) रचना-कार्य–निबंध, पत्र, सारलेखन, व्याख्या आदि—के प्रसंग में वर्तनी-शिक्षण का अवसर सरलता से मिल सकता है।

2. **अतिरिक्त शिक्षण व्यवस्था**—वर्तनी विषयक भूलों के निराकरण के उद्देश्य से विशेषतः निर्मित अभ्यासमालाओं का प्रयोग यथा अवसर किया जाय। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि नैदानिक परीक्षणों (डायोग्नास्टिक टेस्ट्स) द्वारा बालकों की वर्तनीगत दोषों एवं कठिनाइयों का पता लगाया जाय (बालक कहाँ-कहाँ वर्तनीगत त्रुटियाँ करता है और क्यों?) और उसे आधार बनाकर उपचारात्मक शिक्षण (रिमीडियल टीचिंग) की व्यवस्था की जाय।

3. सत्रारम्भ में ही एक या दो सप्ताह के लिए भाषा-शिक्षण के घण्टों में केवल वर्तनी की शिक्षा प्रदान की जाय और श्रुतलेख तथा नैदानिक परीक्षणों द्वारा ज्ञात बालकों की अशुद्धियों एवं कठिनाइयों के निराकरण के लिए प्रचुर अभ्यास कराए जायँ।

शिक्षण-प्रक्रिया

1. पाठ्यपुस्तक के गद्य-पाठ पढ़ाते समय भाषा-कार्य के अन्तर्गत—

(i) पाठांतर्गत उन शब्दों का चयन जो वर्तनी की दृष्टि से आवश्यक हों। ऐसे शब्दों को श्यामपट्ट पर लिखकर उनकी वर्तनी स्पष्ट की जाय। शिक्षक स्वय शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारण का आदर्श प्रस्तुत करता चले। बालको से भी स्पष्ट उच्चारण कराते हुए उन शब्दों को लिखने के लिए कहा जाय।

(ii) जिन शब्दो के लिखने में सामान्य रूप से वर्तनी की त्रुटियाँ होती हैं, यथाप्रसंग उनके निराकरण का भी अवसर गद्य-पाठों में मिल जाता है। उदाहरणतः सन्धि, प्रत्यय आदि के कारण शब्द-रचना समझाते समय वर्तनीगत अशुद्धियों का

निराकरण किया जा सकता है। ऐसे शब्दों की सूची भी शिक्षक के पास होनी चाहिए, जिनका यथा अवसर वह प्रयोग कर सके।

2. **व्याकरणिक स्थितियाँ**—उपसर्ग, प्रत्यय, सन्धि, समास, लिंग, वचन-विकार आदि को समझाते समय वर्तनी शिक्षण के लिए अनेक अवसर मिल सकते हैं। इन स्थितियों का उल्लेख वर्तनी-अशुद्धियों के कारणों पर प्रकाश डालते समय किया जा चुका है। कक्षा-शिक्षण में उनका उपयोग आवश्यक है।

3. **निबन्ध, पत्र, सारलेखन, व्याख्या आदि के रूप में**—बालकों के लिखित रचना-कार्यों में पायी गयी त्रुटियो का संशोधन आवश्यक है जिससे इन त्रुटियों का निवारण हो सके। प्रायः देखा जाता है कि शिक्षक त्रुटियों का संशोधन कर देते हैं, पर बालक संशोधित रूप के लिखने का अभ्यास नहीं करते। इस दृष्टि से निम्नांकित सुझाव उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं—

(i) बालकों की त्रुटियों को रेखांकित कर दिया जाय और बालकों से स्वयं संशोधन के लिए कहा जाय। बालकों को इस दृष्टि से सहायता के लिए पाठ्य-पुस्तक (यदि वह शब्द पाठ में है), शब्दकोश अथवा कक्षा के लिए तैयार की गई शब्द-सूची भी दी जा सकती है। इस 'स्वयं संशोधन विधि' के प्रयोग से बालकों को अपनी त्रुटियों का स्पष्ट ज्ञान होगा और स्थायी सुधार भी।

(ii) शब्दकोश अथवा अन्य सहायक सामग्री के अभाव में छात्रों से उनकी रचना-पुस्तिका में प्रत्येक पृष्ठ के नीचे कुछ रिक्त स्थान छुड़वा दिया जाय। शिक्षक छात्रों द्वारा लिखे गये अशुद्ध शब्दो को काटकर उनका शुद्ध रूप उन्ही के ऊपर लाल स्याही से लिख दे। बालक इन शुद्ध रूपों को रिक्त स्थानों में चार-चार या पाँच-पाँच वार लिखे।

(iii) जो छात्र वहुत अधिक वर्तनीगत त्रुटियाँ करते हैं, वे अभ्यास-पुस्तिका की वायी ओर ही लिखें और दाहिनी ओर के पृष्ठ पर संशोधित रूप मे उसकी प्रतिलिपि करें।

4. **वर्तनी विषयक त्रुटियों के निराकरण के उद्देश्य से विशेष शिक्षण-आयोजन**—यदि उपर्युक्त प्रयासों के वाद भी शिक्षक देखता है कि बालक वर्तनी सम्बन्धी त्रुटियाँ कर रहे हैं तो वह विशेष कार्यक्रम आयोजित कर सकता है। वह वर्तनी त्रुटि-निवारण सम्बन्धी कोई प्रायोजना आयोजित कर सकता है—

(i) बालकों की रचना-पुस्तकों एवं सात्रिक परीक्षाओं की उत्तरपुस्तिकाओं से अशुद्ध शब्दों का चयन और उनका वर्गीकरण। वर्गीकरण का एक रूप पहले लिखा जा चुका है।

(ii) संकलित अशुद्धियों के संभाव्य कारणों की प्राक्कल्पना की जाय।

(iii) इस अशुद्धियों के निराकरण के लिए अभ्यासमालाएँ तैयार की जायँ और कक्षा मे उनका अभ्यास कराया जाय।

(iv) प्रयोग एवं अभ्यास के बाद बालकों की वर्तनी सम्बन्धी सुधार का मूल्यांकन किया जाय और छात्रों को उनकी प्रगति से परिचित कराया जाय।

5. **नैदानिक परीक्षण एवं उपचारात्मक शिक्षण**—उपर्युक्त प्रयासों के बाद भी कुछ बालक वर्तनी सम्बन्धी अशुद्धियाँ करते रहते हैं। अतः

(i) नैदानिक परीक्षणों द्वारा बालकों की त्रुटियों के स्थल विशेष की पहिचान की जाय और उनके कारण समझे जायँ। नैदानिक परीक्षण पत्र तैयार करते समय निम्नांकित बातों का ध्यान रखना चाहिए—

क—प्रत्येक कठिनाई या समस्या के लिए अलग-अलग नैदानिक पत्र तैयार हों।

ख—प्रत्येक कठिनाई के जितने भी संभाव्य कारण हो सकते हैं, उन सबको परीक्षण का आधार बनाना चाहिए।

ग—परीक्षण में कठिनाई सम्बन्धी स्थितियो का क्रम 'सरल से कठिन की ओर' के अनुसार होना चाहिए।

घ—किसी शब्द की वर्तनी यदि व्याकरण के किसी नियम विशेष द्वारा प्रभावित है, तो उसके मूल एवं परिवर्तित दोनों रूपो को लिखवाकर उसे स्पष्ट कर देना चाहिए।

ङ—वर्तनी लिखाने के साथ-साथ संबद्ध शब्द का उच्चारण कराकर भी अशुद्धि के संभाव्य कारण का सत्यापन किया जाना चाहिए।

(ii) नैदानिक परीक्षणो द्वारा ज्ञात वर्तनीगत भूलों, स्थल विशेष की कठिनाइयों एवं तत्संबंधी कारण-विशेष को ध्यान में रखते हुए तद्विषयक कठिनाई को दूर करने के लिए उचित अभ्यास एवं उपाय किये जायँ, अर्थात् उपचारात्मक शिक्षण की व्यवस्था की जाय।

(iii) **उपचारात्मक शिक्षण की दृष्टि से ध्यान देने योग्य बातें**—

क—जिस स्थल विशेष पर बालक अशुद्धि करता है, उसी स्थल विशेष से उसकी अशुद्धि के निवारण का प्रारम्भ किया जाय।

ख—विविध उदाहरणो द्वारा संबंधित शुद्ध वर्तनी विषयक ज्ञान को पुष्ट किया जाय।

ग—कठिनाई के ज्ञात कारण को दृष्टि में रखते हुए उसके निराकरणार्थ उपयुक्त शिक्षण-क्रम का समायोजन किया जाय।

घ—अनेक स्थितियों एवं प्रसंगो में ये अभ्यास नियोजित किये जायँ।

ङ—बालकों को इस दिशा में होने वाली उनकी प्रगति से अवगत कराया जाय।

माध्यमिक कक्षाओं के भाषा-शिक्षकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे नैदानिक परीक्षण-पत्र तयार कर उपचारात्मक शिक्षण की व्यवस्था कर सकते हैं।

सारांश

वर्तनी की त्रुटियों को देखते हुए माध्यमिक स्तर पर भी वर्तनी-शिक्षण की आवश्यकता सभी भाषा-शिक्षक अनुभव करते हैं, वल्कि उनका उत्तरदायित्व इस स्तर पर दोहरा हो जाता है—नए शब्दों की वर्तनी का ज्ञान तथा पूर्वार्जित शब्दों की वर्तनीगत त्रुटियों का निराकरण।

माध्यमिक स्तर पर वर्तनी-शिक्षण का उद्देश्य वालकों को शब्दों की शुद्ध वर्तनी का ज्ञान प्रदान करना और उनके सही प्रयोग की क्षमता प्रदान करना है।

वर्तनी संबंधी अशुद्धियों के प्रमुख कारण हैं—लिपि का सही ज्ञान न होना, उच्चारण की अशुद्धता, व्याकरणिक रूपों की अनभिज्ञता, कुछ शब्दों में वर्तनीगत सर्वमान्य एकरूपता का अभाव।

हिन्दी लिपि के ज्ञान में विशेष रूप से मात्राओं, संयुक्ताक्षरों, अनुस्वार, चन्द्रविन्दु, सानुनासिक वर्णों का प्रयोग, हलन्त आदि के शिक्षण पर वल देने की आवश्यकता है। इसी प्रकार उच्चारण-शिक्षण में उन ध्वनियों के उच्चारण की शिक्षा विशेष रूप से आवश्यक है जिनका प्रभाव वर्तनी पर पड़ता है। व्याकरण सम्वन्धी अनभिज्ञता में शब्द रचना–संधि, उपसर्ग, प्रत्यय, लिंग, वचन-विकार आदि प्रसंग आते हैं। इनकी शिक्षा देकर शब्दों के शुद्ध रूप वताने चाहिए। कुछ शब्दों में वर्तनीगत एकरूपता का अभाव पाया जाता है। उनके निश्चित और मान्यरूप ही पढ़ाए जायें।

वर्तनी सम्वन्धी अभ्यास वर्तनी सम्वन्धी अशुद्धियों के उचित वर्गीकरण एवं क्रमायोजन के आधार पर तैयार करने चाहिए।

माध्यमिक कक्षाओं में वर्तनी-शिक्षण के निम्नांकित अवसर हो सकते है—(1) भाषा सम्वन्धी किसी पाठ के साथ, (2) अतिरिक्त शिक्षण की व्यवस्था, (3) सत्रारंभ में एक या दो सप्ताह वर्तनी-शिक्षण का आयोजन।

शिक्षण-प्रक्रिया—पाठ्यपुस्तक के गद्य-पाठों को पढ़ाते समय भाषा-कार्य के अन्तर्गत, व्याकरणिक स्थितियो के प्रसंग में, रचना-कार्यों (निवंध, पत्र, सारलेखन आदि) के रूप में।

वर्तनी विषयक त्रुटियों के निराकरण के उद्देश्य से विशेष शिक्षण-आयोजन में नैदानिक परीक्षणों एवं उपचारात्मक शिक्षण के आयोजनों का विशेष महत्त्व है।

प्रश्न

1. माध्यमिक स्तर पर वर्तनी-शिक्षण का महत्त्व एवं उसके उद्देश्य निर्धारित कीजिए।
2. वर्तनी सम्वन्धी अशुद्धियों के प्रमुख कारण क्या हैं?
3. अशुद्ध उच्चारण का वर्तनी पर क्या प्रभाव पड़ता है? सोदाहरण

समझाइए और बताइए कि अशुद्ध उच्चारण के कारण वर्तनी सम्बन्धी अशुद्धियो का निराकरण कैसे करेगे ?

4. हिन्दी को ध्वन्यात्मक भाषा क्यों कहा जाता है ?
5. सानुनासिक वर्णों, अनुस्वार एवं चन्द्रबिन्दु से सम्बन्धित नियमों का उल्लेख करते हुए बताइए कि इनसे सम्बन्धित वर्तनीगत त्रुटियों को आप कैसे दूर करेंगे ?
6. लोप, आगम और विपर्यय से आप क्या तात्पर्य समझते हैं ? वर्तनी पर उनके प्रभावों का उल्लेख कीजिए।
7. शब्द रचना सम्बन्धी उदाहरणों द्वारा वर्तनीगत अशुद्धियों को दूर करने के लिए एक प्रायोजना तैयार कीजिए।
8. विसर्ग संधि के नियमों का ज्ञान न होने से बालक किस प्रकार की वर्तनीगत अशुद्धियाँ करते है ? आप उन्हें कैसे दूर करेंगे, सोदाहरण समझाइए।
9. वर्तनी सम्बन्धी अभ्यासों के कुछ रूपों का सोदाहरण उल्लेख कीजिए।
10. माध्यमिक कक्षाओं में वर्तनी-शिक्षण के अवसर किस प्रकार प्राप्त किये जा सकते है ?
11. माध्यमिक कक्षाओं में वर्तनी-शिक्षण की प्रक्रिया पर प्रकाश डालिए।
12. 'नैदानिक परीक्षण' एवं 'उपचारात्मक शिक्षण' का वर्तनी-शिक्षण की दृष्टि से क्या महत्त्व है और आप इनका कैसे उपयोग करेंगे ? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

8

हिन्दी शब्द-शिक्षण

[शब्द की परिभाषा, शब्द का महत्त्व, बाल्यावस्था और शब्द विकास, हिन्दी शब्द-भण्डार, शब्द-रचना की दृष्टि से हिन्दी शब्द-समूह का विभाजन, माध्यमिक स्तर पर शब्द-शिक्षण के उद्देश्य, शब्द-शिक्षण के विविध अवसर एवं प्रयोग–पाठ्य-पुस्तक के शिक्षण के समय–अर्थबोध द्वारा, शब्द-निर्माण द्वारा, विशिष्ट शब्द-प्रयोगों का परिचय, संरचनात्मक शब्दों का ज्ञान, मुहाविरों एवं लोकोक्तियों का परिचय, शब्दों के व्याकरणिक रूपों का परिचय, विदेशी भाषाओं से आए हुए शब्दों का परिचय, मौखिक एवं लिखित रचना में शब्द-शिक्षण, विविध साहित्यिक कार्यक्रमों का आयोजन, शब्द-शिक्षण की दृष्टि से कुछ ध्यातव्य बातें]

"श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणभिज्वलितः आकाश देशः शब्दः ।"

—पतंजलि

महाभाष्यकार पतंजलि के अनुसार 'शब्द कान से प्राप्त, बुद्धि से ग्राह्य तथा प्रयोग से स्फुरित होने वाली आकाशव्यापी ध्वनि है।' इस परिभाषा में शब्द की चार विशेषताएँ स्पष्ट है—उच्चरित, श्रव्य, बुद्धिग्राह्य, अर्थबोधक ।

व्यावहारिक आधार पर 'शब्द वह ध्वनि है जिससे व्यवहार या लोक में पदार्थ की प्रतीति हो ।'[1]

पाश्चात्य विचारकों एवं भाषा-शास्त्रियों ने शब्द की परिभाषा अनेक प्रकार से की है। वाक्य में प्रयुक्त रूपों के भी खण्ड हो सकते है। वे खण्ड रूप जो स्वतंत्र अर्थवान रूप में बोले जाते है, मुक्तरूप कहलाते हैं; जो खण्ड रूप स्वतंत्र अर्थवान रूप मे नही बोले जाते हैं, आबद्ध रूप कहलाते हैं। "अविभाज्य मुक्त रूप ही शब्द है।"[2] दूसरे भाषा-शास्त्री एल. आर. पामर के अनुसार 'लघुत्तम भाषण इकाई

1. "प्रतीत पदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः इत्युच्यते ।"—महाभाष्य
2. "A free from which can not be divided entirely into smaller free forms is a minimum free form, or word." Block & Trager–Outline of Linguistic Analysis, P. 54

ही शब्द है।"[3] ब्लूमफील्ड के अनुसार "मुक्तरूप जो पदबंध नही है, शब्द है। शब्द वह मुक्त रूप है, जो छोटे से छोटे मुक्त रूपो से मिलकर भी न बने। संक्षेप में शब्द लघुतम मुक्त रूप है।"[4]

इन परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते है कि "शब्द स्वतंत्र होता है अर्थात् स्वावलम्बी होता है। प्रयोग और अर्थ दोनों दृष्टियों से शब्द लघुतम होता है, इसमें आवद्ध रूप नही लिये जा सकते, क्योंकि उनका कोई स्वतंत्र प्रयोग संभव नही हो सकता।

भाषा के निर्माणक तत्त्वों में शब्द का स्थान—भाषा के मूल निर्माणक तत्त्व हैं—सार्थक ध्वनियाँ, शब्द एवं वाक्य-संरचना। किन्तु इनमें भी शब्द सर्वाधिक सार्थक एवं महत्त्वपूर्ण निर्माणक तत्त्व है। प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री रामचन्द्र वर्मा ने अपनी पुस्तक 'शब्द और अर्थ' में लिखा है कि भाषा रूपी वृक्ष का मूल शब्द-समूह ही है। शब्द-समूह से ही भाषा बनती है। यद्यपि भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से वाक्य भाषा की सार्थक इकाई माना जाता है, किन्तु अनेक दृष्टियों से भाषा की सरलतम, सार्थक एवं संक्षिप्ततम इकाई शब्द है, क्योंकि इसके अभाव में वाक्य एवं अनुच्छेद का अस्तित्व ही संभव नहीं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वाक्य को भाषा की सार्थक इकाई मानना निराधार और तर्कहीन तथ्य है। निस्संदेह भाषा-प्रयोग की ऐसी स्थितियाँ होती हैं जिनमें वाक्य, और अनुच्छेद को सार्थक इकाई मानना पड़ता है और शब्द अपना स्वतंत्र अस्तित्व खोते हुए प्रतीत होते है तथा वाक्य द्वारा उत्पन्न परिस्थिति के अनुसार अपना अर्थ घोषित करते हैं। इसी कारण भाषाविद पूछ बैठते हैं कि 'वाक्य से पृथक् शब्द का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व है भी ?' पर यह विवाद होते हुए भी शब्द की सार्थकता और उसकी सत्ता को अस्वीकारा नही जा सकता, क्योंकि वाक्य या अनुच्छेद की सत्ता शब्दों के सहयोग और सामर्थ्य पर ही निर्भर है।

किसी भी भाषा के अध्ययन की दृष्टि से हमारी दृष्टि शब्दों पर ही जाती है क्योकि पदार्थ, भाव एवं विचार के प्रतीक वे ही है। किसी भी भाषा के शब्द-कोष, के विश्वकोष, शब्दानुशासन आदि ग्रंथ शब्द की सार्थकता तथा उसकी सशक्त सत्ता के परिचायक है। साहित्यकारों एवं कलाकारों का काव्य-चमत्कार शब्द की

---

3. "Word is the smallest speech unit capable of functioning as a complete utterance."
4. "A free form which is not a phrase is a word. A word then is a free form which does not consist entirely of lesser free forms, in brief a word is minimum free form." Bloomfield-Language, P. 178.

ही शक्तियों पर निर्भर है। अतः शब्द को भाषा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निर्माणक तत्त्व माना जाता है।

भाषा की ध्वनियाँ भी उस समय तक कोई महत्त्व नहीं रखती जब तक वे मिलकर शब्द का रूप ग्रहणकर किसी वस्तु, व्यक्ति भाव या विचार का प्रतीक नहीं बन जाती। शब्द एक संकेत है, उसमे सांकेतिक अर्थ निहित हो जाता है। इसलिए भाषा-ज्ञान और प्रयोग के लिए शब्द का उचित ज्ञान और प्रयोग हर प्रकार से उपयोगी होता है। "शब्द में एक या एकाधिक ध्वनियाँ संभव हैं, जैसे 'आ' (एक ध्वनि), अब् (दो ध्वनियाँ), कल् (तीन ध्वनियाँ)। इस प्रकार शब्द जहाँ एक ओर ध्वनि का क्षेत्र स्पर्श करता है, वहाँ दूसरी ओर वाक्य-गठन का अंग बनकर आता है। इस दृष्टि से भी शब्द भाषा का एक प्रमुख निर्माणक तत्त्व है।

शब्द-शिक्षण का स्थान और महत्त्व—भाषा का मनुष्य के भावों, विचारो एवं अनुभूतियो से घनिष्ठ संबन्ध है। शब्द ही इन भावों, विचारों एवं अनुभूतियो के प्रकाशन के लिए प्रतीक का काम करते हैं। इस कारण मनुष्य के अनुभवों, भावों और विचारों की अभिव्यक्ति तथा ज्ञान-विज्ञान के उत्कर्ष के साथ शब्द-भण्डार की वृद्धि भी अनिवार्य रूप से संयुक्त है। इन दोनों का ही (ज्ञान-विज्ञान एवं उनके प्रतीकात्मक रूप शब्द-भण्डार) उत्कर्ष एक साथ होता है। "प्रत्येक ज्ञान के पूर्व भाषा का व्यापार है। ऐसा प्रतिभासित होता है कि समस्त ज्ञान शब्द से विधा हुआ है।"[5] हम कह सकते हैं कि किसी भी भाषा की शक्तिसंपन्नता और समृद्धिशालिता का आधार उसका शब्द-भण्डार है। वस्तुतः ज्ञान-कोष की संवृद्धि के लिए शब्दकोष की संवृद्धि अनिवार्य-सी है। अतः उचित शब्द-शिक्षण द्वारा बालक के शब्द-भण्डार को अधिकाधिक संवृद्ध करना भाषा-शिक्षण का एक प्रमुख अंग है।

उपयुक्त शब्दों के अभाव में मनुष्य के भावों, विचारों एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति संभव नहीं हो पाती और अभिव्यक्ति की असमर्थता के कारण धीरे-धीरे भावो एवं विचारों की उद्‌भावना शक्ति भी कुण्ठित हो जाती है। अतः बालको के भावों एवं विचारों की शक्ति को उद्‌बुद्ध करने, सतत सक्रिय एवं जागरूक बनाये रखने तथा उनकी अभिव्यंजन क्षमता को विकसित करते रहने के लिए उनके शब्द-भण्डार की अभिवृद्धि नितांत आवश्यक है।

पर्याप्त एवं आवश्यक शब्दों के परिचय बिना बालक विविध विषयों की शिक्षा ग्रहण करने में असमर्थ रह जाता है। जिस बालक के पास जितनी ही अधिक सक्रिय शब्दावली होती है, वह उतना ही शीघ्र दूसरों की बातों को सुनकर अथवा पुस्तकें पढ़कर विषय को समझ लेता है और अभीष्ट ज्ञान आत्मसात कर लेता है।

---

5. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुबद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भाषते॥ वाक्य प्रदीप, काण्ड 1

शब्द-भण्डार के अभाव में बालक केवल भाषा और साहित्य में ही नहीं; अपितु अन्य विषयों की शिक्षा में भी पिछड़ जाता है। इस कारण भी उसके शब्द-भण्डार की अभिवृद्धि आवश्यक है।

जीवन के बौद्धिक, भावात्मक, सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि समस्त क्षेत्रों से संबन्धित कार्य-कलापों का संपादन उपयुक्त शब्दावली के अभाव में संभव नही। जिस भाषा के पास ऐसे शब्द-भण्डार का अभाव है, वह भाषा हीन समझी ही जाती है। इसी कारण किसी भी जाति के उत्कर्ष एवं अपकर्ष को हम उसकी भाषा से नाप सकते है। प्राचीन भारत का गौरव उस समय उसकी गरिमामयी सुसंपन्न संस्कृत भाषा के कारण प्रतिष्ठित हुआ था और आज भी वह भाषा अपनी विपुल शब्दावली के कारण संसार की श्रेष्ठभाषा कही जाती है। अतः हिन्दी को सम्पन्न एवं समृद्धिशाली बनाने का सबसे बड़ा आधार और साधन उसके शब्द-भण्डार को बढ़ाना है। इस दृष्टि से अधिकाधिक शब्दो की रचना तथा उनके प्रचलन और प्रयोग से छात्र-समुदाय को सुपरिचित करना और इस दिशा में उन्हें निरंतर सक्षम बनाते जाना अति आवश्यक है।

साहित्य सृजन की दृष्टि से शब्दों का महत्त्व असंदिग्ध है। एक ओर शब्दों की बहुलता और प्रचुरता से भाषा सम्पन्न और समृद्धिशाली होती है, तो दूसरी ओर भाषा का लालित्य, चमत्कार, अर्थ-गौरव, अभिव्यंजना शक्ति एवं प्रभविष्णुता उपयुक्त शब्दो के चयन, विन्यास एवं प्रयोग पर निर्भर है। शब्दों की व्यंजना-शक्ति एवं अर्थ-गाम्भीर्य जितना ही बढ़ता जाता है, उतना ही भाषा का चमत्कार एवं उसकी कलात्मक शक्ति भी बढ़ती जाती हैं। इस कारण बालक को शब्द का सामान्य परिचय ही नहीं, वल्कि उनका विशिष्ट अर्थों में प्रयोग, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ आदि से भी परिचित करना चाहिए।

हिन्दी शब्द-भण्डार

शब्द-भण्डार की दृष्टि से प्रत्येक भाषा अनेक स्रोतो से शब्दों को ग्रहण करती है। कोई भी भाषा केवल अपनी मूल शब्दावली के आधार पर विकसित नही हो सकती। विभिन्न भाषा-भाषी समुदाय परस्पर संपर्क एवं विचार-विनिमय के माध्यम से शब्दो का भी आदान-प्रदान करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त भाषा अपने विकास-क्रम में भी नए शब्दों को गढती रहती है, पुरातन शब्दों का रूप बदलती रहती है और अपने शब्द-भण्डार को समृद्धिशाली बनाती रहती है। इन्ही प्रक्रियाओं से भाषा का जीवंत-प्रवाह चलता रहता है और यह उत्तरोत्तर संपन्न और शक्तिशाली होती जाती है हिन्दी एक जीवित, विकासशील जन-भाषा है अतः उसमें अपनी परम्परागत शब्दावली, विकासक्रम में नवागत एवं रूप-परिवर्तित शब्दावली तथा विदेशी शब्दावली का समावेश होता गया है और आज भी अनेक स्रोतों से उसमें नए शब्द आते जा रहे है। यह उसकी विकासशील प्रकृति का परिचायक है।

सामान्यतः हिन्दी शब्द-समूह को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) भारतीय आर्य भाषाओं से आए हुए शब्द

(ख) भारतीय अनार्य भाषाओं से आए हुए शब्द

(ग) विदेशी भाषाओं के शब्द

(क) भारतीय आर्य भाषाओं से आए हुए शब्द--ऐसे शब्दों को भी दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—(i) तत्सम (ii) तद्भव। तीसरी श्रेणी अर्द्धतत्सम की भी की गयी है पर अर्द्धतत्सम शब्द प्रायः तद्भव की ही श्रेणी में आ जाते हैं।

(i) तत्सम शब्द—वे संस्कृत शब्द जो अपने मूलरूप में ही हिन्दी भाषा में प्रचलित हैं, जैसे राजा, पिता, कवि, आज्ञा अग्नि, वायु, अनिल आदि। साहित्यिक हिन्दी में तत्सम अर्थात् प्राचीन भारतीय आर्य भाषा संस्कृत के साहित्यिक शब्दों की संख्या सदा से अधिक रही है। भक्तिकालीन साहित्य में धार्मिक एवं सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों की दृष्टि से प्रचुर तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है और आधुनिक काल में भाषा की आवश्यकता ने इस क्रम को अपनाए रखा है। आज भी नए शब्दों की आवश्यकता पूर्ति के लिए हमें संस्कृत का आश्रय लेना पड़ता है। हिन्दी के छात्रों को इन तत्सम शब्दों का प्रचुर ज्ञान आवश्यक है तभी वे हिन्दी साहित्य का अध्ययन सरलतापूर्वक कर सकते हैं।

(ii) अर्द्धतत्सम—"जो संस्कृत शब्द आधुनिक काल में विकृत हुए हैं, वे 'अर्द्धतत्सम' कहलाते हैं जैसे 'कान्हा' संस्कृत कृष्ण' से विकृत होकर बना है। बच्छ (वत्स), मुँह (मुख), बंस (वंश) आदि ऐसे ही शब्द हैं।

(iii) तद्भव शब्द—जो शब्द प्राचीन आर्य भाषाओं से मध्यकालीन भाषाओं मे होते हुए अपना रूप बदलते हुए चले आये है वे तद्भव शब्द कहलाते हैं। हिन्दी में सबसे अधिक संख्या ऐसे ही शब्दों की है। इनमे से अधिकतर का सम्बन्ध संस्कृत शब्दो से अवश्य जोड़ा जा सकता है, पर जिन शब्दों का सम्बन्ध संस्कृत से नहीं जुड़ता, उनमें ऐसे शब्द भी हो सकते हैं जिनका उद्‌गम प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के ऐसे शब्दों से हुआ हो जिनका व्यवहार साहित्यिक सस्कृत में न होता हो। अतः प्रत्येक तद्भव शब्द का संबंध संस्कृत शब्द से जोड़ना आवश्यक नही। तद्भव शब्द प्रायः मध्यकालीन आर्य भाषाओं-प्राकृत, पाली आदि से होकर हिन्दी तक पहुँचे हैं, अतः उनके रूप में परिवर्तन स्वाभाविक ही है। जनप्रचलित अथवा बोलचाल की भाषा में तद्भव शब्दों की संख्या 'बहुत अधिक है—पत्थर (पाषाण), घर (गृह), किसान (कृषक), खेत (क्षेत्र) आदि प्रयोगों से हम इसे समझ सकते हैं।

(ख) भारतीय अनार्य भाषाओं से आए हुए शब्द[6]—"हिन्दी के तत्सम

---

6. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा-हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० 70–71.

ग्रोर तद्भव शब्द-समूह में बहुत से शब्द ऐसे हैं जो प्राचीनकाल में ग्रनार्य भाषाग्रों से तत्कालीन ग्रार्य भाषाग्रों में ले लिए गए थे। हिन्दी के लिए वास्तव में ये आर्य-भाषा के ही शब्द के समान है। प्राकृत वैयाकरण जिन प्राकृत शब्दों को संस्कृत शब्द-समूह में नही पाते थे, उन्हें 'देशी' ग्रर्थात् ग्रनार्य भाषाग्रो से ग्राए हुए शब्द मान लेते थे। इन वैयाकरणों ने बहुत से बिगड़े हुए तद्भव शब्दों को भी देशी समझ रखा था।"

आधुनिक काल में तामिल, तेलगू ग्रादि द्रविड़ या मुण्डा, कोल ग्रादि ग्रन्य ग्रनार्य भाषाओ से हिन्दी में बहुत शब्द ग्राए हैं।

(ग) **विदेशी भाषाओं के शब्द**—इन शब्दों को दो भागों में विभक्त कर सकते है--

(i) फारसी, ग्ररबी, तुर्की ग्रादि भाषाग्रों के शब्द जो मुसलमानी शासन ग्रौर प्रभाव के कारण हिन्दी में ग्राये।

(ii) यूरोपीय भाषाग्रों–पुर्तगाली, फ्रेंच तथा ग्रंग्रेजी ग्रादि भाषाग्रों के शब्द जो यूरोपीय जातियों के प्रभाव से हिन्दी में ग्राये। इन शब्दों में अंग्रेजी शब्दो की ही अधिकता है। शेष बहुत ही कम है।

इन दोनों ही प्रभावों—मुसलमानी ग्रौर यूरोपीय–से ग्राये शब्दों में ग्रधिकतर शब्द कचहरी, फौज, स्कूल, धर्म तथा नई पौशाक, भोजन, खेल-कूद, यंत्र ग्रादि से सम्बन्धित है।

(i) फारसी, ग्ररबी तुर्की तथा पश्तो शब्द—ग्यारहवीं शताब्दी से ही मुसलमानों का ग्राधिपत्य पंजाब तथा दिल्ली पर हो गया ग्रौर उनके प्रभाव से फारसी शब्द हिन्दी मे प्रयुक्त होने लगे। रासो तक मे फारसी शब्दों का प्रयोग हुग्रा है। तुलसी ग्रौर सूर जैसे महाकवियो की कविताग्रों में भी फारसी शब्द मिलते हैं। मुसलमानी प्रभाव से ग्राने वाले शब्दो में सबसे ग्रधिक संख्या फारसी की ही है क्योंकि सभी मुसलमान शासको ने फारसी को ही दरबारी तथा साहित्यिक भाषा की तरह अपना रखा था। ग्ररबी तथा तुर्की के शब्द भी फारसी से होकर ही हिन्दी में ग्राये है।

(ii) यूरोपीय भाषाओं के शब्द—ग्रठारहवीं शताब्दी में ग्रंग्रेजी का प्रभुत्व उत्तर भारत में स्थापना होने लगा था, फलस्वरूप अंग्रेजी शब्द भी हिन्दी में प्रयुक्त होने लगे। अंग्रेजी के पहले फ्रान्सीसी ग्रौर पुर्तगीज भी दक्षिण भारत में ग्राये पर वे टिक नहीं सके। ग्रतः उनकी भाषाग्रों के बहुत कम शब्द भारतीय भाषाग्रों में ग्रा सके। अंग्रेजी भाषा के शब्दों की संख्या बहुत है ग्रौर ग्रभी भी उनका ग्राना जाती है। वस्तुत. जो ग्रग्रेजी शब्द हिन्दी में घुल-मिल गये हैं उन्हें ग्रपना लेना

हा स्वाभाविक है। अनावश्यक अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग अवश्य बुरा है।[7]

निर्माण रूप-रचना की दृष्टि से हिन्दी शब्द समूह का विभाजन

इस दृष्टि से निम्नांकित विभाजन किये जाते हैं—

1. **मूल या अयौगिक**—वे सार्थक शब्द जिनका विभाजन न हो सके। ये अपने आप में पूर्ण होते हैं और दूसरे शब्द के योग की अपेक्षा नहीं रखते, जैसे, हाथ, नाक, कान, पीला, काम, घोडा आदि।

2. **यौगिक**—वे सार्थक शब्द जिनको मौलिक या रूढ़ शब्दों में प्रत्यय (पूर्व, मध्य या पश्चात्) जोडकर बनाया जाय, जैसे, अथाह, अनबन, सच्चाई, दूध-वाला, पाठशाला, झटपट आदि। हिन्दी में यौगिक शब्द उपसर्ग और प्रत्यय दोनों के योग से बनते हैं और उनमें संज्ञाओं के अतिरिक्त दूसरे शब्द-भेद भी आते हैं।

3. **यौगरूढ़ि**—यौगिक शब्द ही जब विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है तो प्रयोग के आधार पर ही रूढ़ि बन जाती है जैसे 'जलज', 'गिरिधारी', 'लम्बोदर' आदि। इनका शाब्दिक अर्थ 'जल से उत्पन्न वस्तु', 'पर्वत धारण करने वाला', 'लम्बा पेट' होगा, पर स्वीकृत रूढार्थ कमल, श्रीकृष्ण और गणेश हैं।

योगरूढ शब्दों के अर्थ छात्रों को याद करा देने चाहिए।

4. **समास**—समास (समस्त) यौगिक ही होते है, पर जहाँ शुद्ध यौगिक में प्रत्यय ही जुडते हैं, वहाँ समास में दो स्वतंत्र शब्दों का योग होता है जैसे घोड़ा + शाला = घुड़साल। पुनरुक्तिमूलक शब्द भी समास में आ जाते हैं।

संक्षिप्तीकरण की प्रवृत्ति से पेप्सू इन्टक, नेफा, यूनेस्को आदि नये शब्द अग्रेजी के आधार पर नागरीकृत रूप में व्यवहृत हो रहे है। इस प्रवृत्ति के अनुसार हिन्दी शब्दों के भी संक्षिप्त रूप संसोपा, प्रसोपा, संविद, भाक्रांद आदि का व्यवहार होने लगा है।

माध्यमिक स्तर पर शब्द-शिक्षण के उद्देश्य

शब्द-ज्ञान एवं शब्द-भण्डार-अभिवृद्धि की दृष्टि से माध्यमिक स्तर सर्वोपयुक्त स्तर है। प्राथमिक स्तर पर भाषिक पक्षो (उच्चारण, वर्तनी, विविध कौशल–सुनना, बोलना, पढना लिखना आदि) पर विशेष बल रहता है, किन्तु माध्यमिक स्तर पर साहित्य की शिक्षा भी प्रारम्भ हो जाती है और अधिकाधिक शब्दों के ज्ञान एवं प्रयोग का अवसर मिलता है। इस स्तर पर भाषा और साहित्य के अध्ययन-क्षेत्र का विस्तार तो होता ही है, अन्य विविध विषयो की शिक्षा के समा-

7. इन विदेशी भाषाओं में हिन्दी में आये हुए शब्दों की वृहत् सूची डॉ० धीरेन्द्र वर्मा की पुस्तक 'हिन्दी भाषा के इतिहास' में पृ० 72 से 75 तक दी गई है। हिन्दी भाषा-शिक्षकों को यहाँ से अथवा अन्य स्रोतों से इसका अवलोकन अवश्य कर लेना चाहिए। इन शब्दों की लिखित सूची यदि सहायक सामग्री के रूप में तैयार रहे तो और भी अच्छा है।

वेश से भी शब्द-भण्डार-अभिवृद्धि का अवसर प्राप्त होता है। अतः माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक स्तर तक बालकों को शब्द-ज्ञान यथेष्ट भाषा में हो जाना चाहिए।

इस स्तर पर हिन्दी शब्द-शिक्षण के उद्देश्य निम्नांकित है—

1. पाठ्यपुस्तक तथा अन्य स्रोतों से नये शब्दों का ज्ञान प्राप्त करना— इस दृष्टि से निम्नांकित योग्यताएँ अपेक्षित है—

(i) विद्यार्थी नये शब्दों का अर्थ बता सकेगा।

(ii) ठीक शब्दार्थ-ज्ञान न रहने पर भी वह प्रसंग के अनुसार शब्दार्थ का अनुमान कर सकेगा।

(iii) एक अर्थ में प्रयुक्त होने वाले अनेक शब्दों (समानार्थी अथवा पर्याय-वाची का प्रत्यभिज्ञान कर सकेगा।

(iv) समानार्थक अथवा पर्यायवाची शब्दों में से किसी अर्थ विशेष की व्यंजना के लिए उपयुक्त शब्द छाँट सकेगा।

(v) काकु (कण्ठ-ध्वनि) की भिन्नता से कोई शब्द किस प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थ देता है, इसे समझ सकेगा।

(vi) अनेकार्थक शब्दों के विभिन्न अर्थों में से प्रसंगानुकूल अर्थ निकाल सकेगा।

(vii) कोश देखकर शब्द का अर्थ निकाल सकेगा तथा कोश में दिए हुए अनेक अर्थों में से प्रसंगानुकूल उपयुक्त अर्थ छाँट सकेगा।

(viii) शब्दों के वाच्यार्थ के साथ-साथ विशिष्ट स्थलों में उनके लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ को भी समझ सकेगा।

(ix) श्रुतिसमभिन्नार्थक शब्दों का (अपेक्षा, उपेक्षा; प्रसाद, प्रासाद; अनल, अनिल आदि) रूप और अर्थ दोनो दृष्टियों से स्पष्ट अन्तर समझ सकेगा।

(x) खण्ड द्वारा (संधि समास, उपसर्ग, प्रत्यय आदि) शब्द का रूप और अर्थ समझ सकेगा।

(xi) उपसर्ग और प्रत्यय द्वारा शब्द-रचना कर सकेगा।

(xii) उपसर्ग और प्रत्यय के योग से होने वाले शब्दरूप परिवर्तन तथा अर्थ-परिवर्तन को समझ सकेगा।

(xiii) शब्द के व्याकरणिक रूपों (शब्द-भेद, शब्द-विकार, वाक्य मे उनका स्थान आदि) को समझ सकेगा।

(xiv) तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशी आदि शब्दों की पहिचान और उनका बोध कर सकेगा।

(xv) मुहावरो में आने वाले सामान्य शब्दों में विशिष्ट लक्ष्यार्थ-बोध कर सकेगा और उस शब्द के सामान्य अर्थ तथा मुहावरे में प्रयुक्त होने पर द्योतित अर्थ का अन्तर समझ सकेगा।

2. शब्दों के प्रयोग की क्षमता प्राप्त करना—भाषा-ज्ञान एवं व्यवहार की दृष्टि से शब्द का अर्थमात्र या सामान्य परिचय ही पर्याप्त नहीं है; बल्कि शब्द के साथ पूर्ण आत्मीयता स्थापित हो जानी चाहिए। शब्दों के साथ आत्मीयता का तात्पर्य है कि उन शब्दों के प्रयोग में बालकों को कोई सचेत प्रयास न करना पड़े। जिस प्रकार किसी व्यक्ति से अनेक बार अनेक परिस्थितियों में मिलने और उसकी प्रकृति से अवगत होने पर परिचय प्रगाढ़ होता जाता है, उसी प्रकार शब्दों से भी अनेक बार, अनेक प्रसंगों में उनके सामान्य एवं सांकेतिक अर्थों से परिचय होने पर और उनके विविध प्रयोगों को जानने तथा स्वयं प्रयोग करने पर पूर्ण आत्मीयता स्थापित होती है। ऐसे शब्द भाषा-व्यवहार के समय यथाप्रसंग अनायास ही प्रयुक्त हो जाते हैं। अतः शब्द-शिक्षण का दूसरा मुख्य उद्देश्य शब्द की प्रायोगिक क्षमता प्राप्त करनी है। इसके अन्तर्गत निम्नांकित योजनाएँ अपेक्षित हैं—

(i) भावों एवं विचारों के अनुरूप उचित शब्दों का प्रयोग कर सकेगा।

(ii) समानार्थक शब्दों में से प्रसंगानुसार उपयुक्त शब्द का ही प्रयोग करेगा।

(iii) आवश्यकतानुसार उपसर्ग एवं प्रत्यय के योग से शब्दों का उचित प्रयोग कर सकेगा।

(iv) व्याकरणिक दृष्टि से (लिंग, वचन, कारक, विभक्ति, क्रिया, काल आदि के अनुसार शुद्ध शब्द) शब्द का शुद्ध प्रयोग कर सकेगा।

(v) वाक्य में प्रयुक्त अशुद्ध शब्द के स्थान पर शुद्ध शब्द का प्रयोग कर सकेगा।

(vi) वाक्य में रिक्त स्थानों की शुद्ध शब्द द्वारा पूर्ति कर सकेगा।

(vii) लिंग, वचन, क्रिया, काल, विभक्ति आदि की दृष्टि से विभिन्न व्याकरणिक स्थितियों में शब्द के रूप परिवर्तित कर सकेगा।

(viii) मुहाविरों का उचित प्रयोग कर सकेगा।

भाषा-शिक्षण में शब्द-शिक्षण के विविध अवसर एवं प्रयोग—माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक स्तर पर भी शब्द-शिक्षण के लिए पृथक् समय मिलना कठिन ही है। अतः भाषा शिक्षण के लिए निर्धारित समय में ही विविध प्रसंगों एवं अवसरों का उपयोग शब्द-शिक्षण की दृष्टि से करना चाहिए। निम्नांकित अवसर इस दृष्टि से विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं—

(1) भाषा की पाठ्यपुस्तक के शिक्षण के समय

(2) मौखिक एवं लिखित रचना के समय

(3) विविध साहित्यिक कार्यक्रम

(1) पाठ्यपुस्तक-शिक्षण के समय शब्द-शिक्षण एवं शब्द-भण्डार अभिवृद्धि

शब्द-शिक्षण एवं शब्द-भण्डार-अभिवृद्धि प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से साहित्य

की सभी विधाओं एवं पाठों के शिक्षण में संभव है, किन्तु इसका सबसे अधिक अवसर गद्य-शिक्षण में मिलता है। साहित्य की अन्य विधाओं; जैसे कविता, नाटक, कहानी आदि के शिक्षण में साहित्यिक सौन्दर्य तत्त्वों का बोध, रसास्वादन, मानव-चरित्र तथा मनोभावों के विश्लेषण आदि पर अर्थात् भाव पक्ष पर विशेष बल देने के कारण भाषिक कार्यों के लिए अधिक अवकाश नहीं मिलता और परोक्ष रूप में ही यथाप्रसंग शब्दों का ज्ञान करा दिया जाता है। शब्द-शिक्षण एवं शब्द-भण्डार वृद्धि भाषा-कार्य के ही अन्तर्गत है। गद्य-शिक्षण में इसके लिए पर्याप्त अवसर मिलता है।

यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि शब्द-ज्ञान का तात्पर्य केवल शब्दार्थ बता देना ही नहीं है, बल्कि पाठ में आए हुए अपरिचित एवं कठिन शब्दों के आधार पर अधिकाधिक शब्द-ज्ञान कराना, उनके अर्थ से सुपरिचित करना और उनके सहज प्रयोग की कुशलता प्रदान करना हमारा उद्देश्य होना चाहिए।

शब्द-शिक्षण एवं शब्द-भंडार वृद्धि की दृष्टि से निम्नांकित शिक्षण प्रक्रिया उपयोगी सिद्ध हो सकती है—

(क) अर्थबोध द्वारा :

शब्द के ज्ञान का तात्पर्य शब्द के अर्थ को जानना है। भारतीय मनीषियों के अनुसार अर्थ आत्मा है और शब्द शरीर। ब्रह्म की भाँति पहले अर्थ का अस्तित्व प्रकट हुआ और फिर उसको स्वरूप देने के लिए, उस अस्तित्व के वाहक के रूप में शरीर की भाँति शब्द का जन्म हुआ। अर्थ आत्मा की भाँति शाश्वत् एवं सनातन है, शब्द शरीर की भाँति मर्त्य, नश्वर और परिवर्तनशील है। जैसे हमारा शरीर जन्म लेता है, मरता है, क्षीण होता है, स्थूल होता है, बढ़ता है, घटता है, चलता-फिरता है वैसे ही शब्द भी। उसकी सार्थकता अर्थ की अभिव्यक्ति में है। माइकेल वेस्ट का कहना है कि शब्द तो एक रिक्त पात्र है और उसके प्रयोक्ता ही उसमें अर्थ भरते हैं। पर यह भी सही है कि अर्थ से संबंध स्थापित हो जाने पर शब्द और अर्थ अभिन्न हो जाते हैं। इस दृष्टि से कालिदास ने लिखा है—

"वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये,
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ।"

अथवा तुलसीदास की उक्ति "गिरा अर्थ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न" भी शब्द और अर्थ की एकात्मकता और अभिन्नता का प्रतिवादन करती है। वस्तुतः एक बार शब्द और अर्थ का संबंध स्थापित हो जाने पर और उसका प्रचलन हो जाने पर शब्द की सापेक्षिक सत्ता भी स्थापित हो जाती है और उसका संबद्ध अर्थ उसमें अन्तर्भूत-सा प्रतीत होता है। मनुष्य स्वयं शब्द और अर्थ के संबंध को शाश्वत और अभिन्न बनाना चाहता है क्योंकि इससे भावों और विचारों के आदान-प्रदान में सुविधा होती है और हम दूसरों का ठीक-ठीक आशय ग्रहण कर लेने में समर्थ होते है। अतः शब्द-ज्ञान एवं अध्ययन की उपयोगिता

उसके शुद्ध और उपयुक्त अर्थ की प्राप्ति एवं तदनुकूल शब्द-प्रयोग की योग्यता में निहित है।

शब्द की किसी शक्ति के ज्ञान से सांकेनित, लक्षित, व्यंजित अथवा ध्वनित जिस पदार्थ, गुण, क्रिया, भाव, विचार, अनुभूति आदि की उद्‌बुद्धि होती है, उसे अर्थ कहते है। इस अर्थ से पृथक् शब्द का कोई महत्त्व नहीं। अतः शब्दार्थ बताने की दृष्टि से निम्नांकित संकेत उल्लेखनीय है।

(i) **पर्यायवाची अथवा समानार्थी शब्दों का परिचय**—पाठ में आए हुए अपरिचित शब्द का अर्थ बताने की परंपरागत एवं सरलतम विधि उस शब्द के समानार्थी अथवा पर्यायवाची शब्दों को बता देना है। इससे शब्द-भण्डार भी बढ़ता है और अर्थ-बोध में भी सहायता मिलती है। यदि किसी क्लिष्ट[8] या अपरिचित शब्द के अनेक समानार्थी शब्द है, तो संभव है उनमें से कोई शब्द बालक को पहले से ही ज्ञात हो। अतः उस ज्ञात शब्द द्वारा वह अन्य शब्दों का भी बोध कर लेता है।

समानार्थी शब्दों के बताते समय उन शब्दों के प्रयोग मे जो सूक्ष्म अंतर है, उसे भी बता देना चाहिए। कोई शब्द अविकल रूप मे पर्यायवाची नहीं होता। तथाकथित पर्यायवाची शब्दों मे किसी में रूप, गुण, चेष्टा का महत्त्व है तो किसी में सौन्दर्य और उपयोग का। उदाहरणतः कमल के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं—पंकज, जलज, नीरज, अंबुज, अम्भोज, सरोज, सरसिज, कंज, पद्‌म, राजीव, नलिन, अरविंद, इंदीवर, शतदल, तामरस आदि। पर यथा अवसर इनमें से एक का प्रयोग कहीं अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है तो कहीं दूसरे का। अतः विभिन्न प्रयोगों मे अध्यापक को स्पष्ट करना चाहिए कि अमुक प्रसंग में अमुक शब्द अधिक उपयुक्त है। 'शतदल' जहाँ भव्यता और रूप का द्योतक है वहाँ जलज आदि जल से उत्पन्न होने का संकेत करते हैं। बिहारी ने श्रीकृष्ण के लिए मनमोहन, घनश्याम, कुंजबिहारी, गिरिधारी शब्दों का प्रयोग उनके सूक्ष्म अंतर को ध्यान में रखते हुए इस दोहे में कितने आकर्षक ढंग से किया है—

मनमोहन सा मोहु करि, तूँ घनश्याम निहारि।
कुंजबिहारी सौं विहरि, गिरधारी उरधारि॥

स्पष्ट है कि अच्छे कवि और साहित्यकार समानार्थी शब्दों के चयन में कितनी सावधानी रखते है। वाल्टर पेटर का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि

8. कोई शब्द अपने-आप में क्लिष्ट या सरल नहीं होता। अपरिचित शब्द ही बालक के लिए क्लिष्ट माना जाता है। जो शब्द व्यवहार में अधिक प्रचलित होते है, वे अपरिचित रहने पर भी सरलता से समझ लिए जाते हैं।

"काम चलाने के लिए एक वस्तु या विचार के लिए अनेक शब्दों के होते हुए भी विशेष अवसर एवं स्थिति में एक ही शब्द उपयुक्त होता है। अतः सही अभिव्यक्ति और लालित्य की दृष्टि से कौन शब्द किस प्रसंग में उपयुक्त होगा, इससे बालकों को अवगत कराना चाहिए।[9]

(ii) **प्रसंग अथवा संदर्भ के अनुसार शब्दार्थ बोध**—प्रसंग से पृथक् शब्द की स्वतंत्र सत्ता मानकर उसका अर्थ बताना भाषा-शिक्षण की सर्वथा अस्वाभाविक प्रक्रिया है। कक्षा-शिक्षण में पाठ्य सामग्री के विकास, स्पष्टीकरण एवं व्याख्या के क्रम में ही यथा प्रसंग शब्दार्थों को बताना अधिक उपयुक्त है, पहले या पीछे नहीं। शब्द की वाक्य अथवा प्रसंग के अनुसार सापेक्ष सत्ता मानी जाती है और उस प्रसंग में उसका अर्थ जानने की आवश्यकता पड़ती है। अतः प्रसंग में शब्द का अर्थ बताना ही शब्द का वास्तविक परिचय प्रदान करना है।

(iii) **शब्दों के विशिष्ट अर्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ**—शब्द का वास्तविक अर्थ वाक्य में प्रसंगानुसार ही प्रकट होता है। अनेकार्थी शब्दों के संबंध में तो यह और भी सत्य है। वाक्य से पृथक् स्वतंत्र शब्द अपने सामान्य अर्थ का ही द्योतन कर पाता है, पर प्रसंग में उसका विशिष्ट अर्थ भी हो सकता है। अतः कक्षा में शब्दों के इस विशिष्टार्थ को भी स्पष्ट कराना चाहिए। 'बैल' कहने पर बैल नामक पशु का और चाँद कहने पर आकाश के चन्द्रमा नामक उपग्रह का बोध होगा, पर प्रसंग विशेष में प्रयुक्त होने पर बैल शब्द का अर्थ 'मूर्ख' और चाँद शब्द का अर्थ सुखद, शीतल, सुंदर आदि हो सकता है। यह विशिष्ट अर्थ प्रसंग एवं प्रयोग विशेष की स्थिति पर निर्भर है। कविताओं, सूक्तियों, मुहाविरों तथा प्रतीकात्मक प्रयोगों में यह विशिष्टता और भी परिलक्षित होती है। 'कपड़े में कालिख लग गई', 'वह पाँच रोटियाँ खा गया', 'तुम गाय चरा लाओ', 'वह सात घण्टा सोता रहा' आदि कथन

---

9. इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि हिन्दी में शब्दार्थ-विज्ञान के संबंध में अपेक्षित कार्य नहीं हुआ है। रामचन्द्र वर्मा ने लिखा है कि "जिस रूप में शब्दों का आर्थी विवेचन और उनके सूक्ष्म भेदों तथा उपभेदो का तुलनात्मक निरूपण होना चाहिए, वह अभी तक नही हुआ है। आवश्यकता है कि सभी शब्दों के अर्थों और आशयों का गंभीर और गूढ़ अध्ययन करके उनका ठीक-ठीक निरूपक और विवेचन किया जाना चाहिए और दूसरे जो शब्द साधारणतः लोक में एक दूसरे के पर्याय माने जाते हैं, उनके अर्थों के सूक्ष्म अंतरों और भेदों का पूरा-पूरा स्पष्टीकरण होना चाहिए।" वर्मा जी ने इस दिशा में 'शब्द साधना', 'शब्दार्थ मीमांसा' और 'शब्द और अर्थ' आदि पुस्तकों में प्रशंसनीय कार्य किया है। प्रत्येक भाषा-शिक्षक को इन पुस्तकों का अनुशीलन अवश्य करना चाहिए।

में 'कालिख लग गई', 'खा गया', 'गाय', 'सोता रहा' सामान्य अर्थ का ही द्योतन करते हैं पर 'राम के मुँह में कालिख लग गई', 'वह मेरा सौ रुपया खा गया', 'वह बेचारा तो गाय है' 'वह छात्र साल भर सोता रहा' आदि में 'कालिख लग गई,' 'खा गया', 'गाय' और 'सोता रहा' का अर्थ क्रमशः कलंक लगने, हड़प जाने, सीधा-साधा और लापरवाह होना से है। यह अर्थ सामान्य न होकर लक्ष्यार्थ है।

शब्दों के विशिष्टार्थ को समझाने के लिए शिक्षक को शब्द-शक्तियों से परिचित होना चाहिए। शास्त्रकारों ने वाचक, लक्षक एवं व्यंजक तीन प्रकार के शब्दों; वाच्य, लक्ष्य एवं व्यंग्य तीन प्रकार के अर्थों; अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीन प्रकार की अर्थबोधक शक्तियों का उल्लेख किया है।

वाचक शब्द वे हैं जो निश्चित सांकेतिक अर्थ को संबंध-ज्ञान के आधार पर व्यक्त करते हैं। इनकी सामान्य कोशीय अर्थ ही वाच्यार्थ कहलाता है। जिस शक्ति से वह अर्थ जाना जाता है उसे अभिधा कहते हैं। वाक्यार्थ व्याकरण, उपमान, कोश, आप्त वाक्य, व्यवहार, प्रसिद्ध पद का सान्निध्य आदि आधारों से समझ लिया जाता है। वाच्यार्थ ही शब्द का मुख्यार्थ कहलाता है।

लक्षक शब्द—मुख्यार्थ में बाधा होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन से मुख्यार्थ-सम्बद्ध अर्थ लक्ष्यार्थ, शब्द लक्षक और शक्ति लक्षणा है। 'अब पेट कैसे चलेगा" 'वह कंकाल मात्र है' में पेट चलने का तात्पर्य पेट भरने से है, कंकाल मात्र का अर्थ बहुत दुबला-पतला हो जाने से है। पहले विशिष्टार्थ के जो उदाहरण लिखे गये हैं वे लक्ष्यार्थ ही है। अतः प्रसंग विशेष में इन लक्षक शब्दो एवं उनके लक्ष्यार्थों से छात्रो को भलीभांति परिचित कर देना चाहिए। निस्संदेह ही ऐसे शब्दों के प्रयोग से भाषा में एक लालित्य और चमत्कार आ जाता है।

व्यंजक शब्द—अभिधा शक्ति द्वारा सामान्य अर्थ-बोध के अतिरिक्त जिस शक्ति द्वारा अन्य अर्थों (ध्वनित, व्यंजित, अर्थापन्न आदि) का बोध होता है, उसे व्यंजना शक्ति, अर्थ को व्यंग्यार्थ और शब्द को व्यंजक कहते है। व्यंग्यार्थ की प्रतीत कराने वाले अनेक कारण हो सकते है।

वक्ता, बोद्धा (जिससे बात कही जाय), प्रसंग या प्रकरण, देश-काल, काकु (कण्ठ-ध्वनि, स्वराघात आदि), चेष्टा (इंगित, हाव-भाव आदि) आदि के वैशिष्ट्य व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। "कहेउ लखन मुनि सील तुम्हारा, को नहिं जान विदित संसारा" मे वक्ता, बोद्धा, प्रकरण आदि के कारण 'शील' शब्द का व्यंग्यार्थ 'दुःशील' की प्रतीत सहज ही हो जाती है। 'शाम हो गई' का सामान्य अर्थ दिन का समाप्त होना है पर वक्ता के वैशिष्ट्य से इसके अनेक सांकेतिक अर्थ (व्यंग्यार्थ) हो सकते है। गृहिणी के कहने पर इसका आशय दीप जलाने से हो सकता है तो विरहिणी के कहने पर प्रिय के न आने का अर्थ है।

अतः शब्द के विशिष्ट अर्थ—लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ की ओर यथाप्रसंग छात्रों का ध्यान आकृष्ट करना चाहिए और उनके उद्दिष्ट अर्थो से उन्हे भलीभाँति

परिचित करना चाहिए। छात्रों में यह अन्तर्दृष्टि भी उत्पन्न एवं विकसित करनी चाहिए कि वे प्रसंग विशेष में शब्द के गूढ़ार्थों को स्वयं समझने में सक्षम हो सकें।

शब्द की इन अर्थाभिव्यक्तियों की शक्ति द्वारा ही भाषा की गहराई और कलात्मकता का पता छात्रों को लग पाता है। शब्द की अर्थ-सूक्ष्मता और गहराई के कारण ही यह कहा गया कि "एक शब्द का सम्यक् ज्ञान और उनका सुष्ठु प्रयोग सफल कामनाओ की पूर्ति कराने वाला होता है।"

"एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे मर्त्ये च कामधुक् भवति"।

अतः विविध उदाहरणों एवं प्रयोगात्मक अभ्यासों द्वारा छात्रों को शब्द को इन अर्थाभिव्यक्तियों से परिचित कराना प्रत्येक भाषा-शिक्षक का कर्तव्य है।

(iv) **अनेकार्थी शब्दों का ज्ञान**—किसी-किसी शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। श्लेषात्मक प्रयोगों में अनेकार्थी शब्दों का ही आश्रय लिया जाता है। बालकों को ऐसे शब्दों का विशेष ज्ञान करा देना चाहिए। रहीम ने 'पानी' शब्द का प्रयोग जल, कांति, प्रतिष्ठा, शस्त्र की धार आदि अनेक अर्थों में किया है। सूरदास ने 'सारंग, शब्द का प्रयोग सिंह, हाथी, भ्रमर, कोयल, खंजन, मयूर, राजहंस, चातक, मेघ, एक राग, शंख, शिव, कामदेव, पुष्प, कमल, कपूर, धनुष, चंदन, आभूषण, रात्रि, प्रकाश, शोभा, रत्न, आकाश, अंजन, चन्द्र आदि कितने ही अर्थों में किया है। ऐसे शब्दों का ज्ञान इस दृष्टि से भी आवश्यक है कि बालक प्रसंगानुसार स्वयं भी अर्थ निकाल लेने की योग्यता प्राप्त कर लें।

शास्त्रकारों ने अनेकार्थी शब्दों से अभीष्ट अर्थ-बोध की प्रक्रिया में अनेक आधारों का उल्लेख किया है, जैसे सयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, प्रकरण, अन्य सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति आदि। इनके द्वारा अनेकार्थी शब्दों का यथाप्रसंग उपयुक्त अर्थ सरलतापूर्वक बालक समझ सकते है। भाषा-शिक्षक इन विविध स्थितियों में शब्दों के विभिन्न अर्थों के उदाहरण छात्रों के सम्मुख प्रस्तुत करता रहे तो छात्रों को स्वयं अर्थ समझ लेने की योग्यता अर्जित करने में सहायता मिलती है।

(v) **विलोमार्थी शब्दों का परिचय**—इससे अर्थ-स्पष्टता और शब्द-भण्डार वृद्धि दोनों में सहायता मिलती है। भाषा-शिक्षण में किसी शब्द को विलोमार्थी बता देना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उपसर्गों द्वारा अथवा अन्य प्रकार से विलोमार्थी शब्दों का निर्माण करना भी बालकों को बताना चाहिए जैसे राग, विराग (वि + राग), उत्कर्ष, अपकर्ष (उत्, अप), हित, अहित (अ + हित), उचित, अनुचित (अन् + उचित) आदि। गुण या प्रकृति के आधार पर स्वतंत्र शब्दों में विलोम के उदाहरण भी देने चाहिए, जैसे हर्ष-विषाद, राग-द्वेष आदि। कभी-कभी एक ही उपसर्ग अर्थ का प्रकर्ष करता है और विलोम भी, जैसे 'वि' उपसर्ग विशुद्ध, विनाश, विध्वंस, विज्ञान आदि में प्रकर्ष का कारण है तो दिनेश, विमल, विमति, विरूप, विदेह, विकृति, विमुख आदि में विलोम का कारण है।

अतः विलोमार्थी शब्दों की रचना, उनके प्रयोग एवं अर्थांतर से छात्रों को पूर्ण अवगत करा देना चाहिए और उन्हें इनके प्रयोग एवं अभ्यास का यथेष्ट अवसर प्रदान करना चाहिए। इससे शब्द-भण्डार वृद्धि में भी सहायता मिलती है।

(vi) **प्रतीकात्मक शब्द**—रूपक या प्रतीक रूप में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ विशेष व्याख्या द्वारा स्पष्ट करना चाहिए। आधुनिक हिन्दी साहित्य में, विशेषतः छायावाद-काल से प्रतीकात्मक अभिव्यंजना का प्राचुर्य पाया जाता है। प्रकृति में मानवीय भावों के आरोप के लिए कवि या साहित्यकार प्रतीकों से अधिक काम लेता है। 'उषा' का अर्थ प्रसन्नता या प्रफुल्लता, 'रात्रि' या 'अंधकार' का अर्थ दुःख एवं अज्ञान, 'प्रकाश' का अर्थ सुख एवं ज्ञान ,संध्या' का अर्थ जीवन का अवसान काल आदि स्पष्ट कर दिये जाने पर बालक प्रतीकों का अभीष्ट अर्थ निकालने के लिए स्वयं प्रयत्नशील होते हैं।

प्राचीन कवियों ने भी विशिष्ट भावों एवं विचारों के लिए प्रतीकों का प्रयोग किया है जिन्हें समझ लेने पर अर्थ समझने में सरलता होती है। कबीर द्वारा प्रयुक्त प्रतीक–गाय, सिंह, सरिता, समुद्र, नाव, नदियाँ, बिल्ली, मूषक आदि जीव एवं ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हैं। आधुनिक छायावादी कविता में प्रतीक-योजना बहुत ही आकर्षक रूप से प्रयुक्त हुई है। अतः कौन प्रतीक किस मूल भाव या वस्तु का द्योतन करता है, इसका स्पष्ट ज्ञान छात्रों को करा देना चाहिए।

(vii) **पारिभाषिक एवं व्याख्या सापेक्ष शब्द**—पारिभाषिक शब्दों के पर्याय नहीं होते, अतः उनका अर्थ परिभाषा बताकर या व्याख्या करके स्पष्ट कर देना चाहिए। व्याख्या सदा ही सोदाहरण होनी चाहिए। तकनीकी, वैज्ञानिक या प्राविधिक शब्दों के अर्थ के लिए पर्याय या समानार्थी शब्द न ढूँढ़ कर उनकी सोदाहरण व्याख्या ही अपेक्षित है। दर्शन, संस्कृति, कला-कौशल तथा शास्त्रीय शब्दावली के संबंध में भी यही बात चरितार्थ होती है। मोक्ष, धर्म, संस्कृति, अध्यात्म, पुरुषार्थ, कर्मकाण्ड आदि शब्दों के अर्थ व्याख्या द्वारा स्पष्ट हो सकते हैं।

(viii) **रूढ़ार्थी शब्द**—कुछ शब्दों के अर्थ सामान्य न रहकर विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं। अतः उनके शाब्दिक अर्थ न बताकर रूढ़ अर्थ ही स्पष्ट कर देने चाहिए। लम्बोदर, पंचानन, शेषशायी आदि ऐसे ही शब्द है। इसी प्रकार त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश), चार पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष), तीन गुण (सत, रज, तम), षड्विकार (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर) आदि शब्दो को भी स्पष्ट करना चाहिए।

(ix) **कवि-विषय**—कविताओं में प्रायः ऐसी उक्तियाँ प्रयुक्त होती है जिनका कोई वैज्ञानिक अथवा प्रत्यक्ष आधार नहीं होता पर वे काव्य में सत्य मानली गई हैं। ये उक्तियाँ कवि-विषय या कवि-समय कहलाती हैं। चातक केवल स्वातिजल पीता है, चकवा-चकवी रात में वियुक्त ही रहते हैं, अशोक सुन्दरियों के पादक्षेप से ही फूलता

है, चकवा अंगार चुगता है। आदि-आदि। इन उक्तियों को कविता का सत्य कहकर समझा देना अच्छा है।

(x) **शब्द में अर्थ परिवर्तन**—प्रत्येक सार्थक शब्द अपने साथ अपना एक अर्थ-भाव या विचार रखता है। वही अर्थ उसका प्राण या सार है और उस शब्द का महत्त्व उस अर्थ पर ही निर्भर है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि शब्द द्वारा जिस किसी विशेष वस्तु, भाव या विचार का बोध होता है, उसका उस वस्तु, भाव या विचार से कोई स्वाभाविक, निश्चित और शाश्वत सम्बन्ध है। यदि कोई इस प्रकार का निश्चित सम्बन्ध होता तो प्रत्येक देश और काल में एक वस्तु, भाव या विचार के लिए एक ही शब्द का प्रयोग होता और उस स्थिति में न तो भाषा में ही परिवर्तन होता और न विभिन्न भाषाएँ ही अस्तित्व में आती। सभी देशों में गाय के लिए गाय और कमल के लिए कमल का प्रयोग होता। पर ऐसा नहीं है। "जब हम कहते हैं कि शब्द और अर्थ का नित्य और अटूट सम्बन्ध है, तब इस कथन से केवल इतना ही तात्पर्य है कि प्रत्येक शब्द का कुछ न कुछ अर्थ है, चाहे यहाँ, चाहे अन्यत्र, चाहे आजकल, चाहे किसी और समय में।"

शब्द और अर्थ का सीधा सम्बन्ध यह है कि शब्द द्वारा हमें किसी वस्तु, क्रिया भाव, विचार अथवा अनुभूति का बोध होता है और उससे उस शब्द का अर्थ सम्बद्ध हो गया है। शब्द स्वयं वह पदार्थ अथवा भाव नहीं है, बल्कि उसका वह द्योतक अथवा प्रतीक है और उसके प्रति हमारा ऐसा विचार-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है कि वस्तु अथवा भाव के अभाव में ही उसके द्योतक शब्द-विशेष के उच्चारण-मात्र से उस वस्तु, भाव या विचार का बोध हो जाता है। माँ कहते ही हमारे सामने अपनी जन्मदात्री का चित्र प्रस्तुत हो जाता है, पर माँ कहने से अंग्रेज या जर्मन बालक के सामने यह चित्र नहीं प्रस्तुत होगा क्योंकि मां शब्द द्वारा उसके मन में किसी प्राणी के साथ विचार-सम्बन्ध स्थापित नही हो सका है।

शब्द और अर्थ का यह व्यावहारिक सम्बन्ध स्थापित रहने पर भी भाषा के विकास-क्रम में शब्द के अर्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया देखी जाती है। इस प्रक्रिया पर अध्ययन करने के लिए भाषा विज्ञान में अर्थ-विज्ञान की एक शाखा ही बन गयी है। शब्द अपना पुरातन अर्थ छोड़कर नया अर्थ ग्रहण कर लेता है। इसका श्रेय सामान्य जन में उसका नये अर्थ में प्रयोग और प्रचलन है।

भाषा-शिक्षण में यथाप्रसंग ऐसे शब्दों की ओर ध्यान दिलाने से शब्दार्थ-शिक्षण-प्रक्रिया में एक सजीवता, रोचकता और विविधता आ जाती है और बालकों में शब्दार्थ समझने की अन्तर्दृष्टि पैदा होती है।

शब्दों के अर्थ-परिवर्तन के चार रूप देखने में आते हैं—**अर्थ-विस्तार, अर्थ-संकोच, अर्थोत्कर्ष, अर्थापकर्ष**।

अर्थ-विस्तार—'कुशल' शब्द प्राचीन काल में यज्ञादि अनुष्ठानों के लिए कुश लाने वाले योग्य व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता था, कालान्तर में वह सभी प्रकार की

योग्यता का परिचायक वन गया। 'तेल' शव्द केवल 'तिल' से निकलने वाले चिकने द्रव्य (तेल) के लिए प्रयुक्त होता था, वाद में किसी भी पदार्थ से निकले चिकने-द्रव्य के लिए प्रयुक्त होने लगा। इसी प्रकार सब्जी, स्याही आदि शव्दों में अर्थ-विस्तार के उदाहरण पाये जाते हैं। विभीषण और जयचन्द व्यक्ति के ही नाम थे पर आज उनका प्रयोग किन अर्थों में होता है, इससे हम सभी परिचित हैं। ऐसे ही नारद भी अपना अर्थ-विस्तार कर चुके हैं। गंगा एक विशेष नदी का नाम है पर मराठी में वह नदी का ही पर्याय हो गया है। गवेषणा शव्द गाय को ढूँढ़ने के प्रयोग में आता था, पर आज सभी विषयों की खोज के लिए प्रयुक्त होने लगा है। पहले 'निपुण' शव्द पुण्यकर्त्ता के लिए ही था, पर अव पक्के धूर्त और चोर भी निपुण कहे जाते हैं। वीणा वजाने में कुशल व्यक्ति को प्रवीण की संज्ञा दी जाती थी, पर अव प्रवीण शव्द सभी प्रकार की कुशलता का द्योतक है।

अर्थ-विस्तार की ही भाँति शव्दों का **अर्थ-संकोच** भी हो होता है। **'जलज'** शव्द का अर्थ जल से उत्पन्न होने वाला है—कमल, जोक, मछली, सेवार आदि सभी 'जलज' हो लकते हैं पर अव वह केवल कमल अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार खग, मृग, धान, रसाल आदि शव्द अपना व्यापक अर्थ खो चुके है।

शव्दो में **अर्थोत्कर्ष** भी होता है। 'मुनि' शव्द पहले मौन रहने वाले का वोधक था किन्तु वाद में तपस्वी अथवा साधक के अर्थ में हो गया। इसी प्रकार 'भोग' शव्द लिया जा सकता है। 'कर्पट' का अर्थ चीथड़ा था पर इसका तद्भव शव्द कपड़ा अर्थोत्कर्ष को प्राप्त हो गया है।

अर्थापकर्ष भी शव्दो का होता है। 'गँवार' शव्द गाँव के रहने वाले के अर्थ में होता था, किन्तु अव उसका अर्थ मूर्ख हो गया है। इसी प्रकार गर्भिणी, प्रणाली में तद्भव शव्द 'गाभिन', 'पनाली', शव्दों में अर्थापकर्ष के उदाहरण मिलते है।

(xi) **वाक्य-प्रयोग**—अर्थ स्पष्ट करने के लिए उपर्युक्त क्रियाविधि अपनाने के साथ वाक्य-प्रयोग द्वारा भी शव्दों के सही अर्थ-वोध में यथेष्ट सहायता मिलती है। कभी-कभी अपरिचित शव्द का उचित वाक्य-प्रयोग करने से वालक अपने-आप शव्द का अर्थ समझ जाते है। वाक्य-प्रयोग द्वारा शव्दार्थ-वोध का एक और लाभ यह होता है कि वालक अर्थ-वोध के साथ-साथ शव्द प्रयोग में भी कुशलता प्राप्त करते हैं। वह शव्द उनकी सक्रिय शव्दावली में घुल-मिल जाता है। वाक्य-प्रयोग द्वारा समानार्थी अथवा पर्याय शव्दो के सूक्ष्म अन्तर को भी स्पष्ट किया जा सकता है। अतः वाक्य-प्रयोग शव्दार्थ-ज्ञान की दृष्टि से एक अच्छी विधि है।

(ख) शव्द-निर्माण द्वारा :

शव्द-ज्ञान एवं शव्द-भण्डार वृद्धि की दृष्टि से शव्द-रचना का वहुत महत्व है। अतः कक्षा में वालकों को शव्द-रचना का अभ्यास कराना चाहिए। हिन्दी शव्द-निर्माण में प्रायः तीन रूप दीख पड़ते हैं—

(i) किसी शब्द के पूर्व एक या दो वर्ण लगाकर। इस प्रकार के वर्ण या वर्ण-समूह को व्याकरण में **'उपसर्ग'** कहते हैं।

(ii) किसी शब्द के पश्चात् एक या दो वर्ण लगाकर। इस वर्ण या वर्ण-समूह को व्याकरण में 'प्रत्यय' या 'परसर्ग' कहा जाता है। (परसर्ग) के सहयोग से निर्मित शब्द दो प्रकार के होते हैं—**कृदन्त और तद्धित**।

(iii) किसी शब्द के साथ दूसरा शब्द मिलाने से नये संयुक्त शब्द बन जाते हैं, जिन्हें समास कहते हैं।

इन तीनों रूपों का परिचय नीचे लिखा गया है—

(i) उपसर्ग एवं शब्द-निर्माण—हिन्दी शब्दो के निर्माण में **संस्कृत, हिन्दी** और उर्दू तीनों प्रकार के उपसर्गों का प्रयोग होता है। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

संस्कृत उपसर्ग—अति, अधि, अनु, अप, अभि, आ, उत्, उप, दुर्, दुस्, नि, निर्, निस्, परा, परि, प्र, प्रति, वि, सम्, सु आदि।

इन उपसर्गों के योग से मूल शब्द के अर्थ में प्रकर्ष, अपकर्ष, विलोम आदि परिवर्तन देखे जाते हैं। संस्कृत में इन उपसर्गों को धातुओं के साथ जोड़ने से उनके अर्थ मे हेर-फेर होता है। अतः छात्रों को उपसर्गों के महत्त्व से तथा उनके कारण शब्द के मूल अर्थ में होने वाले विविध परिवर्तनों से अवगत करा देना चाहिए।

कुछ उपसर्गों से बने शब्दों के उदाहरण इस प्रकार है[10]—

अति—शब्द के पूर्व आने पर यह उपसर्ग अतिशयता, श्रेष्ठता, आधिक्य, सीमोल्लंघन आदि का संकेत करता है जैसे—अतिक्रम, अतिक्रमण, अतिक्रुद्ध, अतिकाल, अतिरिक्त, अतिशय, अत्यंत, अत्याचार। हिन्दी में 'अति' अधिकता के अर्थ में स्वतंत्र शब्द के समान प्रयुक्त होने लगा है।

अधि—ऊपर, श्रेष्ठ का संकेत करता है, जैसे, अधिकार, अधिराज, अधिष्ठाता, अधिदेव आदि।

अनु— पीछे, समान, साथ का संकेत करता है, जैसे, अनुकरण, अनुगमन, अनुचर, अनुज अनुताप, अनुरूप, अनुशासन आदि।

कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनमें 'अनु' उपसर्ग का भ्रम होता है, पर अनु उपसर्ग का योग नही होता। इन शब्दों में अन् उपसर्ग के साथ 'उ' से प्रारम्भ होने वाले शब्दो की संधि रहती है, जैसे, अनुदार (अन् + उदार), अनुपयोगी (अन् + उपयोगी), अनुपम (अन् + उपम), अनुपलब्ध (अन् + उपलब्ध) आदि।

अप— यह विपरीत, विरोध, बुराई, निषेध, हीनता, आदि का संकेत करता है; अपकर्ष, अपकीर्ति, अपमान, अपशब्द, अपहरण, अपयश आदि।

---

10. कामता प्रसाद गुरु–हिन्दी व्याकरण, पृ० 332 से 338।

अभि— यह पास, ओर, सामने का संकेत करता है; जैसे, अभिमुख, अभिमान, अभिप्राय, अभ्यागत, अभ्युदय, अभिज्ञान, अभिरुचि, अभिलेख, अभिनव आदि।

अव— नीचे, हीन, अभाव आदि का संकेत; जैसे, अवगत, अवगुण, अवतार, अवगत, अवसान, अवलोकन, अवचेतन, अवमूल्यन आदि। प्राचीन हिन्दी कविता में 'अव' का रूप 'औ' पाया जाता है जैसे, प्रभु मोरे औगुन चित न धरो। औसर (अवसर)।

आ— तक, ओर, समेत, उलटा का संकेत; जैसे, आकर्षण, आकार, आक्रमण, आगमन, आमरण, आचरण, आबालवृद्ध, आजानु आदि।

उत्— ऊपर, नीचे, श्रेष्ठ का संकेत; जैसे, उत्कर्ष, उत्कंठा, उत्तम, उद्यम, उन्नति, उन्नयन, उत्पल, उल्लेख, उन्मार्ग आदि।

उप— निकट, सदृश, गौण आदि का संकेत; जैसे, उपकार, उपदेश, उपनाम, उपनेत्र, उपभेद, उपमंत्री, उपाध्यक्ष, उपवन, उपक्रम, उपनयन आदि।

दुर्, दुस्—बुरा, कठिन, दुष्टता आदि का संकेत; जैसे, दुराचार, दुर्गुण, दुर्गम, दुर्जन, दुर्दशा, दुर्बल, दुर्लभ, दुष्कर्म, दुष्प्राप्य, दुःसह, दुस्साहस आदि।

निर्, निस्—भीतर, नीचे, बाहर का संकेत; जैसे, निराकरण, निर्मम, निर्जन, निराकार, निरपराध, निर्भय, निर्दोष, निश्चल, निश्शंक, निष्पाप आदि। (हिन्दी में यह उपसर्ग प्रायः 'नि' हो जाता है; जैसे, निधन, निबल, निडर आदि।)

परा— पीछे, उल्टा का संकेत; जैसे, पराक्रम, पराजय, पराभव, परावर्तन आदि।

परि— आसपास, चारों ओर, पूर्ण का संकेत; जैसे परिक्रमा, परिजन, परिणाम, परिधि, परिपूर्ण, परिमाण, परिवर्तन, परिणय, पर्याप्त आदि।

प्र— अधिक, आगे, ऊपर, प्रकर्ष का संकेत; जैसे, प्रख्यात, प्रचार, प्रसार, प्रस्थान, प्रलय, प्रभु, प्रयोग आदि।

प्रति— विरुद्ध, सामने, एक-एक का संकेत; जैसे, प्रतिकूल, प्रतिक्षण, प्रतिध्वनि, प्रतिकार, प्रतिनिधि, प्रतिवाद, प्रत्युपकार, प्रत्येक आदि।

वि— विशेष, प्रकर्ष, भिन्न, अभाव, विरोध का संकेत; जैसे, विज्ञान, विशुद्ध, विकास, विदेश, विरूप, विकृति, विस्मरण, विवाद आदि।

सम्— अच्छा, साथ, पूर्ण का संकेत; जैसे, संकल्प, संगम, संग्रह, संतोष, संन्यास, संयोग, संस्करण, संरक्षण आदि।

सु— अच्छा, सहज, अधिक का संकेत; जैसे, सुकर्म, सुलभ, सुगम, सुशिक्षित सुमति, सुदूर, स्वागत आदि। हिन्दी में सुडोल, सुजान, सुघर आदि।

कभी-कभी एक ही शब्द के साथ दो-तीन उपसर्ग आते हैं; जैसे निराकरण (निर्+आ) प्रत्युपकार (प्रति+उप), समालोचना (सम्+आ) आदि।

संस्कृत शब्दों में कोई-कोई विशेषण और अव्यय भी उपसर्गों के समान व्यवहृत होते हैं, जैसे अ, अधस्, अंतर, अमा, अलम्, आविर्, इति, कु, चिर, तिरस्, न, नाना, पुरस्, पुरा, पुनर्, प्राक्, प्रातर, प्रादुर्, बहिर्, स, सत्, सह, स्व, स्वयं, स्वर् आदि। इनसे युक्त शब्दों का अभ्यास भी उपसर्गों से बने शब्दों की भाँति ही छात्रो से कराने चाहिए।

हिन्दी उपसर्ग—हिन्दी उपसर्ग बहुधा संस्कृत उपसर्गों के अपभ्रंश हैं और विशेषकर तद्भव शब्दों के पूर्व आते हैं; जैसे,

अ— अभाव, निषेध, विलोम का संकेत देते हैं—अचेत, अजान, अथाह आदि।

अन— अनबन, अनभल, अनमोल, अनपढ़, अनगिनती आदि।

अध— आधा; जैसे, अधखिला, अधपका, अधमरा, अधसेरा आदि।

उन— एक काम; जैसे, उन्नीस, उन्तीस, उन्तालीस, उनचास, उनसठ, उनहत्तर, उन्नासी आदि।

औ— (सं०-अव)–हीन, निषेध का संकेत; जैसे, औगुन, औसर, औढर आदि।

दु— (सं०-दुर्)–बुरा, हीन का संकेत; जैसे, दुकाल, दुबला आदि।

नि— (सं०-निर्)–रहित का संकेत; जैसे निकम्मा, निडर, निधड़क, निरोगी, निहत्था आदि।

बिन (सं०-बिना)–निषेध, अभाव का संकेत; जैसे, बिनजाने, बिनबोया, बिनव्याहे आदि।

भर— पूरा, ठीक का संकेत; जैसे, भरपेट, भरपूर, भरसक आदि।

उर्दू उपसर्ग—अल, ऐन, कम, खुश, गैर, दर, ना, फी, ब, बद, बर, बा, बिल, बिला, ला, सर, हम, हर आदि। इन उपसर्गों से युक्त शब्द हिन्दी में बहुत कम प्रचलित हैं। पर प्रचलित शब्दों को सूची बनाकर छात्रों को उनसे अवगत करा देना चाहिए।

(ii) प्रत्यय एवं शब्द निर्माण—शब्द के पश्चात् जो वर्ण या वर्ण-समूह लगता है, उसे प्रत्यय कहते हैं, जैसे 'बड़ा' शब्द में 'आई' प्रत्यय लगाकर 'बड़ाई' शब्द बन गया। प्रत्ययो का प्रयोग कृदन्त और तद्धित दोनों रूप में होता है।

धातुओं के आगे जो प्रत्यय लगाये जाते है, उन्हें कृत् कहते हैं और इनके योग से बने हुए शब्द कृदन्त कहलाते हैं।

धातुओं को छोड़कर शेष शब्दों के आगे प्रत्यय लगाने से जो शब्द बनते हैं उन्हें तद्धित कहते हैं।

प्रत्ययों तथा उनके द्वारा बने हुए शब्दों के प्रचुर उदाहरण कामता प्रसाद गुरु के हिन्दी व्याकरण में विस्तार से (पृ० 340–389 तक) दिये गये है। हिन्दी भाषा-शिक्षक को इनसे अवश्य ही अवगत होना चाहिए और कक्षा स्तर का ध्यान रखते हुए उनका यथाप्रसंग एवं यथावश्यक ज्ञान छात्रों को करना चाहिए। संकेत के रूप मे कुछ प्रत्ययों के उदाहरण नीचे लिखे जा रहे है—

ग्रा— इस प्रत्यय का प्रयोग कृदन्त एवं तद्धित दोनों रूपों में होता है।

कृदन्त प्रयोग—(1) इस प्रत्यय के योग से बहुधा भाववाचक संज्ञाएँ बनती हैं; जैसे, घेरना से घेरा, टेरना–टेरा, जोड़ना–जोड़ा, छापना–छापा।

(2) भूतकालिक कृदन्त भी इस प्रत्यय के योग से बनाये जाते है; जैसे, रोना–रोया, धोना–धोया, सीचना–सींचा, लिखना–लिखा ग्रादि।

(3) इस प्रत्यय के योग से कुछ ऐसी संज्ञाएँ भी बनती है जो कार्य भी प्रकट करती है; जैसे, झूलना–झूला, ठेलना–ठेला, फाँसना–फाँसा आदि।

तद्धित प्रयोग—(1) यह प्रत्यय कुछ संज्ञाओं के पूर्व लगकर विशेषण बनाता है; जैसे, भूख–भूखा, ठण्ड–ठण्डा, प्यार–प्यारा, प्यास–प्यासा ग्रादि।

(2) यह प्रत्यय ईकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञाग्रों में पुल्लिग बनाने के लिए प्रयुक्त होता है; जैसे, लड़की–लड़का, मही–महा ग्रादि। विनोद में धोती, घड़ी, रोटी का धोता, घड़ा ग्रौर रोटा कर देते है।

आई— इस प्रत्यय का प्रयोग भी कृदन्त एवं तद्धित दोनों रूपों में होता हैं।

कृदन्त प्रयोग—इसके योग से भाववाचक संज्ञाएँ बनती हैं जिनसे क्रिया का व्यापार ग्रौर क्रिया का नाम बोध होता है; जैसे, दिखना–दिखाई, खुदना–खुदाई, हँसना–हँसाई, चढ़ना–चढ़ाई, बिनना–बिनाई, कूटना–कुटाई ग्रादि।

तद्धित प्रयोग—(1) इनके योग से विशेषणों ग्रौर संज्ञाग्रों से भाववाचक संज्ञाएँ बनती है; जैसे, चतुर–चतुराई, बुरा–बुराई, खुदा–खुदाई, ढीठ–ढिठाई, पंडित–पंडिताई, विदा–विदाई, कठिन–कठिनाई ग्रादि।

(2) इसके योग से कुछ जातिवाचक संज्ञाएँ भी बनती है, जैसे, मीठा–मिठाई, खट्टा–खटाई, ठण्डा–ठण्डाई ग्रादि।

इया— इस प्रत्यय का प्रयोग हिन्दी में कृदन्त एवं तद्धित दोनों रूपों में होता है।

कृदन्त प्रयोग—धुनना–धुनिया, घटना–घटिया।

तद्धित प्रयोग—आढ़त–ग्राढतिया, दुख–दुखिया, मुख–मुखिया, रस–रसिया, रसोई–रसोइया, कनौज–कनौजिया, कलकत्ता–कलकतिया, पूरब–पूरबिया ग्रादि। कभी-कभी आदर या दुलार के लिए भी 'इया' का प्रयोग करते है, जैसे, भाई–भैया, माई–मैया।

क— इसका प्रयोग भी कृदन्त एवं तद्धित दोनों रूपों में होता है।

कृदन्त प्रयोग—बैठना–बैठक, मारना–मारक, घोलना–घोलक, जाँचना–जाचक, घालना–घालक ग्रादि।

तद्धित प्रयोग—खड़ से खड़क, तड़–तड़क, धम–धमक, सट–सटक ग्रादि। इसी प्रकार पचक, सप्तक, अष्टक ग्रादि भी।

इसी प्रकार प्रचलित प्रत्ययों के उदाहरणों की सूची तैयार करके शब्द-शिक्षण के समय यथाप्रसंग उनका प्रयोग अपेक्षित है। कुछ मुख्य प्रत्यय निम्नांकित हैं—

आऊ, आप, आवट, आवा, आस, इ, इक, ई, इमा, ए, एरा, ऐत, औता, औना, औनी, आवनी, कर, के, करके, का (छीलना-छिलका), की (फिरना–फिरकी), गी, त, ता, ती, ते, न, ना, वाला, वैया, हार, हारा, हा, आका, आन, आनी, आर, आरी, आड़ी, आल, आली, आलू, आहट, ईला, उआ, एड़ी, एली, एल, ऐल, ऐला, ओं, ओला, टा, टी, ड़ा, ड़ी, पन, पा, व, भगवान, राम, री, ला, वंत, सरा, सों, हर, हरा, हा, हारा, ही आदि। इनमें से अनेक तो ऐसे है जिनके उदाहरण दो-एक से अधिक हैं भी नहीं। अतः अधिक प्रचलित प्रत्ययों का प्रयोग और उनके उदाहरणों से छात्रों को अवगत कराना चाहिए।

प्रत्ययों के अतिरिक्त संस्कृत में अनेक शब्द ऐसे हैं जो उपसर्ग अथवा प्रत्यय के समान प्रयुक्त होते है। इन शब्दों में स्वतंत्र अर्थ रहता है पर इनका स्वतंत्र प्रयोग बहुत कम होता है। ये हैं—

अन्तर, अधीन, अन्वित, अपह, अध्यक्ष, अतीत, अनुरूप, अनुसार, अभिमुख, अर्थ, अर्थी, अर्ह, आक्रात, आतुर, आकुल, आचार, आत्म, आपन्न, आवह, आर्त्त, आशय, आस्पद, आढ्य, उत्तर, कर, कार, कालीन, गत, ग, गम, गम्य, ग्रस्त, घात, घ्न, चर, चितक, जन्य, ज, जाल, जीवी, दर्शी, द, दायक, दायी, धर, धार, धर्म, नाशक, निष्ठ, पर, परायण, बुद्धि, भाव, भेद, युत, रहित, रूप, शील, शाली, शून्य, शूर, साध्य, स्थ, हत, हर, हीन, ज्ञ आदि।

शब्द-रचना की दृष्टि से इन शब्दों का प्रयोग सिखा देना उपयोगी सिद्ध होगा। इनसे युक्त प्रचुर उदाहरण छात्रो के सम्मुख यथाप्रसंग रखना चाहिए।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपसर्गों एवं प्रत्ययों के प्रयोग से शब्दों के रूप एवं व्याकरणिक भेदों में जो परिवर्तन हो जाता है उससे भी छात्रों को अवश्य अवगत करा देना चाहिए। उदाहरण के लिए धन, बल, भय आदि भाववाचक संज्ञा शब्दों में निर् लगने पर निर्धन, निर्बल, निर्भय शब्द विशेषण बन जाते है। इसी प्रकार 'इक' प्रत्यय लगने पर समाज, लोक, इतिहास, भूगोल आदि संज्ञा शब्द भी सामाजिक, लौकिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक आदि विशेषण बन जाते है। इन परिवर्तनों का ज्ञान वाक्य-प्रयोग की दृष्टि से भी आवश्यक है। इसी प्रकार विभिन्न प्रत्ययों के प्रयोग से बने हुए अपत्य वाचक शब्दों का ज्ञान भी करा देना चाहिए; जैसे, दशरथ–दाशरथि, जनक–जानकी, पांडु–पांडव, कुरु–कौरव, कुंती–कौतेय, वसुदेव–वासुदेव आदि।

(iii) **समास**—दो अथवा अधिक शब्दों के मिलने से जो संयुक्त शब्द बनता है उसे समास कहते है। संस्कृत में समासों की प्रचुरता पायी जाती है किन्तु हिन्दी मे संस्कृत जैसे लम्बे-लम्बे समासों की प्रवृत्ति नही पायी जाती है। लम्बे सामासिक पदों के प्रयोग से भाषा क्लिष्ट और बोझिल हो जाती है। पर जहाँ समास के कारण भावाभिव्यक्ति मे लाघवता, स्पष्टता और चमत्कार बढ़ जाता है, वहाँ उसका

प्रयोग होना ही चाहिए और तत्संबंधी अभ्यास छात्रो को दिये जाने चाहिये। तत्सम शब्दों के अतिरिक्त अन्य हिन्दी शब्दो में भी समास के कारण लाघवता और चुस्ती आ जाती है जैसे पनघट, लेन-देन, घुड़दौड़, जेवकट आदि।

व्याकरण के पाठो में समासों के पढ़ाने का अवसर मिलता है पर पाठ-शिक्षण में यथाप्रसंग उनका उल्लेख करते रहने से उनका प्रत्यभिज्ञान वना रहता है। अतः प्रचलित सामासिक शब्दों के उदाहरण प्रचुर मात्रा में छात्रों को वताने चाहिए।

(iv) **संधि**—संधि का प्रयोग भी तत्सम शब्दों में ही होता है। वर्तनी शिक्षण एवं उच्चारण शिक्षण के प्रसंग में यह उल्लेख किया जा चुका है कि संधियों के ठीक ज्ञान होने से तत्संबंधी शब्दों की वर्तनी और उच्चारण में त्रुटियाँ नहीं होंगी। शब्दज्ञान की दृष्टि से संधियों का ज्ञान भी आवश्यक है। गद्यपाठों के शिक्षण में जहाँ भी ऐसे शब्द आते हैं, उनकी संधि, संधि-विच्छेद तथा उनके सदृश अन्य शब्द रचना के उदाहरण आदि वताने चाहिए।

व्याकरण-शिक्षण में माध्यमिक स्तर पर संधि और समास की शिक्षा विस्तार से प्रदान की जाती है। अतः यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

(ग) विशिष्ट शब्द-प्रयोगों का परिचय

शब्द-भण्डार वृद्धि की दृष्टि से विशिष्ट शब्द-प्रयोगों का अभ्यास अपेक्षित है। ऐसे शब्दो की आवश्यकता दैनिक जीवन के भाषा-व्यवहार में प्रायः पड़ा करती है।

(i) **युग्म (पुनरुक्ति वाले) शब्दों का प्रयोग**—युग्म शब्द हिन्दी-भाषा की अपनी विशिष्टता है। ये सामासिक शब्द हैं और इनका प्रयोग अर्थ चमत्कार, अर्थ-गौरव की दृष्टि से उपयोगी होता है। ये युग्म शब्द अनेक प्रकार से वनते और प्रयुक्त होते हैं—

क—उसी शब्द की आवृत्ति—

सक्रमता—किनारे-किनारे, एक-एक (करके), टन-टन।

अतिशयता—दाने-दाने, तिल-तिल, दर-दर, द्वार-द्वार, हँसते-हँसते, रोते-रोते आदि।

कार्य संपन्न होने की पूर्वदशा—गिरते-गिरते (वचा), मरते-मरते (वचा), जाते-जाते (रुक गया), पहुँचते-पहुँचते (गाड़ी छूट गई), आते-आते (रह गये)।

एक जातीयता—लाल-लाल, लड़के-लड़के, वड़े-वड़े, छोटे-छोटे आदि।

भिन्नता—किसी-किसी, (घर में), रंग-रंग (के फूल), ऊँचे-ऊँचे (पहाड़) आदि।

रीति—रुक-रुक (कर), कूद-कूद (कर), धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा, पीछे-पीछे, पूछता-पूछता आदि।

भाव-वृद्धि—देखो-देखो, आइए-आइए, हाय-हाय, राम-राम, हरे-हरे आदि।

कुछ युग्म शब्दों के बीच में ही, न, से, का, की आदि का प्रयोग करके अर्थ विशेष पर बल दिया जाता है; जैसे, घर के घर, बाहर ही बाहर, कुछ न कुछ, कुछ से कुछ, कुछ का कुछ, साथ ही साथ आदि।

ख—प्रायः एक ही अर्थ के विभिन्न शब्दों के मेल से बने हुए युग्म—

चमक-दमक, बोल-चाल, कंकड़-पत्थर, लूट-पाट, भला-चंगा, चाल-चलन, जीव-जंतु, भूत-प्रेत, काम-काज, हृष्ट-पुष्ट, ईर्ष्या-द्वेष आदि।

ग—मिलते-जुलते अथवा निकट अर्थ वाले पदों के मेल से बने हुए युग्म—

आकार-प्रकार, घर-द्वार, आचार-विचार, दिन-दोपहर, खाना-पीना, अन्न-जल, जंगल-झाड़ी, नाच-गान, फल-फूल, असन-वसन, भोजन-पानी आदि।

घ—परस्पर विरूद्ध अर्थ वाले पदों के मेल से—लाभ-हानि, यश-अपयश, चर-अचर, सम-विषम, उचित-अनुचित, सत्-असत्, निन्दा-स्तुति, हित-अनहित, जीवन-मरण, जड़-चेतन, राजा-रंक, शुभ-अशुभ, न्याय-अन्याय, आदान-प्रदान।

ङ—एक सार्थक और एक निरर्थक शब्द के मेल से—आस-पास, आमने-सामने, बातचीत, अड़ोस-पड़ोस, दौड़धूप, अदला-बदला।

(ii) **श्रुतिसम भिन्नार्थक शब्दों के अभ्यास**—ऐसे शब्दों का ज्ञान और प्रयोग संबंधी अभ्यास कराना चाहिए जिनमें रूप और ध्वनि में कुछ-कुछ समानता रहती है, पर वे भिन्न होते हैं। ऐसे शब्दों में बालक प्रायः भ्रमवश त्रुटियाँ कर देते हैं। अपेक्षा-उपेक्षा, अनल-अनिल, आकार-आकर, प्रसाद-प्रासाद, छात्र-क्षात्र, मूल-मूल्य, वसन-व्यसन, ग्रह-गृह, शर-सर, सर्ग-स्वर्ग, शंकर-संकर, तरणी-तरुणी लक्ष-लक्ष्य, प्रकार-प्राकार आदि।

(iii) **प्रचलन और प्रभावपूर्णता को ध्यान में रखते हुए उपयुक्त विशेषणों का ज्ञान एवं प्रयोग सम्बन्धी अभ्यास**—उदाहरणतः घनघोर घटा, घमासान युद्ध, मूसलाधार वृष्टि, तीक्ष्ण धार, तीव्र वेग, शीतल वाणी, मन्दबुद्धि, सूची भेद्य अन्धकार, प्रकाण्ड पंडित, घोर शत्रु, घनिष्ठ मित्र, अधोगति, उच्चस्वर, प्रखर धार, वेगवती सरिता, गगनचुम्बी अट्टालिका आदि। ऐसे प्रयोगों से भाषा में सजीवता और लालित्य आ जाता है और बालकों में भाषा सीखने के प्रति रुचि बढ़ती है।

(iv) **संयुक्त क्रियाओं का ज्ञान**—हिन्दी में अधिकतर संयुक्त क्रियाएँ प्रयोग में आती है, जो विभिन्न क्रियाओं के मेल से बनी होती हैं, जैसे खा लिया, चला गया, उठ बैठा, जी उठा आदि। होना, पढ़ना, चाहना, चुकना, सकना, पाना, देना, लगना, लेना, रहना, डालना, जाना, करना, आना, उठना, बैठना, बनना आदि ऐसी क्रियाएँ है जिनका संयोग विभिन्न रूपों में अन्य क्रियाओं के साथ प्रायः होता रहता है। अतः इनके ठीक प्रयोग सम्बन्धी अभ्यास छात्रों को दिए जायँ। संयुक्त क्रियाएँ निम्न प्रकार से बनती है—

1. क्रियार्थक संज्ञा तथा सहायक क्रिया के मेल से (करना चाहिए)

2. वर्तमान कालिक कृदन्त के मेल से (जाता रहेगा)

3. भूतकालिक कृदन्त के मेल से (गया होगा, स्थापित किया)

4. पूर्वकालिक कृदन्त के मेल से (पकड़ जायगा)

5. अपूर्ण कृदन्त के मेल से (देखते ही बनता है)

6. पूर्ण कृदन्त के मेल से (मारे डालता है)

7. संज्ञा अथवा विशेषण के योग से (नाश करना, ग्रहण करना, संपादन करना, स्वस्थ होना, स्वीकृत होना आदि)

8. समानप्राय क्रियाओं की पुनरुक्तियों से (मिल-जुलकर, देखा-भाला)

कभी-कभी तीन-चार सहायक क्रियाओं के मेल संयुक्त क्रिया बनती है, जैसे कर लेना चाहिए था, उठ-बैठना चाहता है। अतः इन संयुक्त क्रियाओं के सही प्रयोग का अभ्यास आवश्यक है।

(v) संरचनात्मक अथवा सांस्थानिक शब्दों का ज्ञान और प्रयोग—वाक्य-रचना की दृष्टि से शब्दों के दो भेद किये जाते हैं—विषय बोधक शब्द (content words) तथा सांस्थानिक अथवा संरचनात्मक शब्द (structural words)।

विषय बोधक शब्द किसी वस्तु या विचार का बोधक होता है। वह किसी न किसी तथ्य का प्रतीक होता है और प्रसंगानुसार अर्थ-द्योतन करता है। नदी, वन, पर्वत, सज्जन, सत्य, अहिंसा आदि विषय बोधक शब्द कहे जायँगे क्योंकि ये किसी न किसी विषय का बोध कराते हैं।

संरचनात्मक शब्द वाक्य की रचना और गठन में सहायक होते हैं। पृथक् स्वतन्त्र रूप से इनका प्रयोग नहीं होता। इन्हीं की सहायता से वाक्यों के ढाँचे बनते है। विभक्तियाँ, क्रिया विशेषण, संयोजक आदि इसी प्रकार के शब्द हैं। में, पर, ऊपर, से, यदि, यद्यपि, कि, क्योंकि, जब, तब, सम्बन्ध में बारे में, अपितु, प्रत्युत, पश्चात्, अपेक्षा, मात्र, किन्तु, परन्तु, उत्तरोत्तर, कुछ, कभी, सा, ही, न, समान, केवल, इतना यत्र, तत्र, किंचित, यथा, तथापि, परस्पर, आपस में, कतिपय, आदि, इत्यादि शब्द संरचनात्मक शब्द है। वस्तुओं, भावों एवं विचारों के प्रतीक रूप विषय बोधक शब्द बालक प्रारम्भ से ही सीखते है और विद्यालय आने की अवस्था तक उनके पास ऐसे शब्दो की अच्छी पूँजी एकत्र हो जाती है, किन्तु संरचनात्मक शब्दों का परिचय यथावश्यक रूप में नहीं हो पाता। अतः माध्यमिक स्तर पर संरचनात्मक शब्दों का संकलन करके उनका यथोचित ज्ञान छात्रों को प्रदान किया जाय। वाक्य-रचना एवं रिक्तपूर्त्ति के अभ्यास द्वारा इन शब्दों का सही प्रयोग सिखाना लाभदायक होगा।

(vi) **मुहाविरों एवं लोकोक्तियों का परिचय**—बच्चों के शब्द-भण्डार वृद्धि में मुहाविरों एवं लोकोक्तियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुहाविरों से भावाभिव्यक्ति मे एक चमत्कार आ जाता है। "जब किसी शब्द या शब्द-समूह का साधारण अर्थ नहीं लिया जाता, बल्कि उसी से मिलता-जुलता कोई दूसरा अर्थ लिया जाता है", तब हम उसे मुहाविरा कहते हैं। वचन देना, दाँत खट्टे कर देना, बाल-बाल बचना, लोहे के चने चबाना, मुँह में पानी भर आना, हाथ फैलाना, हाथ बँटाना आदि के शाब्दिक अर्थ की जगह साकेतिक अर्थ ही उपयुक्त एवं महत्त्वपूर्ण है।

उपयुक्त मुहाविरों का चयन, संकलन और उनका शिक्षण आवश्यक है। मुहाविरो के सम्बन्ध में यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि उनके रूप में कोई हेर-फेर नहीं होता। उदाहरणत. 'फूलकर कुप्पा हो जाना' का प्रयोग किसी स्त्री के सम्बन्ध में करते समय यह नहीं कहा जायगा कि 'वह फूलकर कुप्पी हो गई'। सही प्रयोग यही होगा कि वह फूलकर कुप्पा हो गई।

अतः कथाओं से सम्बन्ध रखने वाले मुहाविरे बताते समय अन्तःकथाओं का भी परिचय दे देना चाहिए। भगीरथ प्रयत्न, रामराज्य, सुदामा के तंदुल, कर्ण सा दानी, भीष्म प्रतिज्ञा, कुम्भकर्णी निद्रा आदि का प्रयोग तत्सम्बन्धी अंतः कथाओ के ज्ञान से छात्रों के लिए सहज हो जायगा।

लोकोक्तियाँ अथवा कहावतें मुहाविरों से कुछ भिन्न है। "ऐसी बात जो अपना कथन पुष्ट या सबल करने के लिए या किसी को उपदेश देने के लिए, या कोई विषय साफ-साफ शब्दों में न कहकर आड़ से कहने के लिए कही जाय", लोकोक्ति या कहावत कही जाती है। लोकोक्तियो का वाच्यार्थ न लेकर उसका साकेतिक अर्थ लेते है। लोकोक्तियों के शब्दो में भी हेर-फेर नहीं होता। 'एक पंथ दो काज' को हम 'एक मार्ग दो काम' नहीं कह सकते। कहावतों के प्रयोग में ठीक प्रसंग का भी विशेष महत्त्व है, अन्यथा वह प्रयोग अशुद्ध हो जायगा। अतः लोकोक्तियों के भी उचित शिक्षण की आवश्यकता है।

(घ) **शब्दों के व्याकरणिक रूपों का परिचय**—शब्द की पूरी जानकारी वाक्य में ही होती है। वाक्य में प्रयुक्त होने पर शब्द पद कहलाता है। हिन्दी में पद के आठ भेद माने जाते हैं–संज्ञा, क्रिया, विशेषण, सर्वनाम, क्रियाविशेषण, सम्बन्ध-सूचक, समुच्चय बोधक, विस्मयादि बोधक।

सामान्य रूप से इन शब्द-भेदों से छात्रों को परिचित करा देना चाहिए, तभी वे इनका शुद्ध प्रयोग कर सकते हैं। पर इन शब्द-भेदों की परिभाषा रटाने की जगह इनका व्यावहारिक ज्ञान विशेष रूप से अपेक्षित है। इन शब्द-भेदो का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

1. वस्तुओं के नाम बताने वाले शब्द—संज्ञा
2. वस्तुओं के विषय मे विधान करने वाले शब्द–क्रिया
3. वस्तुओं की विशेषता बताने वाले शब्द–विशेषण
4. संज्ञा के बदले आने वाले शब्द–सर्वनाम

5. विधान करने वाले शब्दों (क्रिया) की विशेषता बताने वाले शब्द–क्रिया विशेषण
6. क्रिया से नामार्थक शब्दों का संबंध सूचित करने वाले शब्द–संबंध सूचक
7. दो शब्दों या वाक्यों को मिलाने वाले शब्द–समुच्चय बोधक
8. केवल मनोविकार सूचित करने वाले शब्द–विस्मयादि बोधक

व्याकरण-शिक्षण के प्रसंग में इनका उचित प्रयोग और अभ्यास करना चाहिए। वाक्य-प्रयोग में अर्थ-द्योतन के लिए शब्द के रूप में जो परिवर्तन होता है, उसे रूपान्तर कहते हैं। रूपान्तर की दृष्टि से शब्दों के दो भेद होते हैं—(1) विकारी, (2) अविकारी।

जिस शब्द के रूप में लिंग, वचन, कारक आदि के अनुसार विकार अर्थात् परिवर्तन होता है, उसे विकारी कहते है। संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया शब्द विकारी शब्द है।

जिस शब्द के रूप में कोई विकार नहीं होता, उसे अविकारी शब्द या अव्यय कहते हैं। क्रिया विशेपण, सम्वन्ध-सूचक समुच्चय वोधक और विस्मयादि-वोधक शब्द अविकारी शब्द है, जैसे—पर, अचानक, विना, वहुधा, प्रायः, इधर, यथा, प्रति आदि।

विकारी शब्दों का प्रयोग इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि उनमें लिंग, वचन एवं विभक्ति के कारण रूपांतर हो जाता है और उनके प्रयोग में छात्र त्रुटियाँ कर देते है। अतः इन त्रुटियों से वचने के लिए रूपांतर संवंधी नियमों एवं उदाहरणों का ज्ञान होना आवश्यक है। इस दृष्टि से निम्नांकित वातें उल्लेखनीय हैं—

(i) सर्वनामों में विभक्ति लगाने से होने वाले विकार (मुझे, मुझको, हमें, हमको, उसे, उसको, उन्हें, उनको, तुम्हे, तुमको, मेरा, मेरी, मेरे, हमारा, हमारी, हमारे, तुम्हारा, तुम्हारी, तुम्हारे, उसका, उसकी, उसके, उनका, उनकी, उनके, मैने, हमने, तुमने, उसने, उन्होंने आदि।

(ii) संज्ञा शब्दो में वचन, लिंग एवं विभक्ति के कारण होने वाले विकार। वाक्य-प्रयोग में इनकी सवसे अधिक आवश्यकता पड़ती है। अतः इनके सभी रूपों का अभ्यास कराना चाहिए। व्याकरण की पुस्तक से वचन, लिंग एवं विभक्ति संवंधी प्रकरण इस दृष्टि से विशेप रूप से पढे जायँ।

(iii) विशेष्य के लिंग, वचन और विभक्ति संवंधी विकार के कारण विशे-पण में रूपांतर; जैसे काला घोड़ा, काली घोड़ी, काले घोड़े आदि।

(iv) संज्ञा से विशेपण, विशेपण से संज्ञा, जातिवाचक संज्ञा से भाववाचक संज्ञा वनाने के अभ्यास।

(v) क्रियाओं में लिंग, वचन, काल एवं अर्थानुसार होने वाले विकार।

इस प्रकार विकारी शब्दो के इन विविध रूपांतरों के संवंध मे छात्रो को स्पष्ट ज्ञान करा देना चाहिए। वाक्य-रचना के विविध अभ्यास द्वारा भी विकारी एवं अविकारी शब्दों के प्रयोग से वालकों को भली-भाँति परिचित कर देना चाहिए।

(ङ) विदेशी भाषाओं से आए हुए प्रचलित शब्दों का परिचय :

यह लिखा जा चुका है कि हिन्दी में अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के अनेक शब्द घुल-मिल गये है और उनका प्रयोग सामान्य प्रचलित भाषा में होने लगा है। अतः ऐसे शब्दों का ठीक ज्ञान छात्रों को अवश्य होना चाहिए। यह भी उन्हें स्पष्ट कर देना चाहिए कि इनका प्रयोग और रूपांतर हिन्दी भाषा की प्रकृति एवं व्याकरण के अनुसार ही होना चाहिए। स्टेशन और टिकट का बहुवचन स्टेशनों, टिकटों ही होगा, स्टेशन्स और टिकट्स नहीं।

विदेशी भाषाओं से लिए हुए शब्दों की सूची हिन्दी भाषा के इतिहास की अनेक पुस्तकों में दी हुई है। उनमें से अति प्रचलित शब्दों की सूची तैयार कर लेनी चाहिए और उनसे छात्रों को अवगत करा देना चाहिए। उर्दू शब्दों के प्रयोग में क़, ख़, ग़, ज़, फ़ आदि ध्वनियों के कारण उन शब्दो के बोलने और लिखने में बड़ी त्रुटियाँ होती हैं। अतः उनका शुद्ध परिचय और अभ्यास अपेक्षित है।

(2) मौखिक एवं लिखित रचना के समय शब्द-शिक्षण

पाठ्यपुस्तक एवं व्याकरण-शिक्षण के समय जिन शब्दों का ज्ञान कराया जाता है उनके उचित प्रयोग एवं अभ्यास का अवसर मौखिक एवं लिखित रचना के शिक्षण में मिलता है और शिक्षक को उसका उपयोग अवश्य करना चाहिए। इस दृष्टि से निम्नांकित युक्तियाँ कारगर सिद्ध होती हैं—

(i) दी हुई शब्द-सूची के आधार पर बोलने या लिखने का कार्य।

(ii) किसी प्रसंग में उपयुक्त एवं अनुपयुक्त शब्दों की पहिचान और उपयुक्त शब्दों को छाँटकर उन्हीं का प्रयोग करना।

(iii) कथन का रूपांतर; जैसे, एक वचन में प्रस्तुत कथन को बहुवचन में, अन्य पुरुष से उत्तम पुरुष के रूप में, पुल्लिग से स्त्रीलिंग के रूप में।

(iv) रिक्तपूर्ति कराना। रिक्तपूर्ति पृथक्-पृथक् वाक्यों में तथा पूरे किसी वर्णन में करायी जा सकती है।

(v) विशिष्ट प्रकरणों का चयन और उन पर बोलने एवं लिखने का कार्य। ऐसे प्रकरणों में विशिष्ट प्रकार के शब्दों का प्रयोग अपेक्षित होना चाहिए; जैसे, सांस्कृतिक, शैक्षिक, वैज्ञानिक शब्दावली का प्रयोग।

(3) विविध प्रकार के साहित्यिक कार्यक्रमों का आयोजन

शब्दों के प्रयोग एवं अभ्यास की दृष्टि से बालकों को वादविवाद, भाषण, विचारगोष्ठियों एवं अन्य मौखिक और लिखित प्रतियोगिताओं में भाग लेने का अवसर प्रदान करना चाहिए। इन कार्यक्रमों के आयोजनों तथा छात्रों द्वारा उनमें भाग लेने से उनकी सक्रिय शब्दावली का भण्डार संवृद्ध होता है।

छात्रों को उपयुक्त गद्यांश एवं कविताएँ कण्ठस्थ करने तथा उनके सुपाठ के लिए भी प्रेरित करना चाहिए क्योंकि इस कण्ठस्थ सामग्री की शब्दावली अपने-

आप बालक की अपनी भाषा में घुल-मिल जाती है और वह उनका प्रयोग स्वाभाविक रूप में करने लगता है।

शब्द-शिक्षण की दृष्टि से ध्यातव्य कुछ सामान्य बातें

बालकों के शब्द-ज्ञान की दृष्टि से निम्नांकित बातें भी ध्यान देने योग्य हैं–

(i) बालकों को स्वाध्याय के लिए प्रोत्साहित करना—अधिक से अधिक पढ़ना शब्द-भण्डार बढाने का सर्वोत्तम साधन है। बालक जितना ही अधिक पढ़ता है, उसका शब्दज्ञान अनायास बढता जाता है। अतः स्वाध्याय के लिए बालकों में रुचि उत्पन्न करना भाषा-शिक्षक का विशेष उत्तरदायित्व है। पाठ्यपुस्तक के अतिरिक्त सहायक पुस्तकें, समाचारपत्र-पत्रिकाएँ, तथा अन्य विविध विषयक पुस्तकों के पढने के लिए छात्रों को प्रोत्साहित करते रहना चाहिए। शिक्षक को समय-समय पर ऐसी पुस्तको का नाम भी बताना चाहिए जिसे बालक पढ़ें। कभी-कभी रोचक एवं ज्ञानवर्द्धक पुस्तकों तथा पत्रिकाओं से अच्छे अवतरण भी सुनाने चाहिए।

(ii) शिक्षक का आदर्श—अधिकाधिक पठन के अतिरिक्त कक्षा में बालकों को साहित्यिक शब्दावली युक्त भाषा सुनने का अवसर मिलना चाहिए। इस दृष्टि से शिक्षक का आदर्श-उसका भाषण, वार्तालाप, व्याख्या आदि–बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। शिक्षक को कक्षा में ऐसी भाषा का और उसमें ऐसे चुने हुए शब्दो का प्रयोग करना चाहिए कि उनका अनुकरण करने में बालक प्रसन्नता का अनुभव करें और शिक्षक द्वारा प्रयुक्त अच्छे शब्दों को हृदयस्थ करने के लिए सदा उत्कण्ठित रहें।

(iii) अनुकरण एवं अभ्यास का अवसर—छात्रों को पढ़ी हुई एवं सुनी हुई सामग्री को अच्छी भाषा में व्यक्त करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए अन्यथा नए शब्द केवल बोधमात्र के शब्द रह जाते हैं और उनके प्रयोग की क्षमता नहीं प्राप्त हो पाती। अतः बोलने एवं लिखने का अधिकाधिक अवसर दिया जाय और ऐसा करते समय उपयुक्त शब्दावली के प्रयोग पर बल दिया जाय।

(iv) शब्द संग्रह की प्रवृत्ति पैदा करना—छात्रों को उपयुक्त शब्दो के चयन और संकलन के लिए भी प्रोत्साहित करना चाहिए। इस दृष्टि से निम्नाकित बातें उल्लेखनीय है—

(क) सामान्य शब्द-सूची। विविध विषयों के सामान्य परिचय की दृष्टि से।

(ख) विशिष्ट शब्द-सूची–सूक्ष्म भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से शब्द-सूची–संस्कृति, धर्म, दर्शन, एवं प्राविधिक विषयों से सबंधित शब्द। विशिष्ट अवसरों–उत्सव, पर्व, स्वागत, विदाई, संवेदना, बधाई, संबोधन, शिष्टाचार संबंधी शब्द; भाषण, व्याख्यान आदि के समय औपचारिक रीति-निर्वाह संबंधी शब्द। आलंकारिक एवं उपयुक्त विशेषणों की सूची।

(ग) संरचनात्मक शब्दों की सूची

(घ) शब्द-निर्माण संबधी सूची—उपसर्ग, प्रत्यय, संधि, समास वाले शब्दों की सूची; समानार्थी एवं विलोम, ध्वनिसाम्य वाले शब्द, मिलते-जुलते अर्थ वाले शब्द (अन्वेषण, अनुसंधान, आविष्कार, गवेषणा; ईर्ष्या, द्वेष; प्रतिशोध, प्रतिकार आदि), एक धातु से बने शब्दों (आहार, विहार, प्रहार, संहार, परिहार आदि) की सूची आदि। ऐसे शब्दों की सूची जिनके प्रारम्भ में अव्यय प्रयुक्त होता है; जैसे यथाविधि, यथावश्यक, यथोचित, यथाप्रसंग, यथासाध्य, यथासंभव, यथायोग्य आदि सर्व से सर्वजन, सर्वसुलभ, सर्वदेशीय, सर्वमान्य, सर्वसामान्य आदि।

सारांश

शब्द वह ध्वनि है जिससे व्यवहार या लोक में पदार्थ की प्रतीति हो। प्रयोग एवं अर्थ दोनों दृष्टियो से भाषा की लघुतम इकाई शब्द है। भाषा के निर्माणक तत्त्वों में शब्द का स्थान महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वाक्य और अनुच्छेद का अस्तित्व शब्द पर ही है। शब्द ही भावो, विचारों का प्रतीक है अतः हमारा भावात्मक एवं बौद्धिक विकास शब्दों के विकास से संपृक्त है। भावाभिव्यक्ति की क्षमता उपयुक्त शब्दावली पर ही निर्भर है।

हिन्दी शब्द-समूह को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—(i) भारतीय आर्यभाषाओ से आए हुए शब्द (तत्सम, तद्भव आदि), (ii) भारतीय अनार्य भाषाओ से आये हुए शब्द, (iii) विदेशी भाषाओं के शब्द।

रूप-रचना की दृष्टि से हिन्दी शब्द-समूह का विभाजन–मौलिक, यौगिक, योगरूढ़ि, समास।

माध्यमिक स्तर पर शब्द-शिक्षण के उद्देश्य–नए शब्दों का ज्ञान तथा उनके प्रयोग की क्षमता प्रदान करना।

शब्द-शिक्षण के विविध अवसर—(1) पाठ्यपुस्तक-शिक्षण के समय (2) मौखिक एवं लिखित रचना के समय (3) विविध साहित्यिक कार्यक्रम।

पाठ्यपुस्तक-शिक्षण के समय शब्द-ज्ञान की युक्तियाँ—1–अर्थबोध द्वारा (पर्यायवाची, वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ, अनेकार्थी शब्दो का ज्ञान, विलोमार्थी शब्द, प्रतीकात्मक शब्द, पारिभाषिक एवं व्याख्या सापेक्ष शब्द, रूढार्थी शब्द, कवि-विषय, शब्द में अर्थ-परिवर्तन–अर्थविस्तार, अर्थसंकोच, अर्थोत्कर्ष, अर्थापकर्ष, वाक्य प्रयोग) 2–शब्द निर्माण द्वारा (उपसर्ग, प्रत्यय, समास, सधि) 3–विशिष्ट शब्द-प्रयोगों का परिचय-युग्म शब्द, श्रुतिसम भिन्नार्थक शब्द, उपयुक्त विशेषण, संयुक्त क्रियाएँ, संरचनात्मक शब्द, मुहाविरे एवं लोकोक्तियों का प्रयोग 4–शब्दो के व्याकरणिक रूपो का परिचय 5–विदेशी भाषाओं से आए हुए शब्द।

(2) मौखिक एवं लिखित रचना के समय शब्द ज्ञान एवं प्रयोग संबंधी अभ्यास।

(3) विविध प्रकार के साहित्यिक कार्यक्रमों का आयोजन।

शब्द-शिक्षण की दृष्टि से ध्यातव्य कुछ सामान्य बातें—स्वाध्याय के लिए प्रोत्साहित करना, शिक्षक का आदर्श, अनुकरण एवं अभ्यास का अवसर, शब्द संग्रह की प्रवृत्ति विकसित करना।

प्रश्न

1. भाषा के निर्माणक तत्त्व की दृष्टि से शब्द का क्या महत्त्व है ?
2. शब्द-शिक्षण का स्थान और महत्त्व निर्धारित कीजिए।
3. शब्द और अर्थ का क्या संबंध है ? शब्द में अर्थ-परिवर्तन के रूप और दिशाओं का उल्लेख कीजिए।
4. हिन्दी शब्द-समूह के विभिन्न स्रोतों का उल्लेख कीजिए।
5. रूप-रचना की दृष्टि से हिन्दी शब्द-समूह को किन श्रेणियों में विभक्त किया गया है ?
6. पाठ्यपुस्तक-शिक्षण के समय शब्दज्ञान कराने की विभिन्न युक्तियों पर प्रकाश डालिए।
7. कक्षा में शब्दार्थ-बोध के विभिन्न रूपों का उल्लेख कीजिए।
8. शब्द के व्याकरणिक रूपों के परिचय में आप किन-किन बातों का ध्यान रखेंगे ?
9. हिन्दी शब्द-निर्माण के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख कीजिए।
10. दस उपसर्गों का उल्लेख कीजिए और प्रत्येक से शब्द-निर्माण के पाँच-पाँच उदाहरण दीजिए।
11. दस प्रत्ययों द्वारा शब्द-निर्माण (प्रत्येक के पाँच-पाँच) के उदाहरण दीजिए।
12. उपसर्ग के प्रयोग से शब्द के रूप में किस प्रकार के परिवर्तन होते हैं, सोदाहरण समझाइए।
13. पाठ्यपुस्तक-शिक्षण के अतिरिक्त शब्द-शिक्षण के अन्य अवसरों एवं उपायों का उल्लेख कीजिए।
14. शब्द-शिक्षण में सामान्य रूप से किन बातों का ध्यान रखना चाहिए।

9
हिन्दी वाक्य-रचना शिक्षण

[वाक्य रचना-शिक्षण का महत्व, वाक्य की परिभाषा, वाक्य रचना-शिक्षण की उपेक्षा, वाक्य-शिक्षण के उद्देश्य, हिन्दी वाक्य गठन—उद्देश्य, विधेय; अन्वय, अधिकार, क्रम; कर्त्ता और क्रिया का अन्वय, कर्म और क्रिया का अन्वय, संज्ञा और सर्वनाम का अन्वय, विशेष्य और विशेषण का अन्वय, पदक्रम—व्याकरणीय पदक्रम, बल के लिए विशेष पदक्रम; अध्याहार, वाक्य के प्रकार—साधारण, मिश्र, संयुक्त; वाक्य रचना सम्बन्धी दोष, वाक्य रचना-शिक्षण के अवसर एवं शिक्षण प्रक्रिया; विराम चिह्न ।]

"अंग्रेजी आदि की तरह हिन्दी और संस्कृत में पदों का विन्यास-क्रम नियमों की बेड़ियों से ऐसा जकड़ा हुआ नहीं है कि हिल-डुल न सके ! यहाँ तो भाषा का स्वरूप ही ऐसा है कि पद-प्रयोग में अक्रम होने पर भी साधारणतः अर्थबोध में कोई गड़बड़ी नहीं पड़ती । जहाँ पदक्रम की अनिवार्य व्यवस्था है, वही विशेष ध्यान देना पड़ता है ।.......हमारे कहने का मतलब यह नही है कि हिन्दी में पदों का प्रयोग अव्यवस्थित है । व्यवस्था तो बड़ी सुन्दर है; परन्तु जटिल नही है । पदों का जो साधारण क्रम रहता है, कविता आदि में वह इधर-उधर हो जाए, तो भी अन्वय-बोध में कठिनाई नहीं होती; इसका मतलब ! हाँ; यदि कोई बिल्कुल ही अंट-संट लिखे, तब तो बात ही दूसरी है ? तब भाषा का नही, प्रयोक्ता का दोष समझिए[1] ।"

—किशोरीदास वाजपेयी

वाक्य रचना-शिक्षण का महत्व—भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से भाषा की न्यूनतम इकाई वाक्य है । यद्यपि कभी-कभी भाव प्रकट करने के लिए शब्द, शब्द-समूह अथवा वाक्यांश भी प्रयुक्त होते है, किन्तु यह प्रयोग लाघवता के कारण सांकेतिक रूप में होता है और उस कथन में पूरा वाक्य अन्तर्भूत मान लिया जाता है । छोटा बच्चा जब 'पानी' या 'रोटी' कहता है तो ये शब्द स्वयं में वाक्य हैं और

1. हिन्दी शब्दानुशासन, वाक्यगठन, पृ० 330 ।

बड़े लोग उसका आशय समझ लेते हैं कि उसे प्यास या भूख लगी है और वह पानी या रोटी माँग रहा है। बच्चा परिपक्व होने पर पूरा वाक्य बोलने लगता है। एक या दो शब्द वाले अधूरे या सांकेतिक वाक्य प्रायः मौखिक ही हुआ करते हैं। लिखित रूप में ऐसे प्रयोग अशुद्ध या अपूर्ण माने जाते हैं। स्पष्ट अर्थ एवं अभिव्यक्ति की दृष्टि से पूर्ण एवं शुद्ध वाक्य ही वांछित माना जाता है। शब्द मात्र अभिप्रेक्ष्य मे ही समझना पड़ता है, अन्यथा वे अपना अभीष्ट अर्थ नही दे सकते। बड़े होने पर भी हम बातचीत मे पूरे वाक्य की जगह एक या दो शब्द से काम चला पर वे एक या दो शब्द पूरे वाक्य का प्रतिनिधित्व करते है। 'क्या तुम स्टेशन जा रहे हो ?' के उत्तर में बालक 'जी', 'जी हाँ', 'जी नहीं' उत्तर देता है, पर ये शब्द अपने में पूरे वाक्य के स्थानापन्न हैं। वाक्य के अन्य शब्द अनुच्चरित रह गये हैं किन्तु वे सहज ही अनुमित हो जाते हैं। अतः व्यावहारिक दृष्टि से भाषा की इकाई वाक्य ही है। अतः प्रारम्भिक शैक्षणिक स्तर से ही भाषा शिक्षण के द्वारा बालको मे ऐसी आदत डालनी चाहिए कि वे सर्वदा पूर्ण वाक्यों मे ही अपने विचार प्रकट करें।

भावों एवं विचारो की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है कि भाषा सरल, शुद्ध, स्पष्ट एवं सक्षिप्त हो। पर भाषा की यह योग्यता वाक्य-रचना के सही ज्ञान पर ही आधारित है। अतः भाषा-शिक्षण में यथाप्रसंग इस बात पर सदा बल देना चाहिए कि बालक शुद्ध वाक्य-रचना का निरंतर अभ्यास करते रहें।

वाक्य की परिभाषा तथा उसकी गठनात्मक विशेषताएँ—वाक्य-रचना का तात्पर्य है—भावों एव विचारों के अनुरूप उपयुक्त शब्दो का चयन और फिर अर्थ का ध्यान रखते हुए वाक्य में उन शब्दों का उपयुक्त क्रम और सजावट। उपयुक्त शब्द-योजना तथा उनके उपयुक्त क्रम के अभाव मे वाक्य का सही अर्थ कभी भी स्पष्ट नहीं हो सकता। अतः "एक पूर्ण विचार व्यक्त करने वाला शब्द-समूह वाक्य कहलाता है।"[2] "वाक्य विशिष्ट क्रम से सजाए हुए ऐसे सार्थक शब्दो का समूह है, जिनमें परस्पर योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति हो।" इस परिभाषा से वाक्य-गठन सम्बन्धी विशेषताएँ भी प्रकट होती है। ये विशेषताएँ निम्नांकित है—

1. **योग्यता**—पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध-स्थापन में अड़चन का न होना योग्यता है। जैसे, 'वह आग से सींचता है' वाक्य में आग और सींचना परस्पर अनुपपन्न हैं। अतः यह वाक्य योग्यता-हीन है। योग्यता की दृष्टि से शुद्ध वाक्य होगा—'वह आग से जल रहा है।' या 'वह पानी से सींचता है।'

2. **आकांक्षा**—वाक्यार्थ की पूर्ति के लिए अन्य पदो की अपेक्षा या जिज्ञासा का बना रहना आकांक्षा है। परस्पर असंबद्ध शब्द-समूह, जैसे, 'भूमि शय्या हरि-

---

2. कामता प्रसाद गुरु–हिन्दी व्याकरण, पृ० 55।

याली वन मीरा भजन विष भोजन,' से अर्थ-बोध नहीं होगा क्योंकि ये शब्द परस्पर अन्वय योग्यता से रहित है। अतः इस वाक्य में आकांक्षा का अभाव माना जायगा।

3. **आसत्ति**—एक शब्द के बाद दूसरे शब्द का ऐसा समकालिक प्रयोग जिससे सम्बद्ध ज्ञान बना रहे। जैसे, 'पानी……(एक लम्बे व्यवधान के बाद) लाओ। यहाँ 'पानी लाओ' ऐसी अन्विति नहीं हो सकती, अतः आसक्ति–समीपता– का अभाव है।

अतः योग्यता (पदार्थों का स्वाभाविक सम्बन्ध-स्थापन), आकांक्षा (संबद्ध शब्द-योजना) और आसत्ति (संबद्ध पदो का पास-पास रहना) के पारस्परिक सहयोग योग से ही वाक्य का अर्थ निष्पन्न होता है।

भाषा-शिक्षण में वाक्य रचना-शिक्षण की उपेक्षा—भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से वाक्य का इतना महत्त्व होने पर भी हिन्दी भाषा-शिक्षण में वाक्य-रचना-शिक्षण की उपेक्षा कर देते है। कदाचित इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि हिन्दी हमारी मातृभाषा है और बालक विद्यालय मे प्रवेश लेने के पहले से ही वाक्यों का प्रयोग एवं व्यवहार करने लगता है। वह वाक्य-रचना सम्बन्धी व्याकरण के नियमो को नही जानता, पर अनुकरण, प्रयोग एवं अभ्यास द्वारा वाक्यों द्वारा अपने भाव एवं विचार व्यक्त करने लगता है। उसके वाक्य-प्रयोग शुद्ध एवं अशुद्ध दोनों प्रकार के होते है जो बहुत कुछ बालक के पारिवारिक एवं सामाजिक वातावरण पर निर्भर है।

सामान्यतः प्रारम्भिक स्तर पर अशुद्ध वाक्य-प्रयोग के निम्नांकित कारण हैं—

(i) अशिक्षित एवं ग्रामीण क्षेत्रों से आने वाले बालकों की वाक्य रचना में प्रायः अशुद्धियाँ पायी जाती है क्योकि वे अपने परिवार तथा परिवेश में बोली जाने वाली भाषा का ही व्यवहार करते हैं और शुद्ध हिन्दी वाक्य-रचना से अनभिज्ञ रहने के कारण अशुद्धियाँ करते है।

(ii) अंग्रेजी भाषी परिवार के बालक (अंग्रेजी भाषी का तात्पर्य यह नहीं है कि उनकी मातृभाषा अंग्रेजी है बल्कि मातृभाषा हिन्दी रहते हुए भी घर में अंग्रेजी का वातावरण है और प्रारम्भिक स्तर पर बच्चे की शिक्षा अग्रेजी माध्यम वाले स्कूलों में ही होती है।) अंग्रेजी शब्दावली हिन्दी वाक्यों मे अनावश्यक रूप से प्रयुक्त करते रहते है और अंग्रेजी वाक्यों के ढाँचे पर अनुकृत ऐसे हिन्दी वाक्यों का प्रयोग करते है जो हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुकूल नही होते।

(iii) अहिन्दी भाषी (जिनके घरों में बँगला, पंजाबी, सिन्धी आदि कोई भारतीय भाषा बोली जाती है, पर वे हिन्दी भाषी क्षेत्र मे स्थायी रूप से निवसित है) बालकों द्वारा प्रयुक्त हिन्दी वाक्यों में जो अशुद्धियाँ होती हैं,

वे बहुत कुछ उनकी भाषा का वाक्य-रचना के अनुकरण और प्रभाव के कारण होती हैं।

इन तीनों स्थितियों का प्रभाव हिन्दी वाक्य-रचना में परिलक्षित होता है। इस कारण आज हिन्दी भाषा-शिक्षक का उत्तरदायित्व और भी बढ़ गया है। प्राथमिक स्तर पर ही इन दोषों का निराकरण हो जाना चाहिए और बालकों को शुद्ध वाक्य-रचना का ज्ञान और उनके प्रयोग की क्षमता प्राप्त हो जानी चाहिए। प्राथमिक स्तर इस दृष्टि से और भी उपयुक्त है क्योंकि उस समय अशुद्ध वाक्यों का संशोधन तथा नये सिरे से शुद्ध वाक्य-रचना की आदत डालना सरल होता है। पर एक बार अशुद्ध वाक्य-रचना की आदत पक्की हो जाने पर उसे दूर करना कठिन हो जाता है। माध्यमिक स्तर के शिक्षक को यही कठिन कार्य करना होता है।

वाक्य-शिक्षण के उद्देश्य—शुद्ध हिन्दी वाक्य-रचना का ज्ञान प्राप्त करना एवं उचित प्रयोगों की योग्यता प्राप्त करना।

वाक्य-रचना सम्बन्धी अवयव एवं तत्त्व	अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्तन
(i) रचना की दृष्टि से वाक्य के अवयव—उद्देश्य एव विधेय; उद्देश्य विस्तार, विधेय-विस्तार (कर्म विस्तार, पूरक विस्तार एवं क्रिया विस्तार)	(i) विद्यार्थी इन्हें पहचान सकेगा। (ii) वह इनका प्रत्यभिज्ञान कर सकेगा। (iii) वह इनके अशुद्ध रूपों में त्रुटियाँ पकड़ सकेगा और उन्हें शुद्ध कर सकेगा।
(ii) वाक्य में शब्दो का परस्पर संबंध—अन्वय (कर्त्ता-क्रिया, कर्म-क्रिया, संज्ञा-सर्वनाम विशेष्य-विशेषण आदि के परस्पर अन्वय), अधिकार (कारक), पद-क्रम—व्याकरणिक पदक्रम (कर्त्ता, कर्म, क्रिया तथा इनके विस्तार का स्थान), बल के लिए विशेष पदक्रम, अध्याहार	(iv) वह इनके उदाहरण दे सकेगा। (v) वह इनकी तुलना कर सकेगा। (vi) वह इनमें परस्पर अंतर कर सकेगा। (vii) वह इनका परस्पर संबंध बता सकेगा। (viii) वह इनका विश्लेषण कर सकेगा। (ix) वह इनका संश्लेषण कर सकेगा। (x) वह इनका वर्गीकरण कर सकेगा।
(iii) अर्थ की दृष्टि से विविध प्रकार के वाक्य	(xi) लिंग, वचन, विभक्ति आदि के विकार के कारण वाक्य रचना में परिवर्तन कर सकेगा।
(iv) रचना की दृष्टि से वाक्य के प्रकार—साधारण, भिन्न, संयुक्त, भिन्न प्रकार के उपवाक्य	(xii) बोलने तथा लिखने में शुद्ध वाक्य का ही प्रयोग करेगा।
(v) विराम चिह्न	(xiii) विराम चिह्नों का उचित प्रयोग कर सकेगा।

हिन्दी वाक्य गठन

वाक्य-शिक्षण के लिए यह आवश्यक है कि बालकों को वाक्य-गठन की सामान्य बातों से भलीभाँति परिचित करा दिया जाय।

अर्थ अथवा भाव-द्योतन की दृष्टि से वाक्य आठ प्रकार के होते हैं[3]—

1. विधानार्थक—जिससे किसी बात का होना पाया जाय, जैसे, मनुष्य विवेकशील प्राणी है। भारत की जनसंख्या पचपन करोड़ है।

2. निषेधवाचक—जो किसी विषय का अभाव सूचित करता है; जैसे, वह भोजन नही करेगा। इस निर्जन वन में जानवर भी नही रहते।

3. आज्ञार्थक—जिस वाक्य से आज्ञा, विनती या उपदेश का अर्थ सूचित होता है; जैसे, सदा सत्य बोलो, तुम खेलने मत जाना।

4. प्रश्नार्थक—जिससे प्रश्न का बोध होता है; जैसे, यह काम कैसे होगा? तुमने यह पुस्तक क्यों नही पढ़ी?

5. विश्मयादि बोधक—जिससे आश्चर्य, विस्मय का बोध होता है; जैसे, वह कैसा मूर्ख है? एँ! घंटा बज गया।

6. इच्छा बोधक—जिससे इच्छा या आशीर्वाद सूचित हो; जैसे, ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे। तुम्हारी बढती हो।

7. संदेह सूचक—जिससे संदेह या सम्भावना प्रकट हो; जैसे, शायद आज पानी बरसे, यह काम उस लड़के ने किया होगा।

8. शर्त बोधक—जिससे संकेत, या शर्त का बोध हो; जैसे, आप की आज्ञा हो तो मै वहाँ जाउँ। तुम परिश्रम करते तो परीक्षा मे उत्तीर्ण हो जाते।

रचना की दृष्टि से वाक्य के मुख्य दो अवयव होते है—(1) उद्देश्य (2) विधेय

उद्देश्य—जिस वस्तु के विपय में कुछ कहा जाता है, उसे सूचित करने वाले शब्दों को उद्देश्य कहते है; जैसे, घोड़ा दौड़ रहा है, राम ने रावण को मारा; इन वाक्यों में घोड़ा और राम ने उद्देश्य है क्योकि इनके विषय मे कुछ कहा गया है।

विधेय—उद्देश्य के विपय में जो विधान किया जाता है, उसे सूचित करने वाले शब्दों को विधेय कहते है; जैसे, उपर्युक्त वाक्यो में 'घोड़ा' और 'राम ने' उद्देश्यो के विषय में क्रमशः 'दौड़ रहा है' और 'रावण को मारा' विधान किए गए है; इसलिए इन्हें विधेय कहते है।

उद्देश्य के रूप में **संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण क्रियाविशेषण, वाक्यांश और संज्ञा स्थानापन्न** शब्द प्रयुक्त होते है; जैसे

संज्ञा—घोड़ा एक बुद्धिमान पशु है।

---

3. कामता प्रसाद गुरु—हिन्दी व्याकरण, पृ० 421–22।

सर्वनाम—मैं उनका ऋणी हूँ।

विशेषण—विद्वान् सर्वत्र पूजा जाता है।

क्रियाविशेषण—गांधी जी का अन्तर्बाह्य निर्मल था।

वाक्यांश—भाग्य भरोसे बैठे रहना आलसियों का काम है।

क्रियार्थक संज्ञा—पढ़ना ज्ञानवर्द्धन का सबसे बड़ा साधन है।

भाववाच्य में उद्देश्य प्रायः क्रिया ही में सम्मिलत रहता है; जैसे, मुझसे चला नहीं जाता, लड़के से बोलते नहीं बनता; वाक्यों में चलना और बोलना उद्देश्य क्रिया ही के अर्थ में मिले हुए है।

उद्देश्य का विस्तार—उद्देश्य की विशेपता वतलाने वाले शब्द या शब्द-समूह को उद्देश्य का विस्तार कहते हैं। **सत्य और अहिंसा के प्रतीक विश्ववंद्य** बापू भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम के एकछत्र नेता थे। इस वाक्य में बापू के पहले का शब्द समूह उद्देश्य (बापू) का विस्तार है।

उद्देश्य का विस्तार **विशेषण, संबंध, समानाधिकरण** एवं **वाक्यांश** द्वारा होता है।

विशेपण—वेगवती सरिता का जल स्वच्छ होता है।

संबंध—भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन् एक महान् दार्शनिक हैं।

समानाधिकरण—मुख्यमंत्री पं० कमलापति त्रिपाठी ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा के वार्षिक अधिवेशन का उदघाटन किया।

वाक्यांश द्वारा—भूमिहीन कृषकों की दीन-दशा से चिंतित आचार्य विनोवा भावे ने 'भूदान' आन्दोलन प्रारम्भ किया।

क्रियाद्योतक—भागता चोर पकड़ा गया।

विधेय का विस्तार—विधेय की विशेपता वताने वाले शब्द विधेय का विस्तार कहलाते है। ये भी कई प्रकार से प्रयुक्त होते हैं—

1. सकर्मक क्रिया में कर्म के विशेपण—माली ने खूब बड़े-वड़े लाल-लाल गुलाब तोड़े।

2. **द्विकर्मक क्रिया के दोनों कर्म और उनके विशेषण**—उसने प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण राम को वड़ी अच्छी पुस्तक दी।

3. पूरक—भजन-कीर्त्तन में सभी आनन्दमग्न थे। (विशेपण)

4. राम धीरे-धीरे पढ़ता है। (क्रिया विशेपण)

5 क्रियाद्योतक—सभी हँसते-हँसते लोट-पोट हो गए।

6. पूर्वकालिक कृदन्त—मैं लेटकर पढ़ता हूँ।

7. तात्कालिक कृदन्त—वह गिरते ही अचेत हो गया।

8. क्रियाविशेपण वाक्यांश—वह सदा कुछ-न-कुछ करता ही रहता है।

इस प्रकार विधेय का विस्तार अनेक रूपों में प्रयुक्त हो सकता है और यथा प्रसंग छात्रों को इन प्रयोगों से परिचित कराते रहना चाहिए।

वाक्य-रचना—वाक्य में शब्दों का ठीक-ठीक सम्बन्ध जानने के लिए उनका एक दूसरे से अन्वय, एक दूसरे पर उनका अधिकार और उनका क्रम जानना आवश्यक होता है।

1. **अन्वय**—दो शब्दों में लिंग, वचन, पुरुष, कारण अथवा काल की जो समानता रहती है, उसे अन्वय कहते हैं; जैसे, छोटा बालक रोता है, छोटी बालिका हँसती है। इनमें 'छोटा' शब्द का 'बालक' शब्द से लिंग और वचन का अन्वय है, और 'रोता है' शब्द 'बालक' शब्द से लिंग, वचन और पुरुष में अन्वित है। इसी प्रकार 'छोटी' शब्द 'बालिका' शब्द से लिंग और वचन का अन्वय है, और 'हँसती है' शब्द 'बालिका' शब्द से लिंग, वचन और पुरुष में अन्वित है।

2. **अधिकार**—शब्दों के उस सम्बन्ध को कहते है जिसके कारण किसी एक शब्द के प्रयोग से दूसरी संज्ञा या सर्वनाम किसी विशेष कारक में आती है; जैसे, लड़का बंदर से डरता है, वाक्य में डरना क्रिया के योग से 'बंदर' शब्द अपादान कारक में आया है।

3. **क्रम**—शब्दों को, उनके अर्थ और संबंध की प्रधानता के अनुसार, वाक्य में यथा स्थान रखना क्रम कहलाता है। हिन्दी वाक्य में शब्दों का सामान्य क्रम है—कर्त्ता, कर्म, क्रिया।

हिन्दी वाक्य-रचना में अन्वय, अधिकार और क्रम का सही-सही ज्ञान न रहने के कारण अनेक भूलें होती हैं अतः इनके सम्बन्ध में भी छात्रों को परिचित करा देना चाहिए और उचित प्रयोग एवं अभ्यास द्वारा शुद्ध वाक्य-रचना की आदत छात्रों में सुदृढ़ कर देनी चाहिए। यहाँ इनके सम्बन्ध में कुछ सामान्य नियमों का उल्लेख किया जा रहा है—

(क) कर्त्ता और क्रिया का अन्वय—

(i) विभक्ति रहित (ने चिह्न रहित) कर्त्ता की क्रिया कर्त्ता के अनुसार (लिंग, वचन, पुरुष की दृष्टि से) होती है। उस पर कर्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। **राम पुस्तक पढ़ता है। सीता पुस्तक पढ़ती है।**

(ii) एक वचन कर्त्ता यदि आदरसूचक है तो क्रिया बहुवचन में प्रयुक्त होती है; **राम दशरथ के पुत्र थे। बुद्ध भगवान** करुणा के अवतार थे। **महात्मा गांधी** बहुत ही सादा जीवन **बिताते थे।**

(iii) एक ही लिंग, वचन तथा पुरुष के विभक्ति रहित कर्त्ता 'और' से जुड़े रहने पर क्रिया उसी लिंग में रहते हुए बहुवचन में प्रयुक्त होगी। राम और श्याम जा रहे है। सीता और गीता खा रही है।

(iv) विभक्ति रहित कर्त्ता यदि एक वचन में हैं पर भिन्न लिंग के हैं तो **क्रिया** पुल्लिग और बहुवचन में होगी। राजा-रानी आए। बाघ और बकरी एक घाट पानी **पीते हैं।**

वाक्य के आरम्भ में आते हैं; जैसे, यदि वह आयेगा तो भी मैं नहीं जाऊँगा, यद्यपि उसने बहुत परिश्रम किया तथापि कृतकार्य न हो सका।

(xvi) मिश्रित वाक्यों में **यदि** के साथ **तो**, **जब** के साथ **तब**, **जहाँ** के साथ **वहाँ**, **जिस** के साथ **उस**, **जहाँ-जहाँ** के साथ **वहाँ-वहाँ** आदि लिखना आवश्यक है।

(xvii) विस्मयादि बोधक और संशोधन कारक प्रायः वाक्य के आरम्भ में आते हैं; जैसे, अरे ! यह क्या हुआ ? मित्र ! तुम कहाँ थे ?

(xviii) ही, पर, भी, अपना, आप आदि शब्द हिन्दी की अपनी विशेषताएँ हैं। इनका प्रयोग बालकों को भलीभाँति सिखा देना चाहिए। इनके उचित प्रयोग से अर्थ में उत्कृष्टता आ जाती है। 'ऐसा साहस केवल सुभाष ही कर सकते थे।' उसने राम को जी भर कोसा। शिवधनुष रावण भी नहीं टाल सका। अपना-अपना काम सम्भालो। यह तो अपने आप हो जायगा।

(2) बल के लिए विशेष पदक्रम

अवधारण या बल के लिए हिन्दी वाक्य में पदक्रम में बहुत-कुछ अन्तर पड़ जाता है।

(i) कर्त्ता और कर्म का स्थानांतर–लड़के को मैंने नहीं देखा। पुस्तक कोई चुरा ले गया।

(ii) संप्रदान का स्थानांतर—वह यह पुस्तक राम के लिए लाया है।

(iii) क्रिया का स्थानांतर—मैने बुलाया राम को और आए तुम।

(iv) प्रश्नवाचक अव्यय 'क्या' प्रायः वाक्य के आदि में आता है; जैसे, क्या मोहन आ गया ? पर कभी बीच में और कभी अंत में भी आता है; जैसे, मोहन क्या आ गया ? मोहन आ गया क्या ?

(v) अव्यय का प्रयोग कर्त्ता के बाद और कर्म के पहले रखा जाता है; जैसे, तुम शीघ्र पत्र लिखना।

इस प्रकार बल देने के लिए कर्त्ता, कर्म, क्रिया, क्रियाविशेषण आदि के क्रम में अंतर पाया जाता है। पर इस अंतर को हिन्दी वाक्य रचना की अव्यवस्था न मानकर बल देने के लिए विशेष प्रयोग के रूप मे स्वीकार करना चाहिए। इस अंतर से अभीष्ट भावद्योतन में सहायता मिलती है।

अध्याहार

कभी-कभी वाक्य में संक्षिप्तता अथवा गरिमा लाने के लिए कुछ शब्द छोड़ दिए जाते हैं, पर वाक्य का अर्थ पूर्णतः सहज ही स्पष्ट रहता है। भाषा के इस व्यवहार को अध्याहार कहते हैं। जैसे, मैं तुम्हारी एक भी (   ) न सुनूँगा।

अध्याहार दो प्रकार का होता है—(1) पूर्ण (2) अपूर्ण।

1. पूर्ण अध्याहार में छोड़ा हुआ शब्द पहले कभी नही आता; जैसे, तुम्हारी और उसकी (   ) अच्छी निभेगी।

2. अपूर्ण अध्याहार में छोड़ा हुआ शब्द एक बार पहले आ चुकता है; जैसे राम पढ़ने में उतना तेज नहीं है जितना श्याम ( )। राम आया पर श्याम नहीं ( )।

पूर्ण अध्याहार के कतिपय उदाहरण नीचे लिखे जा रहे हैं—

(i) देखना, कहना और सुनना क्रियाओं के सामान्य, वर्तमान और आसन्न भूतकालों में कर्त्ता बहुधा लुप्त रहता है; जैसे, ( ) सुनते हैं कि वे आज आएँगे। ( ) देखते हैं कि मँहगाई दिन पर दिन बढ़ती जा रही है, आदि

(ii) विधि काल में कर्त्ता प्रायः लुप्त रहता है; जैसे, ( ) आइए, ( ) मत जाओ।

(iii) छोटे-छोटे प्रश्नवाचक तथा अन्य वाक्यों में जब कर्त्ता का अनुमान क्रिया के रूप से हो सकता है तब उसका लोप कर देते हैं; जैसे क्या ( ) वहाँ जा रहे हो ? हाँ, ( ) अभी जा रहा हूँ।

(iv) विशेषण अथवा सम्बन्ध कारक के पश्चात् 'बात', 'हल' संगति आदि अर्थ वाले विशेष्य का लोप रहता है; जैसे उनकी क्या ( ) कहानी है, सभी जानते हैं। उन चारों की ( ) अच्छी निभी।

(v) कभी-कभी स्वरूप बोधक समुच्चय बोधक का लोप विकल्प से होता है; जैसे, नौकर बोला ( ) साहब, आप से कोई मिलने आया है।

(vi) 'यदि' और यद्यपि तथा उनके नित्य संबंधी समुच्चय बोधकों का भी कभी-कभी लोप होता है; जैसे, ( ) आप बुरा न मानें तो एक बात कहूँ। ( ) उसने परिश्रम बहुत किया पर भाग्य ने साथ नहीं दिया।

अपूर्ण अध्याहार के कतिपय उदाहरण इस प्रकार है—

(i) एक वाक्य में कर्त्ता का उल्लेख कर दूसरे वाक्य में प्रायः उसका अध्याहार कर देते हैं; जैसे, चित्तौड़ के राणा बड़े स्वाभिमानी होते थे और ( ) किसी के सामने नहीं झुकते थे। आज राम और श्याम उस पहाड़ी पर गये और ( ) दिन भर वहीं रहे।

(ii) यदि अनेक विशेषणों का एक ही विशेष्य हो और उससे एकवचन का बोध हो, तो उसका एक ही बार उल्लेख होता है, जैसे काली, नीली और लाल स्याही। प्रत्येक विशेषण के साथ विशेष्य नहीं रखा जायगा।

(iii) यदि एक ही क्रिया का अन्वय कई उद्देश्यों के साथ हो, तो उसका उल्लेख केवल एक ही बार होता है; जैसे राजा, रानी और राजकुमार राजधानी को लौट आए।

(iv) प्रश्नार्थक वाक्य के उत्तर में प्रायः वही एक शब्द रखा जाता है जिसके विषय मे प्रश्न किया जाता है; जैसे यह पुस्तक किसकी है ? मेरी। 'यह मेरी पुस्तक है' की जगह केवल 'मेरी' से ही काम चल जाता है।

(v) प्रश्नवाचक अव्यय 'क्या' का प्रायः लोप रहता है; जैसे तुम जाओगे ? वे घर में है ?

अध्याहार सम्बन्धी इन उदाहरणों का तात्पर्य केवल यही है कि इस प्रकार के लोप हिन्दी वाक्य-रचना में अशुद्ध नही माने जाते और इस रूप मे ऐसे वाक्यों को शुद्ध मानकर छात्रों को बता देना चाहिए ।[1] अध्याहार के उदाहरण अनेक हिन्दी मुहाविरों के रूप में हम पाते है ।

वाक्य के प्रकार

रचना के अनुसार वाक्य तीन प्रकार के होते हैं–(1) साधारण (2) मिश्र (3) संयुक्त

(1) **साधारण वाक्य**—जिस वाक्य में एक उद्देश्य और एक विशेष होता है, उसे साधारण वाक्य कहते है । शिक्षक ने आज नहीं पढ़ाया, आज सायंकाल एक सार्वजनिक सभा होगी आदि साधारण वाक्य है ।

यदि विद्यार्थियो को यह अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया गया है कि हिन्दी वाक्य में पहले कर्त्ता, फिर कर्म और अन्त में क्रिया आती है तो इन साधारण वाक्यों की रचना में अशुद्धियो की सम्भावना नही है । बल देने के लिए इस क्रम में अन्तर किया जाता है तो उने अशुद्ध यही मानना चाहिए पर सामान्यतः पदक्रम का व्याकरणसम्मत रूप ही अपनाना चाहिए ।[2] कर्त्ता का विस्तार कर्त्ता के पहले, कर्म का विस्तार कर्म के पहले और क्रिया विश्लेपण क्रिया के पहले रखने के नियम का ही पालन करना चाहिए ।

(2) **मिश्र वाक्य**—ऐसे वाक्य में मुख्य विधेय के सिवा एक या अधिक समापिया क्रियाएँ रहती हैं, अर्थात् एक मुख्य उपवाक्य होता है और उसके आश्रित एक या अधिक उपवाक्य होते है ।

आश्रित उपवाक्य तीन प्रकार के होते हैं—संज्ञा उपवाक्य, विशेषण उपवाक्य और क्रिया विशेपण उपवाक्य ।

मुख्य उपवाक्य की किसी संज्ञा या संज्ञा वाक्यांश के बदले जो उपवाक्य आता है उसे संज्ञा उपवाक्य कहते हैं । मुख्य उपवाक्य की किसी संज्ञा की विशेपता बताने वाला वाक्य विशेपण उपवाक्य कहलाता है । मुख्य उपवाक्य की क्रिया की विशेपता बताने वाला उपवाक्य क्रिया विशेपण उपवाक्य कहलाता है ।

मिश्र वाक्यों की रचना में मुख्य उपवाक्य के साथ आश्रित उपवाक्यों का उचित संयोजन आवश्यक है । बालकों को ऐसे वाक्यों की रचना का अभ्यास

---

1. अध्याहार सम्बन्धी विस्तृत जानकारी के लिए कामता प्रसाद गुरु के हिन्दी व्याकरण, पृ० 487–491 पर देखिए ।
2. 'साधारण वाक्य' सम्बन्धी विस्तृत जानकारी के लिए देखिए—कामता प्रसाद गुरु कृत हिन्दी व्याकरण, पृ० 511–21

मौखिक एवं लिखित रचना में अवश्य कराना चाहिए। उदाहरणतः 'इधर मेरे देखने में बहुत से ग्रन्थ, जो तीसरी से छठी शताब्दी तक लिखे गए थे, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुए, आए हैं।" मिश्र वाक्य अशुद्ध है क्योंकि इसमें मुख्य उपवाक्य और आश्रित उपवाक्यों का क्रम ठीक नहीं है। इस वाक्य का शुद्ध रूप होगा—"इधर बहुत से ग्रन्थ मेरे देखने में आए हैं, जो तीसरी से छठी शताब्दी तक लिखे गए थे और जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुए।"

हिन्दी में एक उपवाक्य के भीतर दूसरा उपवाक्य लिखने का चलन नहीं है। कभी-कभी लोग विश्लेपण उपवाक्य को अंग्रेजी की तरह विशेष्य के ठीक वाद लिख देते हैं और विशेष्य विभक्तिपूर्ण हुआ तो विभक्ति को भी अलग कर देते हैं; जैसे, 'उस घोड़े, जिसने मुझे लात मार दी थी, को मैंने वेच दिया।' इस वाक्य को लिखना चाहिए —'उस घोड़े को मैंने वेच दिया, जिसने मुझे लात मारी थी।' इसी प्रकार 'यह मनुष्य उस देश, जहाँ जाड़े में वर्षा होती है, का निवासी है।' अशुद्ध वाक्य है। शुद्ध वाक्य है—'यह मनुष्य उस देश का निवासी है जहाँ जाड़े में वर्षा होती है।'

मिश्र वाक्यों की शुद्ध रचना के लिए वालकों को मुख्य उपवाक्य एवं आश्रित उपवाक्य अथवा उपवाक्यों की पहिचान अच्छी तरह अवश्य करा देनी चाहिए। इस दृष्टि से मिश्र वाक्य देकर मुख्य उपवाक्य एवं आश्रित उपवाक्यों को अलग-अलग कराना अथवा अलग-अलग मुख्य उपवाक्य एवं आश्रित उपवाक्यों को देकर मिश्र वाक्य वनवाना अधिक लाभप्रद सिद्ध होता है। जैसे —

(1) निम्नांकित मिश्र वाक्य में मुख्य एवं आश्रित उपवाक्यों को अलग करो–

"गांधीजी का कहना था कि अहिंसात्मक सत्याग्रह द्वारा राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त होगी और साथ ही राष्ट्र का नैतिक वल भी वढ़ेगा।"

(2) निम्नांकित उपवाक्यों को जोड़कर एक वाक्य वनाओ—

(क) पंडित नेहरू चाहते थे (कि)

(ख) समाजवादी सामाजिक रचना के आधार पर हमारा देश उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर होता रहे ( )

(ग) यहाँ के सभी निवासी शिक्षित एवं आत्मनिर्भर वनें ( )

(घ) हमारा देश उन्नतिशील देशों में गिना जाने लगे।

(3) संयुक्त वाक्य—संयुक्त वाक्य में एक से अधिक प्रधान उपवाक्य होते हैं और प्रधान उपवाक्यो के साथ वहुधा इनके आश्रित उपवाक्य भी रहते है। 'विद्या से ज्ञान वढ़ता है, विचारशक्ति प्राप्त होती है और सम्मान मिलता है।' इस संयुक्त वाक्य में तीनों प्रधान वाक्य हैं।

संयुक्त वाक्यों के समानाधिकरण उपवाक्यों में चार प्रकार का संवंध पाया जाता है–संयोजक, विरोध दर्शक और परिणाम वोधक।

संयोजक—राम पदोन्नति करता गया और श्याम अपने उसी पद पर बना रहा।

विभाजक—उसे न नींद आती थी, न भूख-प्यास लगती थी।

विरोध दर्शक—कामनाओं की प्रबलता से आदमी दुराचारी नहीं होता, किन्तु अन्तःकरण की निर्बलता से वैसा हो जाता है।

परिणाम बोधक—वह उनका भेद लेना चाहता था, अतः वहाँ छिपकर उनकी बातें सुनने लगा।

कभी-कभी साधारण वाक्य में 'और' में जुड़ी हुई ऐसी दो संज्ञाएँ आती हैं जो अलग-अलग वाक्यों में नहीं लिखी जा सकती अथवा जिनसे केवल एक ही व्यक्ति या वस्तु का बोध होता है; जैसे, दो और दो चार होते हैं। राम और कृष्ण मित्र हैं। इस प्रकार के वाक्यों को संयुक्त वाक्य नहीं माना जाता क्योंकि इनमें आए हुए दूसरे शब्दों का क्रिया से अलग-अलग संबंध नहीं है।

वाक्य रचना संबंधी दोष

वाक्य रचना संबंधी दोषों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

1. व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध वाक्य रचना।
2. व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होते हुए भी भाव, अर्थ एवं प्रभाव की दृष्टि से दोषपूर्ण वाक्य रचना।

(1) व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध वाक्य रचना के मुख्य कारण हैं उपर्युक्त वाक्य रचना सम्बन्धी नियमों एवं विशेषताओं की अनभिज्ञता—वाक्य में शब्दों का सही एवं उपयुक्त क्रम न जानना, लिंग-वचन विकार का ठीक ज्ञान न होना, विभक्तियों का प्रयोग तथा उसके कारण शब्दों के रूप-परिवर्तन की अनभिज्ञता, क्रिया-विशेषण अव्ययों का ठीक प्रयोग न जानना, आदि। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वाक्य रचना में यदि अन्वय, अधिकार एवं क्रम की ठीक जानकारी छात्रों को करा दी जाय तो व्याकरण की दृष्टि से वाक्य-रचना की अशुद्धियों की गुंजाइश नहीं रहेगी।

(2) व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होते हुए भी भाव, अर्थ एवं प्रभाव की - से दोषपूर्ण वाक्य रचना के अनेक उदाहरण मिलते हैं। परिनिष्ठित भाषा म ऐसे वाक्यों के लिए स्थान नहीं है। रचना-शिक्षण अथवा गद्य-शिक्षण के समय वाक्य-रचना संबंधी ऐसी अशुद्धियों की ओर बालकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहिए और उनका उचित संशोधन अवश्य करना चाहिए। साहित्यिक रचना की दृष्टि से तो इन दोषों का परिहार और भी आवश्यक है। इस प्रकार के दोषों का वर्णन रामचन्द्र वर्मा ने अपनी पुस्तक 'अच्छी हिन्दी', छठे अध्याय—'वाक्य

विन्यास' में विस्तार से किया है। भाषा-शिक्षकों के लिए इसका अवलोकन बहुत ही उपयोगी है।

अति संक्षिप्त एवं संकेत रूप में इस प्रकार के कतिपय दोषों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

(i) अस्पष्ट वाक्य–'वह बैल के मारने से मर गया' वाक्य के दोनों ही अर्थ हो सकते है–बैल ने उसे मारा, इसलिए वह मर गया या उसने किसी बैल को मारा था, जिसकी हत्या के पाप से वह मर गया। 'वाइस प्रेसिडेण्ट कौंसिल के सदस्य के सदस्य चुनेंगे' वाक्य भी अस्पष्ट है। कौंसिल के सदस्य वाइस प्रेसिडेण्ट का चुनाव करेंगे, अथवा वाइस प्रेसिडेण्ट ही कौंसिल के सदस्यों का चुनाव करेंगे, ये दोनों अर्थ निकलते हैं। अतः अस्पष्ट वाक्य-रचना से अभीष्ट अर्थ नहीं प्राप्त होता।

(ii) शिथिल वाक्य–ऐसे वाक्यों में साहित्यिक सौन्दर्य तथा प्रभावपूर्णता का सर्वथा अभाव पाया जाता है। "खाद्य समस्या के बारे में हमें अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए।" यह वाक्य शिथिल वाक्य है और इसका अर्थ सोचकर निकालना पड़ता है।

(iii) जटिल वाक्य–अनावश्यक विस्तार अथवा गूढ़ विचारों के कारण कभी-कभी वाक्यों की रचना जटिल हो जाती है और उनका आशय समझना बड़ा कठिन हो जाता है। अतः बालकों को सरल, साधारण वाक्यों में अपने विचार व्यक्त करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

(iv) अनिर्वहित वाक्य–ऐसे वाक्य जिनमें शब्द-क्रम का ठीक प्रकार से निर्वाह नहीं होता, अनिर्वहित वाक्य कहलाते हैं। अनिर्वाह दो प्रकार का होता है—शब्दगत और अर्थगत। "वह वस्तुतः काव्य की सीमा, उसका स्वरूप, उसकी धारणा आदि का पता देने वाली है।" वाक्य शब्दगत अनिर्वाह का उदाहरण है। शुद्ध रूप है—"वह वस्तुतः काव्य की सीमा, उसके स्वरूप और उसकी धारणाओं आदि का पता देने वाली है।" शब्दगत अनिर्वाह व्याकरण की दृष्टि से भी अशुद्ध होते हैं।

अर्थगत अनिर्वाह व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध हो सकते हैं पर अर्थ की दृष्टि से अशुद्ध होते हैं। "वे इस षड्यंत्र का समूल नाश ही नहीं करना चाहते, बल्कि डटकर इससे मोर्चा भी लेना चाहते हैं।" "मैंने तुम्हें सौ बार समझाया, हजार बार समझाया, दस बार समझाया।" आदि वाक्य अर्थगत अनिर्वाह के उदाहरण हैं।

(v) **निरर्थक शब्द वाले वाक्य**–वे वाक्य दोषपूर्ण माने जाते हैं जिनमें अनावश्यक अथवा व्यर्थ के शब्द रख दिए गए हों। "मयूरी को प्रलुब्ध करने के लिए पुरुप मयूर नृत्य करता है।" इस वाक्य में पुरुप शब्द व्यर्थ लगाया गया है। "यहाँ जो निराशावाद छाया हुआ है" उपवाक्य में 'वाद' व्यर्थ-सा है।

(vi) **द्विरुक्ति अथवा पुनरुक्ति का दोष**–एक ही अर्थ देने वाले दो-दो शब्दो का प्रयोग वाक्य मे नही होना चाहिए। "यही कारण है जिसके कारण इस देश में इतनी अशान्ति है।" 'कालचक्र के पहिए के नीचे', 'शक्ति-दल मे', 'वेहाल दशा मे', 'गुलाव जल का पानी', 'डफरिन ब्रिज का पुल', 'अश्वमेध यज्ञ', 'अपना आत्मसम्मान', 'विवाहोत्सव समारोह', 'परन्तु फिर भी', 'आपका भवदीय', मर्यादा की सीमा', 'खतरे का भय', 'गुनगुने गर्म पानी मे', महाभारत का युद्ध' आदि प्रयोग इस दोप के उदाहरण हैं।

(vii) **बेमेल शब्द-योजना**—उत्तम वाक्य वही है जिसमें आद्यंत एक ही मेल के शब्दों का प्रयोग हो। एक वाक्य मे कई तरह के अथवा कई भाषाओं के शब्दों का प्रयोग नही होना चाहिए। "नेचर के ज़र्रे-जर्रे पर यौवन का प्लावन था।" "उनका भण्डार निखिल न्यामतो से भरा था।" "आपका इम्प्रेशन परफेक्ट है।" "प्रातःकाल की शवनम वड़ी मुग्धकारिणी है।" इस प्रकार के प्रयोग वेमेल शब्द योजना के उदाहरण हैं। आज की प्रचलित भाषा की यह एक वड़ी समस्या है। खिचडी भापा सुनने को तो मिलती ही है। लेखन में भी अपना सिक्का जमाती चली जा रही है। भाषा के शिक्षक को इस दृष्टि से विशेप सावधानी रखनी चाहिए।

(viii) **कार्य-कारण संबंध का अभाव**–ऐसे वाक्य भी दोपपूर्ण माने जाते है जिनमें कार्य-कारण संवंध स्पष्ट न हो। "साहित्य एक नदी की तरह है, जो मैदानों की भाँति देश के प्राणियों के मस्तिष्को का सिचन करता है।" से ऐसा लगता है कि मैदान प्राणियों के मस्तिष्क का सिचन करते हैं।

(ix) **अपेक्षक वाक्य** —ऐसे वाक्य अधूरे होते है। "जो स्थान हिन्दी में तुलसी का, उर्दू में गालिव का और ग्रीक मे होमर का है, वही आप का है।" वाक्य में यह नही ज्ञात होता है कि आपका स्थान कहाँ या किसमें है।

(x) **मिश्र वाक्य संबंधी दोप**—मिश्र वाक्य में मुख्य उपवाक्य एवं आश्रित उपवाक्य या उपवाक्यों का क्रम ठीक न रहने से अशुद्धियाँ होती है। अत: शिक्षक को छात्रों से शुद्ध मिश्र वाक्यो की रचना का आग्रह करना चाहिए और उनकी अशुद्धियों का तत्काल संशोधन करना चाहिए।

वाक्य रचना-शिक्षण के अवसर एवं शिक्षण प्रक्रिया

शब्द-शिक्षण की ही भाँति वाक्य-रचना-शिक्षण का अवसर भी **गद्य शिक्षण** में सबसे अधिक मिलता है। भाषा का पूर्ण परिष्कृत एवं मानक रूप गद्य में ही पाया जाता है। इसी कारण शायद भाषा के आचार्यों ने 'गद्य' कवीनां निकषं वदन्ति' की उक्ति का प्रतिपादन किया है।

(1) **गद्य शिक्षण के समय** निम्नांकित रूपों में बालकों को शुद्ध वाक्यों में विचार प्रकट करने और वाक्य-दोषों को दूर करने का अवसर मिलता है। शिक्षक को विशेष रूप से सजग और सावधान रहना चाहिए कि बालक शुद्ध वाक्य का ही प्रयोग करें और यदि कोई अशुद्धि होती है तो तत्काल ही उसका संशोधन हो जाय। ये अवसर इस प्रकार के हैं—

(i) गद्य शिक्षण में भाषा-कार्य के अन्तर्गत यथाप्रसग अभ्यास का अवसर।

(ii) वस्तु बोध एवं व्याख्या सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर शुद्ध वाक्यो में प्राप्त करना।

(iii) पठित अंश का सारांश कहलवाना या लिखवाना।

(iv) पठित अंश में आए हुए तथ्यों एवं विचारों का पृथक्-पृथक् उल्लेख कराना और उन्हें क्रमबद्ध कराना।

(v) पाठ में आए हुए वाक्य-रूपों का चयन और संकलन।

(vi) वाक्य-परिवर्तन द्वारा; जैसे, मिश्र अथवा संयुक्त वाक्यों को साधारण वाक्यों में कहलवाना, अथवा अनेक साधारण वाक्यों को संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत कराना।

(2) गद्य शिक्षण के अतिरिक्त **मौखिक एवं लिखित रचना** के शिक्षण में वाक्य-रचना शिक्षण का पर्याप्त अवसर मिल सकता है। प्राय: मौखिक एवं लिखित रचना में शिक्षक विषय-सामग्री पर अधिक बल देते है, अभिव्यक्ति पर कम। परन्तु अभिव्यक्ति पर ध्यान देने से ही छात्रों की भाषा एवं शैली में परिपक्वता आ सकती है। मौखिक या लिखित रचना की सफलता शुद्ध वाक्यों के प्रयोग पर ही निर्भर है। भावाभिव्यक्ति के समय बालकों से होने वाली वाक्य-रचना संबंधी अशुद्धियों का संशोधन करते हुए उन्हें शुद्ध वाक्य रचना के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

मौखिक या लिखित रचना के समय शिक्षक को सचेष्ट रहना चाहिए कि बालक शुद्ध, स्पष्ट एवं पूर्ण वाक्यों में ही अपने विचार प्रकट करे। कभी-कभी शीघ्रता अथवा पाठ-विकास में क्षिप्रता लाने के लिए शिक्षक शिक्षार्थियों के

उत्तर अधूरे वाक्यों, वाक्यांशों और शब्दों में ही स्वीकार कर लेते हैं और आगे बढ़ते जाते हैं। इस कारण छात्र भी शुद्ध, स्पष्ट एवं पूर्ण वाक्य-प्रयोग की उपेक्षा कर देते हैं। अतः अधूरे एवं अशुद्ध वाक्यों को कभी भी स्वीकार नहीं करना चाहिए।

बालकों के अस्पष्ट कथन का मुख्य कारण वाक्य-रचना का दोष है। बालक अपने भावों एवं विचारों को भाषा का—दूसरे शब्दों में वाक्यों का ठीक परिधान नहीं दे पाता और इस कारण उसके विचारों में भी अस्पष्टता, शिथिलता और भ्रामकता आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं। अतः ठीक-ठीक आशय प्रकट करने के लिए शुद्ध वाक्य-रचना के अभ्यास आवश्यक है।

(3) व्याकरण शिक्षण में यथा अवसर शुद्ध वाक्य-रचना के प्रयोग और अभ्यास का यथेष्ट अवसर मिल सकता है। शिक्षक को चाहिए कि बालको में उनकी स्थानीय भाषाओं के प्रभाव से अथवा प्राथमिक स्तर पर दोषपूर्ण शिक्षण से अशुद्ध वाक्य-रचना की जो आदतें पड़ गयी है उन्हें विविध युक्तियों से दूर करे और शुद्ध-रचना की आदत डाले। इस दृष्टि से निम्नांकित प्रकार के अभ्यास विशेष उपयोगी सिद्ध होते हैं—

(i) वाक्य में उचित एवं शुद्ध पदक्रम सम्बन्धी अभ्यास।
(ii) ऐसे वाक्यों को शुद्ध करना जिनमें शब्दों का क्रम ठीक नही दिया गया है।
(iii) अपूर्ण वाक्यों को पूरा करना अथवा रिक्त स्थानों की पूर्ति आदि।
(iv) दिए गए वाक्य में अशुद्ध शब्द को चिह्नित करना और उसके स्थान पर शुद्ध शब्द का प्रयोग करना।
(v) शब्दो को एकवचन से बहुवचन एवं बहुवचन से एकवचन मे परिवर्तित करते हुए वाक्य-रचना में परिवर्तन।
(vi) पुल्लिंग से स्त्रीलिंग अथवा स्त्रीलिंग से पुल्लिंग में शब्द-परिवर्तनों के कारण वाक्य-परिवर्तन।
(vii) विभक्ति रहित कर्त्ता की जगह विभक्ति सहित कर्त्ता अथवा विभक्ति सहित कर्त्ता की जगह विभक्ति रहित कर्त्ता के कारण वाक्य-परिवर्तन।
(viii) विभक्तियों के प्रयोग सम्बन्धी अभ्यास।
(ix) कर्त्ता अथवा कर्म की स्थिति मे क्रिया मे परिवर्तन।
(x) क्रियाओं के रूप एवं काल में परिवर्तन।
(xi) संयुक्त क्रियाओं के प्रयोग सम्बन्धी अभ्यास।
(xii) संयुक्त वाक्यो की रचना।
(xiii) मिश्र वाक्यों की रचना।

(xiv) सभी प्रकार के वाक्यों—साधारण, मिश्र, संयुक्त—के विश्लेपण सम्वन्धी अभ्यास ।

(xv) दोपपूर्ण वाक्यों—अस्पष्ट, निरर्थक, शिथिल आदि—को शुद्ध रूप में लिखने के अभ्यास ।

(4) कक्षा-शिक्षण सम्बन्धी उपर्युक्त अवसरों—गद्य-शिक्षण, रचना-शिक्षण, व्याकरण-शिक्षण—के अतिरिक्त ऐसे साहित्यिक कार्यक्रमों के आयोजन भी आवश्यक हैं जिनमें बालक सक्रिय रूप से भाग ले सकें और उन्हे बोलने तथा लिखने का अधिकाधिक अवसर मिल सके । भाषण, वाद-विवाद, विचार-विमर्श, कहानी कहना, वार्तालाप, लिखित प्रतियोगिताएँ आदि आयोजन इस दृष्टि से उपयोगी सिद्ध होते हैं । वालकों में शुद्ध भापा-प्रयोग का संस्कार सुदृढ़ करने के लिए उन्हें यह भी निर्देश दिये जा सकते है कि वे इन अवसरों पर प्रयुक्त अशुद्ध वाक्यों का संकलन करें और फिर उन पर विचार-विमर्श करें ।

शिक्षक का आदर्श इन सभी अवसरों पर बालकों के लिए अनुप्रेरक और अनुकरणीय सिद्ध होना चाहिए ।

विराम चिह्न

"शब्दों तथा वाक्यों का परस्पर सम्बन्ध वताने तथा किसी विपय को भिन्न-भिन्न भागों में बाँटने और पढ़ने में यथास्थान रुकने के लिए लेखन में जिन चिह्नों का प्रयोग किया जाता है, उन्हें विराम चिह्न कहते हैं ।"[1]

अपने कथन में स्पष्टता और अर्थवोध की सुगमता के लिए हम शब्द, वाक्यांश अथवा वाक्य के वाद क्षण भर के लिए या कुछ अधिक क्षणों के लिए रुकते है । इसके अतिरिक्त बोलने में प्रश्न करते समय, आदेश देते समय, सम्बोधित करते समय या विस्मय प्रकट करते समय अपनी वाणी में उतार-चढ़ाव, वल या मोड़ का सहारा लेना पड़ता है । पर लेखन में भावाभिव्यक्ति की स्पष्टता और अर्थवोध की सुगमता के लिए विराम चिह्नो का प्रयोग करना पड़ता है जिससे पाठक उपयुक्त स्थलों पर रुकते हुए लेखक के विचारों को सरलतापूर्वक समझते हुए पढ़ता चले । विराम चिह्न वस्तुतः वाक्य की अर्थान्वितियो को स्पष्ट करने का सर्वप्रमुख साधन है । मिश्र, संयुक्त एवं जटिल वाक्य भी विराम चिह्नों के प्रयोग से सरल एवं सुवोधगम्य हो जाते हैं । अतः विराम चिह्नों के प्रयोग से विद्यार्थियों को भलीभाँति अवगत करा देना चाहिए । विराम चिह्नो के अनुचित प्रयोग से तो अर्थ का अनर्थ हो सकता है ।

संस्कृत की प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों और प्रारम्भिक हिन्दी पुस्तकों में केवल खड़ी पाई का प्रयोग मिलता है, जिसे पूर्ण विराम समझा जाता था । हिन्दी में विराम चिह्नों का प्रयोग अंग्रेजी भाषा के अनुकरण पर प्रारम्भ हुआ और अव

1. कामता प्रसाद गुरु—हिन्दी व्याकरण

अंग्रेजी में प्रयुक्त प्राय: सभी विराम चिह्न हिन्दी में होने लगे हैं। ये विराम चिह्न निम्नांकित हैं—

1. अल्पविराम	,	
2. अर्द्ध विराम	;	
3. पूर्ण विराम	।	(अब कुछ लोग अंग्रेजी के अनुसार भी प्रयुक्त करने लगे है।)
4. प्रश्न चिह्न	?	
5. विस्मयादि सूचक या आश्चर्य चिह्न या संबोधन	!	
6. निर्देशक (डैश)	—	
7. कोष्ठक	( )	
8. अवतरण चिह्न	‘ ’	
9. विवरण चिह्न	:—	
10. कोलन	:	(विसर्ग का भ्रम होने से इसका प्रयोग हिन्दी में नहीं किया जाता)
11. योजक या विभाजक	-	

1. अल्प विराम , —यह न्यूनतम विराम का द्योतक है। अन्य विरामों की तुलना में इसका प्रयोग अधिक होता है। इसका उपयोग प्राय: नीचे लिखे स्थानों पर किया जाता है—

(i) वाक्य में समानपदी शब्दों को पृथक् करने के लिए; जैसे, राम अपनी भूमि, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा और मान-मर्यादा सभी कुछ खो बैठा।

(ii) वाक्य में प्रयुक्त युग्म शब्दों को एक दूसरे से पृथक् करने के लिए; जैसे पाप और पुण्य, सर्दी और गर्मी, हर्ष और विषाद, रात और दिन सब ईश्वर की ही देन है।

(iii) जब एक ही शब्द-भेद के दो शब्दों के बीच समुच्चय बोधक न हो तो उन्हें पृथक् करने के लिए; जैसे, आजकल अकालग्रस्त क्षेत्रों में लोग घास, पात से पेट भर रहे हैं।

(iv) समानाधिकरण शब्दों के मध्य में; जैसे, पं० मोतीलाल के पुत्र, भारत के प्रधानमन्त्री, पं० जवाहरलाल नेहरू भारतीय जनतांत्रिक राज्य व्यवस्था के संस्थापक थे।

(v) यदि उद्देश्य बहुत अधिक लम्बा हो तो उसके पश्चात्; जैसे, चारों ओर से आने वाले घुड़सवारों के घोड़ों की हिनहिनाती हुई आवाजें, दूर-दूर तक फैल रही थीं।

(vi) पढ़ते समय वाक्य में जिस स्थान पर अल्प समय के लिए रुकना पड़े; जैसे, वह चुपचाप शान्त लेटा था, न कुछ बोलता था, न आंखें खोलता था और न किसी बात का उत्तर देता था।

(vii) यदि संबोधन शब्द वाक्य के प्रारम्भ में हो तो संबोधन शब्द के बाद और यदि संबोधन शब्द वाक्य के मध्य में हो तो उसके पूर्व और पश्चात् दोनों स्थलों पर; जैसे, श्याम, तुम्हारा मेरे ऊपर बहुत बड़ा ऋण है। यहाँ आओ, श्याम, तुमसे कुछ जरूरी बातें करनी है।

(viii) जब एक ही वर्ग के तीन या अधिक शब्द आएँ और उनके मध्य विकल्प से समुच्चय बोधक रहे, तो अन्तिम शब्द को छोड़कर शेष शब्दों के पश्चात्; जैसे, मुझे काशी, प्रयाग, मथुरा, पुष्कर और द्वारिकापुरी की तीर्थयात्रा करनी है।

(ix) जब एक ही शब्द या वाक्यांश की पुनरावृत्ति हो; जैसे, आओ, आओ, शीघ्र आओ। वहाँ नहीं, वहाँ नहीं, तुम सब यहाँ बैठो।

(x) एक ही क्रिया की पुनरावृत्ति न कर उक्त क्रिया के स्थान पर; जैसे, तुम लखनऊ होकर दिल्ली गए, मै कानपुर होकर।

(xi) उद्धरण के चिह्न के पूर्व; जैसे, राम ने कहा, 'श्याम, मैंने समाज-सेवा का अब व्रत ले लिया है।'

(xii) उपाधियों को अलग करने के लिए; जैसे, शास्त्री, साहित्याचार्य, एम० ए०।

(xiii) किसी वाक्यांश या उपवाक्य को अलग करने के लिए; जैसे तीन-तीन भाषाओं के समावेश से, मैं समझता हूँ, माध्यमिक विद्यालयों का पाठ्यक्रम बहुत बोझिल हो जाएगा।

(xiv) हाँ या नहीं के पश्चात्; जैसे, हाँ, तुम्हारा कहना सही है। नहीं, तुम्हारा कहना सही नहीं है।

(xv) क्रिया विशेषण या वाक्यांशों को अलग करने के लिए; जैसे भारतीय मनीषियों ने, समय-समय पर, विचार के क्षेत्र में विश्व का पथ-प्रदर्शन किया है।

(xvi) संज्ञा उपवाक्य को छोड़कर मिश्र उपवाक्य के शेष बड़े उपवाक्यों के बीच में; जैसे, उस विद्यार्थी को स्वर्णपदक मिला, क्योकि उसने इस विश्वविद्यालय, की एम० ए० परीक्षा में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया था।

(xvii) जब संज्ञा उपवाक्य मुख्य उपधाक्य से किसी समुच्चय बोधक द्वारा नहीं जोड़ा जाता; जैसे, अध्यक्ष ने कहा, मैं इस समारोह के समापन की घोषणा करता हूँ।

(xviii) जब समानाधिकरण उपवाक्यों के बीच समुच्चय बोधक नहीं रहता, तब उनके बीच में; जैसे, सूरज निकला, सवेरा हुआ, चिड़ियाँ चहचहाने लगीं ।

(xix) कर्त्ता जब क्रिया से बहुत दूर हो, तो कर्त्ता के बाद; जैसे, वह पुस्तक, जिसे मैंने कल राम से लिया था, कहीं खो गई ।

2–अर्द्ध विराम ;

अर्द्ध विराम का प्रयोग अल्प विराम की उपेक्षा अधिक समय तक रुकने के लिए होता है । यह पूर्ण विराम और अल्पविराम के बीच का चिह्न माना जाता है । इसका प्रयोग निम्नांकित स्थलों पर होता है:—

(i) किसी नियम के पश्चात् आने वाले उदाहरणसूचक 'जैसे' शब्द के पहले; जैसे, स्त्रियों के नामों के साथ प्रायः देवी शब्द का प्रयोग करते हैं; जैसे, सावित्री देवी ।

(ii) जब संयुक्त वाक्य के मुख्य या प्रधान उपवाक्यों में परस्पर विशेष संबंध नहीं रहता तो उन्हें पृथक् करने के लिए; जैसे, आज जिसे हम मित्र समझते हैं कल वही हमारा शत्रु हो सकता है; आज जिसे हम चाहते है, कल उसे घृणा कर सकते है ।

(iii) समानाधिकरण वाक्यो के मध्य में; जैसे, महात्मा गांधी ने स्वतन्त्रता आन्दोलन को एक नया मोड दिया; उन्होंने अहिंसात्मक सत्याग्रह का एक नया अस्त्र दिया; उन्होंने ही अंग्रेजो को भारत छोड़ने पर विवश किया ।

(iv) मिश्र अथवा संयुक्त वाक्य में विपरीत अर्थ प्रकट करने वाले उपवाक्यों के बीच में; जैसे, लोग उसे गालियाँ देते; वह उन्हें अपना प्यार देता; लोग उस पर पत्थर फेंकते; वह उनके कल्याण के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता ।

(v) कारण वाचक क्रिया विशेषण उपवाक्य का जब मुख्य उपवाक्य से निकट सम्बन्ध नही रहता, तब उनके मध्य में; जैसे, वायु के दबाव से साबुन का एक बुलबुला भी नही दब सकता; क्योंकि बाहरी हवा का दबाव भीतरी हवा के दबाव से कट जाता है ।

(vi) उन कई मिश्रित उपवाक्यों के बीच में जो एक ही प्रधान उपवाक्य पर आश्रित होते है; जैसे, जब तक अध्यापक यह नहीं जानेगा कि बालक का शारीरिक स्वास्थ्य कैसा है; उसकी बौद्धिक योग्यता कैसी है; उसकी अभिरुचियाँ क्या हैं; उसकी पारिवारिक स्थिति क्या है; तब तक वह उसे उचित रीति से शिक्षा प्रदान करने में सफल नही हो सकता ।

3–पूर्ण विराम । या .

पूर्ण वाक्य के अन्त में पूर्ण विराम चिह्न का प्रयोग होता है। वाक्य चाहे लम्बा हो या छोटा, उसके अन्त में इसी चिह्न का प्रयोग किया जाता है; जैसे, वह गया। आज रामलीला मैदान में एक सार्वजनिक सभा होगी। तुम अभी जाओ।

दोहा की प्रथम पंक्ति के बाद; जैसे, मेरी भाव बाधा हरौ, राधा नागरि सोय। चौपाई की अर्द्धाली के बाद; जैसे, शिवहिं शंभुगण करहिं सिंगारा। जटा मुकुट अहिमौर सँवारा॥ पूरी चौपाई के बाद दो खड़ी पाई लगाते हैं।

4–प्रश्नसूचक ?

(i) इसका प्रयोग प्रश्नवाचक वाक्य के अन्त में होता है; जैसे, तुम कहाँ जा रहे हो ?

(ii) यदि एक वाक्य में कई प्रश्नवाचक उपवाक्य हों और वे एक ही प्रधान उपवाक्य पर अवलम्बित हों तो ऐसे प्रति उपवाक्य के अन्त में अल्प विराम का प्रयोग करके सबके अन्त में अर्थात् प्रधान उपवाक्य के पश्चात् इसका प्रयोग होता है; जैसे तुमने यह काम क्यों नहीं किया, तुम कहाँ चले गए थे, तुम क्या कर रहे थे, तुम किन लोगों के संग खेल रहे थे, तुम अपना जीवन नष्ट करने पर क्यों तुले हुए हो ?

(iii) यदि वाक्य के अन्त में कहीं सन्देहात्मक या व्यंग्यात्मक भाव प्रकट किया जाय तो कभी-कभी कोष्ठक के भीतर प्रश्नसूचक चिह्न का प्रयोग होता है; जैसे, 'गरीबी हटाओ' का संकल्प पूरा होगा (?)

5–विस्मयादिसूचक !

(i) हर्ष, विषाद, घृणा, आश्चर्य, भय, प्रार्थना, आज्ञा आदि मनोवेग सूचक वाक्यों, वाक्यांशों, शब्दों के अन्त में; जैसे, हाय ! बेचारा कुचल गया ! छिः ! धोखा देते हो ! वाह ! उसने तो कमाल किया !

(ii) प्रश्नवाचक वाक्यों के अन्त में, जहाँ मनोवेग प्रदर्शित होता हो; जैसे सुनते क्यों नहीं, क्या बहरे हो !

(iii) मनोवेग की क्रमशः वृद्धि दिखाने के लिए दो या तीन विस्मयादि बोधक चिह्नों का प्रयोग करते है; जैसे, शोक ! हा, शोक !! महाशोक !!!

(iv) जहाँ सम्बोधन का संकेत हो; जैसे, ए लड़के !...., मित्रो !.... ।

6–निर्देशक—

(i) समानाधिकरण शब्दों, वाक्यांशों अथवा वाक्यों के बीच में; जैसे, इन कविताओं से नैतिक मूल्यों–राष्ट्रप्रेम, बलिदान, कर्त्तव्यपालन आदि–की शिक्षा मिलती है।

(ii) किसी वाक्य के प्रवाह में सहसा अवरोध होने पर अथवा भाव–परिवर्तन होने पर; जैसे, मैंने तुम्हें पाला, पोसा, पढ़ाया, लिखाया–पर, अब यह सब कहने से क्या लाभ है।

(iii) किसी के वाक्यों को उद्धृत करने के पूर्व; जैसे, शिक्षक–किन लोगों ने काम पूरा कर लिया है ?

(iv) निम्नांकित है या निम्नलिखित हैं के बाद; जैसे, हमारे देश के प्रसिद्ध क्रांतिकारी निम्नांकित है—
सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, राजगुरु आदि ।

(v) किसी शब्द की व्याख्या करने के लिए; जैसे, ईश्वर सब कुछ देता है— जीवन, संतति, सुख, सम्पत्ति आदि ।

(vi) किसी अवतरण के बाद और उसके लेखक के पूर्व; जैसे, 'देखिय रूप नाम अधीना'–तुलसीदास

7–कोष्ठक (   )

(i) क्रमसूचक अंकों या अक्षरों के साथ; जैसे,
(1) संज्ञा (2) सर्वनाम; (क) भारत (ख) चीन ।

(ii) समानार्थी शब्द या वाक्यांश के साथ; जैसे, अफ्रीका के नीग्रो (हब्शी) अधिकतर उन्हीं की सन्तान हैं । ज्ञानराशि (विचारों का समूह) के संचित कोष का नाम ही साहित्य है ।

(iii) किसी रचना का रूपान्तर करने में बाहर से लगाए गए शब्दों के साथ; जैसे, पराधीन (को) सपनेहु सुख नाहीं (है) ।

(iv) नाटकादि संवादमय लेखों में हाव-भाव सूचित करने के लिए; जैसे, इन्द्र- (आनन्द से) अच्छा, देव सेना सज्जित हो गई ।

8–अवतरण या उद्धरण चिह्न ' '

(i) किसी का कथन उद्धृत करने में अथवा कहावतों में; जैसे, ऋषियों ने मातृभूमि को स्वर्ग से भी ऊँचा पद दिया था–'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' । उस बालक की कुशाग्रता देखकर लोग यही कहते थे कि 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात ।' तुलसीदास ने सत्य ही लिखा है, 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी । सो नृप अवसि नरक अधिकारी ।।'

(ii) कभी-कभी पुस्तकों के नाम अथवा व्यक्तिवाचक नाम भी इकहरे अवतरण चिह्नों के भीतर लिखे जाते हैं; जैसे नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी व्याकरण' भाषा के छात्रों के लिए उपयोगी पुस्तक है ।

(iii) जब किसी अक्षर, शब्द या वाक्य का प्रयोग अक्षर या शब्द के अर्थ मे होता है; जैसे, हिन्दी मे 'लृ' का प्रयोग नहीं होता । चारों ओर से 'पकड़ो–पकड़ो' की आवाज आ रही थी ।

9–विवरण चिह्न (:—)

किसी विषय अथवा बातों को समझाने के लिए अथवा निर्देश के लिए विवरण चिह्न का प्रयोग किया जाता है; जैसे, क्रिया दो प्रकार की होती है :—
(i) अकर्मक (ii) सकर्मक ।

10–योजक या विभाजक चिह्न—

(i) उन तत्पुरुष एवं द्वन्द्व समासों में जब सन्धि या रूप परिवर्तन के कारण दोनों शब्द एक नहीं हो पाते; जैसे, वर्ण-भेद, रूप-ज्ञान ।

(ii) मध्य के अर्थ में; जैसे, कालका-हावड़ा मेल, राम-रावण युद्ध ।

(iii) अक्षरों मे लिखी जाने वाली सख्याओं और उनके अंशों के बीच में; जैसे एक-तिहाई, तीन-चौथाई ।

(iv) पुनरुक्ति अथवा युग्म रूप में जिन शब्दों का प्रयोग होता है उनके बीच में योजक चिह्न लगाया जाता है । ऐसे शब्द संज्ञा, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण आदि पदों के रूप में हो सकते है ।

संज्ञा—घर-घर, बच्चा-बच्चा ।
विशेषण—काले-काले, लाल-लाल ।
क्रिया—पढ़ते-पढ़ते, हँसते-हँसते ।
क्रियाविशेषण—धीरे-धीरे, जल्दी-जल्दी ।
विस्मयबोधक—छिः-छिः, अरे-अरे, हाय-हाय ।
अतिशय बोधक—पानी-पानी, बाग-बाग ।

उपर्युक्त विराम चिह्नों के अतिरिक्त लेखन में निम्नांकित दो चिह्नों का भी प्रयोग माध्यमिक स्तर पर बता देना चाहिए—

(i) रेखा—जिन शब्दों पर विशेष अवधारणा देने की आवश्यकता होती है, उनके नीचे रेखा खीच देते हैं; जैसे, शीर्षकों एवं उपशीर्षकों के नीचे रेखा–अंकित करते हैं जिससे पाठक का ध्यान आकर्षित हो जाय ।

वाक्य के बीच में किसी शब्द विशेष पर बल देने के लिए उनके नीचे रेखा खीच देते हैं; जैसे, उस सभा में पं० नेहरू सदृश व्यक्ति विद्यमान थे ।

(ii) हंसपद ∧–लिखने में जब कोई शब्द भूल से छूट जाता है तब उसे पंक्ति के ऊपर या हाशिए पर लिख देते है और उसके मुख्य स्थान के नीचे ∧ चिह्न लगा देते है; जैसे, हमारे देश की भाषा-समस्या दिन पर दिन जटिल होती जा रही है ।

विराम चिह्नों के उचित प्रयोग के लिए छात्रों को लिखित रचना-शिक्षण के समय विविध अभ्यास दिए जा सकते हैं । विराम चिह्न रहित वाक्यों एवं अनुच्छेदों को देकर उपयुक्त स्थलों पर विराम चिह्न लगाने के लिए उन्हें कहना चाहिए । उनकी रचना-पुस्तिकाओं में अशुद्ध विराम चिह्न-प्रयोगों का संशोधन अवश्य

(iii) किसी के वाक्यों को उद्धृत करने के पूर्व; जैसे, शिक्षक—किन लोगों ने काम पूरा कर लिया है ?

(iv) निम्नांकित है या निम्नलिखित है के वाद; जैसे, हमारे देश के प्रसिद्ध क्रांतिकारी निम्नांकित हैं—
सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, राजगुरु आदि ।

(v) किसी शब्द की व्याख्या करने के लिए; जैसे, ईश्वर सब कुछ देता है—जीवन, सतति, सुख, सम्पत्ति आदि ।

(vi) किसी अवतरण के बाद और उसके लेखक के पूर्व; जैसे, 'देखिय रूप नाम अधीना'—तुलसीदास

7—कोष्ठक ( )

(i) क्रमसूचक अंकों या अक्षरो के साथ; जैसे,
(1) संज्ञा (2) सर्वनाम; (क) भारत (ख) चीन ।

(ii) समानार्थी शब्द या वाक्यांश के साथ; जैसे, अफ्रीका के नीग्रो (हब्शी) अधिकतर उन्ही की सन्तान हैं । ज्ञानराशि (विचारों का समूह) के संचित कोष का नाम ही साहित्य है ।

(iii) किसी रचना का रूपान्तर करने में बाहर से लगाए गए शब्दों के साथ; जैसे, पराधीन (को) सपनेहु सुख नाही (है) ।

(iv) नाटकादि संवादमय लेखों में हाव-भाव सूचित करने के लिए; जैसे, इन्द्र—(आनन्द से) अच्छा, देव सेना सज्जित हो गई ।

8—अवतरण या उद्धरण चिह्न ' '

(i) किसी का कथन उद्धृत करने में अथवा कहावतों में; जैसे, ऋषियों ने मातृभूमि को स्वर्ग से भी ऊँचा पद दिया था—'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' । उस बालक की कुशाग्रता देखकर लोग यही कहते थे कि 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात ।' तुलसीदास ने सत्य ही लिखा है, 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी । सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥'

(ii) कभी-कभी पुस्तकों के नाम अथवा व्यक्तिवाचक नाम भी इकहरे अवतरण चिह्नों के भीतर लिखे जाते है; जैसे नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी व्याकरण' भाषा के छात्रों के लिए उपयोगी पुस्तक है ।

(iii) जब किसी अक्षर, शब्द या वाक्य का प्रयोग अक्षर या शब्द के अर्थ में होता है; जैसे, हिन्दी मे 'ऌ' का प्रयोग नही होता । चारो ओर से 'पकड़ो—पकड़ो' की आवाज आ रही थी ।

9–विवरण चिह्न (:—)

किसी विषय अथवा बातों को समझाने के लिए अथवा निर्देश के लिए विवरण चिह्न का प्रयोग किया जाता है; जैसे, क्रिया दो प्रकार की होती है :—
(i) अकर्मक (ii) सकर्मक ।

10–योजक या विभाजक चिह्न—

(i) उन तत्पुरुष एवं द्वन्द्व समासों में जब सन्धि या रूप परिवर्तन के कारण दोनों शब्द एक नहीं हो पाते; जैसे, वर्ण-भेद, रूप-ज्ञान ।

(ii) मध्य के अर्थ में; जैसे, कालका-हावड़ा मेल, राम-रावण युद्ध ।

(iii) अक्षरों मे लिखी जाने वाली सख्याओं और उनके अंशो के बीच में; जैसे एक-तिहाई, तीन-चौथाई ।

(iv) पुनरुक्ति अथवा युग्म रूप में जिन शब्दों का प्रयोग होता है उनके बीच में योजक चिह्न लगाया जाता है । ऐसे शब्द संज्ञा, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण आदि पदों के रूप में हो सकते है ।

संज्ञा—घर-घर, बच्चा-बच्चा ।
विशेषण—काले-काले, लाल-लाल ।
क्रिया—पढ़ते-पढ़ते, हँसते-हँसते ।
क्रियाविशेषण—धीरे-धीरे, जल्दी-जल्दी ।
विस्मयबोधक—छिः-छिः, अरे-अरे, हाय-हाय ।
अतिशय बोधक—पानी-पानी, बाग-बाग ।

उपर्युक्त विराम चिह्नों के अतिरिक्त लेखन में निम्नांकित दो चिह्नों का भी प्रयोग माध्यमिक स्तर पर बता देना चाहिए—

(i) रेखा—जिन शब्दों पर विशेष अवधारणा देने की आवश्यकता होती है, उनके नीचे रेखा खीच देते है; जैसे, शीर्षकों एवं उपशीर्षकों के नीचे रेखा-अंकित करते हैं जिससे पाठक का ध्यान आकर्षित हो जाय ।
वाक्य के बीच में किसी शब्द विशेष पर बल देने के लिए उनके नीचे रेखा खींच देते हैं; जैसे, उस सभा में पं० नेहरू सदृश व्यक्ति विद्यमान थे ।

(ii) हंसपद ∧–लिखने में जब कोई शब्द भूल से छूट जाता है तब उसे पंक्ति के ऊपर या हाशिए पर लिख देते है और उसके मुख्य स्थान के नीचे ∧ चिह्न लगा देते हैं; जैसे, हमारे देश की भाषा-समस्या दिन पर दिन जटिल होती जा रही है ।

विराम चिह्नों के उचित प्रयोग के लिए छात्रों को लिखित रचना-शिक्षण के समय विविध अभ्यास दिए जा सकते हैं । विराम चिह्न रहित वाक्यों एवं अनुच्छेदो को देकर उपयुक्त स्थलों पर विराम चिह्न लगाने के लिए उन्हे कहना चाहिए । उनकी रचना-पुस्तिकाओं में अशुद्ध विराम चिह्न-प्रयोगो का संशोधन अवश्य

करना चाहिए और उन्हें कक्षा में स्पष्ट कर देना चाहिए कि किस स्थान पर कौन सा विरामचिह्न शुद्ध और उपयुक्त है।}

सारांश

वाक्य भाषा की न्यूनतम इकाई है। भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से वाक्य-रचना की शुद्धता आवश्यक है। भावों एवं विचारों की शुद्धता, स्पष्टता और संप्रेषणीयता शद्ध वाक्य-रचना पर ही निर्भर है।

"वाक्य विशिष्ट क्रम से सजाए हुए सार्थक शब्दों का समूह है, जिनमें परस्पर योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति हो।" वाक्य गठन की तीन मुख्य विशेषताएँ हैं—योग्यता, आकाक्षा, आसत्ति।

हिन्दी भाषा-शिक्षण में वाक्य का इतना महत्त्व होते हुए भी उसके शिक्षण की उपेक्षा होती रही है, शायद इसका एक कारण हिन्दी का मातृभाषा होना और विद्यालय-प्रवेश के पहले से ही बोलने की योग्यता का होना है।

वाक्य रचना शिक्षण का उद्देश्य है—बालकों को शुद्ध हिन्दी वाक्य रचना का ज्ञान एवं उसके प्रयोग की योग्यता प्रदान करना।

अर्थ की दृष्टि से वाक्य आठ प्रकार के होते हैं—विधानार्थक, निषेधार्थक, आज्ञार्थक, प्रश्नार्थक, विस्मयादि बोधक, इच्छा बोधक, सन्देह सूचक, संकेतार्थक।

रचना की दृष्टि से वाक्य के मुख्य दो अवयव होते हैं–उद्देश्य एवं विधेय।

वाक्य में शब्दों का ठीक-ठीक सम्बन्ध जानने के लिए उनका एक दूसरे से अन्वय, एक दूसरे पर उनका अधिकार और उनका क्रम जानना आवश्यक होता है। अन्वय के अन्तर्गत कर्त्ता और क्रिया का अन्वय, कर्म और क्रिया का अन्वय, संज्ञा और सर्वनाम का अन्वय, विशेष्य एवं विशेषण का अन्वय जानना आवश्यक है।

हिन्दी वाक्य में पदक्रम का साधारण नियम यह है कि पहले कर्त्ता, फिर कर्म या पूरक और अन्त में क्रिया रखते हैं। करण का विस्तार कर्त्ता के पहले, कर्म का विस्तार कर्म के पहले और क्रिया विशेषण क्रिया के पहले रखे जाते है। बल के लिए इस क्रम में अन्तर हो सकता है।

कभी-कभी संक्षिप्तता अथवा गरिमा लाने के लिए वाक्य में कुछ शब्द छोड़ दिए जाते है, पर वाक्य का अर्थ स्पष्ट बना रहता है। भाषा के इस व्यवहार को अध्याहार कहते हैं।

रचना की दृष्टि से वाक्य के तीन प्रकार है—साधारण, मिश्र, संयुक्त।

हिन्दी वाक्य रचना में सामान्यतः निम्नांकित त्रुटियाँ पाई जाती है—

व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध, वाक्य, अस्पष्ट वाक्य, निरर्थक, शिथिल जटिल, अनिर्वहित, निरर्थक शब्द वाले वाक्य, द्विरुक्ति अथवा पुनरुक्ति का दोष

बेमेल शब्द-योजना, कार्य कारण सम्बन्ध का अभाव, अपेक्षक वाक्य, मिश्र वाक्य सम्बन्धी दोष ।

वाक्य-रचना शिक्षण के लिए निम्नांकित अवसरों का प्रयोग किया जा सकता है—गद्य शिक्षण के समय, मौखिक एवं लिखित रचना शिक्षण के समय, व्याकरण शिक्षण के समय, विविध साहित्यिक कार्यक्रम ।

विरामचिह्नों का भी उचित प्रयोग माध्यमिक स्तरों पर अवश्य बता देना चाहिए । हिन्दी लेखन में निम्नांकित विरामचिह्न प्रयुक्त होते हैं—

अल्प विराम (,) अर्द्ध विराम (;) पूर्ण विराम (।) प्रश्न चिन्ह (?) विस्मयादि सूचक (!) निर्देश (—)कोष्ठक ( ) अवतरण चिह्न (' ') विवरण चिह्न (:—) योजक या विभाजक(—)

प्रश्न

1. भाषा-शिक्षण में वाक्य रचना शिक्षण का क्या महत्त्व है ?
2. वाक्य रचना शिक्षण की उपेक्षा के मुख्य कारण क्या है और उसका बालकों की भाषा-योग्यता पर क्या प्रभाव पड़ता है ।
3. हिन्दी वाक्य भाव-द्योतन की दृष्टि से कितने प्रकार के होते है ?
4. वाक्य में मुख्य अवयव क्या हैं ? वाक्य में उनके स्थान को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए ।
5. वाक्य में कर्त्ता और क्रिया के अन्वय से क्या तात्पर्य है ? उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए ।
6. वाक्य में शब्दों का ठीक-ठीक सम्बन्ध जानने के लिए किन नियमों का परिचय आवश्यक है ?
7. क्रिया किन-किन स्थितियों में कर्म से प्रभावित होती है ?
8. व्याकरणीय पदक्रम से क्या तात्पर्य है ? हिन्दी वाक्य-गठन में पद क्रम की क्या व्यवस्था है ?
9. बल के लिए विशेष पदक्रम के कुछ उदाहरण दीजिए ।
10. 'अध्याहार' से क्या अभिप्राय है ? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए ।
11. हिन्दी वाक्य के कितने प्रकार है ? प्रत्येक की रचना सम्बन्धी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए ।
12. संयुक्त और मिश्र वाक्य में क्या अंतर है ? उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए ।

13. वाक्य-रचना सम्बन्धी दोषों का उल्लेख कीजिए। उनका निवारण आप किस प्रकार करेंगे ?

14. वाक्य-रचना शिक्षण के अवसर एवं शिक्षण-प्रक्रिया पर अपने विचार लिखिए।

15. वाक्य-रचना सिखाने के लिए किस प्रकार के अभ्यास अपेक्षित है ? उदाहरण भी दीजिए।

16. हिन्दी में किन विरामचिह्नों का प्रयोग होता है ? अल्प विराम और अर्द्ध विराम का अंतर सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

10
मौखिक रचना-शिक्षण

[रचना से तात्पर्य, मौखिक रचना का महत्त्व, मौखिक रचना सम्बन्धी अपेक्षित गुण एवं विशेषताएँ, मौखिक प्रकाशन के मूल आधार, मौखिक रचना-शिक्षण के उद्देश्य, मौखिक रचना-शिक्षण के विविध अवसर एवं रूप, मौखिक रचना-शिक्षण में सामान्य ध्यातव्य बातें, मौखिक रचना का संशोधन, पाठ-विकास एवं पाठ-संकेत]

केयूरा न विभूषयंति पुरुषं
हारा न चंद्रोज्ज्वलाः
न स्नानं न विलेपनं न
कुसुमैश्चालंकृता मूर्धजाः ।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं
या संस्कृता धार्यते
क्षीयंते खलु भूषणानि
सततं-वाग्भूषणं भूषणम् ॥

"मनुष्य को न तो केयूर (भुजबंध), न चन्द्रमा समान उज्ज्वल हार, न स्नान, न सुगन्धित द्रव्यों का लेपन और न फूलों से सजे हुए केश ही शोभा देते हैं। पुरुष का सबसे बड़ा अलंकरण उसकी सुसंस्कृत वाणी है क्योंकि और सब आभूषण तो टूट या घिस भी जाते है किन्तु वाणी सदा बनी रहती है। इसलिए वाणी ही वास्तव में एक मात्र भूषण है।"

रचना से तात्पर्य :

भावों एवं विचारों का प्रकाशन ही रचना है। मनुष्य अपने भावों एवं विचारकों को प्रकाशित करने के लिए उन्हें वाणी अर्थात् भाषा का परिधान प्रदान करता है और यह क्रिया ही भाषा-शिक्षण के क्षेत्र में रचना कहलाती है। पर रचना शब्द से कुछ और भी व्यंजित होता है। रचना का अर्थ है निर्माण करना

नवसृष्टि, सजाना, सँवारना। निर्माण या नवसृष्टि में नवीनता और मौलिकता का तथा सजाना और सँवारना में साज-शृंगार एवं लालित्य का अर्थ निहित है। अतः रचना का वास्तविक तात्पर्य है—अपने भावों एवं विचारों को सुसंबद्ध रूप से शुद्ध, स्पष्ट एवं समलंकृत भाषा में इस प्रकार प्रकाशित करना कि उसमें एक नूतनता एवं मौलिकता भी प्रतिभाषित हो।

मनुष्य अपने भावों एवं विचारों को भाषा द्वारा बोलकर या लिखकर व्यक्त करता है। अतः रचना के भी दो स्पष्ट रूप हैं—**मौखिक रचना** एवं **लिखित रचना**। इस अध्याय में मौखिक रचना पर विचार करना ही हमारा प्रतिपाद्य विषय है।

मौखिक रचना का महत्व

(i) **मानव जीवन में नित्यप्रति व्यवहार की दृष्टि से भाषा का मौखिक रूप भाषा के लिखित रूप की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।** जीवन के अधिकांश कार्य मौखिक रूप से अभिव्यक्त वाणी द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। मित्रो का हास-विलास, वार्तालाप, पारिवारिक एवं सामाजिक स्तर पर भावों एवं विचारों का आदान-प्रदान, विचार-विमर्श, भाषण, प्रवचन, धार्मिक, सांस्कृतिक, एवं राजनैतिक विचारों का प्रचार और प्रसार, शिक्षा-दीक्षा आदि सभी कार्यों के संचरण एवं संवहन में मौखिक भाषा की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है।

मौखिक अभिव्यक्ति का क्षेत्र लिखित अभिव्यक्ति की अपेक्षा अधिक विस्तृत और व्यापक है। इस उन्नत युग में भी विश्व में अनेक ऐसी भाषाएँ है जिनकी अपनी कोई लिपि नही है और उस भाषा के प्रयोक्ता मौखिक रूप में ही उसका प्रयोग करते है। इससे स्पष्ट है कि भाषा का मूल रूप मौखिक ही है। लिखित भाषा मुखरित भाषा का ही कालांतर में विकसित प्रतीक रूप में ध्वन्यात्मक संकेत मात्र है।

(ii) **लिखित भाषा के विकास के पूर्व मौखिक भाषा ही ज्ञानार्जन का भी साधन थी।** प्राचीन भारत में सारी शिक्षा ही मौखिक रूप से होती थी। गुरु के मुख से सुन-सुनकर वेदों की शिक्षा शिष्यगण प्राप्त कर लेते थे और सम्पूर्ण वेद कण्ठस्थ कर लेते थे। इस परम्परा के कारण वेदों को श्रुतियों की संज्ञा से विभूषित किया गया। गुरु-शिष्य की इस परम्परा द्वारा समस्त ज्ञान संचित रहता था और भावी संतति को सुलभ हो जाता था। इस दृष्टि से मौखिक अभिव्यक्ति की प्रमुखता और महत्ता स्वतः स्पष्ट हो जाती है।

(iii) **मौखिक भाषा के महत्त्व के कारण शिक्षा-क्रम में वक्तृत्व कला (जो मौखिक रचना का ही एक रूप है) का सदा ही ऊँचा स्थान रहा है।** प्राचीन ग्रीक शिक्षा-व्यवस्था मे, जो यूरोपीय सभ्यता एवं संस्कृति की जननी रही है, व्याकरण, काव्यशास्त्र के साथ-साथ अलंकार शास्त्र, भाषाशास्त्र और वक्तृत्व कला को वहुत्व महत्त्व दिया जाता था। रोमन शिक्षा-व्यवस्था में भी वक्तृत्व कला, वाक्चातुर्य और शास्त्रार्थ कला को विशेष स्थान दिया गया था। कैथोलिक

शिक्षा-क्रम में सप्त उदार कलाओं में भाषण-कला का महत्त्वपूर्ण स्थान था। पुनरुत्थान काल में भी भाषण-कला का महत्त्व बना रहा। चीन और जापान की शिक्षा-व्यवस्था में भी वक्तृत्व कला को उच्च स्थान प्राप्त था।

(iv) **मौखिक भाषा का महत्त्व सार्वजनिक जीवन में और भी परिलक्षित होता है।** लिखे हुए शब्द उस चित्र के समान है, जिनमें रंग, रूप और शरीर (आकार-प्रकार) तो है, पर प्राण नही। इसके विपरीत बोले हुए शब्दों में रूप, रंग और शरीर न होते हुए भी प्राण, चेतना और प्रवाह है। मुखरित वाणी व्यक्तित्व से अनुरंजित, भावनाओं से अनुप्राणित, हाथों की लहरियों से गतिमान एव नेत्र, मुख आदि की विविध मुद्राओं से प्राणवान् होते है। ध्वनियो का आरोह-अवरोह, स्वरों की उच्चता और मंदता, भावानुरूप वाणी का कम्पन, ओजस्विता और मधुरिमा, उचित हाव-भाव आदि से मौखिक भाषा को एक अद्भुत शक्ति, सजीवता और मर्मस्पर्शिता प्राप्त होती है जो लिखित भाषा के लिए सम्भव नही। कहा जाता है कि इंग्लैंड के पार्लियामेंट में विरोधी दल के नेता ग्लैडस्टन में अपनी चमत्कारपूर्ण मर्मस्पर्शी एवं प्रभावपूर्ण वाणी से पूरे सदन को अपने पक्ष में कर लेने की अद्भुत शक्ति थी। अतः इससे बचने के लिए एक बार विक्टोरिया ने ग्लैडस्टन को अपनी बात लिखित रूप में प्रस्तुत करने के लिए कहा था।

मौखिक भाषा में निरक्षरों एवं सामान्य जन को भी उद्वेलित और स्पंदित कर देने की शक्ति होती है जब कि लिखित भाषा द्वारा केवल शिक्षितो को ही प्रभावित किया जा सकता है। मौखिक भाषा सर्वजनसुलभ भाषा है।

(v) **मौखिक रचना व्यक्तित्व के विकास का एक श्रेष्ठ साधन है।** सर विलियम विटर का यह कथन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पूर्णतः सही है कि आत्मप्रकाशन मनुष्य की प्रमुख आवश्यकता है। व्यक्ति अपने हृदय में उठे हुए भावों एव विचारों की अभिव्यक्ति से एक परितृप्ति का अनुभव करता है और इसके अभाव में वह अनेक ग्रंथियों, कुंठाओ एवं मानसिक प्रतिरोधों का शिकार हो जाता है। इस दृष्टि से आत्मप्रकाशन बालक के स्वस्थ व्यक्तित्व-विकास का साधन सिद्ध होता है।

(vi) **वाणी केवल आत्मप्रकाशन का ही साधन नहीं है अपितु उसके द्वारा हम व्यक्ति विशेष की प्रकृति का भी आभास पा लेते हैं।** । वाणी व्यक्ति की अन्तरात्मा का उद्घाटन करती है और उसे प्रकाश में ला देती है। अतः वाणी के सम्यक् संस्कार एवं उचित प्रयोग के अभ्यास द्वारा मनुष्य अपनी प्रकृति में भी सुधार कर सकता है। शात, स्निग्ध, शीतल वाणी के प्रयोग से मनुष्य अपनी तामसिक वृत्तियां—क्रोध, घृणा, प्रतिशोध, द्वेष, अपकार आदि वृत्तियों का शमन कर लेता है और आत्मनिग्रही बन सकता हैं। वाणी का सबसे बड़ा संयम है। 'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे मर्त्ये च कामधुक् भवति।' अतः व्यक्तित्व के परिस्फुटन और विकास के लिए अपनी वाणी पर नियंत्रण प्राप्त करना आवश्यक है। यह एक

वत वड़ी सद्वृत्ति का विकास करना है और इस दृष्टि से मौखिक रचना का महत्त्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

(vii) **सामाजिक दक्षता को आज की शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य माना जाता है। यह सामाजिक दक्षता बहुत कुछ भावों एवं विचारों के मौखिक प्रकाशन पर निर्भर है।** सामाजिक स्तर पर विचारों के विनिमय में जो व्यक्ति जितना ही कुशल होता है, उसमें सामाजिक दक्षता उतनी ही अधिक मानी जाती है। कुशल वक्ता अपनी वाणी के प्रभाव से श्रोताओं को मुग्ध कर लेता है और उन्हें अपनी बात से सहमत कर लेता है। वाणिज्य-व्यवसाय से लेकर धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक रंगमंच तक सर्वत्र ही वाणी का चमत्कार और उसकी सफलता दीख पड़ती है। कुशल व्यापारियों, एजेंटों विक्रेताओं आदि को तो इस दृष्टि से विशेष प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है।

जनतांत्रिक समाज में अपने विचारों को प्रकट करने और उनके प्रचार एवं प्रसार की पूरी स्वतंत्रता होती है। अतः अच्छा वक्ता, चाहे उसे बुद्धिजीवियों के बीच बोलना हो या सार्वजनिक रंगमंच पर, सफलता प्राप्त कर लेता है। इस कला से रहित व्यक्ति, चाहे वह कितना ही विद्वान् और विचारक क्यो न हो, लोगों को अपना अनुगामी नही बना सकता।

आज का युग विज्ञापन का, दूसरे शब्दों में ध्वनि-संचार का युग है। जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रचार और प्रसार का महत्त्व है। आज मनुष्य की वाणी यंत्रों के माध्यम से—टेलिफोन, रेडियो, टेलिविजन, चलचित्र आदि द्वारा—सर्वत्र गूंजती रहती है। इस प्रकार हम शब्दों की दुनियाँ में रह रहे है। जिस मानव-समुदाय के पास इस मौखिक भाषा की शक्ति और चमत्कार नहीं है, वह उन्नत और विकासशील नही है। अतः वैयक्तिक दृष्टि से ही नही, सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर भी विकास और उन्नति की दृष्टि से मौखिक प्रकाशन की प्रभविष्णुता आवश्यक है।

मौखिक रचना की शिक्षा भाषा–शिक्षा की आधारशिला है। सभी भाषा विदों एवं भाषा-शिक्षण शास्त्रियों का मत है कि भाषा का शिक्षण मौखिक रचना से ही आरम्भ होना चाहिए। भाषा शिक्षण की पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए मौखिक रचना की शिक्षा बहुत सहायक सिद्ध होती है। मौखिक रचना के शिक्षण द्वारा बालकों को सुनने और बोलने का भाषिक कौशल प्राप्त होता है और इससे भाषा पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। यह योग्यता पढ़ने, लिखने की योग्यता अर्जित करने में आधार बन जाती है। यदि मौखिक भाषा आती है तो उसके लिखित प्रतीकों का ज्ञान अर्थात् **लिखना**, और उन्हें मुखरित करना अर्थात् **पढ़ना** भी सरलता से बालक सीख लेता है।

कुछ विद्वानों ने बोलने की शिक्षा की अपेक्षा 'पढ़ने' की शिक्षा को भाषा-शिक्षण मे अधिक प्रधानता दी है। डॉ० वेस्ट का कहना है कि "लिखने अथवा

बोलने की अपेक्षा पढ़ना कहीं अधिक सरल है। अतः मौखिक रचना की शिक्षा की अपेक्षा पढ़ने को प्राथमिकता देनी चाहिए। उनका मत है कि पढ़ने की अपेक्षा बोलने में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं; साथ ही एक साधारण बुद्धि के बालक के लिए, जो अपनी शिक्षा अधूरी ही छोड़ देता है, पठन-शिक्षा बोलने की शिक्षा की अपेक्षा अधिक उपयोगी और मूल्यवान सिद्ध होती है, क्योंकि वह पुस्तकों के सहारे अपना अध्ययन आगे भी जारी रख सकता है। तीव्र बुद्धि वाले बालकों के लिए भी पठन-शिक्षा ही शुद्ध भाषा सीखने का साधन और स्रोत सिद्ध होती है।" डॉ० वेस्ट का यह कथन मातृभाषा-शिक्षण की दृष्टि से उपयुक्त नहीं सिद्ध होता। अन्य भाषा शिक्षण में यह कथन कुछ उपयुक्त सिद्ध हो सकता है, यद्यपि वहां भी यह विवाद की ही बात है। मातृभाषा में तो बालक विद्यालय मे प्रविष्ट होने से पहले मौखिक अभिव्यक्ति कुछ न कुछ करने लगता है, अतः उसे ही भाषा-शिक्षण का आधार बनाया जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि पठन-शिक्षा में बालकों के लिए अक्षर-ज्ञान आवश्यक है जिसके विविध रूपों को पहचानने और उन्हें मिलाकर सप्रवाह पढ़ने में कठिनाई होती है। लिपी-प्रतीकों को स्वर में परिणित करना अथवा पठन में चक्षुगति पर नियंत्रण स्थापित कर लेना बच्चों के लिए कठिन होता है, अतः प्रारम्भिक कक्षाओं में मौखिक आत्म प्रकाशन का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

कुछ लोगों का मत है कि मातृभाषा-शिक्षण मे मौखिक रचना शिक्षण का स्वतंत्र स्थान नही है। यह लिखित रचना का ही एक अंग है। लिखित रचना के प्रसंग में ही मौखिक रचना की यथावश्यक शिक्षा प्रदान कर देना यथेष्ट है। किन्तु यह धारणा भी निर्मूल है। मौखिक रचना के महत्व पर प्रकाश डाला जा चुका है और उससे स्पष्ट है कि मौखिक रचना की शिक्षा का स्वतंत्र अस्तित्व है। पी०बी० बेलार्ड ने स्वतंत्र रूप से मौखिक रचना की शिक्षा का प्रतिपादन किया है और कहा है कि ऊँची कक्षाओं में भी इसकी शिक्षा के लिए अवसर मिलना चाहिये। लेम्बार्न के अनुसार अच्छा लेख एक सुविचारित भाषण ही है और लिखित कार्य की अपेक्षा मौखिक कार्य को विद्यालयीय शिक्षा में अंत तक प्रमुखता देनी चाहिए। मौखिक रचना की शिक्षा से लिखित रचना की शिक्षा में यथेष्ट सहायता मिलती है। इसी कारण अनेक भाषा-शिक्षण विशेषज्ञों का मत है कि मौखिक रचना लिखित रचना का पूर्ववर्ती सोपान है।

मौखिक रचना का महत्व बालक के शब्द भण्डार की अभिवृद्धि की दृष्टि से भी अत्यधिक है। इसके द्वारा परिचित शब्दावली के उचित प्रयोग की क्षमता बढ़ती जाती है और बालक बोले जाने वाले विविध विषयों के अनुसार नवीन शब्दावली के परिचय की आवश्यकता का अनुभव करता है और उन्हें अर्जित करने का प्रयास करता है। अतः अपने-आप शब्द भंडार की अभिवृद्धि होती जाती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मौखिक रचना का शिक्षण भाषा-शिक्षण की आधार शिला के साथ-साथ विविध भाषिक-कौशलों की प्राप्ति में भी सहायक है। वस्तुतः भाषा के पूर्ण संश्लिष्ट रूप के प्रयोग का अवसर तो भावों एवं विचारों के प्रकाशन से ही समय मिलता है और तभी भाषा के शुद्ध एवं सच्चे रूप का बोध होता है, अन्यथा ध्वनि, लिपि, शब्द, वाक्य आदि का शिक्षण तो भाषा के अवयवों का ही शिक्षण है और वे अपने आप में पूर्ण नहीं है।

मौखिक रचना संबंधी अपेक्षित गुण एवं विशेषताएँ

भावों एवं विचारों के मौखिक प्रकाशन में निम्नांकित गुण या विशेषताएँ अपेक्षित हैं—

1. निःसंकोच बिना झिझक के बोलना—प्रारम्भिक कक्षाओं में बालक बोलने में झिझकते हैं। उन्हें प्रोत्साहित करते हुए धीरे-धीरे उनकी यह प्रवृत्ति दूर कर देनी चाहिए। विद्यालय में आयोजित विभिन्न साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमो में सक्रिय भाग लेने से यह प्रवृत्ति दूर हो जाती है। कुछ लोगों में संकोच की प्रवृत्ति बुढ़ापे तक बनी रहती है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि नागरी प्रचारिणी सभा के के एक मन्त्री सभा का कार्य-विवरण पढ़ने में भी संकोच प्रकट करते थे। अतः य प्रवृत्ति अवश्य दूर होनी चाहिए।

2. शुद्ध उच्चारण—मौखिक आत्मप्रकाशन की प्रभविष्णुता भाषा के शुद्ध उच्चारण पर निर्भर है। ध्वनि, शब्द, पदबंध और वाक्य, इन सभी स्तरों पर उच्चारण की शुद्धता अपेक्षित है। अतः प्रारम्भिक स्तर से ही बालकों को शुद्ध उच्चारण की दृष्टि से प्रशिक्षित करना चाहिए और माध्यमिक स्तर पर तो ध्वनियों के उच्चारण स्थान, प्रकृति और प्रयत्न से भी परिचित करा देना चाहिए।

3. शुद्ध भाषा का प्रयोग—व्याकरण सम्मत भाषा का प्रयोग ही शुद्ध भाषा का प्रयोग है। वाक्य में पदक्रम ठीक होना चाहिए। हिन्दी में पदक्रम व्यवस्था बहुत नियमों से जकड़ी हुई नही है। अतः पदक्रम में हम आवश्यकता से अधिक छूट ले लेते हैं। यह प्रवृत्ति भाषा को अव्यवस्थित कर देती है। व्याकरणीय पदक्रम व्यवस्था का पालन आवश्यक है।

स्थानीय भाषाओं के प्रभाव से वाक्य रचना में जो दोष आ जाते हैं, उनसे भी बचना चाहिए 'हम खाएँ', 'इम पढे', 'मैंने को जाना है' आदि का प्रयोग ऐसे ही हैं। अतः सर्वदा मानक भाषा के प्रयोग का ही आग्रह करना चाहिए।

आजकल खिचड़ी भाषा (हिन्दी, फारसी, अंग्रेजी शब्दों का मेल) के प्रयोग की प्रवृत्ति बहुत चल पड़ी है। इस प्रवृत्ति को दूर करना चाहिए। अंग्रेजी माध्यम से पढ़ने वाले बालकों में यह प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। हिन्दी बोलते समय हिन्दी शब्दों का ही प्रयोग शुद्ध भाषा की दृष्टि से आवश्यक है।

4. स्वाभाविक एवं स्पष्ट भाषा का प्रयोग—कथन की सार्थकता उसकी संप्रेषणीयता में है, अतः भाव-प्रकाशन की भाषा सरल, स्वाभाविक एवं स्पष्ट होनी चाहिए। कभी-कभी कलात्मकता अथवा साहित्यिक भाषा के मोह में लोग सामान्य बोल-चाल में भी अलंकृत भाषा का प्रयोग करने लगते है। इस प्रवृत्ति से शिक्षक को स्वयं बचना चाहिए और बालकों को भी बचाना चाहिए।

5. व्यावहारिक भाषा का प्रयोग—आत्मप्रकाशन की दृष्टि से लोकप्रचलित भाषा का प्रयोग वांछनीय है। मुहाविरों, लोकोक्तियों, सूक्तियों आदि के यथा अवसर प्रयोग से कथन में सजीवता आ जाती है। भाषा में अपूर्व शक्ति होती है, पर उसके उचित प्रयोग की कला में अवगत होना चाहिए। यदि हम किसी को पेटू कहते हैं तो उसके क्रोध का भाजन बनते हैं, पर 'उसकी पाचन शक्ति तीव्र है' कथन से वह प्रसन्न होता है, यद्यपि आशय एक ही है। इसीलिए किसी को मूर्ख कहने की जगह हम उसे महापंडित की उपाधि से विभूषित कर देते हैं।

6. सशक्त भाषा का प्रयोग—भावों एवं विचारों को व्यक्त करने में समर्थ भाषा का प्रयोग होना चाहिए। भावानुरूप उपयुक्त शब्दों का चयन इस दृष्टि से आवश्यक है। समानार्थी शब्दों में से उपयुक्त शब्द को प्रसंग के अनुसार प्रयुक्त करने से भाषा सशक्त बनती है।

7. कथन की प्रभविष्णुता—कथन को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए निम्नांकित बातों का ध्यान भी होना चाहिए—

(i) **स्वराघात**—यथावश्यक स्थलों पर उचित बल देते हुए अपना कथन प्रस्तुत करना।

(ii) **अनुतान**—उचित अनुतान के साथ कथन प्रस्तुत करना। इससे अर्थ और आशय की भी स्पष्टता बनी रहती है।

(iii) **स्वर**—श्रोताओं की संख्या के अनुसार ही बोलते समय स्वर की उच्चता या मन्दता का ध्यान रखना।

(iv) **गति**—सामान्य गति ही अपनानी चाहिए। अत्यधिक तीव्र गति से श्रोता वक्ता के विचारों का अनुसरण नहीं कर पाते। अत्यधिक मंद गति से भी अभिव्यक्ति में शिथिलता आ जाती है।

(v) **यति**—उपयुक्त स्थलों पर उचित विराम। इससे श्रोता कथन का भाव समझता चलता है।

(vi) **ध्वनि का आरोह-अवरोह**—भावानुरूप उचित स्थलों पर वाणी का चढ़ाव-उतार। इससे वक्ता का आशय तो स्पष्ट होता ही है वह श्रोताओं को अनुप्राणित, भावोद्रिक्त एवं रससिक्त करने में भी सफल होता है।

(vii) **उचित भाव-भंगिमा या मुद्रा**—बोलते समय उचित हाव-भाव। यह ध्यान रखना चाहिए कि हाव-भाव मे कृत्रिमता या अतिशयता अवांछनीय है। बहुत ही संयत मुद्रा ही प्रभावपूर्ण सिद्ध होती है। अतिशयता तो उपहासजनक सिद्ध होती है। उत्साह, प्रफुल्लता विषय के प्रति अभिरुचि आदि से संबंधित मुखमुद्रा के द्वारा कथन में जान आ जाती है।

(viii) **प्रवाह**—प्रवाह का तात्पर्य है सुचारु गति से, बिना क्रम भंग किए हुए विचारो को प्रकट करते जाना। अभिव्यक्ति में क्रमबद्धता, विचारों की सुसम्बद्धता और एकता, उचित वाक्य-गठन आदि से कथन में अपने-आप प्रवाह आ जाना है। रुक-रुक कर बोलना, अनावश्यक स्थलों पर विराम, हकलाना, भावानुरूप शब्दों के लिए अटकना या सोचने की मुद्रा बनाना आदि बातें प्रवाह में व्याघात उत्पन्न करती हैं। कथन में पूर्वापर संबंध बनाए रखना तथा उसकी शृंखला में व्यतिक्रम न आने देना ही प्रवाह को बनाए रखना है।

(ix) **ओजस्विता**—ओजस्वी वाणी से कथन प्रभावपूर्ण बनता है। नीरस और निर्जीव ढंग से प्रस्तुत कथन अपना प्रभाव खो देता है।

कथन की प्रभावपूर्णता की कसौटी है, श्रोताओं की जिज्ञासा, कौतूहल और रुचि का बने रहना। यदि वे वक्ता के कथन के प्रति तन्मय और तल्लीन हैं और सुनने के लिए अभिलाषी बने हुए हैं तो समझना चाहिए कि कथन प्रभावपूर्ण है।

8. **विषय एवं भाव के अनुकूल भाषा का प्रयोग**—माध्यमिक एवं विशेषतः उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में बालकों में यह योग्यता भी आ जानी चाहिए कि वह विषय एवं भावानुरूप भाषा का प्रयोग करने लगे। वीर रस की ओजस्वी वाणी, शांत रस की शीतल वाणी, हास्य रस की सहास उत्फुल्ल वाणी, करुण रस की आर्द्र वाणी, शृंगार रस की मधुसिक्त वाणी का प्रभाव ही कुछ और होता है, सामान्य कथन उसकी समता कभी नहीं कर सकते। इसी प्रकार दार्शनिक, धार्मिक, राजनैतिक, मनोरंजन आदि प्रकरणों के लिए प्रयुक्त भाषा में भी भिन्नता होती है। इसका ध्यान रखना आवश्यक है।

9. **अवसरानुकूल भाषा**—मौखिक प्रकाशन की भाषा परिस्थिति, अवसर एवं श्रोताओं के अनुसार प्रयुक्त होनी चाहिए। बच्चों से अनौपचारिक वार्तालाप, कक्षा में साहित्य-शिक्षण, औपचारिक भाषण या व्याख्यान, विद्वत् मण्डली में विचार-विमर्श आदि विभिन्न अवसरों पर भाषा का रूप बदल जाता है। कहीं तो भाषा सरल, बोलचाल की होती है और कहीं गंभीर चिंतन प्रधान हो जाती है।

परिस्थिति के अनुसार भाषा का रूप बदल देना एक विशिष्ट योग्यता मानी जाती है। शोक की भाषा अलग है और हर्ष की अलग। कहा जाता है कि एक बार

कालिदास राजा भोज से असन्तुष्ट होकर अज्ञात स्थान में चले गए। महाराज को कालिदास का वियोग सहन न हुआ। वे वेश बदल कर उनके पास पहुँचे और समाचार दिया कि राजा भोज मर गए। सुनते ही कालिदास शोक विह्वल हो उठे और बोले—"अद्यधारा निराधारा, निरालंबा सरस्वती। पंडिता खंडिता सर्वे, भोजराज दिवंगते।" कालिदास का अपने प्रति प्रेम देखकर भोज की आँखों में आँसू आ गए और उन्होंने बताया कि यह समाचार झूठा है। यह सुनते ही कालिदास हर्ष विह्वल हो उठे और बोले—"अद्यधारा सदाधारा, सदालंबा सरस्वती। पंडिता मंडिता सर्वे, भोजराज भुवंगते।" दो-एक शब्दों के परिवर्तन से ही शोक की अभिव्यक्ति हर्ष की अभिव्यक्ति बन गई।

10. शिष्टजनोचित भाषा का प्रयोग एवं भाषा-शिष्टाचार[1] का पालन—प्राथमिक स्तर पर ही बालक को विविध अवसरों पर प्रयुक्त होने वाले शिष्टाचार संबंधी शब्द सिखा देने चाहिए और उनके प्रचुर अभ्यास भी करा देने चाहिए। आप, शुभनाम, नमस्कार, प्रणाम, आइए, पधारिए, विराजिए, आपने कैसे कष्ट किया, क्या आज्ञा है, मेरे लिए क्या आदेश है, मेरे योग्य सेवा, क्षमा करें, खेद है, कृपा कीजिए, बधाई, धन्यवाद आदि का प्रयोग बालकों को वार्तालाप एवं अन्य अवसरों पर सिखा देना चाहिए।

बोलते समय उचित रीति से खड़ा होना, सभापति तथा श्रोताओं को सम्बोधित करना, स्वागत करना, धन्यवाद देना, आभार प्रकट करना आदि भी छात्रों को सिखा देना चाहिए।

छात्रों को इसका ज्ञान होना चाहिए कि किसके साथ किस प्रकार बातचीत करें, किस अवसर पर कैसी मुद्रा या भाव-भंगिमा धारण करें। उन्हें सदा ही विनय, अनुशासन और शील के साथ बोलना चाहिए।

भाषा-शिष्टाचार में छात्रों को वार्तालाप, गोष्ठी, भाषण, व्याख्यान आदि अवसरों पर प्रयुक्त संबोधनों एवं उपयुक्त शब्दावली से भी परिचित करा देना चाहिए। संबोधन संबंधी विशेषण—श्री, श्रीमान्, श्रीमती, श्रीयुत, सुश्री, कुमारी, पंडित, बाबू, स्वामी, आदरणीय, पूजनीय, श्रद्धेय आदि का प्रयोग सिखा देना भी आवश्यक है। नाम के अन्त में 'जी' का प्रयोग हमारी संस्कृति का अंग है।

11. मधुरिमा एवं शीतलता—भाषा मधुर एवं शीतल होनी चाहिए। वाणी की मिठास या मधुरता से बड़े-बड़े कार्य सिद्ध हो जाते है। इस शीतलता एवं मधुरता के गुण से गांधी जी की वाणी में अद्‌भुत प्रभाव एवं चमत्कार था।

"तुलसी मीठे वचन ते सुख उपजत चहुँ ओर।
वसीकरन एक मन्त्र है तज दे वचन कठोर॥" अथवा

---

1. Language ettiquette.

"ऐसी वानी बोलिए, मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करे, आपुहि सीतल होय।"

ये कथन भाषा की मधुरता, सरसता और शीतलता के गुणों को ही सिद्ध करते हैं। अपने प्रतिपक्षी पर विजय पाने का यह एक बड़ा अस्त्र है।

12. मर्मस्पर्शिता—हृदय को स्पर्श करने वाली भाषा बड़ी ही प्रभावपूर्ण होती है। पंडित मदनमोहन मालवीय की वाणी में यही जादू था। भोज को उसके चाचा राजा मुंज ने प्राणदंड देकर जंगल में वध करने के लिए भेज दिया था। भोज ने वधिकों द्वारा यह संदेश राजा के पास भिजवा दिया—

"मान्धाता च महीपतिः कृतयुगालकार भूतो गतः
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः।
अन्ये चापि युधिष्ठर प्रभृतयो या ता दिवं भूपते—
नैके नापि समं गता वसुमती नूनं त्वया यास्यति।।"

कहा जाता है यह सुनते ही राजा मुंज को अपने घृणित कार्य के प्रति पश्चात्ताप होने लगा और भोज प्राणदंड से मुक्त होकर राज-सिंहासन पर आसीन हुआ।

रत्नावली की एक ही मार्मिक उक्ति "अस्थि चरममय देह मम, तामे जैसी प्रीति। तैसी श्रीराम महँ, होति न तौ भव-भीति।।" ने तुलसी की काया पलट कर दी और वे इतने महान् भक्त, साधक और कवि बन गए। बिहारी के इस मार्मिक दोहे "नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिकाल। अली कली ही तैं बंध्यो, आगे कौन हवाल।" ने जयपुर नरेश को उनकी नवपरिणीता किशोरी रमणी के मोहपाश से मुक्त कर राज-काज की ओर प्रवृत्त कर दिया था।

इस प्रकार मर्मस्पर्शी वाणी के चमत्कार साहित्यिक जगत में अनेक मिलेंगे।

13 मौलिकता—मौलिकता से तात्पर्य नवीन भावोद्भावना एवं कथन की अनूठी शैली से है। रचना की प्रभविष्णुता उसमें निहित मौलिकता पर निर्भर है। वक्ता जब कोई नया विचार प्रभावपूर्ण शैली में प्रकट करता है तो उसके भाषण के प्रति श्रोताओं की एकाग्रता और विमुग्धता बनी रहती है, अन्यथा पुरानी घिसी-पिटी बातें सुनने पर उनका मन बोझिल हो उठता है। कुशल वक्ता तो पुराने भावों एवं विचारों को भी भाषा का नूतन परिधान देकर श्रोताओं को मुग्ध कर लेता है। भाषा का यह नया कलेवर अपने-आप में एक कला है।

मौखिक प्रकाशन के मूल आधार

बोल कर अपने भावो एवं विचारों को व्यक्त करने के मूल आधार निम्नांकित हैं—

1. भौतिक पक्ष[2]—भाषा के व्यवहार के लिए निम्नांकित भौतिक आधार विचारणीय हैं—

---

2. Physical aspect.

(i) **श्वास प्रक्रिया, वाग्-अवयव** (स्वरतन्त्री, कंठ, जिह्वा, तालु, वर्त्स, दंत, ओष्ठ आदि) **एवं ज्ञानेन्द्रियाँ** (आंख, कान, नाक, हाथ आदि)–यह पहले अध्याय में लिखा जा चुका है कि मनुष्य के फेफड़ों से निकल कर वायु स्वरतंत्रियों से होती हुई एवं मुख मे आती है और उस के विभिन्न स्थानों के संयोग से ध्वनि उत्पन्न करती है। उच्चारण-प्रकरण में इन सभी अवयवों का उल्लेख किया जा चुका है। यदि फेफड़े में कोई विकार है या निर्बलता है तो श्वसन-क्रिया में कठिनाई होती है। फलस्वरूप ध्वनि उत्पन्न होने में कठिनाई होती है और वाणी की शक्ति मन्द पड़ जाती है। इसी प्रकार अन्य वाग्-अवयवों एवं ज्ञानेन्द्रियों की निर्बलता से भी वाणी में अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

(ii) **आसन**[3]–बोलते समय उचित रीति से उठने-बैठने और खड़े रहने की आवश्यकता पड़ती है। कमर झुकी हुई, गर्दन टेढ़ी या पाँवों को टेढा किए हुए खड़े रहने से बोलने की शक्ति, प्रभाव एवं गुरुता क्षीण पड़ जाती है, अतः उचित आसन का प्रशिक्षण आवश्वक है।

(iii) **उचित हाव-भाव**[4]–बोलते समय सम्यक् भाव-प्रदर्शन के लिए हाथ, सिर का संचालन, नेत्र, भ्रू-विकार, स्मित हास आदि की भी आवश्यकता पड़ती है। पर यह स्मरण रहना चाहिए कि हाव-भाव प्रति संयत होना चाहिए जो वाणी के चढ़ाव-उतार द्वारा भाव-प्रदर्शन में केवल सहायक बन सके।

2. **ध्वनि-प्रकाशन**[5]–वागिन्द्रियो से ही ध्वनियाँ निस्सृत होती हैं। इनसे संबंधित स्थानों एवं प्रयत्नों का भी उल्लेख उच्चारण–प्रकरण मे किया जा चुका है, अतः उनकी आवृत्ति की आवश्यकता नहीं है। इनके अतिरिक्त ध्वनि-प्रकाशन में निम्नांकित बातो पर भी विचार किया जाता है—

(i) **सरलता**[6]–जिह्वा तथा वागिन्द्रियों का संचालन सरलता एवं सुगमतापूर्वक होना चाहिए। निरन्तर अभ्यास से हमारी वागिन्द्रियाँ अभीष्ट गति–संचालन में प्रशिक्षित हो जाती हैं। इस अभ्यास और प्रशिक्षण के अभाव में ध्वनियों या ध्वनि-विशेष के उच्चारण में कठिनाई होती है।

(ii) **सशक्तता**[7]–मौखिक प्रकाशन में वाणी की सशक्तता आवश्यक है, अन्यथा श्रोताओ पर प्रभाव नही पड़ता। सार्वजनिक भाषण, वाद-विवाद-प्रतियोगिता, संवाद या कथोपकथन आदि में तो सशक्त वाणी और भी आवश्यक है।

(iii) **लचक**[8]–आवश्यकतानुसार ध्वनि के प्रसारण एवं संकोचन की क्षमता ही लचक है। कभी किसी शब्द को हम जानबूझ कर श्रोताओं को सुनाने के लिए और प्रभावित करने के लिए लंबा करके बोलते है और किसी शब्द को लाघव और

---

3. Posture. 4. gesture. 5. Voice-production. 6. easy.
7. power, 8. flexibility,

त्वरा से बोल जाते हैं। अपना आशय स्पष्ट करने और कथन को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए लचक का गुण आवश्यक है।

(iv) स्वर[9]–श्रोताओं की संख्या के अनुसार कभी उच्च स्वर से और कभी मन्द स्वर से बोलना पड़ता है। कभी-कभी जोश भरी बातें श्रोताओं की संख्या कम रहने पर भी उच्च स्वर से कहनी पड़ती है। भावावेश में हमारा स्वर अपने-आप ऊँचा हो जाता है। पर अनावश्यक ही उच्च स्वर में बोलना उपहास का कारण बनता है। मन्द स्वर भी शिथिलता का कारण बन जाता है। मन्द स्वर अश्रव्य नहीं होना चाहिए।

(v) माधुर्य[10]–श्रोताओं पर अभीष्ट प्रभाव की दृष्टि से वाणी की मृदुलता और सरसता आवश्यक है। वाणी में श्रुति-कटु दोष नहीं होना चाहिए।

3. शब्दोच्चारण[11]–उच्चारण–प्रकरण मे इस संबंध में विचार किया जा चुका है। यहाँ संकेत मात्र के लिए उसका उल्लेख किया जा रहा है।

(i) अक्षरावस्थान[12]–प्रत्येक अक्षर का उच्चारण मुख के जिस स्थान से होना चाहिए, वहाँ से किया जाय। इसका ठीक ज्ञान और अभ्यास न होने से ही विविध ध्वनियो की अशुद्धियाँ होती रहती हैं।

(ii) स्वराघात[13]–इनके दो रूप है। शब्द में ध्वनि-विशेष पर बल देना तथा वाक्य मे शब्द-विशेष पर बल देना। आवश्यकतानुसार अक्षर या शब्द पर बल देना ही स्वराघात है।

(iii) अनुतान[14]–अनुतान से तात्पर्य है बोलते समय वाणी का उतार-चढ़ाव। वाणी का स्वरतत्त्व ही अनुतान है। डेनियल जोन्स के अनुसार बोलते समय स्वर मे होने वाले परिवर्तनों को ही अनुतान कहते है।[15] बोलते समय हमारा स्वर[16] बदलता रहता है। जब ऊँचे स्वर में बोलते है तब उच्च स्वर,[17] जब नीचे स्वर में बोलते है तब मन्द स्वर,[18] और जब सामान्य स्वर में बोलते है तब सम-स्वर[19] रहता है।

(iv) पदबंध[20]–वाक्य में शब्द या शब्द-समूहों की इकाइयाँ होती हैं। इनमे अर्थ-ग्रहण मे भी सहायता मिलती है। इन्हे हम पद या पदबंध कहते है। बोलने में प्रत्येक पदबन्ध को एक साथ उच्चरित करते है और उनके बाद विराम[21] की

---

9. pitch, 10. pleasantness.

11. Enunciation, 12. Articulation. 13. Stress, 14. Intonation, 15. Inter-notion .. variations which take place in the pitch of voice in connected speech.", 16. Pitch, 17. Rising intonation, 18. Falling intonation, 19. Level intonation, 20. Phrasing 21. Pause.

आवश्यकता पड़ती है। इस दृष्टि से भी उच्चारण की शिक्षा आवश्यक है। एक पदबन्ध के अंश को दूसरे पदबन्ध के साथ मिला कर पढ़ने से आशय या अर्थ में अस्पष्टता आ जाती है।

(v) गति—बोलने की एक सामान्य गति होती है जिससे श्रोता वक्तव्य को समझते चलें। गति न तो अधिक तीव्र होनी चाहिए और न अधिक मन्द।

4. शब्दावली—शब्दावली की प्रचुरता पर ही प्रभावपूर्ण मौखिक प्रकाशन निर्भर है। शब्दों का प्राचुर्य और प्रयोग की दृष्टि से उनकी उपयुक्तता दोनों दृष्टियो से शब्दों का शिक्षण आवश्यक है। इस संबंध में शब्द-शिक्षण प्रकरण में विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है।

5. वाक्य गठन—वाक्य में शब्दों के उचित स्थान और क्रम की व्यवस्था ही वाक्य गठन का तात्पर्य है। इस संबंध में भी विस्तार से वाक्य-रचना शिक्षण में लिखा जा चुका है।

माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में मौखिक रचना-शिक्षण के उद्देश्य—मौखिक रचना सम्बन्धी गुणो, विशेषताओ एवं आधारों को जान लेने पर मौखिक रचना-शिक्षण के उद्देश्य सरलता पूर्वक निर्धारित किए जा सकते हैं—

1. विद्यार्थी निःसंकोच एवं आत्मविश्वास के साथ स्वाभाविक प्रसन्न मुद्रा एवं सुश्रव्य वाणी में अपने भावो एवं विचारो को प्रकट कर सकेगा। किसी भी देखे हुए, सुने हुए और पढ़े हुए विषय पर अपनी प्रतिक्रिया, धारणा एवं विचार स्पष्ट एवं शुद्ध भाषा से व्यक्त कर सकेगा।
2. मौखिक रचना संबंधी विविध कार्यक्रमों एवं आयोजनों में उत्साह के साथ सक्रिय रूप से भाग ले सकेगा।
3. वह उचित स्वराघात, अनुतान, स्वर, गति, यति, हाव–भाव और प्रवाह का ध्यान रखते हुए शुद्ध उच्चारण के साथ बोल सकेगा।
4. वह सशक्त एवं ओजस्वी वाणी में अपनी बात कह सकेगा।
5. आवश्यकतानुसार प्रभाव उत्पन्न करने के लिए स्थल विशेष की पुनरावृत्ति कर सकेगा।
6. वह व्याकरण सम्मत शुद्ध, सरल एवं स्पष्ट भाषा का प्रयोग कर सकेगा। वह परिनिष्ठित भाषा का ही प्रयोग करेगा। ग्राम्य दोष से सदा बचेगा।
7. वाक्य में शब्दो, उपवाक्यों अथवा वाक्यांशों का क्रम अर्थानुकूल रख सकेगा।
8. श्रोताओं की योग्यता को देखते हुए भाषा को सरल या गम्भीर बना सकेगा।

9. अभिव्यक्ति की दृष्टि से अभीष्ट विषय-सामग्री का चयन कर सकेगा।
10. भावों एवं विचारों के पूर्वापर संबंध का ध्यान रखते हुए उन्हें क्रमबद्ध एवं सुसंबद्ध रूप से प्रस्तुत कर सकेगा और आद्यंत विषय-सामग्री की एकता बनाए रखेगा।
11. अनावश्यक विषयान्तर नहीं करेगा।
12. अपने कथन को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए यथाप्रसंग मुहाविरों, सूक्तियों, चुटकुलों, उद्धरणों या रोचक प्रसंगों का उल्लेख कर सकेगा।
13. विषय एवं भाव के अनुकूल भाषा का प्रयोग करेगा।
14. भाषा को सजीव, सरल और मृदुल बनाए रखेगा।
15. कथन को मर्मस्पर्शी बनाए रखने का प्रयत्न करेगा।
16. मौखिक रचना के विभिन्न रूपों—वार्तालाप, भाषण, वाद-विवाद प्रतियोगिता, विचार-विमर्श आदि—का प्रयोग करते समय उचित रीतियों एवं शिष्टाचारों का पालन करेगा।

मौखिक रचना-शिक्षण के विविध अवसर एवं रूप

साधारणतः मौखिक रचना-शिक्षण के निम्नांकित अवसर है—

1. पाठ्यपुस्तक के साथ
2. लिखित कार्य की तैयारी के समय
3. स्वतन्त्र मौखिक रचना संबंधी कार्य

(1) पाठ्यपुस्तक के साथ

पाठ्यपुस्तक पढ़ाते समय मौखिक आत्मप्रकाशन के लिए यथेष्ट अवसर मिलता है। विषय की व्याख्या, स्पष्टीकरण, पाठ पर आधारित प्रश्नोत्तर, सारांश कथन, शब्द भंडार की वृद्धि, शब्द प्रयोग, वाक्य रचना आदि के द्वारा मौखिक रचना मे बालक प्रशिक्षित होता है। शिक्षक को पाठ्यपुस्तक पढ़ाते समय इन दृष्टि से निम्नांकित बातों पर ध्यान देना चाहिए—

(i) बालक प्रश्नों का स्पष्ट, वांछित एवं संगत उत्तर शुद्ध भाषा में दे सकें। गद्य पाठों मे प्रश्नोत्तर का सबसे अधिक अवसर मिलता है।
(ii) बालक पठित विषय के संबंध मे अपनी जिज्ञासा स्पष्ट रूप से व्यक्त कर सकें। अपनी सहमति-असहमति प्रकट कर सकें।
(iii) पठित विषय पर तर्क-वितर्क कर सकें।
(iv) पाठ का पुनर्कथन अपनी भाषा मे प्रस्तुत करें। इस दिशा में शिक्षक उन्हें प्रोत्साहित करें।
(v) पाठ का सारांश बालक कह सकें।
(vi) रूपांतरित रूप में—जैसे एकांकी को कहानी रूप में, कहानी को संवादात्मक रूप में, किसी पाठ को 'आप बीती' के रूप मे—पाठ का वर्णन कर सकें।

(vii) पाठ से संबंधित कुछ शब्द या वाक्य के आधार पर निर्देशित मौखिक रचना प्रस्तुत कर सकें।

(viii) पठित पाठों पर स्वतन्त्र रूप से विचार-विश्लेषण तथा अपना मत प्रकट कर सकें।

(2) लिखित कार्य की तैयारी में मौखिक रचना कार्य

लिखित रचना के पहले चुने हुए विषय या प्रकरण पर बातचीत, परिचर्चा, विचार-विमर्श, सामग्री-चयन आदि रूपों में मौखिक रचना का अच्छा अवसर मिलता है। इसका मुख्य उद्देश्य लिखित कार्य को शुद्ध, सोद्देश्य, रोचक और प्रभावपूर्ण बनाना है। प्रस्तुत विषय पर मौखिक रूप से भावों एवं विचारों को प्रकाशित कराने से लिखित कार्य में अशुद्धियाँ नहीं होतीं और विषय-सामग्री की क्रमबद्धता भी बनी रहती है।

(3) स्वतन्त्र मौखिक रचना

स्वतन्त्र रूप से मौखिक आत्मप्रकाशन ही वास्तविक मौखिक रचना है। इसका सर्व प्रमुख लक्ष्य है कि बालक स्वयं देखते हुए, सुने हुए, पढ़े हुए अथवा अनुभव किए हुए विषयों पर स्वतत्र रूप से अपने भावों एवं विचारों को स्वाभाविक, शद्ध एवं स्पष्ट भाषा में प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त कर सकें। पी.बी. बेलार्ड का मत है कि स्वतन्त्र रूप से मौखिक कार्य का प्रमुख उद्देश्य बालकों को सार्वजनिक भाषण देने या सार्वजनिक वाद-विवाद में भाग लेने के योग्य बनाना है।

मौखिक रचना की दृष्टि से माध्यमिक स्तर की उपयुक्तता

स्वतंत्र मौखिक रचना का सर्वोपयुक्त शैक्षणिक अवसर माध्यमिक स्तर पर ही है। इस आयु के बालकों में अपनी बात के प्रति विशेष आग्रह होता है। वह सुनी हुई तथा स्वानुभूत बातों को अधिक बल से कहना चाहता है। सामाजिक आदर्शों और मान्यताओं को कुछ-कुछ समझने लगता है और निंद्य बातो को छिपाने की प्रवृत्ति उसमें आ जाती है। साहसिक बातों को अधिक जोश के साथ कहता है। तथ्यात्मक बातों में विशेष उत्साह न दिखाकर सांवेगिक बातों में अधिक रुचि प्रदर्शित करता है। कक्षा 7–8 ऐसी अवस्था है जब बालकों की स्वरतन्त्री में भी परिवर्तन होने लगता है। आवाज बेसुरी हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप बोलते समय अनजाने ही उन्हें संकोच होता है। नवी-दसवी कक्षा तक पहुँचते-पहुँचते बालको में वयस्कों के समान आचरण करने की प्रवृत्ति आ जाती है और वे अपना सामाजिक स्थान प्राप्त करने के इच्छुक हो जाते हैं। वाक् पटुता द्वारा नए मित्र बनाने की इच्छा उनमें खूब होती है।

इस स्तर का छात्र भाषा के परिनिष्ठित रूप से परिचित हो जाता है और चाहता है कि अच्छी से अच्छी भाषा में अपने विचारो को प्रकट करे। शब्द भंडार

भी इतना हो जाता है कि वह हृद्गत भावों के अनुरूप शब्दों का प्रयोग करने लगता है। वह भाषिक क्षेत्र मे सम्मान पाने का अभिलाषी रहता है। अतः भाषा-संस्कार का भी यही सर्वोत्तम स्तर है।

इस अवस्था में सामाजिक एवं राजनैतिक विषयों में भी बालक रुचि प्रदर्शित करने लगता है। और अन्याय, अत्याचार के प्रति विरोध की भावना उत्पन्न होने लगती है। स्वदेशाभिमान का भाव भी उसमें विशेष रूप से परिलक्षित होता है। सामाजिक कुरीतियों, अंधविश्वासों, रूढ़ियों के प्रति शंकाएँ उठने लगती हैं। समाज-सेवा की भावना भी मन में स्फुरित होती है और वह संगी-साथियों की सहायता के लिए तत्पर रहता है। हम कह सकते हैं कि सामाजिक और राजनैतिक वातावरण के प्रति जागरूकता आ जाती है।

बालक को उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक, भाषिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि के आधार पर उन्हें मौखिक आत्मप्रकाशन के लिए भाषा-शिक्षण में अधिकाधिक अवसर मिलना चाहिये।

मौखिक रचना के विविध रूप—माध्यमिक कक्षाओं में मौखिक रचना के विविध रूपो पर विचार करने के पूर्व यह जान लेना समुचित ही प्रतीत होता है कि प्राथमिक स्तर पर मौखिक रचना की दृष्टि से बालकों का क्या प्रशिक्षण हुआ है। इस पृष्ठभूमि पर ही माध्यमिक स्तर के मौखिक रचना संबंधी विविध रूपों का विचार-संगत होगा।

प्राथमिक स्तर पर मौखिक रचना— प्राथमिक स्तर पर बालकों की भावाभिव्यक्ति की शक्ति, शब्दावली, अर्थबोध की क्षमता बहुत कम रहती है, अतः अति परिचित विषयो पर ही तथा प्रायः पठित विषयों से संबंधित प्रकरणों पर प्रश्नोत्तर एवं बातचीत द्वारा मौखिक रचना की ओर छात्रों को प्रवृत्त किया जा सकता है। इस स्तर पर मौखिक रचना के विविध रूपो का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

(1) **पठित विषयों पर बातचीत**—छोटे, सरल प्रश्नों द्वारा बालकों को बोलने के लिए प्रोत्साहित करना। पाठांतर्गत तथ्यों को प्रकाशित कराना, उन्हे अपनी जिज्ञासा प्रकट करने के लिए प्रश्न पूछने को कहना।

(2) **वाक्य गठन एवं संक्षिप्त वर्णन**—अति परिचित सरल विषयों पर अभिव्यक्ति संबंधी छोटे-छोटे वाक्यों की रचना कराना। किसी विषय पर चार-पाँच वाक्यो के संबद्ध रूप (अनुच्छेद) कहलाना। इन वाक्यों मे पूर्वापर संबंध का ध्यान रखना आवश्यक है। मेरा घर, मेरी गाय, मेरे भाई-बहन, सूरज, चाँद आदि जैसे विषयो पर चार-चार, पाँच-पाँच वाक्य बोलने के लिए अभ्यास दिए जा सकते है। इससे क्रमबद्ध वर्णन का अभ्यास होता है।

(3) **सस्वर वाचन**—छोटे बच्चों को नाद सौंदर्य वाली कविताओं के सस्वर वाचन में विशेष आनन्द आता है। बालकों का संकोच मिटाने के लिए समवेत कविता-पाठ विशेष उपयोगी सिद्ध होता है।

(4) **अन्त्याक्षरी**–कक्षा 4–5 से अन्त्याक्षरी भी मौखिक रचना की दृष्टि से प्रारम्भ की जा सकती है। इसके लिए बालक विभिन्न अक्षरों से प्रारम्भ होने वाली कविताओं को बड़ी चाव से कंठस्थ करते है और उन्हें भावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने के लिए लालायित रहते है।

प्राइमरी कक्षाओं में कार्य करते समय गीतों का प्रयोग बहुत ही रुचिकर और उपयोगी सिद्ध होता है और अप्रत्यक्ष रूप से बालको को मौखिक प्रकाशन की शिक्षा मिलती है। बालकों के संकोच या झिझक को दूर करने का एक बहुत अच्छा साधन यह है कि उन्हें सामूहिक गान, कविता पाठ आदि में भाग लेने का अवसर दिया जाय और व्यक्तिशः गीत गाने, कविता पाठ करने के लिए भी प्रोत्साहित किया जाय।

(5) **वार्तालाप**—प्राथमिक स्तर पर बालकों को उनकी रुचि के विषयों पर वार्तालाप करने की शिक्षा देनी चाहिए। इसके लिए निश्चित रूप से समय सारिणी में प्रतिदिन समय निश्चित रहना चाहिए। इस घण्टे में बालक अपने वातावरण के परिचित विषयों पर बातचीत कर सकते है।

कक्षा 4-5 में मौखिक रचना के अभ्यास कला और शिल्प से अनुबंधित करके अधिक मनोरंजन और सजीव बनाए जा सकते है; जैसे विद्यालय के कृषि एवं बागवानी संबंधी विषय-खेत की गोडाई, मिट्टी बनाना, खाद मिलाना, बीज बोना, पौधा लगाना, सिंचाई आदि। इसी प्रकार कताई-बुनाई, कपास की सफाई, फिरकी बनाना, तुनाई, धुनाई, पूनी बनाना, सूत कातना, पुस्तक कला, काष्ठ कला आदि से संबंधित बातचीत की जा सकती है। बालकों द्वारा बनाए हुए खिलौनों, चित्रो पर भी बात हो सकती है और देखा गया है कि ऐसी बातचीत में बच्चो का मन बहुत लगता है।

(6) **कहानी और जीवनी**—मौखिक रचना के अभ्यास के लिए कहानी और जीवनी बहुत उपयोगी साधन है। उसका प्रारम्भ भी कक्षा 3–4 से ही किया जा सकता है। बालकों को कहानी सुनने और कहने में स्वभावतः आनन्द आता है। अतः उनकी इस प्रवृत्ति का लाभ उठाना चाहिए। प्राथमिक स्तर पर घर मे सुनी हुई अथवा पढ़ी हुई कहानियां कहने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। बाल-कहानियां विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होती हैं। कल्पना प्रधान कहानियां, परियों की कहानियां या अन्य जादू, चमत्कारपूर्ण कहानियां उन्हे बहुत अच्छी लगती है। महापुरुषो की जीवनी तथा उनके बचपन की कथाएँ भी सद्वृत्ति निर्माण की दृष्टि से उपयोगी होती हैं और उनके द्वारा भावाभिव्यक्ति की शिक्षा भी मिलती है।

(7) **चित्र रचना**—प्राथमिक स्तर पर चित्रो द्वारा छात्रों को आत्माभिव्यक्ति के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित करना चाहिए। चित्रों के आधार पर उपयुक्त प्रश्नो द्वारा कहानी कहने के लिए निर्देश दिया जा सकता है। पर ये चित्र घटना प्रधान

हों, समझने में सरल हों, बालकों के ज्ञान-स्तर के अनुकूल हों, और उनके सामाजिक एवं प्राकृतिक वातावरण सम्बन्धी परिचित, जीवन पर आधारित हों, जैसे कौआ और लोमड़ी, लालची कुत्ता, अंगूर खट्टे हैं, लोमड़ी और सारस, शेर और खरगोश आदि कहानियां चित्र-रचना द्वारा प्राथमिक स्तर पर बड़ी ही प्रिय और मनोरंजक सिद्ध हुई है। इसी प्रकार की और भी कहानियों को चित्र द्वारा प्रस्तुत कराया जा सकता है। चित्रों के आधार पर कहानी कहने का सारा कार्य छात्रों द्वारा ही निष्पन्न होना चाहिए।

माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में मौखिक रचना के रूप

प्राथमिक स्तर की दृष्टि से वर्णित मौखिक कार्यों में से अधिकतर माध्यमिक स्तर पर भी उपयोगी सिद्ध होते है, केवल उनकी विषय-सामग्री, भाषा एवं शैली में उत्तरोत्तर परिष्कार एवं गंभीरता आती जाती है। विषय के क्षेत्र में व्यापकता भी आती जाती है। इनके अतिरिक्त मौखिक रचना के अन्य अनेक रूपों का प्रयोग करना पड़ता है। इस प्रकार माध्यमिक स्तर पर मौखिक रचना के रूप निम्न लिखित है–

1. वार्तालाप 2. कहानी 3. चित्र-रचना 4. वाचन एवं कविता पाठ 5. सुसंबद्ध वर्णन 6. भाषण 7. परिसंवाद 8. वाद-विवाद प्रतियोगिता 9. अभिनव एवं कथोपकथन 10. समाचार दर्शन 11. बालोपयोगी चलचित्र एवं सत्संवर्धी परिचर्चा 12. महान् वक्ताओं के भाषणों के रेकार्ड्स एवं अनुकरण 13. टेलीफोन वार्ता 14. पुस्तक समीक्षा 15. बालसभा एवं छात्र संसद।

1. वार्तालाप—कक्षा 6 में आते-आते बालकों में स्वतन्त्र रूप से वार्तालाप की सामान्य योग्यता आ जाती है, यद्यपि अभिव्यक्ति में सुसंबद्धता एवं सौष्ठव का अभाव पाया जाता है। अतः उचित अभ्यास द्वारा माध्यमिक कक्षाओं में यह योग्यता भी अर्जित करानी चाहिए।

इस स्तर पर बालक निम्नांकित विषयों पर सरलता से बातचीत कर सकते हैं—

(i) पारिवारिक वातवारण की घटनाएँ; अतिथि का आगमन और सत्कार, घर मे कोई विशेष उत्सव या समारोह, परिवार के सदस्य, उनके स्वभाव एवं सुख-दुःख आदि।

(ii) विद्यालय में होने वाली घटनाएँ; खेल-कूद प्रतियोगिताएँ, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक समारोह, विविध उत्सव, जयंतियां, स्वतन्त्रता दिवस, गणतंत्र दिवस, प्रदर्शनी, स्काउटिंग, परिभ्रमण, स्वच्छता-सप्ताह आदि।

(iii) यात्रावर्णन, मार्ग में होने वाली रोचक घटनाएँ, दुर्घटनाएँ, आदि ।
(iv) प्राकृतिक दृश्य, सूर्योदय, सूर्यास्त, पास में यदि पर्वत, नदी, जंगल, आदि कुछ हों ।
(v) सामाजिक घटनाएँ; गांव या नगर का सामाजिक जीवन, पर्व; जैसे- होली, दीवाली आदि, मेला, गांव की पंचायत, बाजार, वस्तुओं का क्रय-विक्रय आदि ।
(vi) स्थानीय राजनैतिक घटनाएँ, चुनाव, सार्वजनिक सभाएँ, नेताओं के भाषण आदि ।
(vii) पौराणिक तथा अन्य लोक प्रचलित कथाएँ ।
(viii) समाचारपत्रों में पढ़ी हुई प्रमुख घटनाएँ ।
(ix) पठित पुस्तकों से रोचक प्रसग ।
(x) नैतिक मूल्यो पर आधारित-देशभक्ति आदि से संबंधित चलचित्र ।

उपर्युक्त प्रकरणों को 'सरल से कठिन की ओर' शिक्षण सूत्र के अनुसार विभिन्न कक्षाओं में क्रमायोजित कर लेना चाहिए जिससे वार्तालाप में विषय सामग्री के चयन में कठिनाई न हो और भाषा एवं शैली की दृष्टि से भी उत्तरोत्तर परिष्कार होता चले ।

शिक्षक को चाहिए कि वह बालकों के सम्मुख किसी विषय को प्रस्तुत करते हुए बातचीत या विचार-विनिमय के लिए उचित क्रिया-विधि संबंधी निर्देश दे दे और यह ध्यान रखे कि बालको की बातचीत विषय से संबंधित और तर्क संगत बनी रहे ।

वार्तालाप में सभी बालकों को भाग लेने का अवसर मिलना चाहिए । संकोची विद्यार्थियों को विशेष रूप से प्रोत्साहित करना चाहिए ।

हर स्थिति में ध्यान रखना चाहिए कि बातचीत स्वाभाविक, मधुर, शिष्ट हास्यविनोदप्रिय और प्रभावशाली बनी रहे ।

2. कहानी—कहानी मौखिक रचना का रोचक और प्रिय माध्यम है और यह माध्यमिक स्तर पर भी उपयोगी है । पर प्राथमिक स्तर की भांति अति काल्पनिक (फैंटसी), अतिमानवीय (दैवी या दानवी) एव कपोल-कल्पित कहानियों के लिए माध्यमिक स्तर पर स्थान नहीं है । मानव-जीवन से संबंधित शिक्षोपयोगी कहानियों का ही मूल्य इस स्तर पर है, चाहे वे आदर्शवादी हो या यथार्थवादी । नीतिप्रधान पौराणिक, विनोदात्मक, साहसिक एवं बाल-जीवन से संबंधित कहानियाँ अधिक उपयुक्त होती है । कहानी शैली में लिखी गई महापुरुषों की बाल्यावस्था की जीवनी भी बालक बड़े चाव से पढते हैं ।

माध्यमिक स्तर पर कहानी कहना और कहलाना मौखिक रचना का प्रमुख साधन है । पर ये कहानियां सरल, संक्षिप्त और मनोरंजक हों । कक्षा मे

15–20 मिनट में कहानी समाप्त हो जानी चाहिए। कहानी छात्रों से अनेक प्रकार से कहलाई जा सकती है; जैसे, (i) कहानी का आरम्भ बताकर छात्रों से शेष कहानी कहलाना, (ii) कहानी का अन्त बताकर उसका पूर्वांश कहलाना, (iii) संकेत के रूप मे कुछ वाक्य या रूपरेखा देकर कहानी कहलाना, (iv) कतिपय चारित्रिक गुणों से युक्त पात्रों का संकेत देकर कथानक का अनुमान कराना, (v) कुछ प्रश्नों के आधार पर कहानी कहलाना, (vi) प्रथम पुरुष में कहानी कहलाना, (vii) कहानी का अंत या परिणति बालक अपनी दृष्टि से करें आदि। इस प्रकार के अभ्यास नवी कक्षा से आगे अधिक उपयोगी होते हैं। उसके पूर्व वर्णित कहानी अथवा पठित कहानी ही छात्रों से कहलाई जाय और उस पर चर्चा की जाय।

कक्षा 10–11 में मौखिक कहानी-प्रतियोगिताएँ भी आयोजित की जा सकती हैं। साहसिक घटनाओं से युक्त, देश-प्रेम संबंधी, हास्य-व्यंग्य पूर्ण कहानियाँ इस दृष्टि से रुचिकर होती हैं।

3. **चित्र-रचना**—प्राथमिक स्तर की भांति कक्षा 6–7 में भी चित्रों के आधार पर मौखिक आत्मप्रकाशन के अभ्यास कराए जा सकते हैं। रामायण, महाभारत, पौराणिक कथाओं, जातक कथाओं आदि के मनोरम अंशों को लेकर सुन्दर चित्र तैयार किए जा सकते है, जिनका प्रयोग कक्षा में मौखिक आत्म-प्रकाशन के लिए किया जा सकता है। इन चित्रों के आधार पर घटनाओं एवं कथावस्तु का वर्णन कराने के लिए उपयुक्त प्रश्नो की रचना पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है, अन्यथा वांछित उत्तर मिलना कठिन हो जाता है। इन कक्षाओं मे भाव-प्रधान चित्रों के आधार पर भी कहानी विकसित कराई जा सकती है।

4 **वाचन एवं कविता पाठ**—इस स्तर पर वाचन एवं कविता पाठ मौखिक कार्य के प्रधान अंग हैं। सस्वर वाचन से उच्चारण की शुद्धता, सम्यक् स्वराघात, ध्वनि का आरोह-अवरोह, गति, विराम, प्रवाह आदि का अभ्यास होता है जो मौखिक रचना के लिए आवश्यक गुण है।

कविता पाठ से बालक की रागात्मक शक्तियाँ भी उभरती हैं और बालक उत्साह के साथ अपने हृदय के आवेग, संवेग, भाव, अनुभूति आदि को भी अपने वाचन में अभिव्यंजित करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। इस दृष्टि से शिक्षक को आवश्यकतानुसार आदर्श पाठ प्रस्तुत करते रहना चाहिए। माध्यमिक स्तर पर समवेत कविता पाठ के लिए स्थान नहीं है।

कक्षा 10-11 तक आते-आते छात्रों को अनेक कविताएँ कंठस्थ हो जाती हैं। अतः विद्यालयों में कवि-दरबार, कवि-सम्मेलन, कविता-सुपाठो-प्रतियोगिता आदि के आयोजन होने चाहिए। सृजनात्मक प्रतिभा वाले छात्र ऐसे अवसरों पर

अपनी मौलिक रचनाएँ सुनाना पसंद करते है। ऐसे अवसरों पर यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि जो कविताएँ सुनायी जायँ वे सुरुचिपूर्ण, देशप्रेम एवं मानवीय गुणों से संपन्न हों। कविता पाठ द्वारा बालकों में साहित्यिक रुचि एवं सृजनात्मक प्रतिभा का विकास होता है, अतः बालकों को इसके लिए विशेष रूप से प्रोत्साहित करना चाहिए।

कविता की ही भाँति कंठस्थ गद्यांशों के पाठ भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं। ये गद्यांश पाठ्यपुस्तक अथवा अन्य स्रोतों से चुने जा सकते हैं। नाटकीय एवं भावात्मक अंश ही वाचन की दृष्टि से उपयुक्त है। इनके चयन में शिक्षक को छात्रों की उचित सहायता एवं उनका पथप्रदर्शन करना चाहिए।

5. वर्णन—किसी देखी हुई घटना, दृश्य, खेल-तमाशे, प्रदर्शनी आदि पर सुसंबद्ध रूप से वर्णन करने के लिए छात्रों को प्रोत्साहित करना चाहिए। किसी पिकनिक, शैक्षिक परिभ्रमण, मेला, अजायबघर आदि के अनुभव 'मैंने क्या देखा', 'मेरा अनुभव', 'आपबीती' आदि के रूप में बालक बड़े उत्साह से कक्षा के सम्मुख वर्णन करते हैं।

6. भाषण—भाषण मौखिक रचना का एक उत्कृष्ठ रूप है। इसका प्रारम्भ माध्यमिक कक्षाओं से ही किया जाता है। प्राथमिक स्तर पर यदि वार्तालाप, कहानी, कविता पाठ आदि की शिक्षा ठीक प्रकार से दी जाय तो माध्यमिक कक्षा में पहुँचते-पहुँचते बालक अपनी रुचि के विषयों पर संक्षिप्त भाषण दे सकते हैं।

वार्तालाप और भाषण में पर्याप्त अंतर है। बातचीत में कुशल होते हुए भी भाषण की योग्यता का अभाव पाया जाता है। बातचीत मे उतनी औपचारिकता नहीं रहती जितनी भाषण मे रहती है। भाषण में वक्तुत्वकला की अभिज्ञता आवश्यक है; जैसे, निर्भीकता, आत्मविश्वास, धैर्य, विषय का ज्ञान, भावो एवं विचारों का क्रमबद्ध, सुसंबद्ध एवं प्रभावपूर्ण प्रकाशन, वाक्‌विदग्धता, अध्यक्ष सभासदों एवं श्रोताओं को उचित रीति से संबोधित करना, उचित आसन, हाव-भाव, यथावश्यक विनोदपूर्ण बातें आदि-आदि।

भारत की दृष्टि से सरल एवं रोचक विषयों का चयन आवश्यक है। विद्यालय में आयोजित होने वाले समारोहों—स्वतंत्रता दिवस, गणतन्त्र दिवस, तुलसी जयंती, गांधी जयंती, बुद्ध जयंती, महावीर जयंती, नानक जयंती, बाल-दिवस, रक्षाबन्धन, सरस्वती-पूजा, साहित्यकारो की जयंतियां आदि अवसरो पर बालकों को भाषण के लिए तैयार करना चाहिए। भाषण के लिए और भी आयोजन किए जा सकते हैं पर सरल सामाजिक, ऐतिहासिक, व्यावहारिक एवं साहित्यिक विषय ही भाषण के लिए चुने जायँ। इस स्तर पर गंभीर विषय भाषण के लिए नहीं देने चाहिए। विषय जितने ही रोचक और प्रिय होंगे, बालक उतने ही अधिक उन पर बोलने के लिए इच्छुक होंगे।

प्रारम्भ में छात्रों को पूरा भाषण लिखकर याद कर लेना चाहिए। बाद में आत्मविश्वास हो जाने पर पूरा भाषण याद करने की आवश्यकता नहीं रह जाती फिर भी भाषण की रूपरेखा मस्तिष्क में अच्छी तरह तैयार रहनी चाहिए। बीच में कोई उद्धरण, सूक्ति या मार्मिक कथन प्रस्तुत करना है तो उसे भी कंठस्थ कर लेना चाहिए। भाषण का प्रारम्भ और अन्त तो अवश्य ही अच्छी तरह तैयार कर लेना चाहिए। बैलार्ड का तो कथन है कि "प्रथम तथा अन्तिम वाक्य कंठस्थ कर लेना चाहिए। प्रथम वाक्य स्मरण रहने से वक्ता को आत्मविश्वास बना रहता है, संकोच और घबराहट नहीं रहती। प्रभावान्विति की दृष्टि के अंतिम वाक्यों का स्मरण करना भी आवश्यक होता है।

भाषण सरस, सारगर्भित तथा रोचक होना चाहिए। माध्यमिक कक्षाओं में सीमित शब्दावली के प्रयोग पर बल देना चाहिए जिससे तैयारी अच्छी हो सके, पर धीरे-धीरे ऊँची कक्षाओं में अधिकाधिक शब्दावली के प्रयोग के लिए छात्रों को प्रोत्साहित करना चाहिए।

भाषण देते समय प्रायः बालक कंठस्थ की हुई भाषा भूल जाते है और धैर्य खो बैठते हैं। बालकों को यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि ऐसे समय में वे अपनी सामान्य भाषा में अपने विचार व्यक्त करें। धीरे-धीरे पहले से भाषा कंठस्थ करने की आवश्यकता नही रह जाती और केवल विचार-सामग्री की रूप रेखा और क्रमबद्धता ही उनके लिए मुख्य बात रह जानी है।

प्रारम्भ में भाषण के लिए 3 मिनट का समय पर्याप्त होता है। कक्षा 9 से आगे इसे बढ़ाकर 5–6 मिनट तक कर देना चाहिए।

कक्षा 10–11 के बालकों के लिए आशु भाषण का आयोजन किया जा सकता है। आशु भाषणाके लिए तीन मिनट का समय ही पर्याप्त है।

7. **वाद-विवाद प्रतियोगिता**—वाद-विवाद प्रतियोगिता मौखिक आत्म-प्रकाशन की शिक्षा की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। बालक स्वयं इसमें भाग लेने के लिए लालायित रहते है। किन्तु वाद-विवाद में भाग लेने के लिए पूर्व तैयारी आवश्यक है। यदि बालक लिखित रूप में उसे तैयार करलें और प्रारम्भ तथा अन्त का अंश कठस्थ करलें तो अच्छा है।

वाद-विवाद में बालकों की प्रत्युत्पन्नमति की भी परीक्षा होती है। प्रति-पक्षी वक्ता या वक्ताओं द्वारा प्रस्तुत तर्कों के खंडन के लिए उसे तत्काल ही उचित तर्क सोचना पड़ता है और उसे प्रस्तुत करने के लिए उचित भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। अतः बालकों मे यह प्रवृत्ति और अन्तर्दृष्टि उत्पन्न करनी चाहिए कि वे वाद-विवाद के समय अपने प्रतिपक्षियों द्वारा प्रस्तुत तर्कों एव विचार-सामग्री के आधार पर अपने तर्क और विचार-सामग्री को क्रमायोजित करें। बालकों में यह क्षमता भी विकसित करनी चाहिए कि वे अपने प्रति-

पक्षियों द्वारा प्रस्तुत तर्कों का पूर्व-अनुमान करलें और उसके उत्तर के लिए प्रस्तुत रहें।

वाद-विवाद प्रतियोगिता संबंधी शिष्टाचारों, नियमों और रीतियों का परिचय और पालन भी आवश्यक है। इस अवसर पर वक्ता केवल अध्यक्ष को ही संबोधित करता है, निर्णायकों या श्रोताओं को नही। वह अपने विरोधी वक्ताओं के तर्कों के खंडन के लिए उनके प्रति अपमानसूचक शब्दो का प्रयोग नही कर सकता। वह शिष्ट व्यंग्यात्मक भाषा का प्रयोग अवश्य कर सकता है। वाद-विवाद में सदा ही संसदीय भाषा का प्रयोग वांछित है; जैसे, मेरे विद्वान् प्रतिपक्षी वक्ता ने कहा.........। अवसरानुकल शिष्ट हास-परिहास, विनोदप्रियता के प्रयोग से अपने विषय के प्रतिपादन मे और विरोधी पक्ष के खडन मे वड़ी सहायता मिलती है।

8. परिसंवाद या विचार-विमर्श—ऊँची कक्षाओं में सामूहिक विचार-विमर्श अथवा परिसंवाद (पैनल डिस्कशन) द्वारा भी मौखिक आत्मप्रकाशन की शिक्षा दी जा सकती है। विचार-विमर्श का विषय पहले से निश्चित कर लेना चाहिए और बालकों को भी उस विषय पर अच्छी तरह तैयारी करके विचार-गोष्ठी के रूप में अपने विचार प्रकट करने चाहिए। इसमें बालक एक दूसरे से प्रश्न भी पूछ सकते हैं और विवादग्रस्त बिन्दु पर अपनी-अपनी सम्मति प्रकट कर सकते है। इसमें लम्बे भाषणो या व्याख्यानों की आवश्यकता नही।

भाषण में जहाँ बालक किसी एक विशिष्ट विषय पर अपने तर्कपूर्ण विचारों द्वारा श्रोताओं को प्रभावित करने का प्रयास करता है, वहा विचार-विमर्श या परिसंवाद में एक छात्र के स्थान पर अनेक छात्र निर्धारित विषय पर अपने मत का प्रतिपादन करते है। किसी सुनिश्चित मत पर पहुँचने के लिए आयोजित परिसंवादो द्वारा मौखिक अभिव्यक्ति में बड़ी सहायता मिलती है। परिसंवाद में भाग लेने वाले व्यक्तियों में धारणा-शक्ति के साथ-साथ धैर्य एवं सहनशीलता की वहुत आवश्यकता होती है।

माध्यमिक स्तर पर परिसंवाद की पूर्ण क्षमता बालकों में नही पायी जाती, पर सामयिक एवं रुचिकर विषयों पर परिसंवाद करने की अभिरुचि उनमें अवश्य पाई जाती है। यह परिसंवाद अपने विद्यालय की घटनाओं, गाँव या नगर की घटनाओं तथा समाचारपत्रों में प्रकाशित विशेष घटनाओं से संबंधित हो सकता है। परिसंवादों में बालक एक बार में पाँच-सात वाक्य ही बोल पाते है। पर धीरे-धीरे यह क्षमता बढती जाती है। 10–11वीं कक्षा तक आते-आते बालक प्रभावपूर्ण ढंग से परिसंवादों में भाग लेने लगते है। परिसंवादों में तार्किकता, काल्पनिकता एवं प्रत्युत्पन्नमति आदि गुणों की विशेष आवश्यकता पड़ती है।

9. अभिनय—अभिनय सामाजिक मनोविनोद एवं मौखिक अभिव्यक्ति दोनों का सुन्दर माध्यम है। इस आयु वर्ग के बालकों में अभिनय की विशेष रुचि पाई जाती है। प्राथमिक स्तर पर अभिनय में जो बचपना अथवा नकल करने की विनोदात्मक प्रवृत्ति रहती है, वह समाप्त हो जाती है और उसकी जगह परिपक्वता एवं गंभीरता आ जाती है। बालकों का उच्चारण भी शुद्ध और स्पष्ट हो जाता है और वे सजीव एवं भावपूर्ण अभिनय द्वारा दर्शकों को मुग्ध करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। भावपूर्ण कथोपकथन द्वारा बालकों का भाषा पर अनायास ही पर्याप्त अधिकार हो जाता है।

अभिनय के लिए वे संक्षिप्त नाटक, एकांकी और प्रहसन अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं जो साहसिक घटनाओं पर आधारित हों, सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करने वाले तथा राष्ट्रप्रेम एवं मानवप्रेम संबंधी भावनाओं से परिपूर्ण हो। पाठ्यपुस्तक मे दिए हुए नाटकीय पाठों और कहानियों पर भी अभिनय आयोजित किया जा सकता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि यह अभिनय मौखिक कार्य का ही एक अंग है। इसके अंतर्गत औपचारिक रूप से नाटक खेलना हमारा उद्देश्य नही है।

अभिनय के लिए विशेष तैयारी करनी पड़ती है, पर किसी अच्छे नाटक से कुछ भावपूर्ण कथोपकथन चुनकर छात्रों द्वारा उन्हें प्रस्तुत कराना अधिक सरल होता है और मौखिक रचना की दृष्टि से वे लाभप्रद भी होते हैं। कंठस्थ न रहने पर बालक पुस्तक से कथोपकथन पढ भी सकते है।

समाचार-दर्शन—उच्चतर माध्यमिक स्तर पर सप्ताह में एक दिन बालक समाचारपत्रो में प्रकाशित प्रमुख घटनाओं का उल्लेख करते हुए अपने विचार प्रकट कर सकते हैं। इससे उनमें समाचारपत्र पढने की रुचि भी विकसित होती है। समाचारों को संक्षेप में कहने के प्रयत्न से भाषा पर उनका अधिकार भी बढ़ता है।

बालोपयोगी शिक्षाप्रद चलचित्र—समय-समय पर शिक्षाप्रद चलचित्रों को दिखाकर उनपर परिसंवाद आयोजित कराना भी आत्मप्रकाशन की दृष्टि से रुचिकर और आकर्षक साधन है।

महान् वक्ताओं के भाषणों के रेकार्ड्स—अच्छे चुने हुए ऐसे भाषणो के रेकार्ड्स सुनाकर बालकों को उनका अनुकरण करते हुए बोलने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है।

टेलीफ़ोन पर बातचीत—इस स्तर पर बालको को टेलीफोन पर भी बातचीत करने के लिए प्रशिक्षित करना चाहिए। टेलीफोन पर बातचीत की मर्यादा, अपना परिचय, अभिवादन, संबोधन आदि भी सिखा देनी चाहिए।

पुस्तक-समीक्षा—इस स्तर पर बालकों से यह आशा की जाती है कि वे पुस्तकालय मे जा कर अपनी रुचि के अनुसार पत्र, पत्रिकाएँ एवं पुस्तकें पढ़ते

रहेंगे। पर यदि उन्हें कुछ उत्तम साहित्यिक पुस्तकों का अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय तो मौखिक अभिव्यक्ति के लिए उन्हें उपयोगी सामग्री प्राप्त हो सकेगी। जिस पुस्तक का उन्होंने अध्ययन किया हो, उसकी अपनी योग्यतानुसार वे आपस में समालोचना कर सकते है। इस प्रकार की पुस्तक-समीक्षा के लिए समय भी निर्धारित किया जा सकता है। पुस्तक-समीक्षा में अपने कथन की पुष्टि के लिए बालक उस पुस्तक के उपयुक्त अंश उद्धृत कर सकते हैं। समीक्षा के अंत मे श्रोताओं को प्रश्न करने का अवसर भी दिया जाना चाहिए जिससे विचारो का उचित आदान-प्रदान हो सके।

बालसभा एवं छात्र संसद—आधुनिक जनतांत्रिक युग में बालकों को जनतांत्रिक प्रणाली से कार्य संपन्न करने की शिक्षा प्रदान करना आवश्यक है। उपर्युक्त कार्यक्रमो जैसे वार्तालाप, भाषण, परिसंवाद, वाद-विवाद प्रतियोगिता आदि का आयोजन और संचालन यदि बालक स्वय ही बालसभा, छात्रसंसद्, भाषा-परिषद् आदि किसी संघटन के तत्वावधान में करे तो उन्हें जनतांत्रिक प्रणाली का अनुभव भी होगा और वे इन कार्यक्रमों के संवहन का उत्तरदायित्व संभालने की योग्यता भी अर्जित करेंगे। शिक्षक इन कार्यों के संघठन, सचालन आदि में उनका उचित पथप्रदर्शन करता रहेगा।

किसी भी सभा के आयोजन के लिए सभापति पद के लिए प्रस्ताव रखना, अनुमोदन करना, सभापति एवं श्रोताओं को संबोधित करते हुए कार्य-संचालन विधि का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता है। विशिष्ट पदों पर रहते हुए किस प्रकार कार्य-संचालन किया जाता है, इसकी शिक्षा इन सभाओ या परिषदों के माध्यम से सहज ही मिल जाती है। मौखिक रचना की सफलता की दृष्टि से विद्यालयो की ये बालसभाएँ या संसदें बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। इनके द्वारा कुशल वक्ता बनने के साथ-साथ बालकों मे स्वस्थ संसदीय प्रवृत्ति का भी उदय और विकास होता है।

मौखिक रचना-शिक्षण में कुछ सामान्य ध्यातव्य बातें

1. प्रारम्भ से ही छात्रों में आत्मप्रकाशन के लिए आत्मविश्वास की भावना जागरित करनी चाहिए और उन्हें स्वाभाविक रूप से उनकी रुचि एव अनुभव के अनुकूल विषयों पर आत्मप्रकाशन की प्रेरणा प्रदान करनी चाहिए। उपयुक्त प्रकरणों का चयन मौखिक रचना-शिक्षण की दृष्टि से बहुत आवश्यक है।

2. प्रारम्भ से ही शुद्ध उच्चारण का भी अभ्यास आवश्यक है। बालकों के सम्मुख शुद्ध उच्चारण के बार-बार आदर्श प्रस्तुत करने तथा उनके द्वारा ठीक-ठीक अनुकरण कराने से यह उद्देश्य बहुत कुछ पूरा हो सकता है।

3. प्रारम्भ से ही शुद्ध व्याकरण सम्मत भाषा के प्रयोग तथा कथन में स्पष्टता, प्रवाहपूर्णता और प्रभावशालिता पर बल देना चाहिए।

4. मौखिक आत्मप्रकाशन एक कला है और कला की सिद्धहस्तता आवृत्ति एवं अभ्यास पर निर्भर है। अतः छात्रों को इसकी आवृत्ति एवं अभ्यास का पर्याप्त अवसर मिलना चाहिए। वेलार्ड का कहना है कि छात्रो को पहले अधिकाधिक बोलने का अवसर दिया जाय। जिस प्रकार तैरने की कला सिखाने के पहले तैरने के लिए पर्याप्त जल की आवश्यकता है, वैसे ही बोलने की कला सिखाने के लिए बोलने का पर्याप्त अवसर बालक को मिलना ही चाहिए।

5. बोलते समय बालक को टोकना और उसकी अशुद्धियों के संशोधन का प्रयत्न करना उसके उत्साह को भंग करना है। इससे उसमें एक झिझक पैदा हो जाती है और वह आत्मविश्वास खो बैठता है। बालक को कभी भी यह अनुभव करने का अवसर नही देना चाहिए कि वह सप्रयास शुद्ध बोलने का अभ्यास कर रहा है और अध्यापक उसकी अशुद्धियो के संशोधन के लिए बैठा है, बल्कि उसमें यह भावना होनी चाहिए कि शिक्षक तथा साथी उसकी बात रुचिपूर्वक सुन कर आनन्द प्राप्त कर रहे हैं। इससे वह बोलने के लिए उत्साहित होगा और आत्म-प्रकाशन की क्षमता बढेगी।

इसका यह तात्पर्य नही है कि बालकों के अशुद्ध तथा अनर्गल प्रलाप को प्रश्रय दिया जाय। शिक्षक को यह प्रयत्न तो करना ही है कि बालक शुद्ध भाषा में विचार प्रकट करें, पर अशुद्धियों के संशोधन में अत्यत सावधानी की आवश्यकता है। वह बालक के बोलते समय अशुद्धियों को लिख लें और अंत में अपने भाषण में उनके शुद्ध प्रयोग का उदाहरण प्रस्तुत करें। व्यक्तिगत अशुद्धियो का संशोधन पृथक् से कक्षा में भी किया जा सकता है।

6. बालको को वक्तृत्व शक्ति बढाने तथा भाषण-कला में पटु बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वे उपयोगी पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ कर अपने विषय के अनुकूल एवं उपयुक्त सामग्री खोजना सीख ले। किसी भी विषय पर बोलने के लिए तैयारी आवश्यक है।

बोलने जाने के पहले बालक विषय संबंधी एक क्रमबद्ध रूपरेखा अवश्य बना लें और अच्छी तरह मन मे जमा लें। किस अवसर पर बोलना है, इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है, क्योंकि भाषण, वाद-विवाद, गोष्ठी, वार्तालाप आदि की शली और भाषा भिन्न-भिन्न होती है। अतः आयोजन के अनुसार विद्यार्थी अपनी तैयारी कर लें।

7. मौखिक रचना की कुशलता अभ्यास पर निर्भर है। यह अभ्यास विभिन्न स्तरों पर विभिन्न प्रकार के होने चाहिए। अभ्यासों को तैयार करते समय निम्नांकित बातो का ध्यान रखना चाहिए—

(i) अभ्यास सोद्देश्य हों और अभ्यास संबंधी एक पाठ का एक ही उद्देश्य हो।

(ii) अभ्यास ऐसे हों कि कठिनाई क्रमिक रूप से बढ़े और एक बार मे एक से अधिक कठिनाई न आए।

(iii) ऐसा नही होना चाहिए कि बालक बिना समझे ही पाठ की आवृत्ति करता रहे। समझना अति आवश्यक है, अन्यथा मौलिक रचना की शक्ति नही उत्पन्न हो सकती।

(iv) बालकों को आवश्यकता, रुचि और जीवन-परिवेश के विषयों से संबंधित अभ्यास दिए जायँ। बालकों के मनोरंजन का ध्यान भी अवश्य रखा जाय।

(v) उत्तरोत्तर एक विषय पर देर तक क्रमबद्धरूप से बोलने वाले अभ्यास दिये जायँ।

मौखिक रचना का संशोधन—प्रसिद्ध भाषाविद् बैलार्ड का मत है कि मौखिक कार्य का संशोधन लिखित कार्य के संशोधन की अपेक्षा अधिक जटिल है। बालक प्रायः उच्चारण, वाक्य रचना, शब्द-प्रयोग आदि संबंधी अशुद्धियाँ करते है। इन अशुद्धियों के संशोधन के लिए बालकों को बोलते समय तत्काल ही रोकना और संशोधन करना उचित नही। इससे उनके बोलने की धारा अवरुद्ध हो जाती है, विषय का क्रम खडित हो जाता है, उनके आनन्द में बाधा पहुँचती है और उनका उत्साह भंग हो जाता है। किन्तु दूसरी ओर उनकी अशुद्धियों को छोड़ते जाना भी भाषा-शिक्षण की दृष्टि से घातक सिद्ध होता है। ऐसी दशा मे अशुद्धियों का संशोधन बहुत ही सावधानी से होना चाहिए। इस संबंध में बैलार्ड का यह सुझाव उचित प्रतीत होता है कि बालको के गुणों का प्रदर्शन तो कक्षा के समक्ष होना चाहिए और अशुद्धियों को एकान्त में व्यक्तिगत रूप से बताना चाहिए।

संशोधन की एक विधि यह भी है कि पहले तेज और अच्छे बालकों को बोलने के लिए कहा जाय और जब ये बालक किसी और कार्य में लग जायँ तब पिछड़े हुए अथवा अशुद्धि करने वाले बालकों को शिक्षक अपने पास बुलाकर बोलने के लिए कहें।

यदि तत्काल ही संशोधन की आवश्यकता पड़े तो अध्यापक को उचित निर्देश एवं चेतावनी की सहायता लेनी चाहिए, जैसे,

(i) फिर से कहो, दूसरे शब्दो में इसी बात को कहो। (ii) और जोर से बोलो, धीरे बोलो। (iii) तीव्रगति से बोलो, मंदगति से बोलो। (iv) मेरे प्रश्न का उत्तर दो, मेरे प्रश्न का यह उत्तर नही है आदि।

शिक्षक को चाहिए कि छात्रों से होने वाली अशुद्धियों को एकत्र कर ले, फिर उनका विश्लेपण और वर्गीकरण कर ले; जैसे––उच्चारण संबंधी, वाक्य रचना में पदक्रम संबंधी, विभक्ति प्रयोग संबंधी, लिंग या वचन संबंधी, क्रिया एवं काल सबंधी आदि; फिर इन पर शुद्ध प्रयोग के लिए अधिकाधिक अभ्यास छात्रो को दिये जाएँ। यदि उचित अभ्यास कराये जाएँगे तो आगे अशुद्धियाँ न होंगी।

कक्षा में मौखिक रचना संबंधी पाठ का विकास और पाठ संकेत––मौखिक रचना-शिक्षण में किसी एक निश्चित प्रणाली की आवश्यकता नहीं। स्थिति, विपय एवं अवसर के अनुकूल पाठ-विकास के क्रम या सोपानो में परिवर्तन कर लेना वांछित होगा। पर शिक्षक को पाठ-विकास का क्रम अवश्य निर्धारित कर लेना चाहिए। अच्छा होगा कि पठित वस्तु के आधार पर मौखिक रचना कराई जाय या वालको से किसी दिए हुए विपय पर तैयार होकर आने को कहा जाय।

कक्षा में वालक ही बोलने का कार्य करेंगे, शिक्षक यथावसर सहायता, निर्देश एवं संशोधन करेगा। शिष्टाचार की बातें सीधे वता दी जायँ और उसके लिए व्यर्थ समय न लगाया जाय।

पाठ-विकास या संकेत की दृष्टि से निम्नाकित क्रम उचित एवं उपयुक्त होगा––

1. पाठ-विपयवस्तु एव प्रकरण।
2. उद्देश्य—विशिष्ट उद्देश्यों का ही उल्लेख किया जाय। इन्हें भी क्रम से भापा प्रयोग संबधी, विपय सामग्री सम्बन्धी, प्रस्तुतीकरण की क्रियाविधि संबंधी आदि लिखा जाय।
3. शिक्षक द्वारा आवश्यक निर्देश। यह निर्देश मौखिक रचना संबंधी नियमों एवं क्रिया-विधि के संदर्भ में होगा।
4. छात्रों द्वारा मौखिक रचना संबंधी कार्य; जैसे, वार्तालाप, भापण, वाद-विवाद, प्रतियोगिता आदि। वक्ता वारा-वारी से आकर अपने विचार व्यक्त करेंगे।
5. श्यामपट्ट कार्य–आवश्यकतानुसार विशिष्ट शव्दावली, विपय-सामग्री संवंधी संकेत या रूपरेखा का उल्लेख।
6. आगामी दिवस के लिए रचना-कार्य का निर्देश।

सारांश

मौखिक रचना का तात्पर्य है—अपने भावों एवं विचारों को सुसंवद्ध रूप से शुद्ध, स्पष्ट एवं समलंकृत भापा में इस प्रकार प्रकाशित करना कि उसमें एक नूतनता एवं मौलिकता भी प्रतिभासित हो।

मौखिक रचना का महत्त्व—(i) नित्य प्रति व्यवहार में मौखिक भाषा का महत्त्व, (ii) प्राचीन शिक्षा में मौखिक शिक्षा की परंपरा, (iii) शिक्षाक्रम में वक्तृत्व कला का स्थान और महत्त्व, (iv) सार्वजनिक जीवन की सफलता (v) व्यक्तित्व विकास का साधन (vi) मानव की आंतरिक प्रकृति का परिचय, (vii) सामाजिक दक्षता का साधन, (viii) भाषा-शिक्षा की आधारशिला।

मौखिक रचना संबधी अपेक्षित गुण—(i) निःसकोच, बिना झिझक एवं आत्मविश्वास के साथ बोलना, (ii) शुद्ध उच्चारण (iii) शुद्ध भाषा, (iv) स्वाभाविक एवं स्पष्ट भाषा, (v) व्यावहारिक भाषा, (vi) सशक्त भाषा (vii) प्रभविष्णुता–स्वराघात, अनुतान, स्वर, गति, यति, आरोह–अवरोह, भाव-भंगिमा, प्रवाह, ओजस्विता, (viii) विषय एवं भाव के अनुकूल भाषा का प्रयोग, (ix) अवसरानुकूल भाषा, (x) शिष्टजनोचित भाषा एवं शिष्टाचार, (xi) मधुरिमा, (xii) मर्मस्पर्शिता।

मौखिक प्रकाशन के मूल आधार—(i) भौतिक पक्ष–श्वास प्रक्रिया, वाक् अवयव, ज्ञानेन्द्रियाँ, आसन, उचित हाव-भाव, (ii) ध्वनि प्रकाशन–सरलता, सशक्तता, लचक, स्वर, माधुर्य (iii) शब्दोच्चारण–अक्षरावस्थान, स्वराघात, अनुतान, पदबंध, गति, (iv) शब्दावली (v) वाक्य गठन।

मौखिक रचना-शिक्षण के उद्देश्य—(i) आत्मविश्वास के साथ स्वाभाविक प्रसन्न मुद्रा एवं सुश्रव्य वाणी में भावप्रकाशन, (ii) आत्मप्रकाशन संबंधी कार्यक्रमों में सक्रिय भाग लेना, (iii) शुद्ध उच्चारण के साथ बोलना (iv) व्याकरण सम्मत शुद्ध भाषा का प्रयोग (v) विषय-सामग्री के चयन की योग्यता, (vi) प्रभावपूर्णता (vii) विषयानुकूल भाषा (viii) मधुरिमा (ix) मौखिक रचना के विविध रूपों मे शिष्टाचारों का पालन।

मौखिक रचना के रूप—1. पाठ्यपुस्तक के साथ 2. लिखित रचना की तैयारी के रूप में 3. स्वतंत्र मौखिक रचना–बातचीत, कहानी, चित्र रचना, वाचन एवं कविता पाठ, सुसबद्ध वर्णन, भाषण, परिसंवाद, वाद-विवाद प्रतियोगिता, अभिनय एवं कथोपकथन, समाचार-दर्शन, बालोपयोगी चलचित्र एवं तत्संबंधी परिचर्चा, महान् वक्ताओं के भाषणों के रेकार्ड्स सुनाना एवं उनका अनुकरण, टेलिफोन वार्ता, पुस्तक समीक्षा, बालसभा एवं छात्र संसद।

सामान्य ध्यातव्य बातें—बालकों में बोलने के प्रति आत्मविश्वास उत्पन्न करना, उपयुक्त विषयों का चयन, अधिकाधिक आवृत्ति एवं अभ्यास, पूर्व तैयारी, उचित अभ्यासों की रचना, संशोधन।

प्रश्न

1. भाषा शिक्षण में मौखिक रचना-शिक्षण का क्या स्थान और महत्त्व है ?
2. मौखिक रचना को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए कौन से गुण अपेक्षित हैं ? आप इन्हें किस प्रकार विकसित करेंगे।
3. मौखिक प्रकाशन के मूल आधार क्या हैं ?
4. शब्दोच्चारण में किन-किन तत्त्वों की शिक्षा प्रदान करना आवश्यक है ?
5. माध्यमिक स्तर पर मौखिक रचना के किन रूपों की शिक्षा व्यावहारिक है ?
6. मौखिक रचना के लिए आप कैसे साहित्यिक कार्यक्रमों का आयोजन करेंगे ? किसी एक ऐसे कार्यक्रम की पूरी रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए।
7. वार्तालाप, भाषण और परिसंवाद का अंतर स्पष्ट करते हुए बताइए कि इनके शिक्षण में आप किन-किन बातों का ध्यान रखेंगे ?

11
लिखित रचना-शिक्षण

[परिभाषा, मौखिक रचना की अपेक्षा लिखित रचना में विशेष अपेक्षित गुण, लिखित रचना का महत्त्व, लिखित रचना-शिक्षण के उद्देश्य, लिखित रचना-शिक्षण में ध्यान देने योग्य बातें, लिखित रचना के अंग-सुलेख भाषा सम्बन्धी अभ्यास, रचना के विषय; नियमबद्ध रचना, मुक्त रचना, रचना के विविध रूप-पत्र-प्रपत्र, वर्णन, संवाद, जीवनी, आत्मकथा, व्याख्या, सारलेखन, विचार-विस्तार, रिपोर्ट, नोट लेना, नोट बनाना, सम्पादकीय, पुस्तक समीक्षा, सृजनात्मक अभिव्यक्ति सम्बन्धी रचनाएँ-निबन्ध, कहानी, एकांकी, गद्यगीत, कविता; लिखित रचना को प्रभावपूर्ण बनाने के साधन, रचना-शिक्षण विधियाँ, निबन्ध रचना तथा उसकी शिक्षा, कक्षा-शिक्षण प्रक्रिया, लिखित रचना का संशोधन]

"पृथ्वी पर दो प्रकार के मनुष्य सबसे अधिक नाम पैदा करते हैं; एक, वक्ता और दूसरे, लेखक। वक्ता तो प्रायः अपने जीवनकाल में ही विशेष पूज्य होता है, और उसकी मृत्यु के बाद लोग उसे धीरे-धीरे भूलने लग जाते है; परन्तु लेखक का नाम अजर-अमर रहता है। उसके स्वर्गलाभ के पश्चात् भी जनसमुदाय उसकी रचना पढ़ता है, और उससे आनन्द लेता रहता है।" —श्रीधर मुकर्जी[1]

रचना के दो रूप है—मौखिक एवं लिखित। रचना के मौखिक रूप पर विचार किया जा चुका है। इस अध्याय में लिखित रचना के सम्बन्ध में विचार किया जायगा।

रचना भावों एवं विचारों की कलात्मक अभिव्यक्ति है। वह शब्दों को क्रम से सुव्यवस्थित करने की कला है। भावों एवं विचारों की यह कलात्मक अभिव्यक्ति जब लिखित रूप में होती है तब उसे लिखित रचना कहते हैं।

मौखिक रचना की अपेक्षा लिखित रचना में विशेष अपेक्षित गुण

यह लिखा जा चुका है कि मौखिक भावप्रकाशन नैसर्गिक है। इस प्रकृति प्रदत्त शक्ति के कारण मानव शिशु अनायास ही श्रवण, अनुकरण, आवृत्ति एवं

1. श्रीधर मुकर्जी—राष्ट्रभाषा की शिक्षा, पृ० 160

अभ्यास द्वारा मातृभाषा सीख लेता है और अपने भावों एवं विचारों को मौखिक रूप मे व्यक्त करने लगता है। फिर समुचित शिक्षा द्वारा वह मौखिक रचना को उत्तरोत्तर उत्कृष्ट बनाता जाता है और मौखिक रचना के विभिन्न रूपों से अवगत हो जाता है। किन्तु लिखित भावाभिव्यक्ति के लिए उसे प्रारम्भ से ही विधिवत् शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है क्योंकि अनेक भाषिक तत्वों–लिपिज्ञान, शब्दज्ञान, पदक्रम, वाक्य गठन, अभिव्यक्ति के विविध रूप एवं शैली आदि के ज्ञान बिना वह लिखित रचना के क्षेत्र में अग्रसर नहीं हो सकता। इस भेद के कारण मौखिक एवं लिखित रचना की प्रकृति एवं प्रक्रिया में अन्तर हो जाता है।

लिखित रचना में मौखिक रचना सम्बन्धी अनेक विशेषताएँ अपेक्षित और आवश्यक है; जैसे, शुद्ध, स्वाभाविक, स्पष्ट, सशक्त और व्यावहारिक भाषा का प्रयोग, भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति में क्रमबद्धता एवं सुसम्बद्धता, भावानुकूल एवं अवसरानुकूल भाषा का प्रयोग, भाषा की मधुरिमा, शीतलता, मर्मस्पर्शिता, भावों एवं विचारों में मौलिकता एवं उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति आदि।[2] किन्तु इसके अतिरिक्त लिखित रचना की प्रकृति एवं प्रक्रिया भिन्न होने के कारण कुछ और विशेषताएँ भी अपेक्षित है—

(i) मानव जीवन में इन दोनों (मौखिक एवं लिखित), रूपों का महत्त्व है। दोनो ही भावाभिव्यक्ति के साधन हैं, दोनों ही भाषा के प्रमुख कौशल है किन्तु दोनों की प्रक्रियाओं एवं उद्देश्यों में भिन्नता है। इन दोनों रूपों में विचार करने के अवकाश का बहुत बड़ा अन्तर है जिसमे इनमे भाषा के रूप और गठन में अन्तर आ जाता है। मौखिक रचना की अपेक्षा लिखित रचना में शब्दों तथा वाक्यो का अधिक सुगठित एवं गुम्फित रूप मिलता है। मौखिक रचना में वक्ता श्रोताओं पर प्रभाव डालने के लिए वाक्य सरचना में पदक्रम सम्बन्धी नियमों की यथावश्यक अवहेलना कर सकता है, पर लिखित रचना में शुद्ध व्याकरण सम्मत वाक्य संरचना का प्रयोग ही आवश्यक और वांछित है।

(ii) मौखिक प्रकाशन में हमारे पास सोचने का समय नहीं रहता, भावाभिव्यक्ति का सतत प्रवाह बना रहता है, पर लिखित रचना में कथ्य और भाषा पर विचार करने का यथेष्ट अवसर मिलता है और लेखक अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार उसका उपयोग कर सकता है। इस कारण मौखिक एवं लिखित रचना की भाषा और शैली में अपने-आप अन्तर आ जाता है। इस भिन्नता के कारण ही यह देखा जाता है कि अनेक व्यक्तियों की मौखिक रचना अशक्त, नीरस और प्रभावहीन होती है, पर लिखित रचना सशक्त, सरल और प्रभावपूर्ण होती है। दोनों में एक समान प्रभावपूर्णता विरले ही दीख पड़ती है।

---

2. मौखिक रचना-शिक्षण प्रकरण में इन पर विस्तार से लिखा जा चुका है

(iii) लिखित रचना स्थायी साहित्य का अंग है लेखक अथवा कवि केवल स्वान्तः सुखाय नहीं लिखता। अच्छी रचना परहिताय ही होती है। भाव संप्रेषण उसका मुख्य उद्देश्य होता है। अतः किसी रचनाकार की लिखित अभिव्यक्ति यदि प्रभावपूर्ण, लोककल्याणकारी और आह्लादकारी सिद्ध होती है तो वह स्थायी साहित्य का अंग बन जाती है। मौखिक रचना का प्रभाव सामयिक होता है। (यद्यपि अब कुशल वक्ताओं के वक्तव्य भी लिपिबद्ध होकर स्थायी कृतियों का रूप धारण कर रहे है, पर लिखित रूप में परिणत होने पर ही उन्हें यह स्थायित्व प्राप्त होता है।) मौखिक वक्तव्य का प्रभाव कितनी ही भावशबल, क्रियोत्तेजक और उत्प्रेरक क्यों न हो, पर वह अस्थायी और सामयिक ही रहता है पर उच्चकोटि की लिखित रचना युग-युग तक का मानव को उत्साह, सन्देश और जीवनदायिनी शक्ति प्रदान करती रहती है। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, तुलसी, सूर, प्रेमचन्द, प्रसाद आदि की कृतियों का स्थान आज भी साहित्य की अमर रचनाओं में अक्षुण्ण बना हुआ है।

इस स्थायी प्रभाविष्णुता के कारण लिखित रचना में भाषा की लाघवता, समाहरि शक्ति एवं सौष्ठव और भी आवश्यक है। विश्व प्रतिपादन से तर्क संगति, आद्यन्त भावों एवं विचारों में एकता, कथन की प्रामाणिकता एवं विषयनिष्ठता, विषय एवं अभिव्यक्ति की दृष्टि से उपयुक्त भाषा एवं शैली का चयन, उचित अनुच्छेदो में व्यक्त सामग्री का विभाजन आदि गुणों का होना आवश्यक है।

वक्ता अपनी भाषा की प्रभविष्णुता को अपनी वाणी के आरोह-अवरोह, स्वर की उच्चता-मन्दता , हाव-भाव एवं मुद्राओं से बहुत कुछ संवर्द्धित कर लेता है, पर लिखित रचना में केवल शब्द-चित्र एवं अभिव्यंजन शैली का चमत्कार ही उसकी प्रभावपूर्णता का अधार है।

(v) लिखित रचना की अशुद्धियाँ आलोचकों की मर्मवेधी दृष्टि से बच नहीं सकतीं और इस कारण कृतिकार को भाषा एवं शैली के परिष्कार पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। भाषा, विषय-सामग्री और शैली आदि सभी दृष्टियो से लिखित रचना निर्दोष और प्रभावपूर्ण होनी चाहिए। बेकन ने इसी दृष्टि से कहा है कि "बोलने से तत्परता आती है पर लिखने से विशुद्धता। लेखन में ही पूर्णता की सिद्धि होती है।

(vi) लिखित रचना ही साहित्यिक विधाओं एवं शैलियों के निर्माण एवं विकास का आधार है। लिखित रचना में अभिव्यक्ति के अनेक रूप हो सकते है—कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी, संवाद; निबन्ध/कथात्मक, वर्णनात्मक, विचारात्मक, भावात्मक आदि; गद्यगीत, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र; कविता तथा उसके विभिन्न रूप। ये रूप हीसाहित्यिक विधाएँ है और इनकी विभिन्न शैलियाँ है। प्रत्येक विधा के अन्तर्गत भी अनेक- उपविधाएँ विकसित होती जा रही

है। लिखित रचना की शिक्षा में बालक को इन विविध रूपों एवं शैलियों से परिचित करना आवश्यक हो जाता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि मौखिक रचना में शैली का अभाव है। निश्चित ही बोलने की भी शैली होती है, पर उसमें लिखित रचना की भांति विविधता और अनेकरूपता नही है।

मौखिक एवं लिखित रचना परस्पर पूरक हैं

मौखिक एवं लिखित रचना में उपर्युक्त अन्तर होते हुए भी उनमें परस्पर गहरा सम्बन्ध है। मौखिक रचना के प्रसंग में कहा जा चुका है कि कोई भी भाषण या वक्तव्य देने के पूर्व उसे लिखित रूप में तैयार कर लेना सफलता का उत्तम साधन है। इसी प्रकार लिखित रचना के लिए यदि बालक मौखिक रूप से उस विषय पर विचार-विमर्श कर लें और उसके विविध पक्षों से अभिज्ञ एवं परिचित हो जाएँ तो लिखित रचना निश्चित ही अच्छी होगी। बेलार्ड का कहना युक्ति संगत है कि लिखने के पहले यह आवश्यक है कि बालक उस विषय के सम्बन्ध में कुछ कह सकें और अपने विचार प्रकट कर सकें। लिखित रचना-शिक्षण की उत्तम विधि यही है कि बालक जिस प्रकार बोलते हैं उसी प्रकार वे लिखने भी लगें। इससे बोलने में भाषा एवं शैली की जो स्वाभाविकता और सजीवता रहती है, वह लिखित रचना में अपने आप आ जाती है, अन्यथा लिखित रचना की शैली कृत्रिम और बोझिल हो जाती है। अतः रचना-शिक्षण में यह मान कर चलना चाहिए कि मौखिक रचना और लिखित रचना परस्पर पूरक हैं और उनकी शिक्षा भी परस्पर सम्बन्धित है।

लिखित रचना का महत्त्व

भाषा के महत्त्व पर विचार करते समय उनके लिखित रूप के महत्त्व पर भी प्रकाश डाला जा चुका है। उनकी आवृत्ति की आवश्यकता नहीं किन्तु निम्नांकित दृष्टियों से लिखित रचना का मानव जीवन में विशेष महत्त्व है—

1– सामाजिक गठन, सहयोग एवं क्रिया-कलापों का आधार
2– ज्ञान-विज्ञान के सतत विकास एवं संचय का आधार
3– सृजनात्मक अथवा ललित साहित्य के विकास का आधार

1– सामाजिक गठन, सहयोग एवं क्रिया-कलापों का आधार—आज के सामाजिक जीवन का गठन, परस्पर सहयोग एवं संपर्क तथा उससे विविध क्रिया-कलापो की सम्पन्नता लिखित रचना पर ही निर्भर है। परिजन, पुरजन एवं मित्रों से संपर्क की स्थापन पत्र-व्यवहार द्वारा ही बना रहता है। सामाजिक सम्बन्ध बनाये रखने के लिए औपचारिक पत्र-व्यवहारों की आवश्यकता पड़ती है। वाणिज्यिक एवं व्यावसायिक कार्यों की संपन्नता भी पत्र व्यवहारों पर निर्भर रहती है। सभा-सम्मेलनों, समितियों, आयोगों आदि के प्रतिवेदन लिखित रूप मे ही प्रस्तुत होते है। किसी भी कार्य का विवरण स्थायी रूप से रखने के लिए इसे लिखित रूप देना पड़ता है। राष्ट्र का विधान लिखित रूप में ही होता है। किसी भी संस्था की

स्थापना के लिए उसके उद्देश्य, कार्य एवं कार्यविधि का लिखित प्रारूप तैयार करना होता है। सभी कार्यालयों में लिखित भापा का ही महत्त्व है। राष्ट्र के समस्त संसदीय, शासकीय, न्यायिक, सैनिक आदि सभी कार्यों का संवहन लिखित संदेशों द्वारा होता है। यही नही, हमारे अन्तर्राष्ट्रीय सम्वन्धों—राजनैतिक, व्यावसायिक, सांस्कृतिक आदि सभी क्षेत्रों से सम्वन्धित—का निर्वाह लिखित भाषा के माध्यम से होता है। कूटनीतिक भाषा, विशेषतः राजनैतिक सम्वन्ध, सन्धि और विग्रह संवंधी भापा का तो आज के राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में वहुत ही महत्त्व बढ़ गया है।

उपर्युक्त दृष्टियों से सबसे बड़ी बात यह है कि आज लिखित रूप को ही प्रामाणिक और वैधानिक माना जाता है। मौखिक भाषा उस समय तक प्रामाणिक और वैधानिक नही मान्य होती जव तक उसका लिपिवद्ध रूप स्वीकृत न हो जाय।

अतः सामाजिक, व्यावसायिक, शासकीय आदि किसी भी क्षेत्र में कार्य-कुशलता के लिए बालक को लिखित रचना की सम्यक् शिक्षा प्रदान करना आवश्यक है। वस्तुतः रचना की शक्ति पर ही आज के संसार में, जिसका सारा कार्य-कलाप शब्दों पर आधारित है, हमारे व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की सफलता निर्भर है।

2–ज्ञान-विज्ञान के सतत विकास एवं सचय का आधार—लिखित रचना का ही एक विशिष्ट रूप ज्ञानात्मक साहित्य है। लिखित रचना द्वारा ही मनुष्य के ज्ञान एवं अनुभव का विकास और संचय होता रहता है। यदि भाषा के लिखित रूप का आविष्कार नहीं होता तो नई पीढ़ी सदा ही अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित ज्ञान-विज्ञान की निधि से वंचित रह जाती और उसका वौद्धिक विकास अवरुद्ध-सा हो जाता। लिखित साहित्य के कारण पूर्वार्जित समस्त ज्ञान-विज्ञान नई पीढ़ी को सुलभ हो जाता है और वह उसके आधार पर आगे का अभियान जारी रखता है। इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान का सतत विकास होता रहता है। आज की अपार ग्रन्थराशि, पुस्तकालय और अभिलेखागार इसी के परिणाम हैं।

आज विश्व के किसी भी कोने में ज्ञान की कोई किरण फूटती है तो वह लिखित साहित्य द्वारा समस्त मानव की संपदा बन जाती है। इसी कारण ज्ञान-विज्ञान के विकास की गति इतनी तीव्र हो गई है। मानविकी, तकनीकी, वैज्ञानिक, कलात्मक आदि सभी विपयों के क्षेत्र में प्रचुर ज्ञान-राशि की सुलभता का श्रेय लिखित रचना को है। पूर्वार्जित ज्ञान का संचय तथा उसके सतत विकास को प्रवहमान वनाए रखने का साधन लिखित साहित्य है। 'ज्ञान-राशि के संचित कोप का ही नाम साहित्य है' कथन लिखित रचना के महत्व को स्वतः सिद्ध कर देता है।

3–सृजनात्मक साहित्य का विकास—ज्ञानात्मक साहित्य के विकास के साथ-साथ ललित साहित्य के विकास का आधार भी लिखित रचना है। ज्ञानात्मक साहित्य यदि मुख्यतः ज्ञान-विज्ञान अथवा मनुष्य के बौद्धिक विकास का

साधन है तो ललित साहित्य मुख्यतः मनुष्य के भावात्मक विकास का साधन है। ललित साहित्य का सबसे बड़ा महत्त्व उसकी अनुरंजनकारी एवं आह्लादकारी शक्ति में है। मनुष्य सदा ही आनन्द की खोज में रहता है और ललित साहित्य इस आनन्द प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन है। उत्कृष्ट ललित साहित्य--कविता, कथाकाव्य निबन्ध आदि द्वारा मानव हृदय को तृप्ति प्राप्त होती है और उसके मनोभावों का परिष्कार भी होता है।

लिखित रचना की शिक्षा द्वारा बालकों की सृजनात्मक प्रतिभा को जागरित कर और स्वतंत्र भावप्रकाशन की क्षमता प्रदान कर उन्हें साहित्य-सृजन के लिए प्रेरित किया जा सकता है।

लिखित रचना-शिक्षण के उद्देश्य

"लिखित रूप से भावों को अभिव्यक्त करने की क्षमता प्राप्त कराते हुए और उसके क्रम में निरन्तर विकास करते हुए, शास्त्रीय, साहित्यिक और व्यावहारिक रूपों एवं शैलियों से परिचित कराना और प्रयोगात्मक रूप से उनका प्रयोग करना सिखाना"[3] लिखित रचना-शिक्षण का उद्देश्य है।

मातृभाषा-शिक्षण के संदर्भ में लिखित-रचना शिक्षण सम्बन्धी उद्देश्यों पर भी विस्तार से विचार किया जा चुका है। वे इस प्रकार हैं—

1– रचना कार्य के विभिन्न रूपों का ज्ञान प्राप्त करना।

2– लिखकर-भावों एवं विचारों को अभिव्यक्त करने की योग्यता प्राप्त करना।

3– रचना कार्य में मौलिकता लाने की योग्यता प्राप्त करना।

इन तीनों उद्देश्यों के अन्तर्गत अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्तनों का भी विस्तार से उल्लेख किया जा चुका है।[4] अतः उनकी आवृत्ति की आवश्यकता नहीं।

लिखित रचना-शिक्षण की वर्तमान उपेक्षित स्थिति

लिखित रचना का इतना अधिक महत्व होते हुए भी आजकल विद्यालयों में इसकी समुचित शिक्षा पर ध्यान नहीं दिया जाता। रचना के लिए पूरे सप्ताह में एक ही घण्टा मिलता है जो विषय के महत्त्व की दृष्टि से बहुत ही कम है।

प्रायः देखा जाता है कि शिक्षक छात्रों को लिखित रचना सम्बन्धी कार्य तो दे देता है पर अन्य विद्यालयी कार्य में व्यस्त रहने से वह ठीक से उसका संशोधन नहीं कर पाता और छात्रों को शुद्ध रचना कार्य का अभ्यास नहीं हो पाता।

रचना कार्य के लिए बालकों को कक्षा में बहुत कम समय मिलता है, अतः वे तत्सम्बन्धी अधिकांश कार्य घर पर ही करते हैं फलतः उनका रचना कार्य

---

3. करुणापति त्रिपाठी—भाषा-शिक्षण

4. देखिये, अध्याय 5, मातृभाषा शिक्षण के उद्देश्यों से उल्लिखित इन तीनों उद्देश्यों तथा तत्संबंधी व्यावहारिक परिवर्तनों को।

तो किसी तेज लड़के की नकल से हो जाता है या घर के ही बड़े लोगों के सुझाव के अनुसार वह लिख लेता है। इससे स्वतंत्र भावप्रकाशन की शक्ति नही विकसित हो पाती। बालक स्वतंत्र रूप से विचार करने, कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं समझ पाता।

विद्यालयों में लिखित रचना के नाम पर थोड़े-बहुत निबन्ध लिखवा कर ही रचना-शिक्षण की इतिश्री मान ली जाती है। निबन्ध भी शिक्षक द्वारा एक निश्चित रूपरेखा के आधार पर अनुकरण मात्र होते है। कक्षा में निबन्ध लिखाये नही जाते बल्कि उनके संकेत दे दिये जाते हैं और बालक घर से लिख लाते है, जिनमें उनकी भाषा, उनके विचार और उनकी अपनी शैली का अभाव रहता है। निबन्ध के अतिरिक्त अन्य रचना-प्रकारों की शिक्षा नहीं के बराबर होती है। भाषा और शैली पर बल नहीं दिया जाता। परिणामतः भाषा की बहुत अशुद्धियाँ होती है।

इस प्रकार समुचित पथप्रदर्शन, निर्देशन और सहायता न मिलने से विद्यार्थियों में रचना-शक्ति विकसित नहीं हो पाती। उनमें मौलिक भावोद्भावना तथा विचार शक्ति का अभाव पाया जाता है और यदि कोई मौलिक विचार वह प्रकट भी करना चाहता है तो उसे उपयुक्त निर्देशन और अवसर नहीं मिल पाता। अतः उच्च कक्षाओं में जाने पर भी बालकों की रचना शक्ति अव्यवस्थित, अस्फुट और असमर्थ-सी रह जाती है।

लिखित रचना कार्य की दृष्टि से ध्यान देने योग्य बातें :

(i) रचना कार्य यथासंभव कक्षा में ही होना चाहिए। घर से लिख लाने की परम्परा को दूर करना चाहिए। यथेष्ट अभ्यास हो जाने पर ही घर से लिख कर लाने का निर्देश दिया जा सकता है।

(ii) प्रारम्भ से ही सुपाठ्य लेखन पर ध्यान देना चाहिए, अन्यथा छात्र घसीट लिखने लगते हैं।

(iii) बालकों को भाषा सम्बन्धी अभ्यास-वर्तनी, शब्द-रचना एवं प्रयोग, वाक्यरचना, अनुच्छेद रचना, विराम चिह्न आदि—अच्छी तरह करा देना चाहिए जिससे कम से कम संशोधन की आवश्यकता पड़े।

यह स्मरण रहना चाहिए कि भाषा में संशोधन की अपेक्षा अशुद्धियाँ न होने देने का प्रयत्न ही वांछित है।

(iv) रचना-अभ्यास के लिए यथाप्रसंग उत्तम एवं आदर्श रचनाओं के उदाहरण छात्रों के सम्मुख अवश्य रखना चाहिए। इससे छात्र अपनी रचना को भी अच्छा से अच्छा बनाने के लिए प्रयत्नशील होते है।

(v) विविध रचना-प्रकारों एवं विधाओं का ध्यान रखते हुए उपयुक्त भाषा एवं शैली के उदाहरण तथा अभ्यास विशेष रूप से अपेक्षित है, अन्यथा विचार-

सामग्री रहते हुए भी रचना अच्छी नहीं हो सकेगी। रचना का स्तर सीखी हुई भाषा के अनुकूल होना चाहिए।

(vi) विषय-सामग्री का यथेष्ट ज्ञान छात्रों को करा देना चाहिए।

(vii) शिक्षक द्वारा निर्दिष्ट संकेत या रूपरेखा के आधार पर ही छात्रों को लिखने के लिए आग्रह नहीं करना चाहिए और उन्हें विचार-प्रकाशन की स्वतन्त्रता देनी चाहिए।

(viii) रचना के विस्तृत कलेवर की अपेक्षा शुद्ध, सुगठित, क्रमबद्ध एवं संक्षिप्त रचना अधिक वांछित है।

(ix) छात्रों में रचना के प्रति रुचि उत्पन्न करना शिक्षक का आवश्यक कर्त्तव्य है। शिक्षक उचित विधियों का अनुसरण करते हुए छात्रों को अभिप्रेरित करता रहे और छात्रों द्वारा अच्छी रचना प्रस्तुत होने पर उनकी प्रशंसा भी करे।

(x) छात्रों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढ़ाने से और स्वाध्याय की आदत डालने से रचना का स्तर ऊँचा उठाया जा सकता है। छात्रों का ज्ञान जितना ही अधिक होगा, वे अपनी रचना को अधिक सारगर्भित एवं विचारपूर्ण बना सकेंगे। इस दृष्टि से छात्रों को उपयोगी पुस्तकें बतानी चाहिए जिन्हें वे स्वयं पढ़ें। बाल पत्र-पत्रिकाएँ भी इस दृष्टि से उपयोगी सिद्ध होती हैं।

लिखित रचना के अंग एवं उनकी शिक्षण प्रक्रिया

लिखित रचना को दृष्टि से निम्नांकित अंगो का परिचय और उनकी उपयुक्त शिक्षा आवश्यक है—

1. सुलेख
2. भाषा सम्बन्धी विविध अभ्यास
3. लिखित रचना के प्रकार एवं विषय

1. सुलेख—पूर्ण, सुन्दर और सुडौल अक्षर लिखना; शिरोरेखा; स्वच्छ लेखन, पृष्ठ पर लिखित अंश का स्थान अर्थात् ऊपर, नीचे एवं बायीं ओर हाशिया छोड़ने का ध्यान, अक्षर-अक्षर, शब्द-शब्द और वाक्य-वाक्य के बीच दूरी का ध्यान।

2. भाषा सम्बन्धी विविध अभ्यास—शुद्ध एवं परिनिष्ठित भाषा के प्रयोग पर ही लिखित रचना की प्रभावपूर्णता निर्भर है, अतः अधिकाधिक भाषा सम्बन्धी अभ्यास छात्रों द्वारा होने चाहिए। इन अभ्यासों के लिए एक निश्चित योजना बना लेनी चाहिए। कक्षा में लिखित अभ्यास के लिए मौखिक कार्य की भी सहायता लेना अनिवार्य है। श्यामपट्ट का अधिकाधिक प्रयोग भी वांछित है। भाषा सम्बन्धी अभ्यासों में निम्नांकित भाषिक अवयवों के अभ्यास पर बल देने की आवश्यकता है—

(i) वर्तनी सम्बन्धी अभ्यास : यद्यपि मातृभाषा होने के कारण हिन्दी वर्तनी सम्बन्धी अशुद्धियाँ माध्यमिक स्तर पर नहीं होनी चाहिए, किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी

नही है। माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक स्तर तक वर्तनी सम्बन्धी अशुद्धियाँ होती रहती हैं, अतः शुद्ध वर्तनी की दृष्टि से नाना प्रकार के अभ्यास देने चाहिए। वर्तनी सम्बन्धी अशुद्धियों के कारण क्या हैं, उनके निराकरण के उपाय क्या हैं और किस प्रकार के अभ्यास देने चाहिए, आदि के सम्बन्ध में विस्तार से वर्तनी-शिक्षण के प्रकरण में लिखा जा चुका है।[5]

(ii) **शब्द प्रयोग सम्बन्धी अभ्यास** : भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति के साधन शब्द ही हैं। रचना की उत्कृष्टता बहुत कुछ शब्दों के ही ज्ञान, प्रयोग तथा योजना पर निर्भर है। रचना के अन्तर्गत शिक्षण का उद्देश्य बालक के शब्द भण्डार की अभिवृद्धि और उनका यथास्थान उचित प्रयोग करने की शिक्षा प्रदान करना भी है। शब्द-रचना सम्बन्धी अभ्यासों के रूप इस प्रकार हैं—

शब्दों का वाक्यों में प्रयोग; रिक्त स्थानों की पूर्ति; समानार्थी, एकार्थक, नानार्थक और विशेपार्थक शब्दों का अभ्यास; लिंग, वचन एवं विभक्ति सम्बन्धी अभ्यास; उपयुक्त विशेषण, सर्वनाम तथा क्रियाविशेषणों का प्रयोग; उपसर्ग, प्रत्यय, सन्धि और समास सम्बन्धी शब्द-रचना के विविध अभ्यास।

'हिन्दी शब्द-शिक्षण' अध्याय में इस सम्बन्ध में विस्तार से लिखा जा चुका है।[6]

(iii) **वाक्य रचना सम्बन्धी अभ्यास** : भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से वाक्य-रचना के अभ्यासों का विशेष महत्त्व है। ये अभ्यास इस प्रकार के हो सकते है—

ज्ञात विषयों पर प्रश्नों के उत्तर लिखवाना, उत्तर देकर उन पर प्रश्नों की रचना कराना, वाक्य के विविध रूपों जैसे स्वीकारात्मक, नकारात्मक, प्रश्नार्थक, आज्ञार्थक, विधि आदि सम्बन्धी अभ्यास, एक रूप से दूसरे रूप मे वाक्य परिवर्तन, वाक्य का प्रारम्भिक अंश देकर शेष की पूर्ति, अव्यवस्थित पदक्रम देकर उन्हें व्यवस्थित रूप में रखकर शुद्ध वाक्य रचना कराना, वाक्यों में रिक्तपूर्ति, क्रियाओं के विविध रूपो के अभ्यास, काल-परिवर्तन, विभक्तियों का उचित प्रयोग, निषेधात्मक वाक्यों में सहायक क्रिया का स्थान, सम्बन्ध सूचक शब्दों (अपेक्षा, समकक्ष, सम्मुख आदि) का प्रयोग; क्योंकि, तथापि आदि समुच्चय बोधक शब्दों का प्रयोग; कर्तृ एवं कर्मवाच्य, सयुक्त एवं मिश्रित वाक्यों की रचना आदि सम्बन्धी अभ्यास।

वाक्य रचना सम्बन्धी अभ्यासों का उल्लेख विस्तार से वाक्य-रचना शिक्षण के प्रसंग में किया जा चुका है।[7]

---

5. देखिए अध्याय 8 हिन्दी वर्तनी-शिक्षण
6. ,, ,, 9 हिन्दी शब्द-शिक्षण
7. देखिए अध्याय 10. हिन्दी वाक्य-रचना शिक्षण।

(iv) अनुच्छेद-रचना—भावों एवं विचारों को सुश्रृंखलित एवं सुसम्बद्ध रूप से प्रस्तुत करने के लिए अनेक वाक्यों को क्रम से आयोजित करना पड़ता है। ऐसे वाक्यो के समूह को अनुच्छेद कहते है। प्रत्येक अनुच्छेद में एक मुख्य विचार रहता है। यदि किसी विषय का वर्णन लम्बा होता है तो उसे अनेक अनुच्छेदों में विभक्त करना पड़ता है और उन्हें क्रमबद्ध रूप से, पूर्वापर सम्बन्ध का उचित ध्यान रखते हुए प्रस्तुत किया जाता है।

अपने विचारों को सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने के लिए बालकों को अनुच्छेद-रचना का ज्ञान अवश्य करा देना चाहिए। कक्षा 6–7 के विद्यार्थियों में भावों एवं विचारों को क्रमबद्ध रूप से अनुच्छेदों में विभाजित करने की योग्यता का अभाव पाया जाता है। अतः इसके अभ्यास आवश्यक हैं। 8वीं, 9वीं कक्षा के विद्यार्थियो में यह योग्यता अपेक्षित है कि वे अपने लेख अनुच्छेदों में बाँट कर लिखें। प्रारम्भ में छोटे-छोटे गद्यांशों की रचना कराने के अभ्यास देने चाहिए। कक्षा 10–11 तक आते-आते विद्यार्थी दस-दस वाक्यों तक के अनुच्छेद लिख सकते है।

पाठ्य पुस्तक पढ़ाते समय विभिन्न अनुच्छेदों की ओर छात्रों का ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है और यह बताया जा सकता है कि इनमें मुख्य विचार क्या है और इन्हें क्यों विभिन्न अनुच्छेदों में विभक्त किया गया है।

किसी विषय के वर्णन के लिए कुछ विन्दु छात्रों के सम्मुख प्रस्तुत किये जा सकते हैं और प्रत्येक विन्दु पर एक-एक अनुच्छेद लिखने के लिए कहा जा सकता है। अनुच्छेद-रचना सम्बन्धी अभ्यास इस प्रकार के हो सकते है—

कई अनुच्छेदों के मिले हुए रूप को पृथक्-पृथक् अनुच्छेदों में विभक्त कराना; अलग-अलग वाक्यों को देकर उन्हे एक अनुच्छेद में संगठित कराना; कई अनुच्छेदों के विभिन्न वाक्यो को क्रम रहित करके अलग-अलग देना तथा छात्रों से उनके उचित क्रमायोजन द्वारा अनुच्छेदों की पुनः रचना कराना; अनुच्छेदो के शीर्षक लिखवाना; शीर्षक देकर उन पर आठ-दस पंक्तियों तक का एक अनुच्छेद लिखवाना; किसी अनुच्छेद का कभी प्रारम्भिक, कभी मध्य का और कभी अन्त का अंश देकर अनुच्छेद पूरा करवाना आदि।

(v) विराम चिह्न—भाषा सम्बन्धी अभ्यासों में विराम चिह्न के अभ्यासों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। बिना विराम चिह्नो के वाक्य की अर्थ-व्यंजकता स्पष्ट नहीं हो सकती। विराम चिह्न के अभ्यास इस प्रकार के हो सकते हैं—

बिना विराम चिह्न के ही कुछ वाक्य बालकों को देना और उनसे उपयुक्त विराम चिह्न लगवाना; किसी अनुच्छेद में अशुद्ध विराम चिह्नों के प्रयोग को शुद्ध कराना; अनुचित स्थानों पर विराम चिह्नों का प्रयोग देकर उन्हे उचित स्थानों पर

लगाने के लिए कहना। विराम चिह्नों के सम्बन्ध में विस्तार से वाक्य-रचना शिक्षण प्रकरण में लिखा जा चुका है।[8]

वस्तुतः उपयुक्त भाषायी कौशल ही रचना के आधार हैं। "रचना एक नई भाषा है अतः वह मूलतः भाषा का अभ्यास है।"[9] यह अभ्यास केवल नये शब्दों एवं संरचनाओं (Structures) के प्रयोग में ही सुधार का साधन नहीं है, बल्कि भाषा संभालने का कौशल भी बढ़ाता है। भाषा पर जितना ही अधिकार बढ़ता है, रचना में उतनी ही सफलता प्राप्त होती है।

3. लिखित रचना के प्रकार एवं विषय—विषय की दृष्टि से रचना के दो अंग हैं—

(क) नियमबद्ध रचना[10]

(ख) मुक्त रचना[11]

(क) नियमबद्ध रचना—नियमबद्ध रचना में प्रतिबंध स्वरूप अनेक नियम[12] है जिनका पालन आवश्यक है। लेखक उन नियमों से आबद्ध रहता है। ये नियम भी दो प्रकार के है—(1) भाषा सम्बन्धी जैसे शब्द, वाक्य, अनुच्छेद, विराम चिह्न आदि जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है और (2) ऐसे विषय सम्बन्धी जिनमे सुनिश्चित प्रणाली एवं क्रिया विधि का अनुसरण करना पड़ता है; जैसे, पत्र-प्रपत्र—

(i) निजी एवं पारिवारिक पत्र

(ii) व्यावहारिक पत्र जैसे निमंत्रण, बधाई, हर्ष सूचक, संवेदना सूचक आदि

(iii) वाणिज्यिक एवं व्यावसायिक पत्र

(iv) अधिकारियों के पास प्रार्थनापत्र भेजना या मांग प्रस्तुत करना

(v) आस्मारक पत्र

(vi) पत्र-सम्पादक के नाम समाचार भेजना

(vii) किसी सभा, समिति, अधिवेशन, समारोह आदि की रिपोर्ट

(viii) विविध प्रकार के प्रपत्र भरना—मनीआर्डर, तार, सेविंग बैंक फार्म, प्रवेश पत्र, पुस्तकालय की सदस्यता का प्रपत्र आदि।

रचना सम्बन्धी इन विषयो का शिक्षण माध्यमिक कक्षाओ में आवश्यक है। छात्रो को इनके लिखने की प्रणाली एवं क्रियाविधि का परिचय विविध उदाहरणों एवं नमूनों द्वारा करा देना चाहिए और फिर उनके आधार पर प्रचुर अभ्यास कराना चाहिए।

---

8. देखिए अध्याय 10, हिन्दी वाक्य-रचना-शिक्षण
9. Composition is a new language, therefore, is language practice.
10. Formal Composition. 11. Free Composition.
12. Procedure.

(ख) मुक्त रचना—इस प्रकार की रचना में भाषा सम्बन्धी नियमों का पालन करते हुए भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से स्वेच्छानुसार शब्दों को चुनकर, सँवार कर तथा सजाकर संयोजित करने की स्वतन्त्रता लेखक को प्राप्त रहती है। उपर्युक्त पत्र-प्रपत्रों की भाँति प्रतिबंधों एवं नियमों से वह बँधा नहीं रहता।

इस प्रकार की रचना का उद्देश्य "अपने विचारों को अपनी शैली में क्रमबद्ध एवं सुसज्जित करने, अपने मौलिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए मनोनुकूल शब्द-चयन की योग्यता एवं सामर्थ्य प्रदान करना है।"[13]

मुक्त रचना की दृष्टि से अनेक प्रकार के विषय चुने जा सकते हैं, किन्तु प्रारम्भ में ही बालकों से स्वतन्त्र मौलिक रचनाओ की अपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः उन्हे पहले सरल, ज्ञात, पठित एवं स्थूल विषयों पर कुछ स्वतन्त्रता के साथ लिखने के लिए कहना चाहिए; जैसे,

(i) पठित अंशों पर आधारित प्रश्नों के उत्तर, पाठों के सारांश एवं संक्षिप्तिकरण

(ii) पठित महापुरुषों की जीवनी

(iii) चित्रों के आधार पर वर्णन

(iv) तथ्यात्मक वर्णन (इतिहास और भूगोल के पाठों पर आधारित)

(v) देखे हुए, सुने हुए, अथवा बातचीत पर आधारित विषयो का संक्षिप्त वर्णन; जैसे, गाँव, बाजार, विद्यालय, पशु-पक्षी, खेल-कूद, कृषि-उद्योग आदि

(vi) अनुभव पर आधारित; जैसे, यात्रा, प्रकृति वर्णन, दृश्य वर्णन, घटना वर्णन, तमाशे, क्या देखा—मेले में, प्रदर्शनी में, गाँव में, नगर में, किसी उत्सव या समारोह में आदि

(vii) वातावरण सम्बन्धी जैसे वेश-भूषा, भोजन, गृह उद्योग-धन्धे, शिल्प, रीति-रिवाज, उत्सव, खेल-तमाशे, मनोरंजन के साधन आदि।

उपर्युक्त विषयों पर रचना सम्बन्धी अभ्यास हो जाने पर बालकों को ऐसे विषयों पर लिखने के अभ्यास देने चाहिए जिनमें उन्हें स्वतन्त्र भाव एवं विचार प्रकाशन का अवसर मिले, कल्पना एवं तर्क शक्ति का प्रयोग करना पड़े और वे अपनी शैली का विकास कर सकें। आगे लिखित रचना के विविध रूपों में ऐसे विषयों का उल्लेख किया गया है।

---

13. "The ultimate aim of composition is to enable the pupil to arrange his own ideas, in his own way, freely; to choose his own words to express his own ideas, freely. Hence the term free composition." H. Champion–Lectures on Teaching of English in India, Madras, O.U.P. 1937, p. 116.

माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में लिखित रचना के विविध रूप

इस स्तर पर लिखित रचना के निम्नांकित रूपों के शिक्षण तथा अभ्यास अपेक्षित हैं—

1. पत्र एवं प्रपत्र
2. वर्णन-स्थान, दृश्य, घटना, क्रिया-कलाप आदि का
3. संवाद
4. जीवनी आत्मकथा
5. व्याख्या
6. सार लेखन एवं विचार विस्तार
7. रिपोर्ट लिखना
8. नोट लेना और नोट बनाना (केवल उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में)
9. संपादकीय (केवल उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में)
10. पुस्तक समीक्षा (केवल उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में)
11. लेख एवं निबंध
12. सृजनात्मक रचनाएँ (कहानी, एकांकी, गद्यगीत, कविता)

1. पत्र-प्रपत्र—कक्षा 6 से ही पत्र एवं प्रपत्र संबंधी शिक्षण प्रारम्भ हो जाना चाहिए। कक्षा 6 मे पत्र अति सामान्य रूप के ही होंगे; जैसे, माता-पिता को पत्र, कुशल-क्षेम संबंधी, अपनी आवश्यकता के लिए, जैसे रुपये मँगाने के लिए पिता को पत्र, प्रधानाध्यापक को आवेदन पत्र, मित्रों को पत्र। ये पत्र छोटे आकार के ही होंगे। लगभग 10–12 पंक्तियाँ यथेष्ट हैं।

कक्षा 7–8 में पत्रों का रूप और आकार कुछ उच्च स्तर का हो जाता है। इस स्तर पर निम्नांकित प्रकार के पत्र लिखाए जा सकते है—

(i) पारिवारिक पत्र—माता-पिता, भाई-बहन तथा अन्य संबंधियों एवं मित्रों को।

(ii) प्रार्थनापत्र—प्रधानाध्यापक के नाम विभिन्न आवेदन पत्र

(iii) औपचारिक पत्र—विविध प्रकार के निमंत्रण, बधाई, संवेदना, सूचना पत्र, खेल-प्रतियोगिता संबंधी आमंत्रण पत्र।

(iv) संपादक के नाम—विद्यालय के समारोह, बाल दिवस, गणतंत्र दिवस आदि संबंधी समाचारों के प्रकाशन के लिए।

(v) साधारण व्यावसायिक पत्र—पुस्तक विक्रेता के पास, स्टेशनरी मँगाने के लिए पत्र।

(vi) प्रपत्र भरना—प्रवेश पत्र, मनीआर्डर, पुस्तकालय-सदस्यता प्रपत्र।

कक्षा 9 में छात्र सभी प्रकार के वैयक्तिक, सामाजिक एवं व्यावहारिक पत्र लिख सकते हैं। सामान्यतः उनके पत्रों की शैली वर्णनात्मक ही होती है, पर इस स्तर पर भावात्मकता का भी समावेश होने लगता है, विशेषतः मित्रों को लिखे गये पत्रों में। अतः इस शैली को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। इस स्तर पर पत्रों का कलेवर भी 200 शब्दों तक का हो सकता है। भाषा सरल, सामान्य एवं दैनिक प्रयोग में आने वाली होती है, पर वालकों का झुकाव साहित्यिकता की ओर होने लगता है। इसीलिए पत्रों में उनका स्वभाव, रुचि-अरुचि, आशा-आकांक्षा, विश्वास आदि की झलक मिलती है तथा व्यक्तित्व भी थोड़ा वहुत व्यंजित होने लगता है।

कक्षा 10–11 में उपर्युक्त पत्रों के अतिरिक्त निम्नांकित प्रकार के पत्र भी अपेक्षित हैं—

(i) प्रतियोगिताएँ आयोजित करने के लिए प्रधानाचार्य से स्वीकृति प्राप्ति के लिए आवेदन पत्र।

(ii) विविध प्रकार के आवेदन पत्र, नौकरी के लिए प्रार्थनापत्र।

(iii) शिकायती पत्र।

(iv) आवश्यकता की वस्तुएँ, जैसे, खेल के सामान मँगाने के लिए व्यापारियों को पत्र।

(v) विवाह आदि अथवा अन्य आयोजन संवंधी निमंत्रण पत्र, संवेदनात्मक पत्र, प्रस्तावमूलक पत्र, आस्मारक पत्र।

(vi) संपादक के नाम पत्र।

इस स्तर पर वालकों की पत्र-लेखन-शैली में परिष्कार आ जाना चाहिए। यद्यपि इन पत्रों के प्रारूप निश्चित-से होते हैं पर वस्तुवर्णन को अधिक रोचक और प्रभावपूर्ण वनाया जा सकता है। महापुरुषों एवं साहित्यकारों के पत्रों के कुछ नमूने (विशेषतः व्यक्तिगत पत्रों के) छात्रों के सम्मुख रखे जा सकते हैं।

2. वर्णन—छात्र स्वयं देखे हुए स्थानों का वर्णन वड़ी रुचि एवं सजीवता से करते हैं। प्रारम्भ में उन्हें ऐसे स्थानों, दृश्यों, घटनाओं एवं क्रिया-कलापों का वर्णन देना चाहिए जिनका उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका हो; जैसे अपना गाँव, अपना नगर, अपना विद्यालय, गाँव या नगर में घटने वाली कोई विशिष्ट घटना, विद्यालय में होने वाले समारोह, खेल-प्रतियोगिताएँ, यात्रा, तीर्थ स्थान, उत्सव, मेला, प्रदर्शनी चिड़ियाघर आदि।

इन विषयों पर भी प्रारम्भ में छात्रों द्वारा सांगोपांग वर्णन की आशा नहीं करनी चाहिए। यदि वे किसी प्रकरण के एक पक्ष पर ही लिखने में रुचि दिखाते हैं तो उन्हें इसकी स्वतन्त्रता देनी चाहिए, जैसे, चिड़ियाघर में शेर या चीता।

वर्णन की कला में प्रशिक्षित करने के लिए छात्रों को पहले इस प्रकार के भी अभ्यास दिये जा सकते हैं–पठित कहानियों का सारांश अपने शब्दों में पौराणिक

या लोक-प्रचलित कहानियों का सारांश, परिवार तथा निकट सम्वन्धियों के जीवन की विशिष्ट घटनाओं का वर्णन आदि।

उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में वर्णन के लिए अधिक चित्रात्मक एवं भावात्मक विषय भी दिये जा सकते हैं; जैसे, किसी करुणा अथवा उद्विग्नतापूर्ण या तीव्र अनुभूतिपूर्ण वस्तु, घटना या कार्य के प्रति अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करना—अन्धा भिखारी, सड़क के किनारे भूखी बुढिया, मोटर दुर्घटना, बाढ़ का दृश्य, सरल प्राकृतिक दृश्य—सूर्योदय, संध्या, उपवन आदि।

3. संवाद—माध्यमिक स्तर पर कुछ प्रतिभाशाली छात्र स्वानुभव के आधार पर सरल संवाद लिख लेते है। अतः इस प्रकार के अभ्यास भी देने चाहिए। गाँव और शहर, लोहा और कोयला जैसे विषयों पर बालक संवादात्मक पाठ लिख सकते हैं। पठित कहानियों को भी संवाद रूप में लिखने का अभ्यास देना चाहिए, जैसे—खरगोश और कछुआ, बादल और सूरज। कक्षा 9–10 के विद्यार्थी अपने जीवन से सम्वन्धित एवं वोध परिधि के अन्तर्गत विषयों पर संवाद लिखने में प्रशिक्षित किये जा सकते हैं। इस स्तर पर कविता के संवादात्मक अंशों को भी संवाद रूप में अपनी भाषा में लिखने के लिए कहा जा सकता है, जैसे, लक्ष्मण-परशुराम संवाद, भामाशाह और राणा प्रताप आदि।

संवादों के लिखने का उद्देश्य बालक की साहित्यिक कल्पना शक्ति, तर्क शक्ति और उचित प्रसंग पर उचित बात कहने की क्षमता का विकास करना होता है। बालकों द्वारा संवाद लिखाने में शिक्षक का निर्देशन आवश्यक है। संवाद लिखने की शैली वर्णन से सर्वथा भिन्न है और उसमें पूर्वापर सम्बन्ध का निर्वाह बहुत आवश्यक है।

4. जीवनी तथा आत्मकथा—महापुरुषों की जीवनी पढकर अपनी भाषा में उसे लिखना लिखित रचना की दृष्टि से अच्छा अभ्यास है। माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक स्तर के बालकों में नायकत्व एवं वीरपूजा की भावना बडी प्रवल होती है और वे अपना आदर्श भी इस समय चुनने लगते है। अतः आदर्श महापुरुषों की जीवनी लिखना उनके लिए स्वयं ही प्रेरणादायी विषय सिद्ध होता है।

आत्मकथा लिखने की शैली से भी बालक इस स्तर पर परिचित होने लगते हैं। रोचक वस्तुओं का वर्णन आत्मकथा शैली में लिखने के लिए कहा जा सकता है, जैसे कोयले की आत्म कहानी, कपास की आत्म कहानी आदि।

5. व्याख्या—कक्षा 6 से ही बालक पाठ्य पुस्तकों के महत्त्वपूर्ण अंशों की व्याख्या लिखने लगते है, पर 9वीं कक्षा तक यह क्षमता और भी विकसित हो जाती है। अब बालकों को अवतरित अंश के भाव एवं भाषा-सौन्दर्य के विश्लेपण की दिशा में भी अग्रसर किया जा सकता है। कक्षा 10–11वीं तक बालकों को

सामान्य अलंकारों एवं रसों का भी परिचय हो जाता है। कवि या लेखक की भाषा एवं शैली की विशेषताओं की ओर छात्रों का ध्यान आकृष्ट करना चाहिए और व्याख्या में अर्थ तथा साहित्यिक सौन्दर्य-तत्त्व सम्बन्धी सभी पक्षों के उल्लेख के लिए उचित सुझाव देने चाहिए।

6. सार लेखन एवं विचार-विस्तार—कक्षा आठ के बाद छात्रों में किसी पठित सामग्री का संक्षिप्त रूप या सारांश प्रस्तुत करने की क्षमता आ जानी चाहिए। सार ग्रहण में पाठान्तर्गत तथ्यों, भावों, विचारों की उपेक्षा न करके उनकी संक्षिप्त अभिव्यक्ति पर बल देना चाहिए, यह बात छात्रों को स्पष्ट कर देनी चाहिए।

सार लेखन की ही भाँति विचार-विस्तार सम्बन्धी अभ्यास भी छात्रों को देने चाहिए। सारगर्भित कथन या सूत्र देकर उनका स्पष्टीकरण पूछना चाहिए। संक्षिप्त कथन देकर उनकी विपद व्याख्या भी पूछी जा सकती है।

7. रिपोर्ट लिखना—विद्यालयों में होने वाले समारोहों एवं विविध क्रिया-कलापों की रिपोर्ट लिखना भी बालकों को सिखाना चाहिए। रिपोर्ट लिखने में किन-किन बातों का उल्लेख आवश्यक है, यह छात्रों को बता देना चाहिए, जैसे, किसी वाद-विवाद प्रतियोगिता की रिपोर्ट लिखनी है तो यह बातें आवश्यक हैं— किसी संस्था या परिषद के तत्त्वावधान में यह आयोजन हुआ है उसका उल्लेख, तिथि, समय, अध्यक्ष का नाम, पक्ष-विपक्ष के वक्ताओं के नाम भाषणों के कुछ रोचक प्रसंग, निर्णायकों के निर्णय, अध्यक्षीय भाषण, धन्यवाद-ज्ञापन आदि। इसी प्रकार अन्य कार्यों की रिपोर्ट भी लिखाई जा सकती है।

8. नोट लेना और नोट बनाना—उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में छात्रों को यह सिखाना चाहिए कि वे किस प्रकार किसी भाषण या व्याख्यान का नोट लें। नोट लेने में यह सावधानी आवश्यक है कि कोई मुख्य बिन्दु छूट न जाये। नोट लेने के अभ्यास से शीघ्र एव तीव्रगति से लिखने का भी अभ्यास बढ़ता है, सुनने की एकाग्रता बनी रहती है और सार ग्रहण की क्षमता का भी विकास होता है।

नोट बनाना या तैयार करना कला है। किसी दिए हुए विषय पर अपेक्षित सामग्री ढूंढ़ना, पुस्तकालय से संदर्भ पुस्तकें अथवा अन्य आवश्यक पुस्तकें लेकर अपेक्षित सामग्री चुनना इसके लिए आवश्यक है। इस संकलित सामग्री में से आवश्यक सामग्री को छाँट कर नोट तैयार करना बालकों को सिखाना चाहिए। इस दृष्टि से शिक्षक को उचित उदाहरण भी प्रस्तुत करना चाहिए।

9. संपादकीय—10वीं-11वीं कक्षाओं में प्रतिभा-सम्पन्न छात्र पत्र-पत्रिकाओं के लिए संपादकीय लिखने का अभ्यास कर सकते हैं। विद्यालय की पत्रिका के लिए संपादकीय लिखने में उनकी रुचि जागरित की जा सकती है। शिक्षक उनके संपादकीय में सुधार कर सकता है। किस प्रकार संपादकीय लिखना चाहिए और

उसमें किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए, इसका आदर्श भी शिक्षक द्वारा प्रस्तुत होना चाहिए। संपादकीय के लिए एक निष्पक्ष एवं संतुलित दृष्टिकोण छात्रों में उत्पन्न करना आवश्यक है।

10. पुस्तक समीक्षा—कक्षा 10–11 के छात्रों को पुस्तक-समीक्षा लिखने के अभ्यास भी दिए जा सकते हैं। पत्र-पत्रिकाएँ एवं पुस्तकें पढ़कर उनके विषय में अपने विचारों को व्यक्त करना इस अभ्यास का उद्देश्य है। शिक्षक छात्रों की यथावश्यक सहायता करेगा, दूसरे समालोचकों के विचार बताएगा और बालकों को स्वतन्त्र रूप से विचार व्यक्त करने के लिए कहेगा। वह समीक्षा की दृष्टि से कुछ संकेत या प्रारूप भी दे सकता है; जैसे, पुस्तक का परिचय, विषय, विविध प्रकरण एवं उनके मुख्य विचार, लेखक का आशय, भाषा एवं शैली, अपनी प्रतिक्रिया कारण सहित आदि। कहने की आवश्यकता नहीं कि विभिन्न विधाओं वाली पुस्तकों की समीक्षा के संकेत या प्रारूप भिन्न-भिन्न होंगे।

11. सृजनात्मक अभिव्यक्ति संबंधी रचनाएँ[14]—मुक्त या स्वतंत्र रचना का वास्तविक रूप सृजनात्मक रचनाओं में ही देखने को मिलता है। इन रचनाओं में सृजनात्मक अभिव्यक्ति का विशेष महत्त्व है और इनमें कलात्मकता, मौलिकता, लालित्य एवं अनुरंजकता विशेष रूप से अपेक्षित है। सृजनात्मक अभिव्यक्ति सामान्य रूप की अभिव्यक्ति न होकर विशिष्ट अभिव्यक्ति है, जिससे पाठक की सौन्दर्य प्रियता की भावना को तुष्टि मिलती है। रचनाकार का व्यक्तित्व इन रचनाओं में झलकता है, उसकी मनोगत धारणाएँ एवं प्रतिक्रियाएँ अभिव्यंजित होती हैं और वह अपनी कल्पना एवं कारयित्री प्रतिभा के योग से एक नूतन सृष्टि करता है। वेलार्ड का कथन है कि "सम्यक् रचना-शिक्षण बालक के व्यक्तित्व-विकास एवं उसके आत्म-प्रकाशन तथा निर्णय-शक्ति को उन्नत बनाने का प्रभावपूर्ण साधन है।"

सृजनात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक स्तर पर निम्नांकित प्रकार के रचना-अभ्यास दिए जा सकते हैं—

(क) निबन्ध—गद्य साहित्य की एक प्रमुख विधा होने के कारण निबन्ध लेखन का लिखित रचना की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। कक्षा 6–7 के विद्यार्थियों को सरल एवं रोचक विषयों पर निबन्ध लिखने के लिए उचित निर्देशन देने चाहिए। दीपावली, होली, ईद, क्रिसमस आदि पर्व; विभिन्न ऋतुएँ—जाड़े की रात, जेठ की दुपहरी, घनघोर वर्षा का दिन, पतझड़, वसंत; अपनी रुचि के खेल-कूद आदि विषयों पर इस स्तर के विद्यार्थी अच्छी तरह निबन्ध लिख लेते हैं।

उच्चतर माध्यमिक स्तर पर अनेक प्रकार के निबन्ध लिखाए जा सकते हैं; जैसे,

---

14. Creative writing.

(i) **वर्णनात्मक**—रेल, मोटर, नाव द्वारा यात्रा आदि।

(ii) **विवरणात्मक**—देखे हुए स्थानों का विवरण, ऐतिहासिक भवन—ताजमहल, चित्तौड़गढ़, लालकिला; धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थान—प्रयाग, काशी, पुरी, नालंदा आदि।

(iii) **सूचनात्मक**—ग्राम पंचायत, चुनाव, भाखड़ा बाँध, पंचवर्षीय योजना आदि।

(iv) **तुलनात्मक**—दो या दो से अधिक व्यक्तियों, वस्तुओं अथवा स्थानों की तुलना, जैसे ग्राम और नगर, कलम और तलवार, आग और हवा, गांधी और नेहरू, सूर और तुलसी, आगरा और मथुरा आदि।

(v) **संस्मरणात्मक**—अपने जीवन से संबधित घटनाओं, व्यक्तियों और प्रसंगों के संबंध में संस्मरण लिखाने चाहिए। परिस्थितियों का उल्लेख भी छात्र संस्मरण शैली में कर सकते हैं, जैसे, विद्यालय में मेरा प्रथम दिन, जीवन की सबसे सुखद घटना, दुखद प्रसंग, भयानक स्वप्न आदि।

(vi) **कल्पनापूर्ण विषय**—यदि मैं प्रधानमंत्री अथवा राष्ट्रपति होता, जैसे विषय पर बालक अपनी कल्पना द्वारा बड़े मनोरंजक निबंध लिखते है।

(vii) **विचारात्मक निबंध**—कक्षा 10–11 में बालकों को विचार प्रधान निबंध भी लिखने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। इन निबंधों में विचारों की प्रधानता रहती है और लेखक अनेक दृष्टियों से विचार करता है। ऐसे निबंधों में विषय का ज्ञान और विषय प्रतिपादन के लिए तर्क दोनों आवश्यक है। राष्ट्रसेवा, श्रम का महत्त्व, समाज और साहित्य, ग्रामसुधार, छुआछूत, कर्त्तव्यपरायणता, विद्यार्थी-जीवन, स्वावलम्बन, समाचारपत्र, पुस्तकालय, चलचित्र, देशाटन, मेरी प्रिय पुस्तक आदि विषयों पर इन कक्षाओं के छात्र उचित निर्देशन मिलने पर अच्छा निबन्ध लिख सकते है।

(viii) **भावात्मक निबंध**—भावात्मक निबन्धों का लिखना कुछ कठिन होता है। प्रतिभासंपन्न एवं संवेदनशील बालक ही ऐसा निबन्ध लिख सकते हैं। भिखारी, दीनता, बुढ़ापा, तरुणाई, चाँद, ममता, वात्सल्य, त्याग, बलिदान, वीरता, देशभक्ति आदि विषयों पर उचित निर्देशन में छात्रों को बड़े ही भावपूर्ण निबन्ध लिखते हुए पाया जाता है। इन निबन्धों में विचार और तर्क की अपेक्षा तीव्र अनुभूति तथा आत्मगत धारणा और प्रतिक्रिया की प्रधानता होती है। भावात्मक निबन्धों की भाषा अधिक मर्मस्पर्शी, काव्यात्मक और प्रवाहपूर्ण होती है।

उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के विद्यार्थियों की निबन्ध शैली में विशेष निखार आ जाना चाहिए क्योंकि माध्यमिक कक्षाओं के स्तर पर निबन्ध-लेखन सम्बन्धी प्रविधियों से बालक को परिचित करा दिया जाता है और सामान्य स्तर के निबन्ध लेखन का अभ्यास भी हो जाता है। छात्रों को कभी-कभी उपयुक्त शब्दों एवं सुसंबद्ध स्पष्ट भावाभिव्यक्ति की कठिनाई हो सकती है, पर शिक्षक उचित निर्देशन द्वारा उन्हें दूर करके छात्रों को उत्तरोत्तर शैली-सुधार के लिए प्रोत्साहित कर सकता है।

(ख) कहानी—अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करने एवं उचित प्रेरणा देने पर बालक कहानी लिखने में विशेष रुचि प्रदर्शित करते है। कहानी रचना सम्बन्धी अभ्यास निम्नांकित प्रकार के हो सकते है—

पूर्वज्ञान पर आधारित प्रस्तुत चित्रों की सहायता से कहानी लिखने के अभ्यास, जैसे कृष्ण की बाललीला के चित्र, पौराणिक कथाओं के चित्र; पठित कहानियों के संक्षिप्त रूप अथवा उन्हीं कथानकों के आधार पर नई कहानियाँ, दी हुई रूपरेखा अथवा संकेत के आधार पर कहानी रचना, प्रारंभिक अंश देकर कहानी पूरी करवाना, मुख्य विचार देकर कहानी लिखवाना आदि। कक्षा 9–10 में पारिवारिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक कहानियाँ लिखने के अभ्यास दिए जा सकते है।

माध्यमिक स्तर पर छात्र घटना प्रधान एवं वर्णनात्मक कहानियाँ ही लिख पाते हैं। आदर्शवादी प्रवृत्ति के कारण वे आदर्श चरित्रों की सृष्टि करते है, प्रेम और सहानुभूति आदि भावों पर विशेष बल देते हैं। साहसिक कहानियाँ लिखने में उनकी विशेष रुचि होती है।

छात्रों को विद्यालय पत्रिका, भित्ति पत्रिका आदि में कहानियाँ लिखने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। 10–11वीं कक्षा के छात्र स्वतंत्र रूप से कहानी लिख सकते है।

(ग) एकांकी—कहानी की ही भाँति अति सरल विषयों पर छात्रों को एकांकी लिखने के अभ्यास भी दिए जा सकते है। यदि संवाद लिखने की उचित शिक्षा दी गई है तो बालक 10वीं–11वीं कक्षा तक आते-आते लघु एकांकी भी लिख सकते हैं।

(घ) **गद्यगीत**—साहित्यिक एवं कलात्मक प्रवृत्ति वाले प्रतिभाशाली छात्रों को भावात्मक गद्य[15] अथवा गद्यगीत लिखने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। छन्द और लय का बन्धन न होने से कविता की अपेक्षा गद्यगीत या भावात्मक गद्य लिखना सरल होता है। इस दृष्टि से उपयुक्त शब्द चयन सम्बन्धी निर्देशन आवश्यक होता है।

---

15. इमोटिव्ह प्रोज।

गई रचनाएँ अधिक प्रभावपूर्ण होती हैं। कवियों, कलाकारों में निरीक्षण शक्ति बड़ी सूक्ष्म एवं पैनी होती है और इसीलिए वे किसी वस्तु का वर्णन इतनी सूक्ष्मता से कर पाते हैं।

7. **कल्पना शक्ति का विकास**—किसी भी साहित्यिक रचना के लिए कल्पना का विशेष महत्त्व है। रचना की मौलिकता और चमत्कार का श्रेय कल्पना को ही है। कल्पना द्वारा ही अमूर्त्त एवं अदृश्य भावों को मूर्त्त एवं साकार बनाने में सफलता मिलती है। उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत, अन्योक्ति आदि अलंकारों में कल्पनाओं का ही चमत्कार है। साहित्य की रमणीयता सुन्दर कल्पना की ही उपज है। सृजनात्मक अभिव्यक्ति के मूल में कल्पना ही है। अतः छात्रों को नई-नई कल्पनाओं के लिए प्रेरित और उद्‌बुद्ध करना चाहिए।

कल्पना के योग से कोई रचना कितनी रम्य बन जाती है, इसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं। विज्ञान जैसे शुष्क विषय भी कितने सजीव और सरस हो उठते हैं—

बिजली

"हमारा एक मजदूर है। उसे कोई देखता नहीं। उसे पहचानते सभी हैं। वह सब कुछ कर सकता है, और बहुत जल्दी-जल्दी कर सकता है। सुबह तुम कहो, 'चाय का पानी गरम करो' और तुरत पाँच मिनट में ही केतली में बुलबुले उठने लगेंगे। कपड़े पर इस्त्री करने की जरूरत है–यह काम भी वह जानता है।"

"नगर पावर हाउस के जेनरेटर्स में कुछ खराबी आ गई। आटा पीसने वाली चक्कियाँ बन्द हैं। वाटरवर्क्स की पानी खींचने वाली मोटरें बन्द हैं। मई की विकट गर्मी और पंखे बन्द है। नगर के लोगों का कष्ट सोचा ही जा सकता है। मनुष्य बिजली का दास है।"

"अंधकार में तुम पथिकों की मित्र हो। दूर किसी से बात करने में तार और फोन बनकर तुम मानव की सहायता करती हो। तुम रेडार बनकर राष्ट्रों की सुरक्षा में सहायक हो। शरीर के अन्दर की बात जानने के लिए तुम एक्स किरण बनकर अपनी मित्रता प्रदर्शित करती हो।"

"तुम मार्गों पर दीपमालिका-सी सुन्दर लगती हो। रात्रि के समय तुम ज्योत्सना हो। तुमसे प्रेरित शीतल वायु ताप को हर लेती है। मर्करी दीपों से तुम्हारा रंजित वर्ण कितना सुन्दर लगता है! ट्यूब लाइट से तुम धवल साड़ी पहनकर, नियन बल्बों से नारंगी साड़ी पहनकर और त्रिपार्श्व से सतरंगी चुनरिया पहनकर जब तुम निकलती हो तब देखते ही बनता है।"

"हे शक्ति, तुम्हें नमस्कार है। विशाल चर्नों की प्रेरक के रूपों में लोहे को

चूर्ण वना देने वाली चामुण्डा और रेडियो के रूप में मुखर होने वाली सरस्वती, वाणी तुम्हें नमस्कार।"[18]

इस वर्णन में बिजली की कल्पना नौकर, स्वामी, मित्र, नायिका और शक्ति के रूप में की गई है। देखिए, पानी की कहानी में नवों रस—

"तटवर्ती शिलाओं को तोड़ता हुआ पानी वीर भाव रखता है। सागर से जल के शोपण में करुणा है। मेघों के परस्पर विद्युत-प्रहारों मे भयानक रस है। हिम वनकर वह शांत हो जाता है। वर्षा के रूप में पृथ्वी के आलिंगन में शृंगार है। बाढ़ के दृश्यों में रौद्र रस है। मल-मूत्र और शवों के वाहक रूप में उसका वीभत्स रूप है। ओस और हिम-मणियों के रूप में उसका वात्सल्य है। श्वेत फेन में उसका हास्य है।"[19]

एक और कल्पना देखिए—

"दो वालक चन्द्रमा पर पहुँच गये। क्या यह वही चन्द्रमा है जिसकी उपमा स्त्री के सुन्दर स्निग्ध मुख से दी जाती थी? यहाँ कितनी ऊबड़-खाबड़, श्वेत-श्याम भूमि है! कहीं एवरेस्ट की क्षमता करने वाले पर्वत तो कहीं कोलोरेडो के समान खड्ड! कहीं गहरी काली छाया और कहीं चौंधियाने वाली चमक! क्या यह वही चन्द्रमा है जिसे सुधाकर कहते हैं? यहाँ सुधा की कौन कहे, पानी की भी बूँद नहीं! क्या यही चन्द्रमा है जो कवियों को मुखर करता है, यह तो इतना प्रशांत है!

चन्द्र, तुमने सहस्रों ज्वालामुखियों के ताप को झेला है, विप के ताप को झेलने वाले शंकर ने तभी तुमको अपने मस्तक का आभूपण वनाया है।"[20]

इस प्रकार अनेक उदाहरण देकर वालकों की कल्पना शक्ति जगायी जा सकती है और उन्हें नये-नये प्रकरण देकर रचना करने के लिए उत्प्रेरित किया जा सकता है।

8. **दृष्टिकोण का निर्माण**—शैली की ही भाँति साहित्यिक रचना मे दृष्टिकोण का भी महत्त्व है। जीवन और जगत के प्रति प्रत्येक व्यक्ति में एक दृष्टिकोण वन ही जाता है, विशेषतः साहित्यकार में तो यह आवश्यक भी है। एक ही विषय पर विभिन्न दृष्टिकोणों के कारण विभिन्न रचनाएँ पायी जाती है। किसी साहित्यकार के लिए ताजमहल 'पावन प्रेम का उज्ज्वल प्रतीक' है तो

18. एक अनूदित ऐसी पुस्तक से, 'वाल साहित्य की मान्यताएँ एवं आदर्श पुस्तिका' में उद्धृत, पृ० 76.
19. वाल साहित्य की मान्यताएँ एवं आदर्श, पृ० 76
20. पृ० 75–76

किसी दूसरे साहित्यकार के लिए 'दोनों के प्रेम पर व्यंग्य' है और सुमित्रानन्दन पंत ने उसे 'मृत्यु का पार्थिव पूजन' कहा है। यह दृष्टिकोण की भिन्नता का ही परिचायक है।

उच्चतर माध्यमिक स्तर पर बालकों में जीवन और जगत के प्रति एक दृष्टिकोण बनने लगता है। यह दृष्टिकोण किसी वस्तु के प्रति सहानुभूतिपूर्ण या मित्रतापूर्ण हो सकता है और उसी के अनुसार उस वस्तु का चित्रण होता है। इस दृष्टिकोण के कारण हम किसी विषय पर ऐतिहासिक दृष्टि से लिख सकते है, वैज्ञानिक दृष्टि से लिख सकते हैं, कभी विद्वत्तापूर्ण या शोधपूर्ण दृष्टि से लिख सकते है, और कभी विनोदात्मक दृष्टि से। साहित्यकार किसी वस्तु का वर्णन कभी निरपेक्ष दर्शक के रूप में तटस्थ भाव से करता है और कभी वर्णन में एक पक्ष या विपक्ष लेकर लिखता है। अतः छात्रों में भी एक दृष्टिकोण विकसित होना चाहिए। इससे उनकी वर्णन-शैली का भी विकास होता है।

रचना-शिक्षण विधियाँ

रचना-शिक्षण की अनेक विधियाँ हैं। छात्रों की रुचि, मानसिक योग्यता, भाषा-शक्ति आदि को देखते हुए विषय या प्रकरण के अनुकूल उचित विधि का अनुसरण अपेक्षित है। उदाहरणतः प्रश्नोत्तर एवं चित्र-वर्णन प्रारम्भिक स्तर पर अधिक उपयुक्त सिद्ध होते हैं तो रूपरेखा विधि, स्वाध्याय विधि, सूत्र-विधि आदि उच्च कक्षाओं में।

1. **प्रश्नोत्तर विधि**[21]—रचना सम्बन्धी विषय पर शिक्षक उपयुक्त प्रश्नों के उत्तर छात्रो से प्रकाशित कराता है। प्रश्नो की रचना में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि बालक सरलता से उत्तर दे सकें और अपने विचारो एवं अनुभवों को भी प्रकट कर सकें। छात्रों द्वारा प्राप्त उत्तर के आधार पर शिक्षक कुछ संकेत भी श्यामपट्ट पर लिखता है और इस आधार पर छात्र रचना-कार्य पूरा करते है।

2. **चित्र वर्णन विधि**[22]—चित्रों की सहायता से किसी घटना या कहानी के वर्णन के लिए छात्रों को प्रेरित किया जाता है। चित्रों पर इस प्रकार प्रश्न पूछे जाते हैं कि बालक चित्रों में अंकित दृश्यों एवं घटनाओं को समझते हुए वर्णन करने की क्षमता प्राप्त कर सकते हैं। चित्र-वर्णन प्रणाली कक्षा 6 तक बड़ी ही रोचक प्रणाली सिद्ध होती है। आगे की कक्षाओं में यह उपयुक्त नहीं रह जाती।

3. **उद्बोधन विधि**[23]—रचना के लिए प्रस्तुत विषय के संबंध में विद्यार्थियों की जिज्ञासा जागरित की जाती है और ज्ञात सामग्री को क्रमबद्ध रूप से

---

21. Question and Answer Method 22. Picture Composition
23. Elicitation Method

व्यक्त करने के लिए उन्हें प्रेरित किया जाता है। छात्रों से भावों, विचारों एवं तथ्यों को प्रकाशित कराने के लिए शिक्षक प्रश्नों की सहायता लेता है। छात्रों की स्मरण शक्ति एवं कल्पना शक्ति को उद्बुद्ध करने और रचना के विषय पर सोचने की प्रेरणा देने के लिए यह विधि ठीक है। जीवन-चरित, आत्मकथा, दृश्य अथवा घटनाओं के वर्णन में इस प्रणाली का प्रयोग अधिक होता है।

4. **प्रवचन विधि**[24]—उद्बोधन विधि के विपरीत यह विधि है। रचना की विषय-सामग्री के संबंध में शिक्षक स्वयं वर्णन करता है और छात्रों से लिखने के लिए कहता है। इस विधि में छात्र आत्म-प्रयत्न से वंचित रह जाते है और शिक्षक द्वारा प्रस्तुत सामग्री को ही लिख देते है। यह एक प्रकार की पुनर्रचना[25] है। यह विधि उत्तम नही मानी जाती है।

5. **रूपरेखा विधि**[26]—एक सुनिश्चित रूपरेखा अथवा संकेत-सूत्र देकर छात्रों को निवन्ध लिखने अथवा रचना कार्य करने के लिए कहा जाता है। जो विषय छात्रों की ज्ञान-परिधि के वाहर है, उन पर रचना कार्य कराने के लिए यह विधि उपयोगी है, क्योंकि रूपरेखा अथवा संकेत-सूत्रो द्वारा वे विपय-सामग्री से परिचित हो जाते हैं। संकेत-सूत्रों में क्रमवद्धता और स्पष्टता आवश्यक है। इस विधि को **सूत्र विधि** अथवा **प्रवोधन विधि** भी कहते है।

6. **स्वाध्याय अथवा मंत्रणा विधि**[27]—इस विधि में रचना की विषय-सामग्री पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं से ढूँढने और चयन करने के लिए छात्रों को प्रेरित और प्रोत्साहित किया जाता है। शिक्षक यथावश्यक छात्रों की सहायता करता है अथवा परामर्श देता है। वह पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं के नाम वताता है। वालकों को इससे विषय-सामग्री स्वयं अध्ययन द्वारा ढूँढ़ने की प्रशिक्षा भी प्राप्त होती है। इससे स्वाध्याय की प्रवृत्ति विकसित होती है और स्वावलम्वन, मौलिक विचार तथा साहित्यिक विवेचना की शक्ति उत्पन्न होती है। स्वयं खोज की हुई विषय सामग्री के आधार पर लिखने की प्रक्रिया से उन्हें संतोप का भी अनुभव होता है। इस विधि से निजी साहित्यिक शैली के निर्माण मे भी सहायता मिलती है।

7. **तर्क अथवा परिचर्चा विधि**[28]—विवादास्पद विपयों पर, जिनके पक्ष-विपक्ष में तर्क प्रस्तुत किये जा सकते है, रचना कार्य कराने के लिए इस विधि का प्रयोग होता है। ऐसे विपयों पर पहले छात्र वाद-विवाद अथवा मौखिक विचार-विमर्श और तर्क-वितर्क करते हैं और इस परिचर्चा द्वारा विषयों के संबंध में पर्याप्त सामग्री एकत्र हो जाती है। उदाहरणतः 'भारत की राजभापा क्या

---

24. Telling or lecture method, 25. Reproduction, 26. Outline method, 27. Guidance method, 28. Discussion method.

हो ?' विषय पर बालक अनेक प्रकार से हिन्दी या अंग्रेजी के पक्ष-विपक्ष में विचार कर सकते है। 'विद्यार्थियों को राजनीति में भाग लेना चाहिए या नही ?' विवादग्रस्त विषय है। बालक शिक्षक के निर्देशन में उपयुक्त एवं संगतपूर्ण तर्कों द्वारा अपने पक्ष का प्रतिपादन और विरोधी पक्ष का खंडन कर सकते है और प्राप्त सामग्री के आधार पर निबंध लिखते है।

इसी विधि का एक रूप विचार-विधि भी है। बालक स्वयं ही परस्पर विचार-विमर्श करते हैं। पुस्तकों से भी सामग्री ढूंढ़ते है और यथावश्यक शिक्षक से भी परामर्श लेते हैं।

8. आदर्श अनुकरण विधि[29]—किसी विशेष शैली में लिखित रचना को देखकर उसके अनुकरण के आधार पर रचना-कार्य करना अनुकरण विधि का प्रयोग करना है। इससे भी छात्रों को अपनी साहित्यिक शैली के निर्माण में सहायता मिलती है।

निबन्ध रचना तथा उसकी शिक्षा

रचना-शिक्षण के अन्तर्गत निबन्ध या लेख लिखाने की शिक्षा का विशेष महत्त्व है। वस्तुतः आजकल विद्यालयो में रचना-शिक्षण के नाम पर निबंध शिक्षण का ही कार्य होता है और रचना के अन्य रूप उपेक्षित रह जाते है।

निबंध-शिक्षण द्वारा बालकों में ऐसी क्षमता उत्पन्न करनी है कि वे अपने भावों, विचारों एवं अनुभवों को शुद्ध और परिनिष्ठ भाषा में क्रमबद्ध, सुसंबद्ध, सुसंगत और प्रभावपूर्ण शैली में व्यक्त कर सकें। विषय का प्रतिपादन तर्कपूर्ण एवं युक्ति-युक्त होना चाहिए।

निबन्ध गद्य की एक लघु एवं सुष्ठु रचना है। निबंध का अर्थ ही है अच्छी तरह कसी हुई रचना। भाषा का सर्वोत्कृष्ट परिष्कृत रूप निबंध में ही देखने में आता है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि यदि गद्य काव्य की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है। अतः निबंध-शिक्षण में छात्रों का ध्यान सदा इस बात की ओर आकृष्ट करना चाहिए कि वे अपने विचारों को शुद्ध एवं प्रांजल भाषा मे व्यक्त करें, विचारों के प्रतिपादन में विषयान्तर न करें, अपने मत की पुष्टि तथ्यों, तर्कों एवं प्रमाणों द्वारा करें और रचना में मौलिकता लाने का प्रयत्न करें। छात्रों को अपनी शैली के निर्माण की ओर भी अग्रसर होना चाहिए। निबन्ध की सजीवता और सरलता बहुत कुछ लेखक की निजी शैली पर निर्भर करती है। इसी कारण लेखक के व्यक्तित्व की व्यंजना निबंध का बहुत बड़ा गुण माना जाता है।

पाश्चात्य साहित्यकार निबन्ध को स्वच्छन्द मनःस्थिति की रचना मानते हैं और व्यक्तित्व की व्यंजना के लिए मूल विषय से हट कर लम्बे-लम्बे विषयांतर

29. Model Method

को भी दोष नहीं मानते। किन्तु निबंध की वह स्वच्छंद शैली हिन्दी साहित्य में अधिक विकसित नहीं हुई। अतः निबन्ध-रचना-शिक्षण में शिक्षक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि छात्र अप्रासंगिक बातों का समावेश न करें; जितना आवश्यक है, उतना ही लिखें, अपने विचारों और मान्यताओं का, अपने दर्शन और दृष्टिकोण का प्रतिपादन इस तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करें कि पाठक उनके विचारों और दृष्टिकोणों से सहमत हो सकें।

निबंध-रचना की शिक्षा देते समय शिक्षक को निम्नांकित उद्देश्यों का सदा ध्यान रखना चाहिए—

1–सरल एवं स्पष्ट भावाभिव्यक्ति
2–रचना को सरस, सजीव एवं सुष्ठु बनाने का प्रयास।
3–निजी शैली के विकास का प्रयास।
4–रचना में मौलिकता तथा व्यक्तित्व-व्यंजकता का प्रयास।
5–स्वानुभूतियों, मनोगत धारणाओं एवं प्रतिक्रियाओं का यथाप्रसंग उल्लेख।
6–शुद्ध एवं प्रांजल भाषा में तर्क एवं युक्तिपूर्वक विषयवस्तु का प्रतिपादन।
7–विषयांतर से बचना।
8–अनावश्यक आक्षेप एवं असाहित्यिक भाषा का प्रयोग न करना।
9–सत्साहित्य के सृजन की प्रेरणा। बालक की विधायिकी शक्ति को प्रोत्साहित करते हुए उसकी कलात्मक वृत्तियों एवं साहित्यिक शैली का समुचित विकास करना।
10–कल्पना शक्ति का विकास। सुरुचि एवं सद्विचारों को जागरित करना और स्वतंत्र रूप से विचार करने की शक्ति को उद्बुद्ध एवं प्रबुद्ध करना।
11–नूतन भावों, विचारों एवं अनुभूतियों के संचय एवं उनके प्रयोग द्वारा साहित्यिक संवृद्धि के लिए सचेष्ट बनाना।

निबंध का कलेवर :

विषय-सामग्री का विस्तार ही निबंध का कलेवर निर्धारित करता है। उसे क्रमबद्ध एवं सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने के लिए सामान्यतः तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(i) प्रारम्भ अथवा भूमिका
(ii) मध्य अथवा विषय-सामग्री एवं उसका प्रतिपादन
(iii) अन्त अथवा उपसंहार

(i) निवंध की भूमिका संक्षिप्त एवं रोचक होनी चाहिए जो विपय के प्रति पाठक के मन में जिज्ञासा और उत्कंठा उत्पन्न कर दे। लंबी भूमिका बड़ी बोझिल होती है। आधुनिक निवंधों में भूमिका दो-चार वाक्यों में ही समाप्त हो जाती है, वल्कि पहले वाक्य से ही निवंध के मुख्य विपय का संकेत मिल जाता है। आचार्य शुक्ल के निवंध--क्रोध, करुणा, ईर्ष्या, उत्साह आदि कोई भी देखें–विना किसी भूमिका के, मुख्य विपय के विश्लेपण से ही प्रारम्भ हो जाते हैं। अतः भूमिका अति संक्षिप्त हो, और विपय के प्रयोजन, परिभापा आदि से ही प्रारम्भ हो तो और अच्छा है।

(ii) मध्य अथवा विपय-सामग्री एवं विपय-प्रतिपादन निवंध का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग है। इसमें ध्यान रखना पड़ता है कि सभी मुख्य विचार, तथ्य, तर्क, प्रमाण, निज सम्मति या दृष्टिकोण सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किए जायँ। अनावश्यक कलेवर-वृद्धि, विषयातर आदि से भी वचना आवश्यक है।

इस अंश में विचार सामग्री को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने के लिए उचित उपशीर्षकों में उसे विभाजित कर लेना चाहिए। इससे क्रमवद्धता और तर्क संगति वनी रहती है। उपशीर्पकों के अभाव में अनुच्छेदों के उचित विभाजन से भी विपय एवं विचारों की स्पष्टता वनी रह सकती है।

(iii) निवंध का अंत या उपसंहार भी संक्षिप्त, आकर्षक एवं प्रभावपूर्ण होना चाहिए। उपसंहार संपूर्ण विचार सामग्री का सार या निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। यह इतना प्रभावपूर्ण होना चाहिए कि वह पाठक को विचारमग्न कर दे और उसके मर्म को छू ले। एच. चैम्पियन का यह कथन सर्वथा संगतपूर्ण है कि "निवंध का अंत कुछ ऐसे वाक्यों से होना चाहिए कि वह पाठक को प्रभावित कर ले; उदाहरण के लिए निवंध के पूर्व भाग में वणिन विचारों का चरमोत्कर्ष प्रस्तुत हो, या यदि ऐसा करना कठिन हो तो निवंध के मध्य भाग मे कही हुई वातों का सार प्रस्तुत कर दिया जाये।"[30]

कक्षा में निबन्ध लिखाने की प्रक्रिया अथवा पाठ योजना[31]

निवंध के विपय के अनुसार शिक्षक को शिक्षण की प्रक्रिया निर्धारित करनी चाहिए। यद्यपि शिक्षण-प्रक्रिया अथवा पाठ-योजना के लिए किसी एक ही निश्चित प्रणाली का अनुसरण आवश्यक नही है और यथा अवसर विषय, छात्रों की रुचि

30. "End with some sentences which will leave an impression on the reader; e.g. a climex to which the earlier part of the essay has led, if this is difficult, summarise briefly what has been said in the body of the essay."
31. उदाहरण के लिए परिशिष्ट मे पाठ-योजना दी गयी है।

एवं परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न क्रम अपनाए जा सकते हैं, पर शिक्षण-प्रक्रिया तथा पाठ-योजना संबंधी एक सामान्य विधि निम्नलिखित है—

1. **प्रस्तावना**—पूर्वज्ञान पर आधारित उपयुक्त प्रेरणात्मक प्रश्नों द्वारा अथवा रोचक कथन या प्रसंग-वर्णन द्वारा छात्रों में प्रस्तुत विषय के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करना और विचार करने के लिए प्रवृत्त करना।

2. **विषय-सामग्री का विस्तार और प्रकाशन**—उपयुक्त प्रश्नावली द्वारा छात्रों से विषय संबंधी अधिकाधिक सामग्री प्रकाशित करने का प्रयास।

ऐसे प्रश्न पूछे जायँ जिनसे छात्रों को अपने अनुभव एवं मौलिक विचारों को प्रकाशित करने का अवसर मिले।

निबंध को रोचक, सजीव और प्रामाणिक बनाने के लिए तथ्यों, उदाहरणों, प्रमाणों एवं विविध प्रसंगों का भी समावेश किया जाय। ऐसी सामग्री का प्रकाशन भी छात्रों के सहयोग से ही कराया जाये।

पाठ-विकास के क्रम में शिक्षक द्वारा यथावश्यक संशोधन और परिवर्द्धन होता रहेगा। विषय-विस्तार मे वे सभी बातें ध्यान में रखने योग्य हैं जिनका उल्लेख 'निबंध का कलेवर' प्रसंग में किया जा चुका है।

प्रस्तुत सामग्री का सक्षिप्त संकेत शिक्षक श्यामपट्ट पर लिखता चलेगा।

3. **रूप-रेखा**—अभिव्यक्त सामग्री के आधार पर छात्रों की सहायता से एक सुव्यवस्थित रूपरेखा बना दी जाय जो बालकों के निबंध-लेखन के लिए आधार और क्रम का काम करेगी। इस रूपरेखा का मुख्य उद्देश्य विषय-सामग्री के विकास को क्रमबद्ध और सुसंबद्ध बनाना रहता है। विषय-सामग्री के विकास में पूर्वापर संबंध एवं श्रृंखला बनाए रखने के लिए ऐसी रूपरेखा आवश्यक है।

निबंध-लेखन का यथेष्ठ अभ्यास हो जाने पर छात्रों को बिना रूपरेखा के भी निबंध लिखने की स्वतंत्रता दी जा सकती है, पर उस स्थिति में भी यह सदा ध्यान रखना है कि क्रमबद्धता एवं तर्क-संगति अवश्य बनी रहे।

4. **रचना-कार्य**—विषय-सामग्री प्रकाशन तथा रूपरेखा-निर्माण के बाद बालको को निबंध लिखने का निर्देश दिया जाय। कक्षा में निबंध लिखने के लिए पर्याप्त अवसर मिलना-चाहिए, इसी दृष्टि से विषय-विस्तार और रूपरेखा के लिए समय निर्धारित कर लेना चाहिए।

बालक रूपरेखा के आधार पर अनुच्छेदों के शीर्षक देते हुए लिखने का कार्य करेंगे। पर यदि कोई बालक रुपरेखा के किसी पक्ष-विशेष से भिन्न शीर्षक देना चाहता है तो उसे स्वतंत्रता देनी चाहिए। इससे उसकी रचनात्मक प्रतिभा के विकास में सहायता मिलती है।

निबंध लिख लेने पर शिक्षक बालकों के रचना-कार्य का यथावश्यक संशोधन करेगा।

लिखित रचना का संशोधन

संशोधन रचना-शिक्षण का अनिवार्य अंग है। संशोधन के अभाव में बालक अपनी भूलों एवं अशुद्धियों से परिचित नहीं हो पाते और उनकी लिखित रचना संबंधी प्रगति वांछित दिशा में नही हो पाती। अतः शिक्षक का यह कर्त्तव्य है कि रचना-कार्य समाप्त होने पर वह यथोचित संशोधन अवश्य करे।

संशोधन कार्य की जटिलता तथा उसका निराकरण—आजकल संशोधन कार्य इतना जटिल हो गया है कि उसकी उपेक्षा कर दी जाती है। इसके भी अनेक कारण हैं—

(i) छात्रों द्वारा अशुद्धियाँ इतनी अधिक होती हैं कि शिक्षक संशोधन करना भार समझने लगता है।

(ii) लिखित कार्य कक्षा में और गृहकार्य दोनों रूपों में होता है। शिक्षक को इन दोनों ही कार्यों का संशोधन करना पड़ता है और उसे अतिरिक्त श्रम और समय लगाना पड़ता है। विद्यालय मे उसके पास इसके लिए समय नही मिल पाता।

(iii) कक्षा में छात्रों की संख्या बढ़ती जा रही है और शिक्षक को बहुत अधिक रचना-पुस्तिकाएँ देखनी पड़ती है। इससे वह परेशान हो जाता है।

संशोधन कार्य की उपर्युक्त जटिलताएँ निस्संदेह ही शिक्षक के लिए समस्याएँ उपस्थित करती हैं किन्तु उनका समाधान उसे करना ही है। उसे संशोधन कार्य को सरल बनाने के लिए अनेक युक्तियाँ अपनानी पड़ती हैं। यदि उसने इन जटिलताओं का निराकरण नहीं किया तो छात्रों को अशुद्ध रचना का ही अभ्यास पड़ जाता है और उनसे आजीवन वे अशुद्धियाँ होती रहती हैं। इस दृष्टि से निम्नांकित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(i) **मौखिक रचना द्वारा लिखित रचना की तैयारी**—कक्षा में मौखिक कार्य द्वारा लिखित रचना की तैयारी खूब अच्छी तरह करा देनी चाहिए। लिखित रचना में अधिक अशुद्धियों का तात्पर्य है कि बालक की उस विषय में भाषा एवं विचार सामग्री संबंधी तैयारी नहीं है। अतः मौखिक रचना द्वारा उस विषय पर भलीभाँति तैयारी आवश्यक है।

इसमें संदेह नही कि रचना-सामग्री अच्छी तरह ज्ञात होने पर और कक्षा में मौखिक रूप से परिचर्चा और विचार-विमर्श कर लेने पर अभिव्यक्ति संबंधी अशुद्धियाँ नहीं होती। इस प्रक्रिया द्वारा अभिव्यक्ति संबंधी उपयुक्त शब्दावली, विचारों की क्रमबद्धता और तर्क-संगति से बालक भलीभाँति अभिज्ञ हो जाते है और उनसे लिखित रचना में अशुद्धियाँ नहीं होतीं।

(ii) **अधिकाधिक भाषा संबंधी अभ्यास**—संशोधन कार्य कम से कम करना पड़े, इसके लिए बालकों को भाषा-कार्य संबंधी अभ्यास प्रचुर मात्रा में कराना

चाहिए। व्यावहारिक व्याकरण-वर्तनी, शब्द-प्रयोग, वाक्य रचना, मुहावरों का प्रयोग, विराम चिह्न, अनुच्छेद रचना आदि—का जितना ही अच्छा ज्ञान होगा, बालकों की रचना संबंधी अशुद्धियाँ कम होंगी। अतः बालकों की भाषा-शक्ति को बढ़ा कर और उनमें शुद्ध भाषा की आदत डालकर हम संशोधन कार्य की कठिनाई को दूर कर सकते हैं।

(iii) **सामूहिक संशोधन**—शिक्षक छात्रों की रचना-पुस्तिकाएँ प्रायः घर ले जाकर देखता है और व्यक्तिगत संशोधन में बहुत अधिक समय लगाता है। वह इसे भार समझने लगता है और उसमें संशोधन के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है। बालक भी उन त्रुटियों को देख तो लेते है पर उनके शुद्ध रूप का अभ्यास नहीं करते और फिर-फिर वही त्रुटियाँ करते रहते है। इस दोष से बचने के लिए सामूहिक संशोधन की विधि अच्छी युक्ति है। इससे सामान्य त्रुटियाँ सभी छात्रों को एक साथ ज्ञात हो जाती हैं और वे एक साथ ही उनका संशोधन भी कर लेते है। इसका प्रभाव भी स्थायी है।

सामूहिक संशोधन में छात्र अपनी-अपनी रचना की अशुद्धियों को देखते है और संशोधन करते है पर वे एक-दूसरे की रचनाएँ बदल कर भी संशोधन कर सकते हैं। इससे संशोधन कार्य में और सफलता मिलती है। प्रायः अपनी त्रुटि बालक से छूट जाती है पर दूसरे की त्रुटि वह अवश्य देख लेता है।

इसके बाद भी यदि त्रुटियाँ रह जाती हैं तो शिक्षक स्वयं उनका संशोधन करता है।

(iv) छात्रों के रचना कार्य का संशोधन उसी दिन होना चाहिए। इससे संशोधन कार्य नियमित रूप से होता है और छात्रों से त्रुटियाँ कम होती जाती है। संशोधन कार्य में शिथिलता आने या उसे स्थगित करते रहने से छात्र भी इस ओर ध्यान नहीं देते और अशुद्धियाँ करते रहते हैं।

लिखित रचना की सामान्य त्रुटियाँ—लिखित रचना सम्बन्धी सामान्य त्रुटियाँ निम्नांकित है—

(1) भाषा सम्बन्धी : (i) लिपि की अशुद्धियाँ और अस्पष्ट लेखन
(ii) वर्तनी सम्बन्धी अशुद्धियाँ
(iii) शब्दों एवं मुहावरों का अशुद्ध प्रयोग
(iv) वाक्य रचना संबंधी अशुद्धियाँ
(v) लिंग, वचन, विभक्ति, क्रिया, काल, क्रिया विशेषण आदि व्याकरण संबंधी अशुद्धियाँ।
(vi) विषय सामग्री को उचित अनुच्छेदों में विभक्त न करना।
(vii) विराम चिह्न-प्रयोग संबंधी अशुद्धियाँ।

(2) विषय-सामग्री संबंधी : (viii) अपेक्षित तथ्य, भाव एवं विचार सामग्री का अभाव
(ix) विचारों की क्रमबद्धता एवं सुसंबद्धता का अभाव
(x) मौलिकता का अभाव

(3) शैली संबंधी : (xi) रचना के रूप एवं विधा के अनुसार उपयुक्त शैली का प्रयोग करना
(xii) क्रिया विधि[32] का दोष
(xiii) सजीवता, सरसता एवं प्रभविष्णुता का अभाव

संशोधन विधि

1. कक्षा में तथा विद्यालय के खाली समय में ही यथा संभव संशोधन कार्य पूरा कर लेना चाहिए। यदि इस पर भी संशोधन कार्य पूरा नहीं हो तो शिक्षक रचना-पुस्तिकाएँ घर ले जाकर संशोधन कर सकता है।

2. अशुद्धियों का संशोधन रचनात्मक दृष्टि से होना चाहिए। केवल लाल रंग के चिह्नों से कापी भर देना संशोधन नहीं है। इससे छात्र हतोत्साहित हो जाते है। अशुद्धि काट कर उसका शुद्ध रूप लिखना आवश्यक है।

3. कुछ अशुद्धियां असावधानी के कारण हो जाती है। उनका शुद्ध रूप छात्र को ज्ञात रहता है। ऐसी अशुद्धियों की ओर केवल संकेत या प्रश्नसूचक चिह्न (?) लगा देना ही यथेष्ट है। इनका संशोधन बालक स्वयं कर लेते है।

4. कुछ ऐसी भी अशुद्धियाँ होती हैं जिन्हें बालक भ्रमवश या विस्मरण के कारण कर देता है। ऐसी अशुद्धियों का भी केवल संकेत आवश्यक है जिससे बालक स्वय संशोधन कर लें।

5. अशुद्धियों को इंगित करने के लिए संकेत-चिह्न निश्चित कर लेना चाहिए कि कौन चिह्न किस अशुद्धि का द्योतक है; जैसे,

लिपि की अशुद्धि–लि	अनावश्यक शब्द–×
वर्तनी की अशुद्धि–व	शब्दो को मिलाकर लिखना–⁀
व्याकरण की अशुद्धि–व्या	शब्दों को पृथक् करना–≠
वाक्य रचना की अशुद्धि–वा	कोई शब्द छूट गया हो–Λ
नया अनुच्छेद–न. अनु.	अस्पष्ट अभिव्यक्ति–?
संधि संबंधी–सं	विराम चिह्न–वि

इन चिह्नों का निर्धारण शिक्षक स्वयं कर सकता है। पर यह आवश्यक है कि वह उन चिह्नों से छात्रों को अवगत करा दे।

6. कठिन अशुद्धियों का संशोधित रूप अवश्य दे देना चाहिए।

---

32. Procedure

7. संशोधन के बाद देखना आवश्यक है कि बालक शुद्ध रूप का अभ्यास कर लें और पुरानी त्रुटियाँ न दोहराएँ। थॉम्सन एवं वायट ने ठीक ही लिखा है कि "वह संशोधन जो अशुद्धि करने वाले को प्रभावित न करे, समय का अपव्यय है।"
8. विराम चिह्न के सही प्रयोग का उल्लेख स्वयं कर देना चाहिए।
9. सर्व सामान्य अशुद्धियों की सूची तैयार कर लेनी चाहिए और कक्षा में उन्हें क्रमायोजित रूप में बताते हुए उनके संशोधनार्थ उचित अभ्यास देने चाहिए।
10. व्यक्तिगत रूप से की जाने वाली अशुद्धियों का संशोधन व्यक्तिगत छात्र को बता देना चाहिए।
11. रचना-अभ्यास के लिए अभ्यास-पुस्तिका का प्रयोग कक्षा 8 तक अवश्य होना चाहिए। अभ्यास-पुस्तिका मे एक ओर का पृष्ठ अशुद्धियाँ तथा उनके संशोधित रूप लिखने के लिए छोड़ देना चाहिए।

संशोधन सम्बन्धी अन्य बातें

1. अशुद्धियाँ असावधानी, भ्रम तथा अज्ञानता के कारण होती है। इन तीनों कारणों से होने वाली अशुद्धियों का समुचित संशोधन आवश्यक है। असावधानी या भ्रम के कारण हुई अशुद्धि की ओर संकेत कर देना ही पर्याप्त है, पर अज्ञानता के कारण होने वाली अशुद्धि का संशोधित रूप लिख देना चाहिए।

2. शुद्ध रचना का प्रचुर अभ्यास कराना चाहिए। रचना संबंधी औपचारिकताएँ छात्रों को अच्छी तरह ज्ञात हो जानी चाहिए।

3. अशुद्धियों के प्रति कभी भी उदासीनता नहीं दिखानी चाहिए, अन्यथा छात्रों को अशुद्ध लिखने की आदत पड़ जाती है।

4. अशुद्धियों को इकट्ठा नहीं होने देना चाहिए। तत्काल अशुद्धि-संशोधन से अशुद्धियाँ बढ़ने नहीं पातीं।

5. संशोधन की तीनों पद्धतियों का यथोचित प्रयोग करना चाहिए—(i) सामूहिक संशोधन (ii) छात्रों द्वारा परस्पर रचना-पुस्तिका बदलकर एक दूसरे का संशोधन (iii) शिक्षक द्वारा व्यक्तिगत छात्र की रचना का संशोधन।

6. सामान्य अशुद्धियों की सूची तैयार कर भाषा, व्याकरण तथा अभिव्यक्ति सम्बन्धी त्रुटियों को वर्गीकृत करके क्रमायोजित रूप से उनके शुद्ध रूप का प्रचुर अभ्यास देना चाहिए।

7. बालकों को आदर्श रचनाएँ अधिकाधिक पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। इससे अपने आप उनकी भाषा एवं विचार शक्ति दोनों की संवृद्धि होगी और रचना की अशुद्धियाँ नहीं होगी।

सारांश

रचना भावों एवं विचारों की कलात्मक अभिव्यक्ति है। वह शब्दों को क्रम से सुव्यवस्थित करने की कला है। भावों एवं विचारों की यह कलात्मक अभिव्यक्ति जब लिखित रूप में होती है तब उसे लिखित रचना कहते हैं।

मौखिक भावप्रकाशन बहुत कुछ निसर्गसिद्ध है पर लिखित रूप में भाव-प्रकाशन अध्ययन साध्य है। इस कारण लिखित रचना में अनेक विशेषताएँ अपेक्षित है—

जहाँ तक भाषा की शुद्धता, स्वाभाविकता, ओजस्विता, व्यावहारिकता, भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति मे क्रमबद्धता, सुसंबद्धता, भावानुकूल एवं अवसरानुकूल भाषा का प्रयोग, भाषा की मधुरिमा, मर्मस्पर्शिता, भावो एवं विचारों की मौलिकता और उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति का प्रश्न है, ये सभी विशेषताएँ लिखित रचना में अपेक्षित है और मौखिक रचना में भी। पर इनके अतिरिक्त लिखित रचना में कुछ और भी गुण अपेक्षित हैं; जैसे, भाषा का अधिक सुगठित रूप, लाघवता, समाहार शक्ति एवं सौष्ठव, विषय-प्रतिपादन में तर्क संगति, आद्यन्त भावो एवं विचारो में एकता, कथन की प्रामाणिकता एवं विषयनिष्ठता, उचित अनुच्छेदो में विषय-सामग्री का विभाजन, उपयुक्त शैली का चयन, भाषा, विषय-सामग्री और शैली सभी दृष्टियो से लिखित रचना निर्दोष होनी चाहिए। लिखित रचना ही साहित्यिक विधाओं एवं शैलियों के निर्माण का आधार है। कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी, निबन्ध, गद्यगीत, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र, कविता और उसके विविध रूप आदि साहित्यिक विधाएँ लिखित रचना के ही रूप है।

शिक्षण में मौखिक एवं लिखित रचना में परस्पर गहरा सम्बन्ध है। लिखित रचना के लिए मौखिक तैयारी और मौखिक रचना के लिए लिखित अभ्यास आवश्यक है। अतः दोनों परस्पर पूरक है और शिक्षक को एक के लिए दूसरे की सहायता लेनी पड़ती है।

लिखित रचना का महत्त्व निम्नांकित दृष्टियो से विशेष है—

(1) सामाजिक गठन, सहयोग और क्रिया-कलापो का आधार

(2) ज्ञान-विज्ञान के सतत् विकास एवं संचय का आधार

(3) सृजनात्मक अथवा ललित साहित्य के विकास का आधार

लिखित रचना के उद्देश्य—1. रचना कार्य के विभिन्न रूपों का ज्ञान

2. लिखित रूप में भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति

3. रचना में मौलिकता लाने की योग्यता

लिखित रचना मे ध्यान देने योग्य बातें—कक्षा में अधिकाधिक कार्य, सुपाठ्य लेखन पर ध्यान, भाषा सम्बन्धी प्रचुर 'अभ्यास, उत्तम एवं आदर्श रचनाओं

के उदाहरण, विषय सामग्री का यथेष्ट ज्ञान, विचार प्रकाशन की स्वतन्त्रता, कलेवर-विस्तार की जगह सुगठित एवं संक्षिप्त रचना, रचना के प्रति रुचि, स्वाध्याय की प्रवृत्ति का विकास।

लिखित रचना के अंग—सुलेख, भाषा सम्बन्धी अभ्यास (वर्तनी, शब्द, वाक्य, अनुच्छेद, विराम चिह्न आदि), लिखित रचना के विषय।

लिखित रचना के दो प्रकार—नियमबद्ध रचना, मुक्त रचना।

माध्यमिक, उच्चतर माध्यमिक स्तर पर लिखित रचना के विविध रूप—पत्र एवं प्रपत्र, वर्णन, संवाद, जीवनी तथा आत्मकथा, व्याख्या, सार लेखन एवं विचार-विस्तार, रिपोर्ट, नोट लेना और नोट बनाना, सम्पादकीय, पुस्तक समीक्षा, सृजनात्मक अभिव्यक्ति सम्बन्धी रचनाएँ—निबन्ध, कहानी, एकांकी, गद्यगीत, सरल कविता।

लिखित रचना को प्रभावपूर्ण बनाने के साधन—उपयुक्त प्रकरणों का चयन, विषय सामग्री का ज्ञान, लिखित रचना के प्रत्येक रूप या विधा की स्वीकृत परम्परा का ज्ञान, विविध साहित्यिक शैलियों का परिचय और निजी शैली का विकास, आदर्श रचना के उदाहरण, निरीक्षण शक्ति का विकास, कल्पना शक्ति का निर्माण, दृष्टिकोण का निर्माण।

रचना-शिक्षण-विधियाँ—प्रश्नोत्तर विधि, चित्र वर्णन विधि, उद्बोधन विधि, प्रवचन विधि, रूपरेखा विधि, स्वाध्याय अथवा मन्त्रणा विधि, तर्क अथवा परिचर्चा विधि, आदर्श अनुकरण विधि।

कक्षा में निबन्ध लिखाने की प्रक्रिया—प्रस्तावना, विषय-विस्तार, रूपरेखा, रचना-कार्य, संशोधन।

संशोधन की जटिलता दूर करने के उपाय—मौखिक रचना द्वारा लिखित रचना की तैयारी, अधिकाधिक भाषा सम्बन्धी अभ्यास, सामूहिक संशोधन, शुद्ध रचना का निरन्तर अभ्यास।

सामान्य त्रुटियाँ—भाषा सम्बन्धी, विषय सामग्री सम्बन्धी, शैली सम्बन्धी।

संशोधन विधि—कक्षा मे तथा विद्यालय में यथासम्भव पूरा संशोधनकार्य, रचनात्मक दृष्टिकोण, असावधानी या भ्रमवश की गई अशुद्धियों का संकेत, अशुद्धियों को इंगित करने के चिह्न, कठिन अशुद्धियों के शुद्ध रूप अवश्य दें, संशोधन सम्बन्धी प्रचुर अभ्यास, सामान्य अशुद्धियों की सूची, उनका वर्गीकरण और अभ्यास।

प्रश्न

1. मौखिक रचना की अपेक्षा लिखित रचना में क्या विशेष गुण अपेक्षित है ?
2. लिखित रचना के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
3. लिखित रचना के उद्देश्य क्या है ? उनको ध्यान में रखते हुए विद्यार्थियों में अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए।

4. लिखित रचना में भाषा सम्बन्धी अभ्यासों का क्या महत्त्व है? आप किस प्रकार के भाषा सम्बन्धी अभ्यास छात्रों को देना चाहेंगे?
5. नियमबद्ध एवं मुक्त रचना से क्या तात्पर्य है? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
6. लिखित रचना के विविध रूपों का उल्लेख करते हुए निबन्ध रचना-शिक्षण पर प्रकाश डालिए।
7. सृजनात्मक अभिव्यक्ति सामान्य अभिव्यक्ति से किस प्रकार भिन्न है? उसकी विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उत्तर लिखिए।
8. लिखित रचना को प्रभावपूर्ण बनाने के साधन क्या हैं?
9. रचना-शिक्षण विधियों का उल्लेख करते हुए बताइए कि माध्यमिक स्तर पर आप किस विधि को सर्वोपयुक्त समझते हैं और क्यों?
10. आजकल संशोधन कार्य जटिल क्यों हो गया है, उसका निराकरण किस प्रकार करेंगे?
11. संशोधन की उपयुक्त विधि क्या है और उसमें किन-किन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है?
12. बालकों में सृजनात्मक अभिव्यक्ति की क्षमता को विकसित करने के लिए आप क्या साधन अपनाएँगे?

12
पठन-शिक्षण

[पठन-शिक्षण का महत्त्व, पठन-कौशल से तात्पर्य अथवा पठन मनोविज्ञान, पठन-शिक्षण के उद्देश्य, पठन-प्रक्रिया सम्बन्धी आधारभूत तत्त्व, पठन के प्रकार, सस्वर पठन, मौन पठन का महत्त्व और उसकी उपयोगिता, पठन दक्षता तथा उसके लक्षण, मौन पठन के प्रकार, मौन पठन का प्रारम्भ, मौन पठन को सोद्देश्य बनाना, मौन पठन का संचालन एवं शिक्षण विधि, पठन-रुचि का विस्तार एवं पठन-सामग्री, पठन-शिक्षण एवं पाठ्य पुस्तक, माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक स्तर के उपयुक्त पाठ्य सामग्री—कहानियाँ, संवाद, एकांकी, नाटक, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र, वर्णन एवं निबन्ध, कविता]

"साक्षरता की बड़ी समस्या लोगों को केवल यह सिखाना नहीं है कि वे कैसे पढ़ें, बल्कि यह सिखाना है कि वे पढ़ें, पढ़ने के लिए लालायित रहें, उनमें पढ़ने के लिए अनुराग उत्पन्न हो, और उन्हें पढ़ने में आनन्द की अनुभूति होने लगे। पठन-कौशल सम्बन्धी यान्त्रिकताओं पर अधिकार हो जाने और पठन-योग्यता प्राप्त हो जाने पर पढ़ने की आदत पक्की और सुदृढ़ हो जानी चाहिए, अन्यथा स्कूल छोड़ने पर अधिकतर बालक पढ़ना जानते हुए भी पुनः निरक्षरता की शोचनीय स्थिति में पहुँच जाते हैं। साक्षर को पाठक बनाना आवश्यक है।"[1]

—जी. एस. कृष्णप्पा

---

1. "The big problem of all literacy is to teach people not merely how to read but to read, to want to read, to love to read. After the mechanics of the skill have been mastered, after the ability has been secured, the habit has to be established. It is failure here that has been responsible for the deplorable lapse into illiteracy of an appalling percentage of children leaving the primary school. The literate must be made a reader."—जी.एस. कृष्णप्पा : 'मेकिंग रीडर्स आफ लिटरेट्स', 'इन इण्डियन जर्नल आफ एजुकेशन', जून 1940.

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि केवल अक्षर-ज्ञान पढ़ना नही है। पढ़ना एक कला है, एक आदत है, एक व्यसन है और उससे प्रेम उत्पन्न हो जाने पर व्यक्ति आजीवन पढ़ने के लिए आतुर बना रहता है। यदि वह प्रेम नहीं उत्पन्न हुआ तो प्राइमरी ही नहीं, बल्कि माध्यमिक कक्षाओं से उत्तीर्ण बालक भी धीरे-धीरे साक्षर मात्र रह जाते हैं और अच्छे पाठक नहीं बन पाते। अतः भाषा-शिक्षण का उद्देश्य अक्षर-ज्ञान कराना नही बल्कि बालक को पढ़ना सिखाना है।

पठन-शिक्षण का महत्त्व

पठन-शिक्षण का महत्त्व इस तथ्य से ही प्रकट हो जाता है कि 'पढ़ना' शब्द शिक्षा-प्राप्ति का ही पर्याय बन गया है। प्रायः बालक से पूछा जाता है—"तुमने कहाँ तक पढ़ा है, कहाँ पढ़ रहे हो ?" आदि।

विद्यालय द्वारा प्रदत्त सबसे अधिक उपयोगी कौशल अथवा बौद्धिक प्रक्रिया पठन-शिक्षण है। ज्ञानार्जन की दृष्टि से इससे बढ़कर और कोई कौशल नही है। पढ़ने की शिक्षा पर ही अन्य विषयों का ज्ञान निर्भर है। जीवन के भावी अध्यवसाय की यही आधारशिला है। 'पढ़ना' सीख लेने पर बालक विद्यालय के अन्य विषयों को भलीभाँति पढ़ सकता है और उनका ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

पठन योग्यता के विकसित होने पर ही बालक की समस्त मानसिक और भावात्मक उन्नति निर्भर है। मानव जाति द्वारा अर्जित ज्ञान-राशि लिखित रूप में विद्यमान है जिसका उपयोग हम पठन द्वारा ही कर सकते हैं। पठन शिक्षा के अभाव में संसार के सारे ग्रन्थागार हमारे लिए व्यर्थ से हैं। साहित्य का आनन्द भी हम पठन द्वारा ही प्राप्त करते है। इस प्रकार बौद्धिक एवं भावात्मक विकास पठन की आदत पर निर्भर है।

छात्र यदि विद्यालय छोड़ने के पश्चात् 'अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यमार्थं च चिन्तयेत्' के आदर्श का अनुगामी नही बनते तो विद्यालय की सारी शिक्षा ही व्यर्थ है। इस आदर्श का आधार पढ़ने का ही व्यसन है। विद्यार्थी जीवन के दो-चार वर्ष बाद ही सर्वोत्तम छात्र भी पाठ्य विषय-सामग्री भूल जाता है। पर यदि वह नया ज्ञान प्राप्त करता रहता है तो जीवन में रुचि और आनन्द बना रहता है। नए ज्ञान, नए तथ्य, नए जीवन-दर्शन ही, मनुष्य को जीवन्त और विकासशील बनाए रखते है। जीवन के इस संवर्द्धन का सर्वोत्तम साधन पढ़ना है।

नूतन ज्ञानार्जन एवं जीवन-दर्शन के तीन प्रमुख स्रोत हैं—(i) निरीक्षण, (ii) विद्वानों की सत्संगति और उनके बीच बातचीत, (iii) पठन। मौलिक निरीक्षण शक्ति कुछ थोड़े से लोगों को ही प्राप्त होती है। विद्वानों की संगति और उनके बीच रह कर ज्ञानार्जन भी सबको सुलभ नही। अतः ज्ञानवर्द्धन का सबसे सरल, सुलभ साधन पढ़ना है। बालक के विकास के लिए सबसे अधिक प्रेरणादायी तत्त्व पठन ही है जो उसे सदा ही ज्ञानवृद्धि, श्रीवृद्धि और आनन्दवृद्धि के लिए निरन्तर संलग्न बनाए रख सकता है।

पठन का एक दृष्टि से और भी अधिक महत्त्व है। आज का सीखा हुआ ज्ञान कल तुच्छ और नगण्य सिद्ध हो सकता है और बौद्धिक दृष्टि से हम स्थिर और पंगु बने रह सकते हैं। पर निरंतर पठन से हमारे पूर्वार्जित ज्ञान में संशोधन और परिवर्द्धन होता रहता है। आज के वैज्ञानिक एवं तीव्र गति से होने वाली ज्ञान-विकीर्णता के युग में यदि इस संशोधन और परिवर्द्धन का क्रम नहीं चलता रहेगा तो हमारा विकास रुक जायेगा। कोई शिक्षा ऐसी नहीं है जिसे एक बार ही सदा के लिए प्राप्त कर ली जाये। शिक्षा आजीवन, अनवरत चलने वाली विकासशील प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया का आधार पठन है।

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि हमारी रुचियों में परिवर्तन और परिष्कार होता रहता है। जो वस्तु आज रुचिकर है, वही कालांतर में अरुचिकर हो सकती है और जिसमें आज कोई रुचि नहीं है उसमें कल प्रगाढ़ रुचि हो सकती है। पठन इस रुचि-परिवर्तन एवं परिष्कार का बहुत बड़ा साधन है। पठन से विरक्त व्यक्ति मंदबुद्धि, शिथिल, विचारहीन, निर्जीव एवं निस्पंद प्राणी-सा रह जाता है। जीवन के विकास के प्रति सजगता एवं तत्परता निरंतर पठन द्वारा ही संभव है।

पठन आनन्द प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है। सद्ग्रन्थों को महापुरुषों ने अनन्य मित्र की संज्ञा प्रदान की है। यात्रा में, अकेलेपन में, खाली समय में उससे अच्छा साथी और कौन है? पठन द्वारा व्यक्ति जब भावों एवं विचारों के सागर में डूब जाता है, तब उसे एक अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है, वह बाह्य संसार के दुःखो को उन क्षणों में भूल जाता है। जब हमारा मन अत्यन्त क्लांत और श्रांत हो तो उस समय किसी अच्छे ग्रन्थ के पठन में तल्लीन होकर हम उस पीड़ा और श्रांति से भी मुक्ति पा लेते हैं। सामान्य परिस्थितियो में तो पठन मनोरंजन का अपूर्व साधन है ही। साहित्यिक आनन्द प्राप्ति का साधन पठन ही है। नाद सौन्दर्य, भाव सौन्दर्य एवं रस सौन्दर्य का आस्वादन पठन द्वारा ही संभव है।

पठन-योग्यता पर भाषा के अन्य कौशलों (सुनकर समझने, बोलने और लिखने) की क्षमता का विकास निर्भर है। हम बोलने के लिए (वार्तालाप, भाषण, वाद-विवाद, विचार-विमर्श आदि) पढकर ही उपयुक्त विचार-सामग्री प्राप्त करते है। किसी भी विषय पर लिखने के लिए भी हमें पहले पढ़ना पड़ता है। जितना ही हम पढ़ते है उतना ही समझने की शक्ति भी बढ़ती जाती है, उतना ही अच्छा हम बोल सकते है और उतना ही अच्छा लिख सकते हैं। पढ़ने की सफलता ही इस बात में है कि "बालक पढ़कर समझने लगे और समझकर पढ़ने लगे।"

शब्द भण्डार की वृद्धि भी पठन पर ही बहुत-कुछ निर्भर है। पठन द्वारा जाने-अनजाने ही हमारी शब्दावली एवं शब्द शक्ति मे वृद्धि होती जाती है। पठन

द्वारा ही बालक लेखकों और साहित्यकारों की विविध शैलियों से परिचित होता है और उन्हें आत्मसात करते हुए अपनी शैली का निर्माण करता है।

वस्तुतः शिक्षा का व्यावहारिक रूप पढ़ना ही है। पुस्तक पढ़ना, समाचार पत्र पढ़ना, पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ना, घोषणाएँ पढ़ना, अभिनन्दन पत्र पढ़ना, लिखित भाषण पढ़ना, सभा-समितियों के विवरण पढ़ना आदि पठन के व्यावहारिक रूप हैं जो उसकी व्यापकता के द्योतक हैं। हमारे शिक्षित जीवन का आधार ही पठन है।

अतः पठन-शिक्षण की सफलता पर ही बालक का ज्ञानात्मक और भावात्मक उत्कर्ष, व्यावहारिक एवं साहित्यिक योग्यता की संवृद्धि, भाषा के विविध कौशलों का विकास आदि निर्भर हैं। भाव, विचार, ज्ञान, रस, आनन्द आदि अमूल्य तत्त्वों की प्राप्ति का साधन पठन ही है।

पठन कौशल से तात्पर्य अथवा पठन-मनोविज्ञान

पठन-कौशल के अन्तर्गत अनेक क्षमताएँ निहित हैं। लिपि-प्रतीकों की पहचान, अर्थ-ग्रहण तथा उसका पूर्वापर संबंध जोड़ते हुए पूर्ण आशय समझ लेने का नाम पढ़ना है। बिना अर्थ-ग्रहण किए हुए पढ़ने को पढ़ना नहीं कहा जा सकता। महर्षि पतंजलि ने बिना भाव-ग्रहण किए हुए पढ़ने वालों की उपमा उस बोझ ढोने वाले गर्दभ से दी है जिसे पीठ पर लदे हुए बोझ का तो अनुभव होता है, पर वस्तु का ज्ञान नहीं रहता।

पढ़ना बड़ी ही संश्लिष्ट मानसिक क्रिया है। लिपि-प्रतीकों को पहचानना और उन्हें अर्थ में परिवर्तित कर लेना पढ़ना है। प्रारंभिक पठन-कार्य में लिपि का ध्वनि में परिवर्तन अर्थात् शब्दों का उच्चारण करना आवश्यक होता है। प्राथमिक स्तर पर पठन-कौशल में इसी कारण सस्वर पठन का विशेष महत्त्व है और पठन के यांत्रिक पक्ष (मेकेनिक्स आफ रीडिंग) पर विशेष बल दिया जाता है। इसी कारण इस स्तर के पठन को 'वाचन' कहना अधिक उपयुक्त है। किन्तु केवल ध्वनि में परिवर्तन अथवा शब्दों का शुद्ध उच्चारण कर लेना और उनके अलग-अलग अर्थ समझ लेना ही पढ़ना नहीं कहा जा सकता। शब्दों के अर्थों का तारतम्य मिला कर पूरे वाक्य का और वाक्यों के अर्थ का तारतम्य मिलाकर पूर्वापर संबंध जोड़ते हुए अनुच्छेद का और अनुच्छेदों के योग से किसी विषय की एक अन्विति का अर्थ ग्रहण कर लेना पठन-प्रक्रिया का आवश्यक अंग है। यह कार्य मौन पठन द्वारा अधिक सफलतापूर्वक होता है। आवश्यकता पड़ने पर अनेक अन्वितियों को भी जोड़ना पड़ता है। इसके लिए स्मरण शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। पठन में आवश्यक तथ्यों का स्मरण और अनावश्यक को छोड़ते हुए संपूर्ण सामग्री का अर्थ-ग्रहण अपेक्षित होता है। अर्थ-ग्रहण में अर्थ को व्यक्त करने की योग्यता भी अपेक्षित है।

समझे हुए अर्थ को यदि बालक व्यक्त न कर सका तो उसका बोध-परीक्षण न हो सकेगा और संभव है कि उसे ठीक बोध हुआ भी न हो।

पठन-शिक्षण के उद्देश्य

मातृभाषा-शिक्षण के उद्देश्यों पर विचार करते समय पठन-शिक्षण के उद्देश्यों एवं तदन्तर्गत अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्तनों का विस्तृत उल्लेख किया जा चुका है[2]। उनकी आवृत्ति की आवश्यकता नहीं।

पठन-प्रक्रिया संबंधी आधारभूत तत्त्व :

पठन-प्रक्रिया अनेक शारीरिक एवं मानसिक अवयवों की सम्मिलित क्रियाशीलता से सम्पन्न होती है। अतः यह जानना आवश्यक है कि पठन-प्रक्रिया में हमारे कौन-कौन से अंग सक्रिय रहते है और किस प्रकार यह प्रक्रिया सम्पन्न होती है। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

1. आसन एवं मुद्रा—पठन-शिक्षण की प्रारम्भिक अवस्था में ही बालकों को पठन के उचित आसन एवं मुद्रा से अवगत करा देना चाहिए। उन्हें उपयुक्त ढग से खड़े होने या बैठने, पुस्तक को ठीक प्रकार से हाथ में लेने और नेत्र से उसकी दूरी आदि के संबंध में उचित विधि अवश्य बता देनी चाहिए। पठन-प्रक्रिया का यह एक यांत्रिक पक्ष है।

विशेषज्ञों का कहना है कि पुस्तक सदा बाएँ हाथ में पकड़नी चाहिए और आँखों से प्रायः 1 फुट की दूरी पर उसे रखना चाहिए। पुस्तक सीधी हथेली पर पैंतालीस अंश का कोण बनाए। अगले पृष्ठ को खोलने के लिए अंगुलियों के भी उचित संचालन का अभ्यास करा देना चाहिए।

पढ़ने की संयत और सौम्य मुद्रा ही वाछित है। वाणी को प्रभावपूर्ण बनाने के फेर में अनावश्यक अंग संचालन, भ्रू-नेत्र विकार, हाथ घुमाना, घूम-घूम कर पढ़ना या उछल-कूद आदि उचित नही।

उचित आसन और मुद्रा संबंधी अभ्यास प्राथमिक स्तर पर ही अपेक्षित है और माध्यमिक स्तर पर पहुँचने के पूर्व ही बालक को इस दृष्टि से पूर्ण दक्ष हो जाना चाहिए।

2. ध्वनि प्रकाशन संबंधी विशेषताएँ—इनका उल्लेख वाचन की योग्यता एवं मौखिक रचना के प्रसंग में किया जा चुका है।[3]

---

2. देखिए, अध्याय 5, मातृभाषा शिक्षण के उद्देश्य—सं. 7. वाचन की योग्यता एवं सं. 8 "पढ़कर अर्थ ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त करना एवं इनके अंतर्गत अपेक्षित व्यावहारिक परिवर्तन।"

3. देखिए अध्याय 5, 'वाचन की योग्यता' और अध्याय 11, 'मौखिक रचना संबंधी अपेक्षित गुण एवं विशेषताएँ।'

3. दृष्टि-विराम एवं दृष्टि केन्द्र—पठन-क्रिया मुख्यतः नेत्रों का विषय है। परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि पठन क्रिया में नेत्रों की गति नियमित रूप से अग्रसर होती है। पढ़ते समय हमारी आँख एक-एक अक्षर न देखकर शब्द-समूहों को एक साथ देखती है और झटके (जर्क) के साथ एक शब्द या शब्द-समूह से दूसरे शब्द समूह तक उछलती हुई आगे बढ़ती जाती है। दृष्टि पहले एक शब्द-स्थल पर जमती है जिसे दृष्टि-बिन्दु या दृष्टि-केन्द्र[4] कहते हैं। इस दृष्टि-केन्द्र के आगे-पीछे, ऊपर-नीचे एक निश्चित परिधि में स्थित शब्द-समूह हमें दिखाई पड़ते हैं। इसे दृष्टि परिधि[5] या दृष्टि वृत्त कहते है। हमारी आँख एक केन्द्र से हटकर दो एक शब्दों के बाद दूसरे पर जा पहुँचती है और वह शब्द दृष्टि केन्द्र बन जाता है। दो केन्द्रों के बीच की दूरी को दृष्टि-विराम[6] कहते है। दृष्टि-परिधि जितनी बड़ी होगी, दृष्टि-विराम भीउतना ही बड़ा होगा और दृष्टि-विराम जितना ही बड़ा होगा, पठन की गति उतनी ही अधिक होगी।

बहुत सम्भव है कि प्रारम्भिक अवस्था में बालक की चक्षु-गति में अपेक्षित नियमन न पाया जाये। अल्प आयु तथा अभ्यास के अभाव के कारण यह देखा जाता है कि बालक एक ही शब्द की आवृत्ति करता है अथवा कभी-कभी आगे का शब्द पढ लेने पर फिर पहले के पढे हुए शब्द को पढ़ने लगता है। यह प्रत्यागमन पठन-प्रक्रिया में बहुत बड़ा दोष है। इस दोष के कारण चक्षु-गति नियमित रूप से आगे न बढ़कर पीछे लौटती रहती है, अथवा दृष्टि केन्द्र पर देर तक रुक जाती है या शब्दों के खण्डित रूप में उलझ जाती है। फिर कभी-कभी पूरी पंक्ति पढ़ लेने पर ठीक से पीछे लौटकर दूसरी पंक्ति के प्रारम्भ में बालक की दृष्टि नहीं पहुँच पाती। इससे भी पठन के प्रवाह एवं सुचारु गति में बाधा पड़ती है। अतः अच्छे पठन के लिए चक्षु-गति का नियमन, दृष्टि-परिधि एवं दृष्टि-विराम का बढ़ाना और दृष्टि केन्द्र पर कम से कम समय रुकना आदि यान्त्रिकताओं का अभ्यास आवश्यक है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि अच्छे पाठक की आँख एक-एक अक्षर न देख कर शब्दों या शब्द-समूहों को–कम से कम 12 और सम्भवतः 25 वर्णों तक[7]—एक साथ देखती है। मन्द पढ़ने वाले की आँख अनजाने ही पंक्ति पर कई बार (किसी-किसी की 10–10 बार) घूम जाती है (पढ़ते समय आँख की पुतलियों की हरकत से यह अन्दाज लगाया जा सकता है)। इससे दृष्टि-विराम कम हो जाता है और पठन-गति कम हो जाती है। नीचे के उदाहरण मे मन्द गति एवं तीव्र गति के दृष्टि विरामों को चिह्नित किया गया है:—

---

4. Fixation-point. 5. Circle. 6. Eye-span.

7. मेंजिल—दि टीचिंग ऑफ रीडिंग, पृ० 40.

मन्द गति : भाषा/सीखना/एक / कला है, / सिद्धान्त/या/विज्ञान/नहीं,/ हम/ किसी/ कला /में / दो / प्रकार / से / पारंगत हो/ सकते/ है—/उसका सैद्धांतिक / ज्ञान/ प्राप्त/ करके/अभ्यास / करें /या/ अनुकरण/की/स्वाभाविक/ प्रक्रिया/द्वारा / प्रयोग / करें।

तीव्रगति : भाषा सीखना एक कला है, / सिद्धान्त या विज्ञान नही, / हम किसी कला में/दो प्रकार से / पारंगत हो सकते हैं /—उसका सैद्धान्तिक ज्ञान / प्राप्त करके अभ्यास करें/या अनुकरण की /स्वाभाविक प्रक्रिया द्वारा /प्रयोग करें।

अतः धारावाहिक पठन के लिए लम्बे दृष्टि-विरामों की आवश्यकता पड़ती है और इससे पठन-गति अपने आप बढ़ जाती है।

पाठक की आँख आगे बढ़ती हुई जिस बिन्दु पर रुकती है, उसे दृष्टि बिन्दु या दृष्टि केन्द्र कहते है। इस केन्द्र पर आँख क्षण भर के लिए रुकती है। विशेषज्ञों का यह कहना है कि यह ठहराव 1/50 सैकिण्ड से भी कम होना चाहिए।[8] चक्षु-गति के इन ठहरावों (स्टैण्डस्टिल पीरियड) की अवधि कम से कम करके हम पठन-गति को और भी बढ़ा सकते है।

दृष्टि-विराम सम्बन्धी प्रयोगों से यह सिद्ध हो गया है कि "पाठक शब्द की वर्तनी देखते हुए पढता है" सिद्धान्त गलत है। व्यक्ति एक समय एक अक्षर नहीं देखता, बल्कि पूरे शब्द और पदबन्ध (फ्रेज) को देखता है। प्रारम्भिक पठन-शिक्षण के लिए इसी कारण 'वाक्य पद्धति' को अधिक उपयुक्त माना जाता है और वर्ण पद्धति का विरोध किया जाता है। जिन बालकों को ध्वनि पद्धति या वर्ण पद्धति (Alphabet method) द्वारा पढ़ना सिखाया जाता है, वे बालक भी पहले या दूसरे वर्ष तक शब्दों को ध्वनियों में विभक्त नही करते, बल्कि पूरे वाक्यों और पृष्ठों तक को कण्ठस्थ कर लेते है; उन्हे पृष्ठ पर शब्दों की पृथक् पहचान करने मे कठिनाई होती है, यद्यपि वे जानते है कि पृष्ठ पर वह शब्द अवश्य है। यह भी देखा गया है कि 'देखो और कहो' विधि से पढ़े हुए बालकों की अपेक्षा 'वर्ण पद्धति' से पढ़े हुए बालक किसी भी प्रकार ध्वनि-उच्चारण में अच्छे नही सिद्ध होते और स्वतन्त्र एवं शीघ्र पठन की आदत में बहुत पिछड़े भी रहते है।[9] इसी कारण मेजिल का कहना है कि वर्ण पद्धति वयस्कों को तो पढना सिखाने में अधिक लाभदायक सिद्ध होती है क्योंकि उनमें परिपक्वता और शीघ्र बोध-शक्ति अधिक होती है पर बच्चों के लिए वर्ण पद्धति लाभदायक नही है।

---

8. मेंजिल–'दीटीचिंग ऑफ रीडिंग', पृ. 43
9. ,, ,, ,, पृ. 27

4. लय : पठन-प्रक्रिया में लय[10] का भी विशेष महत्त्व है। अच्छे पाठक वर्तनी अथवा साधारण मुद्रण-त्रुटियों पर विशेष ध्यान नहीं देते क्योंकि आँख पूरे शब्द को देखते हुए नियमित गति से आगे बढ़ती जाती है।

अर्थान्वितियों को ध्यान में रखकर पदों या पदबंधों को एक प्रवाह में पढ़ने से लय बनी रहती है पर जब हम शब्द को खण्ड करके पढ़ते हैं तब हमारे पठन-लय में बाधा पढ़ती है। साधारणतः खण्ड-खण्ड पढना एक प्रकार का प्रत्यावर्त्तन[11] और अवरोधन[12] है। पठन-लय इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि अर्थग्रहण उसी पर निर्भर है। यही सिद्धान्त सुनने की प्रक्रिया में भी चरितार्थ होता है। जब प्रवाहपूर्ण, आरोह-अवरोह के साथ लयात्मक गति से बोलते हुए किसी वक्ता की वाणी को हम सुनते हैं तब सरलता के साथ अर्थ-ग्रहण करते चलते हैं, पर रुक-रुक कर एक-एक शब्द या शब्द-खण्ड पर विराम लेते हुए या रुकते हुए जब कोई बोलता है, तब उसकी बात समझ में नहीं आती। यहाँ तक कि लययुक्त वाणी लयविहीन वाणी की अपेक्षा दूनी गति से बोलने पर भी अधिक बोधगम्य होती है।

5. गति : लय की ही भाँति गति का भी पठन-प्रक्रिया में विशेष महत्त्व है। इसका प्रभाव भी अर्थग्रहण पर पड़ता है। पठन की सुचारु गति न होने से प्रवाह और बोध ग्रहण दोनों ही बाधित होते हैं। गत्यावरोध से कार्य की सहजता भंग होती है और सुचारु गति से कार्य की सहजता और दक्षता बढ़ती है। पठन की दक्षता का तात्पर्य है अर्थ-ग्रहण की दक्षता। जुद द्वारा किये गये एक प्रयोग से पता चलता है कि तीव्र गति से पढ़ने वाले पाठकों में 86 प्रतिशत लोग अर्थग्रहण में उत्तम एवं मध्यम दक्षता वाले थे; मध्यम गति से पढ़ने वालों में 75 प्रतिशत लोग अच्छे या मध्यम दक्षता वाले थे और मन्द गति से पढने वालों में केवल 64 प्रतिशत लोग ही मध्यम दक्षता वाले थे।[13] पठन की मन्द गति अर्थ-ग्रहण की मन्दता का परिचायक है और त्वरित गति शीघ्र अर्थ-ग्रहण की। अतः आधुनिक पठन शिक्षण-पद्धतियाँ बच्चों के सामने प्रारम्भ से ही ऐसी पाठ्य सामग्री रखने का समर्थन करती हैं जिन्हें बालक समझते हुए प्रवाह के साथ पढ़ सकें।

6. शब्दावली : पठन-प्रक्रिया पाठक के शब्द-भण्डार से बहुत अधिक सम्बन्धित है क्योंकि अर्थग्रहण सीधे शब्दों के ज्ञान से सम्बन्धित है। जिस बालक का शब्द-भण्डार जितना ही अधिक होगा, वह उतना ही शीघ्र अर्थग्रहण करने में सक्षम होगा।

अपरिचित शब्दों के कारण पठन में बाधा पड़ती है। यदि हम मनोरंजन के लिए पढ़ रहे हैं तो शब्दार्थ के लिए रुकना भी नहीं चाहते। अतः पठन-योग्यता

---

10. Rhytham 11. Regression 12. Hesitation
13. सी. आर. स्टोन—साइलेंट एण्ड ओरल रीडिंग, पृ. 17.

बढ़ाने के लिए ऐसी सामग्री होनी चाहिए जिसमें अपरिचित शब्द कम हों। प्रयोगों से देखा गया है कि 30 शब्दों में एक नये शब्द के अनुपात से पठन में बाधा नहीं पड़ती और उसका अर्थ बिना शब्द-कोश के, सन्दर्भ की सहायता से प्रायः समझ लिया जा सकता है। इस दृष्टि से 150 पृ० की पाठ्य पुस्तक, जिसमें 5000 नये शब्द हों, पढाने की जगह 2000 पृष्ठों की पाठ्य सामग्री, जिसमें 5000 नए शब्द हों, पढाना अधिक लाभदायक होगा। इससे शब्दावली तथा भाषा पर अधिकार, दोनों में संवृद्धि होगी। इससे पठन-रुचि और पठन-कौशल में भी सुधार होगा और नूतन ज्ञानोपलब्धि एवं आनन्द की दृष्टि से भी यह हितकर सिद्ध होगा।

यह स्मरण रखने की बात है कि प्रचुर शब्द-ज्ञान से बालक में पठन-रुचि बढती है और जितना ही वह पढता है, उसका शब्द-ज्ञान और बढ़ता जाता है। अतः शब्द-ज्ञान एवं पठन-योग्यता परस्पर पूरक है।

7. अर्थान्वितियों के अनुसार शब्द-समूहों का एक साथ पठन : यह लिखा जा चुका है कि पढ़ते समय हमारी आँख अक्षर पर न होकर शब्द या शब्द समूह पर रहती है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि ये शब्द समूह ऐसे हों जो अर्थग्रहण मे साधक हों, बाधक नहीं। वाक्य में शब्दों के परस्पर सम्बन्ध के अनुसार शब्दों के समूह को एक साथ पढने में अर्थ की स्पष्टता बनी रहती है। ऐसे शब्द-समूह अर्थ की इकाइयाँ प्रकट करते हैं। उदाहरणतः "करतलगत / नमरत / पहिचाने" को यदि हम "करत। लगन न। मरत। पहिचाने" पढ़ें तो अर्थ का अनर्थ हो जायेगा। अतः जिस शब्द को जिस शब्द के साथ पढ़ना सार्थक और अर्थान्विति की दृष्टि से शुद्ध है, उसी समूह में उसे पढ़ा जाये। शब्द-समूहों का उचित चुनाव और सहज रूप में उस पर दृष्टि-निक्षेप अच्छे पठन का लक्षण है।

8. अर्थग्रहण : पठन-प्रक्रिया में अर्थग्रहण स्वतः निहित है। बिना बोध के पढ़ना-पढ़ना नहीं है, वह तो केवल लिपि-पहचान मात्र है। लिपि प्रतीकों पर दृष्टि पड़ते ही तथ्य, भाव या विचार हमारे मस्तिष्क में आते हैं। अर्थग्रहण की दृष्टि से शब्द और अर्थ का, चक्षु और मस्तिष्क का पूर्ण समायोजन आवश्यक है। बालक अर्थग्रहण करते हुए पढ़ रहा है या नहीं, यह बात शिक्षक को मौन पठन-शिक्षण में सदा ध्यान रखनी चाहिए और बोध परीक्षण, भाषा कार्य, व्याख्या, स्पष्टीकरण आदि क्रियाओं द्वारा अर्थग्रहण करते हुए पढ़ने की आदत डालनी चाहिए।

पठन के प्रकार

पठन के दो प्रकार हैं—

1. व्यक्त अथवा सस्वर पठन : इसे सस्वर वाचन भी कहा जाता है। लिपि प्रतीकों को वाणी प्रदान कर अर्थग्रहण करना ही सस्वर पठन या वाचन है। "यदि आँखें पाठ्य सामग्री को उचित समय एवं मात्रा में ग्रहण करें, मन तत्परतापूर्वक

उनमें योग देकर बुद्धि से अर्थ विश्लेषण करा सके, मन-बुद्धि के संकेतानुसार वाक् शक्ति उसे उचित वाणी में प्रकट कर सके, तो यह पढ़ने की सर्वोत्तम प्रक्रिया होगी।"

2. मौन पठन : सस्वर पठन में दृष्टि, बुद्धि एवं जिह्वा तीनों का सहयोग एवं सुयोग रहता है; दृष्टि से लिपि देखते हैं, बुद्धि द्वारा समझते और अर्थग्रहण करते हैं और वागिन्द्रियों से वोलते हैं। इस प्रकार इन तीनों प्रक्रियाओं के मेल से सस्वर पठन प्रक्रिया संपन्न होती है, अर्थात् दृष्टि प्रक्रिया, बुद्धि प्रक्रिया एवं वाणी प्रक्रिया का सम्मिलन सस्वर पठन है। परन्तु मौन पठन में केवल देखना और अर्थ ग्रहण करना दो ही प्रक्रियाएँ हैं अर्थात् लिपि प्रतीकों का देखना और अर्थ ग्रहण करना मौन पठन है। इसमें आँख और मस्तिष्क का सम्यक् सुयोग आवश्यक है। मौन पठन में लिपि में निहित अर्थ का मस्तिष्क से सीधा सम्वन्ध स्थापित हो जाने से वाणी का माध्यम लुप्त हो जाता है।

1. सस्वर वाचन :

प्रारम्भिक कक्षाओं में सस्वर वाचन का अधिक महत्त्व है। जव तक वालक पठन कौशल की पूरी प्रक्रिया एवं उसकी यांत्रिकता से पूर्णतः अभिज्ञ नहीं हो जाता, तव तक सस्वर वाचन की प्रमुखता वनी रहती है। पठन की प्रारम्भिक अवस्था में लिपि प्रतीकों को देखकर उन्हें ध्वनि में परिवर्तित करना पडता है, अर्थात् आँखें लिपि का अनुसरण करती हैं और वाणी आँखों का। सस्वर वाचन में लिपि, वाणी और अर्थग्रहण का पारस्परिक सम्वन्ध रहता है। लिपि में निवद्ध विचारों को वाणी निकाल कर मस्तिष्क तक पहुँचाने का काम करती है। वह लिपि मे सन्निहित भावो-विचारों को हृदय में उतारती है। इसी कारण कहा जाता है कि "लिपिवद्ध भाषा को मुखरित करना ही सस्वर वाचन है।"

यह वात ध्यान रखने की है कि सस्वर वाचन का सम्वन्ध भावोद्रेक, रस-निष्पत्ति एवं आनन्द प्राप्ति से विशेष होता है। यदि कविता, भावात्मक गद्य या गद्य-गीत के रस सौन्दर्य का आनन्द लेना है तो सस्वर वाचन ही उपयुक्त है। मौन वाचन से वह आनन्द नहीं प्राप्त होता है क्योंकि कविता को आँख और मस्तिष्क की अपेक्षा कान और हृदय के अधिक निकट माना जाता है। हैडो ने ठीक ही लिखा है कि "कविता श्रव्य कला है, दृश्य कला नहीं।" वस्तुतः कविता रसास्वादन का विषय है और सस्वर वाचन द्वारा हम उसका आनन्द लेते हैं, जवकि गद्य वोध एवं विचार का विषय है जिसे ग्रहण करने का उत्तम साधन मौन पठन है।

सस्वर वाचन संवंधी विशेषताएँ—

पढ़ना एक कला है और कला में अधिकाधिक अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है। अभ्यास से ही दक्षता और कुशलता आती है। अतः प्रभावपूर्ण सस्वर वाचन के

लिए वाचन संबंधी कलात्मक गुणों एवं विशेषताओं से अवगत होना ही नहीं, अपितु उनका अभ्यास करना भी आवश्यक है।

अच्छा पाठक कवि या लेखक का प्रतिनिधित्व करता है। लेखक या कवि जिन भावो एवं विचारों को लिपिबद्ध कर दूसरों तक संप्रेषित करना चाहता है, पाठक उन्ही भावों एवं विचारों को प्रभावपूर्ण शैली से पुनः मुखरित करके दूसरो तक पहुँचा देता है। अतः भाव-संप्रेषण में ही वाचन की सार्थकता निहित है। इस दृष्टि से वाचन-कला में अनेक गुणों के सन्निवेश पर बल दिया जाता है; जैसे,

"वर्ण मधुर हों, स्पष्ट हों, दूसरे वर्णों से दबे हुए न हों। सब वर्ण पूरे उच्चारित किए जायँ, एक दूसरे से मिल न जायँ। जैसे मत्त गज एक पैर के पश्चात् दूसरा पैर रखता है, उसी तरह एक-एक पद-पदान्त को अलग-अलग स्पष्ट करके पढ़ना चाहिए।"[14]

याज्ञवल्क्य शिक्षा में पठन-कला में छः गुणों को आवश्यक बताया गया है—

माधुर्यमक्षर व्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लय समर्थं च पड़ेते पाठका गुणाः॥

टामकिन्सन ने स्वरों के शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारण पर वाचन कला में विशेष महत्त्व दिया है। "ध्वनि का सौन्दर्य सुन्दर स्वरों पर अवलम्बित होता है। ये स्वर-रत्न व्यंजनों के साँचे में जड़े होते हैं जो वाणी को ओज, रस एवं रंग प्रदान करते हैं।"[15] संक्षेप में सस्वर वाचन में निम्नांकित गुण एवं विशेषताएँ अपेक्षित है—

(i) निःसंकोच एवं आत्म विश्वास के साथ पठन।
(ii) शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारण (वर्ण, शब्द एवं वाक्य आदि सभी स्तरों पर)।
(iii) उचित स्वराघात एवं अनुतान।
(iv) भावानुरूप स्वर की उच्चता एवं मन्दता।
(v) श्रोताओं की संख्या तथा दूरी के अनुसार वाणी को ऊँचे या मंद स्वर पर रखना।

---

14. मधुरं च न चाव्यक्तं, व्यक्तं चापि न पीड़ितम्,
सनाथैकस्य देशस्य न वर्णाः संकरं गताः।
यथा सुमत्त नागेन्द्रः पदात्पदं निवापयेत्,
एवं पदं पदाद्यंतं दर्शनीयं पृथक् पृथक्॥

15. "Beauty of tone depends upon good vowels. Vowels are jewels (in a setting of consonents) which give warmth and colour to speech." —टामकिन्सन

(vi) उचित गति का अनुसरण जिससे वाणी सुश्रव्य एवं वोधगम्य बनी रहे।

(vii) प्रसंग एवं अवसर के अनुकूल वाणी में ओजस्विता, प्रसादत्व एवं माधुर्य।

(viii) विराम स्थलों का ध्यान।

(ix) उचित आसन एवं भाव-भंगिमा।

(x) भावाभिव्यक्ति की स्पष्टता की दृष्टि से शब्दों पर बल।

(xi) अर्थान्वितियों की दृष्टि से उचित शब्द-समूहों का वाचन।

सस्वर वाचन के दो रूप है—**व्यक्तिगत पठन** और **सामूहिक पठन**। प्रारंभिक कक्षाओं में सामूहिक ढंग से समवेत स्वर में या दस-पाँच विद्यार्थियों का दल बनाकर बारी-बारी से पढ़ाने पर विद्यार्थियों का संकोच दूर हो जाता है और उनमें आत्म विश्वास बढ़ता है। यह देखा गया है कि जो विद्यार्थी अलग से पढ़ने में संकोच करता है, वह भी सामूहिक वाचन में भाग लेता है और धीरे-धीरे संकोच छोड़कर व्यक्तिगत वाचन की ओर प्रवृत्त होता है। प्रारंभिक कक्षाओं मे कविता-पाठ के लिए सामूहिक वाचन विशेष उपयोगी होता है।

माध्यमिक कक्षाओं में सामूहिक वाचन का कोई स्थान नहीं है। इस स्तर पर व्यक्तिगत वाचन ही अपेक्षित है। यह भी अपेक्षा की जाती है कि बालक सस्वर वाचन सम्वन्धी उपर्युक्त योग्यताएँ कक्षा 6 तक आते आते अर्जित कर लेगा और माध्यमिक स्तर पर सस्वर वाचन के शिक्षण की समस्या नहीं रह जायगी। पर आज वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। इस स्तर पर भी उच्चारण सम्वन्धी दोष पाये जाते हैं और बालकों को उचित स्वराघात, अनुतान, भावाभिव्यक्ति की स्पष्टता, लय, यति, गति आदि की दृष्टि से प्रभावपूर्ण पठन का अभ्यास नहीं रहता। अतः माध्यमिक स्तर पर भी सस्वर वाचन के सम्यक् शिक्षण का प्रयत्न होते रहना चाहिए।

मेंजिल का कहना है कि दो वर्ष के वाचन-शिक्षण के बाद मनोरंजनार्थ पठन तथा पठन सम्वन्धी सभी अभ्यास मौन पठन का होना चाहिए। केवल **सभा-वाचन** (Audience reading) तथा **वाणी परिष्कार** (Speech improvement) जैसे उच्चारण आदि में सुधार के लिए ही सस्वर वाचन कराना चाहिए।

ऐसी स्थिति में माध्यमिक स्तर पर सस्वर वाचन की क्या उपयोगिता रह जायेगी? इस दृष्टि से उसका सुझाव है कि विद्यालय की प्रार्थना सभा में, साहित्यिक समारोहों मे, राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक पर्वों पर आयोजित बैठकों में सस्वर वाचन का अवसर मिलना चाहिए। विद्यार्थी परिषद् या भाषा परिषद् के मंत्री को रिपोर्ट पढ़नी पड़ती है, यह भी सस्वर वाचन सिखाने का अच्छा अवसर है।

सभा के सम्मुख सस्वर वाचन तभी सम्भव है जब उसे सुनने के लिए उचित वातावरण हो। कक्षा-शिक्षक को यह व्यवस्था करनी चाहिए। शिक्षक और विद्यार्थी

इस अवसर पर सोत्साह और सानन्द भाग लें, पाठ्य सामग्री रुचिकर हो। केवल पाठक के ही हाथ में पुस्तक हो, शेष बालक श्रोता रहें। यदि बारी-बारी से पढ़ना है तो वह पुस्तक पाठको के हाथ में बारी-बारी घूमती रहे। इसका उद्देश्य केवल यह है कि जब केवल एक बालक पढ़ रहा होगा तो शेष बालक केवल सुनेंगे। पढ़ने वाले बालक अच्छी तरह तैयारी करके पढ़ें जिससे उन्हें सभा के सम्मुख लज्जित न होना पड़े। पढ़ने के बाद मुख्य विचार, तथ्य, घटना, स्थिति, चरित्र-चित्रण आदि सम्बन्धी प्रश्न भी पूछे जाएँ। इससे सस्वर वाचन सोद्देश्य बन जाता है।[16]

शिक्षक का आदर्श वाचन—बालकों के सस्वर वाचन में अपेक्षित सुधार लाने के लिए शिक्षक के आदर्श पाठ का विशेष महत्त्व है। निबन्ध पाठ एवं कविता पाठ पढाते समय शिक्षक अवश्य ही आदर्श पाठ प्रस्तुत करता है। छात्र उसके आदर्श पाठ का ही अनुकरण करते हैं। अतः शिक्षक द्वारा प्रस्तुत आदर्श पाठ सर्वथा निर्दोष और प्रभावपूर्ण होना चाहिए। इसी कारण उसके सवर वाचन को आदर्श वाचन की संज्ञा दी गई है। अतः शिक्षक को इस आदर्श का निर्वाह करना चाहिए और अपने वाचन में सदा सावधान रहना चाहिए।

अनुकरण पाठ—कक्षा में शिक्षक के आदर्श वाचन के बाद सस्वर वाचन यथा-सम्भव पहले उत्तम बालक से कराना चाहिए और फिर अन्य सामान्य बालकों से। कविता में तो इस क्रम का पालन अवश्य ही होना चाहिए।

संशोधन—छात्रों के सस्वर वाचन के समय होने वाली अशुद्धियों का ध्यान रखना चाहिए और यथोचित रीति से उनका संशोधन करना चाहिए; पढ़ते समय टोक कर नहीं, बल्कि पढ लेने पर अन्य छात्रों के सहयोग से संशोधन करना चाहिए। अलग से उच्चारण सम्बन्धी अभ्यास भी देने चाहिए।

2. मौन पठन :

पठन की सर्वोत्कृष्ट सफलता सस्वर वाचन में नहीं बल्कि मौन पठन में है। इसी कारण पठन-प्रक्रिया तथा पठन-यांत्रिकता का सम्यक् ज्ञान हो जाने के बाद मौन पठन का महत्त्व अधिक हो जाता है, क्योंकि वही हमारे लिए अधिक व्यावहारिक, सुगम और उपयोगी है।

मौन-पठन का महत्त्व और उसकी उपयोगिता

(i) व्यक्तिगत प्रयोग की दृष्टि से मौन पठन ही सर्वाधिक सुगम, स्वाभाविक, सुविधापूर्ण और व्यावहारिक पठन का तरीका है। "मौन पठन केवल तीव्र गति की ही दृष्टि से सस्वर पठन की अपेक्षा अधिक उपयोगी नही है बल्कि इसलिए भी है कि वह व्यक्तिगत आत्म शिक्षण

---

16. ई० डब्ल्यू० मेंजिल—'दि टीचिंग ऑफ रीडिंग', अध्याय 5, 'ओरेल रीडिंग', पृ० 72–75

का रूप ले लेता है जिससे प्रत्येक बालक अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुसार आगे बढ़ता है। शिक्षक को छात्रों द्वारा विद्यालय में अथवा विद्यालय के बाहर किए गए मौन पठन की सराहना करनी चाहिए, उन्हें इसके लिए प्रोत्साहित करना चाहिए और मौन पठन को केवल कक्षा तक ही सीमित नही रखना चाहिए जहाँ मन्द और शिथिल छात्रों के कारण पठन पर अनेक प्रतिबन्ध हो जाते है।"[17]

(ii) मौन पठन में समय की भी पर्याप्त बचत होती है। पठन-मनोविज्ञान पर ध्यान देने से यह बात अपने-आप सिद्ध हो जाती है। मौन पठन में अधिक लम्बे दृष्टि-विराम सम्भव होते है जबकि व्यक्त पठन में लिपि-प्रतीको को ध्वनि में परिवर्तित करने की प्रक्रिया से चक्षु-गति बाधित होती रहती है। मौन पठन में चक्षु-गति नियमित रूप से अग्रसर होती रहती है।

प्रयोगों द्वारा देखा गया है कि सस्वर पठन में कोई भी व्यक्ति एक मिनट में 160 शब्दों से अधिक नही पढ़ सकता। इससे अधिक गति होने पर उसका पठन बोधगम्य नहीं रह जाता। मौन पठन में इतनी गति तो विद्यार्थी कक्षा 6 तक ही प्राप्त कर लेता है। कक्षा 8 तक आते-आते बालक मौन पाठ द्वारा बोध के साथ 240 से 350 शब्दों तक पढ़ लेता है। मौन पठन की गति क्यो इतनी तीव्र होती है, इसके कारण भी स्पष्ट है—

सस्वर पठन में वागिन्द्रियों एवं गले की पेशियों का प्रयोग करना पड़ता है जो चक्षु गति के समान तीव्र गति से संचालित नही हो सकती। फिर ध्वनि प्रकाशन के फेर में भी पठन गति तीव्र गति नहीं हो पाती। अतः कम से कम समय में अधिक से अधिक सामग्री पढ़ने का साधन मौन पठन ही है।

(iii) मौन पठन में शक्ति और श्रम की भी बचत होती है क्योंकि उसमें केवल नेत्र और मस्तिष्क का योग रहता है। सस्वर पठन में ध्वनि यन्त्रों का भी प्रयोग होने से समय और श्रम दोनों अधिक खर्च होते है।

सस्वर पठन थकाने वाली प्रक्रिया है। यदि हम लगातार 6 घण्टे मुखर पाठ करें तो बिल्कुल ही थक जायेंगे, पर मौन पठन 6 घण्टे सरलता पूर्वक किया जा सकता है। 6 घण्टे बैठने और आँखों पर जोर पड़ने से भले ही हम थकावट का अनुभव करें, पर यह थकान 6 घण्टे सस्वर पठन के कारण होने वाली थकान की तुलना में बहुत कम होगी।

यह भी सत्य है कि आँख और मस्तिष्क ओठों और कण्ठ-पेशियों से कई गुना तीव्र गति से काम कर सकते हैं। अतः पठन में यदि हम ओठों और कण्ठ-पेशियो का

17. ई० डब्ल्यू० मेंजिल—'दी टीचिंग ऑफ रीडिंग', पृ० 73

संचालन (जैसा कि सस्वर पठन में होता है) करते रहेंगे तो अच्छे पाठक नहीं हो सकते । यहाँ तक कि बुदबुदाकर पढ़ने या मन मे इस प्रकार पढ़ने से जिसमें भीतर ही भीतर हम ध्वनि करते रहते हैं, हमारे ओठ हिलते रहते हैं, भीतर ही भीतर ध्वनन और श्रवण (इनर स्पीच और हियरिंग) चलता रहता है, हमारी गति कम हो जाती है और समझने में भी कठिनाई हो जाती है । यदि ओठ हिलते हैं तो हमारी पठन गति कम होकर प्रति मिनट अधिक से अधिक 150 शब्द रह जाती है । यही बात कण्ठ-पेशियों के व्यवहार से भी होती है । आंतरिक ध्वनन और मानसिक श्रवण (मेंटल हियरिंग) से भी यही प्रभाव पड़ता है । अतः इन तीनों—ओठ हिलना, कण्ठ पेशियों का प्रयोग, आतरिक ध्वनन एव श्रवण—से ही पठनगति कम हो जाती है । इन तीनों से रहित केवल चक्षु एवं मस्तिष्क का प्रयोग ही मौन पठन की उपयुक्त विधि है ।

(iv) तथ्यों को समझने और हृदयंगम करते जाने की दृष्टि से मौन पठन की सार्थकता अधिक है । सस्वर पठन में ध्वनन एवं श्रवण के कारण विचार ग्रहण में बाधा पड़ती है । अतः गहन अध्ययन की दृष्टि से मौन पठन ही उत्तम पठन-विधि है ।

(v) आवश्यक तथ्यों एवं विचारों की दृष्टि से भी मौन पठन अधिक उपयोगी है । पठित अंश में क्या मुख्य है, किसे स्मरण रखना चाहिए और किसे छोड़ देना चाहिए, इन बातों का ध्यान मौन पठन में अधिक रखा जा सकता है ।

(vi) मौन पठन के अभ्यास से अन्य विषयों की शिक्षा तथा सामान्य पठन में बहुत सहायता मिलती है । मनोरंजन के लिए सारा पठन मौन पठन द्वारा ही होता है, जब तक कि कोई ऐसा भावात्मक स्थल, गद्य-गीत, कविता आदि न सामने आ जाय जिसमें रसमग्नता के लिए हम अपने-आप गुनगुना उठते है । विचारों को आत्मसात करना मौन पठन में ही सभव है ।

इस प्रकार पढ़ने में समय, शक्ति, गति, व्यावहारिकता, बोधगम्यता, स्मरण, अध्ययन आदि सभी दृष्टियों से मौन पठन का महत्त्व सिद्ध होता है। इसका अभ्यास बच्चों को अवश्य कराना चाहिए ।

मौन पठन-दक्षता तथा उसके लक्षण

पठन-दक्षता का मापदण्ड क्या है ? उत्तम कोटि का पठन किसे कहेंगे ? इस सम्बन्ध में लाखों पढ़ने वालों की पठन-योग्यता के परीक्षण के आधार पर मूल्यांकन एवं विविध प्रयोगों द्वारा पठन-दक्षता के निम्नांकित लक्षण प्रस्तुत किये गए हैं और इनसे सभी भाषा विशेषज्ञ सहमत हैं—

(i) पठन-दक्षता-विहीन पाठक मंद गति से पढ़ता है, साधारणतः 100 से 150 शब्द ही प्रति मिनट पढ पाता है, जबकि उत्तम कोटि का अथवा दक्ष पाठक उतने ही समय में 300 शब्दों तक पढ़ लेता है। कुछ विशेष दक्ष पाठक तो प्रति मिनट 600 शब्दों तक पढ़ लेते हैं।

(ii) मन्द पाठक देर में समझता है और अनेक मुख्य तथ्यों की ओर भी ध्यान नहीं देता, जबकि अच्छा पाठक शीघ्र ही लेखक का आशय समझ लेता है और महत्त्वपूर्ण बातों को कभी नहीं छोड़ता। तत्काल बोध अच्छे पठन का मुख्य लक्षण है।

(iii) दक्षता-रहित पाठक शब्दों को बार-बार पढ़ता है और अर्थ के लिए पदबन्धों एवं वाक्यों को भी बार-बार देखता है, पर दक्ष पाठक एक शब्द दो बार नही देखता। उसे अर्थ के लिए पदबन्धों एवं वाक्यों को भी पुनः देखने की आवश्यकता नही पड़ती, जब तक कि कोई कठिन, गम्भीर बौद्धिक विषय सामग्री न आ जाय। ऐसी सामग्री को आत्मसात करने के लिए कभी-कभी दोबारा वाक्यों को देखना पड़ता है। वह अधिकतर अपरिचित शब्दो का अर्थ भी संदर्भ से निकाल लेता है, इससे आशय समझने में उसे कठिनाई नही होती।

(iv) मंद पाठक एक-एक शब्द पढ़ता है, पर उत्तम पाठक प्रति शब्द की चिंता नहीं करता। वह पदबन्धों एवं विचारों को पढ़ता है।

(v) शब्द-शब्द पढने के कारण मन्द पाठक प्रत्येक पंक्ति पर अपना सिर या आँख की पुतलियाँ 6–7 बार घुमाता है, उत्तम पाठक 3–4 बार में ही पंक्ति का पठन पूरा कर लेता है। उत्तम पाठक का दृष्टि-विराम लम्बा होता है, अतः एक बार में वह अधिक सामग्री आत्मसात करता है।

(vi) मन्द पाठक केवल अपनी आँखों का ही प्रयोग नहीं करता, बल्कि अपने सिर, जिह्वा, कण्ठ और वागिन्द्रियों का भी प्रयोग करता है। दक्ष पाठक केवल अपनी आँख और मस्तिष्क का ही प्रयोग करता है।

(vii) मंद पाठक को लेखक का अभिप्राय समझने के लिए अवधान शक्ति पर जोर देना पड़ता है और उसका मस्तिष्क शब्दों को ही आत्मसात करने में लगा रहता है, इससे लिखित सामग्री के अतिरिक्त उसे और कुछ सोचने का अवकाश ही नही मिलता। अच्छा पाठक लेखक के साथ-साथ सक्रिय रूप से सोचता है और लेखक द्वारा आगे कही जाने वाली बात का पूर्व अनुमान कर लेता है, साथ ही लिखित सामग्री के आधार पर अतिरिक्त उदाहरण एवं सादृश्य उसके मस्तिष्क में अनायास उभर आते हैं। वह पढ़ते समय लेखक के साथ निरन्तर सहमत-असहमत होता

हुआ चलता है। यह उसकी स्वतंत्र चिन्तन एवं विवेचन शक्ति का परिचायक है।

यह मानसिक सक्रियता, सजगता और पूर्वाभास या पूर्वानुमान (ऐण्टिसिपेशन) उत्तम पाठक का विशेष गुण है और इस कारण उसकी पठन-गति और भी तीव्र हो जाती है।

पठन दक्षता के अवरोधक तत्त्व एवं उनका निराकरण—कभी-कभी देखने में ऐसा लगता है कि बालक पढ़ रहे है पर वे अर्थग्रहण के साथ नहीं पढ़ते। बोध परीक्षण द्वारा यह ज्ञात हो जाता है। इसके कई कारण हो सकते है—

(i) पढने की कला का अभाव
(ii) दृष्टि परिधि एवं विस्तार का अभाव
(iii) पठन रुचि का अभाव
(iv) बहिर्मुखी प्रवृत्ति अर्थात् मन की एकाग्रता का अभाव
(v) चिन्तन का अभाव।

प्रारम्भ से ही पठन-शिक्षण में इन दोषों का निराकरण आवश्यक है। निम्नांकित सुझाव ध्यान देने योग्य हैं—

(i) चक्षुगति एवं पठन में सामंजस्य स्थापन का अभ्यास।
(ii) चक्षुगति के बढ़ने के साथ-साथ पठन-गति का भी विकास।
(iii) बालक एक दृष्टि निक्षेप में जितना देखे उतना पढ़ सके।
(iv) जितना पढ़े उतना समझता चले।
(v) जो समझे उसे स्मरण रखे।
(vi) जो स्मरण रखे उसका यथोचित प्रयोग करे।

यह दक्षता अभ्यास से ही प्राप्त होती है। अतः उपर्युक्त गुणों का ध्यान रखते हुए पठन का अधिकाधिक अभ्यास अति आवश्यक है।

मौन पठन के प्रकार

पठन के अनेक रूप हो सकते हैं। देश, काल एवं पात्र भेद से पठन के रूप में परिवर्तन हो सकता है। पुस्तकों एवं उनके प्रयोग की दृष्टि से बेकन ने लिखा है कि "कुछ पुस्तकें गहन अध्ययन की दृष्टि से पढ़ी जाती है, कुछ केवल निगल ली जाती हैं और कुछ केवल स्वाद के लिए पढ़ी जाती हैं।"[18]

इसी प्रकार वस्तु बोध, गति एवं अवधान की दृष्टि से विद्वानों ने मौन पठन के तीन प्रकार बताये हैं—

---

18. "Some books are to be chewed, some to be swallowed and others to be tasted." —बेकन

1. अध्ययन[19]–ज्ञान प्रधान अथवा विचार प्रधान विषयों को इस प्रकार पढना जिसमें नवीन तथ्यों, विचारों आदि को ग्रहण करना मुख्य उद्देश्य रहता है, अध्ययन कहा जाता है। यह मौन पठन का गम्भीर रूप है। ऐसे मौन पठन में पठन-गति भी अपेक्षाकृत कम हो जाती है।

2. द्रुत पठन[20]—मनोरंजनात्मक साहित्य-कहानियाँ, उपन्यास, नाटक, एकांकी आदि हम द्रुत गति से पढते हैं। उसमें कौतूहल-तृप्ति, साहित्यिक अनुरंजन एवं रसास्वादन हमारा लक्ष्य होता है और बुद्धि की अपेक्षा भावना अधिक प्रबल रहती है। कथासूत्र का विकास जानने के लिए पाठक तीव्र गति से आगे बढ़ता जाता है। तथ्यों, विचारों को स्मरण रखने की अपेक्षा घटना-सूत्रों का स्मरण सरल भी होता है और इस कारण पठन-गति भी तीव्र हो जाती है।

3. विहंगावलोकन[21] –अर्जित ज्ञान को विस्तृत बनाने और जिज्ञासातृप्ति के लिए, किसी तथ्य की प्रामाणिकता जानने के लिए सहायक या संदर्भ ग्रन्थों से किसी आवश्यक अंश को चुनकर पढना जब हमारा लक्ष्य होता है तो हम ग्रन्थों के पन्ने पलटते हुए केवल अभीष्ट अंश को ही ध्यान पूर्वक पढ़ते हैं। विहंगावलोकन एक कला है। किस प्रकार अनावश्यक को छोड़ते हुए, आवश्यक को ग्रहण करते हुए बालक आगे पढ़ता चले, इसका अभ्यास कराना चाहिए। नोट तैयार करने में यह कला विशेष सहायक सिद्ध होती है।

मौन पठन का प्रारम्भ

यह लिखा जा चुका है कि मौन पठन का उद्देश्य गति बढाना, पठित सामग्री को तत्काल समझ लेना और हृदयंगम कर लेना है। पर यह स्थिति आरम्भ में नहीं आ सकती। पहली तथा दूसरी कक्षा तक के बच्चों के पठन में अनेक त्रुटियाँ रहती हैं। ठीक-ठीक अक्षर-ज्ञान, सयुक्ताक्षर, अक्षर-समूहों को तत्काल मिलाकर शब्दरूप में पढ़ लेना, उनका उच्चारण, शब्द-समूहों को वाक्य में पढ़ना और प्रवाह बनाए रखना, आँखें पृष्ठ की बायीं ओर से अनवरत दायी ओर को चलती जायें, चक्षु और मस्तिष्क का अर्थग्रहण की दृष्टि से सहज सम्बन्ध स्थापित हो जाए आदि पठन-प्रक्रिया सम्बन्धी बातें जब तक हाँसिल नहीं हो जाती तब तक पठन-दक्षता नही आ सकती। कक्षा 4-5 तक पठन–प्रक्रिया सम्बन्धी इन तत्त्वो से बालकों को भली-भाँति अवगत हो जाना चाहिए। इन कक्षाओं तक बालकों के शब्द भण्डार में यथेष्ट वृद्धि भी हो जाती है और वे बोध के साथ पढ़ने लगते हैं।

अत: कक्षा 3 से सस्वर पाठ के साथ-साथ मौन पठन की शिक्षा भी प्रारम्भ की जा सकती है। कक्षा 6 से मौन पाठ पर सस्वर पाठ की अपेक्षा अधिक बल देना चाहिए, तभी मौन पठन का उचित अभ्यास सम्भव है।

---

19. Study 20. Rapid Reading
21. Scan or Skip

मौन पठन को सोद्देश्य बनाना

बालक स्वयं पढने में क्यों संलग्न होते हैं, इस दृष्टि से पठन कई प्रकार का हो सकता है। अमेरिका में श्रीमती ग्लैडिज हैथवे ने पठन-क्रिया के उद्देश्य जानने के लिए बालकों से ही एक प्रश्नावली के उत्तर एकत्र किये। बालकों ने विभिन्न प्रकार के पठन-उद्देश्य बताए–आनन्द या मनोरंजन, सूचना एवं ज्ञान-प्राप्ति, रुचि-विकास, जिज्ञासा या कौतूहल की तृप्ति, सन्तोष प्राप्ति, दूसरो को प्रभावित करना आदि। किसी पाठ्य सामग्री का हम विहंगावलोकन करते है और किसी का सूक्ष्म अध्ययन। अतः अध्यापक को पठन-शिक्षण में इन विविध उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए बालकों की पठन-क्रिया को सोद्देश्य बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

पठन को सोद्देश्य बनाने और पठन क्रिया के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य है—

1. उपयुक्त एवं सुरुचिपूर्ण पाठ्य सामग्री का चयन

(i) बालकों की रचनात्मक एवं अन्वेषणात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने वाले तथ्यों का पाठ्य सामग्री में समावेश।

(ii) जीवन के विविध क्षेत्रो से सम्बन्धित पाठ्य सामग्री-सामाजिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, व्यावसायिक, साहित्यिक आदि से सम्बन्धित का समावेश।

(iii) बाल्य जीवन एवं परिवेश सम्बन्धी विषयों पर सामग्री-उत्सव, खेल, मेला, प्रदर्शनी आदि।

(iv) कहानियाँ-विविध कक्षा-स्तरो की दृष्टि से पौराणिक एवं घटना प्रधान कहानियाँ, सामाजिक जीवन से सम्बन्धित एवं चरित्र प्रधान कहानियाँ।

2. अर्थग्रहण की दृष्टि से स्वाध्याय के लिए प्रोत्साहन एवं निम्नांकित योग्यताओं पर बल

(i) पाठ्य सामग्री के प्रति रुचि एवं उत्सुकता जागरित करना और पठन के लिए अभिप्रेरित करना।

(ii) पठित अंश का केन्द्रीय भाव ग्रहण।

(iii) विस्तृत अर्थग्रहण-वाच्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ का भी बोध।

(iv) पठित अंश के विविध भावों एवं विचारों को समझते हुए उनका सुसम्बद्ध अर्थ ग्रहण।

(v) आवश्यक तथ्यों का स्थायी स्मरण।

(vi) पठित सामग्री के विचार-क्रम को समझना और लेखक के आशय की अनुभूति करना।

3. शब्दार्थ ज्ञान

(i) प्रसंगानुसार शब्दार्थ ग्रहण, शब्द का ठीक अर्थ जाने बिना ही प्रसंगानुकूल भाव ग्रहण, पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग एवं उनके सूक्ष्म अन्तर को जानना, विलोम शब्द, कोश देखकर शब्द के विविध अर्थों में से प्रसंगानुकूल अर्थ ढूँढ़ लेना, शब्दों एवं पदों का अपनी भाषा में प्रयोग।

(ii) शब्द रचना; सन्धि, समास, उपसर्ग, प्रत्यय के आधार पर शब्द रचना करना और शब्दार्थ समझना।

4. गृहीत अर्थ की अभिव्यक्ति

(i) पठित अंश पर आधारित विविध प्रश्नों के उत्तर देना। उत्तर से सम्बन्धित अनुच्छेदों का संकेत करना।

(ii) अन्वय करना, व्याख्या करना।

(iii) रूपरेखा देना, अनुच्छेदों के सारांश देना, शीर्षक देना आदि।

5. समीक्षात्मक दृष्टि से पठन के लिए छात्रों को अभिप्रेरित करना (केवल उच्चतर माध्यमिक स्तर पर)

(i) पठित अंश में निहित भावों एवं विचारों का गुण-दोष विवेचन।

(ii) लेखक द्वारा व्यक्त भावो एवं विचारो के प्रति अपनी प्रतिक्रिया-सहमति, असहमति-प्रकट करना।

(iii) साहित्यिक सौन्दर्य तत्त्वों (विशेषतः कविता में) का बोध एवं उनकी सराहना।

(iv) लेखक की भाषा, शैली एवं साहित्यिक दृष्टिकोण को समझना।

(v) कथा काव्यों में कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि तत्त्वों का बोध एवं उनकी दृष्टि से रचना का मूल्यांकन करना।

6. बालकों की आयु, योग्यता एवं रुचि के अनुसार विविध पठन अभ्यास—पढ़ने की प्रक्रिया वैज्ञानिक है, पर पढ़ना स्वतः कला है। विज्ञान में जानकारी का महत्त्व होता है परन्तु कला में अभ्यास का। अभ्यास से कुशलता आती है। अतः अधिकाधिक पठन-अभ्यास आवश्यक है। इस दृष्टि से निम्नांकित सुझाव ध्यान देने योग्य हैं—

(i) ऐसे अभ्यास जिनमें बालक अपनी पठन सम्बन्धी त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न करें।

(ii) बोध के साथ द्रुतगति से पढ़ने के लिए विविध अभ्यास।

(iii) मनोरंजनात्मक अभ्यास जैसे नाटकीयता के लिए पठन सामग्री, मनोविनोद के लिए पठन सामग्री, भावात्मक संवाद, कथोपकथन, नवीन कल्पना एवं अनुभूति सम्बन्धी सामग्री का पठन।

(iv) किसी विशेष विषय की जानकारी के लिए पढ़ने का अभ्यास—सहायक पुस्तकों का प्रयोग, विषय-सामग्री ढूँढ़ने के लिए पुस्तकालय से उपयोगी पुस्तक ढूँढ़ना और उपयुक्त प्रकरण या अभ्यास से अपेक्षित सामग्री का चयन।

(v) पठित सामग्री से सम्बन्धित योग्यता विस्तार के लिए आवश्यक सामग्री का पठन।

(vi) यथावश्यक संदर्भ पुस्तकों का अवलोकन। कोष देखने का अच्छा अभ्यास।

(vii) पुस्तक सूची, अनुक्रमणिका, परिशिष्ट आदि देखने का ज्ञान और अभ्यास।

(viii) विषयवस्तु समझने की दृष्टि से जो विविध प्रकार के चित्र, आलेख्य, तालिकाएँ तथा आकृतियाँ दी रहती है, उनको समझने की तथा वर्णन से उनका सम्बन्ध जोड़ने की शिक्षा और तत्सम्बन्धी अभ्यास।

(ix) पत्र-पत्रिकाओं में व्यंग्य चित्रों, कार्टूनों आदि के समझने के लिए अभ्यास।

पठन-शिक्षण की सफलता वस्तुतः छात्रों की पठन-रुचि के विस्तार एवं प्रचुर पठन—अभ्यास पर ही निर्भर है। इस सम्बन्ध में जॉन कॉटन डॅना की उक्ति बहुत ही उपयुक्त है, जिसमें छात्रों को अधिकाधिक पठन की प्रेरणा दी गई है—

(i) पढ़ो (ii) पढ़ो (iii) कुछ और पढ़ो (iv) कुछ भी पढ़ो (v) प्रत्येक वस्तु के विषय में पढ़ो (vi) मनोरंजक सामग्री पढो (vii) जो तुम्हें रुचिकर हो वह पढो (viii) पढ़ो और पठित सामग्री के विषय में चर्चा करो (ix) कुछ चीजें सावधानी से पढो (x) अधिकांश चीजें सरसरी रूप से पढ़ो (xi) पढ़ने के विषय में सोचो मत (xii) बस पढ़ो।

आशय यही है कि बालकों को उपयुक्त सामग्री देकर उन्हें अधिकाधिक पठन में प्रवृत्त किया जाये। एक बार पठन की आदत एवं व्यसन पड़ जाने पर अध्ययन का मार्ग अपने-आप प्रशस्त होता जायेगा।

मौन पठन का संचालन एवं शिक्षण विधि

मौन पठन का अर्थ है—बालक बिना गुनगुनाए, बुदबुदाए, दत्तचित्त होकर समझते हुए मन में ही पढ़े। प्रारम्भ में इस प्रकार के पठन में कठिनाई हो सकती है पर धीरे-धीरे इसकी आदत डालने की आवश्यकता है। इस दृष्टि से निम्नांकित बातें ध्यातव्य है—

(i) मौन पठन को सोद्देश्य बनाना आवश्यक है। बालकों के सम्मुख ऐसा प्रेरणात्मक प्रश्न या ऐसी समस्या प्रस्तुत की जा सकती है जिसके प्रकाश में बालक पढ़ने के लिए उत्कण्ठित हों।

शिक्षक पाठ्य सामग्री पर आधारित कोई ऐसा वक्तव्य भी दे सकता है जो वालकों में पढ़ने के लिए उत्सुकता पैदा कर दे। किसी घटना या चित्र के ऊपर वार्तालाप भी किया जा सकता है जिससे पठन के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हो और उत्साह पैदा हो जाये।

(ii) प्रारम्भ में कुछ दिनों तक उन्हें मौन पठन के लिए निर्देश देते समय मौन-पठन की विधि भी वता देनी चाहिए और आग्रह करना चाहिए कि वे ओठ न हिलाएँ और न किसी प्रकार की ध्वनि करें। एकाग्र होकर पाठ्य सामग्री पढ़ें और तदन्तर्गत तथ्यो, भावों एवं विचारों को हृदयंगम करने का प्रयत्न करें।

(iii) वालकों द्वारा मौन पाठ करते समय शिक्षक द्वारा निरीक्षण कार्य होना चाहिए और देखना चाहिए कि कौन वालक मनोयोग-पूर्वक पढ़ रहा है और कौन नहीं? कौन शीघ्रता से पढ़ रहा है और कौन पिछड़ा हुआ है? निरीक्षण द्वारा यह भी पता चल जायेगा कि कौन वालक गुनगुना रहा है। ये वातें पता लगने पर शिक्षक उन छात्रों के सुधार के लिए आवश्यक प्रयत्न कर सकता है।

(iv) मौन पठन के वाद कुछ ऐसे प्रश्न पूछने चाहिए जिससे वालकों का वोध-परीक्षण हो जाये। वालको ने पढ़कर मुख्य भाव ग्रहण किया है या नही, इसको जांच कर ही अध्यापक आगे पाठ का विकास कर सकता है।

(v) मौन पठन की सार्थकता भाव एवं विचार ग्रहण में है, अतः भापा कार्य एव स्पष्टीकरण मौन-पाठ का आवश्यक अंग है। वालकों के विस्तृत अर्थग्रहण को जानकारी आवश्यक प्रश्नों द्वारा करनी चाहिए। सारांश, शीर्षक, वस्तु व्याख्या सम्वन्धी प्रश्नों के उत्तर छात्र अपनी भापा में दें। शब्द-ज्ञान, उच्चारण आदि की जाँच भी आवश्यक है। इस क्रिया से वालकों में पठन के समय अधिकाधिक भापिक एव वैचारिक सामग्री ग्रहण करने और आत्मसात् करने की प्रवृत्ति का विकास होता है और कुछ दिनों के अभ्यास के वाद उसमें पठन के साथ तत्काल वोध की क्षमता भी विकसित होने लगती है।

(vi) मौन पठन का अवसर पाठ्य पुस्तक एवं द्रुत पाठ-शिक्षण में मिलता है, पर अधिकाधिक मौन पठन अभ्यास के लिए पुस्तकालय से सहायक पुस्तकों का उपयोग आवश्यक है। ऐसी रोचक पुस्तकों की सूची शिक्षक के पास होनी चाहिए जिससे यथा अवसर एवं यथा प्रसंग वह छात्रों को उपयुक्त पुस्तक पढ़ने का निर्देश दे सके।

वच्चों से पढ़ी हुई पुस्तकों की सूची वनवाना और पठित सामग्री का नोट वनवाना भी आवश्यक है। इससे पठन में रुचि एवं गति वढ़ती है।

मौन पठन के अभ्यास के लिए पुस्तकालयों एवं वाचनालयों का प्रयोग आवश्यक है। प्रत्येक विद्यालय में पठन-कक्ष (वाचनालय) और पुस्तकालय अवश्य हो जहाँ वालकों के वैठने और पढने की उचित व्यवस्था हो। वाचनालय में समाचार

पत्र, पत्रिकाएँ एवं सूचना पट्ट हों और बच्चे शान्तिपूर्वक उन्हें पढ़ें। छात्रों को मौन पठन की दृष्टि से पूर्ण अनुशासन का पालन करना चाहिए।

माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक स्तर के उपयुक्त पाठ्य सामग्री—इस स्तर पर बालक साहित्य की विविध विधाओं से परिचित हो जाते है और अपनी रुचि के अनुकूल साहित्य पढ़ने के लिए लालायित रहते है। सामान्यतः ये विधाएँ है—

(1) कहानियाँ

(2) संवाद, एकांकी और नाटक

(3) जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र

(4) निबंध

(5) कविता

(1) कहानियाँ—कक्षा 6, 7 में धार्मिक एवं पौराणिक कहानियाँ बच्चों को विशेष प्रिय होती है। इस आयु में बच्चे अतिशय कल्पनाप्रिय होते है, अतः ऐसी कहानियाँ उन्हें अच्छी लगती है जिनमें घटनाओं के चमत्कार तथा महापुरुषों के विलक्षण कार्यों का वर्णन रहता है—नल-दमयंती, पांडवों का वनवास, शिव और दधीचि का त्याग, हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता, कर्ण की दानप्रियता, भीष्म की प्रतिज्ञा आदि। साहसिक कहानियाँ भी माध्यमिक स्तर के बालक बड़े चाव से पढ़ते हैं। इनमें कठिनाइयों से संघर्ष का चित्रण उनमें साहस और स्फूर्ति की भावना भरता है; तेनसिंह की हिमालय यात्रा, बाघ से भिड़ंत, दक्षिणी ध्रुव की खोज आदि। इस स्तर पर सरल चरित्र प्रधान कहानियाँ भी उपयोगी सिद्ध होती है, जैसे सुदर्शन की 'हार की जीत'।

कक्षा 8, 9 में बालक पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याओं में भी रुचि प्रदर्शित करने लगते है। **पारिवारिक एवं सामाजिक कहानियाँ** उन्हें रुचिकर लगती है; बड़े घर की बेटी, ईदगाह, लाटरी, ताई, काकी, विमाता, अलगोझा, पंच परमेश्वर, नमक का दारोगा, राखी की लाज आदि ऐतिहासिक कहानियाँ, जैसे हरिकृष्ण प्रेमी की मान मंदिर कहानी। इस स्तर पर उच्च स्तर की **नैतिक मूल्यों वाली साहसिक कहानियाँ**; जैसे मुण्डमाल, शिवालिक की घाटियों में बच्चों को विशेष प्रिय होती है। वैज्ञानिक चमत्कार सम्बन्धी कहानियाँ, जैसे, समुद्र के गर्भ में, सूरज और उसका परिवार, पृथ्वी कैसे बनी आदि वैज्ञानिक प्रवृत्ति के विकास की दृष्टि से उपयोगी है।

कक्षा 10–11 तक बालक बौद्धिक एवं सांवेगिक दृष्टि से अधिक विकसित एवं परिपक्व हो जाता है। अतः भ्रमण, अन्वेषण, संघर्ष, समस्यापूर्ण एवं चारित्रिक आदर्शों से पूर्ण कहानियाँ अधिक रुचिकर होती है। **काव्यात्मक शैली** में लिखी हुई

कहानियाँ जैसे प्रसाद की 'पुरस्कार' और 'आकाशदीप' कहानी वे चाव से पढ़ते हैं। चारित्रिक आदर्श के कारण ही गुलेरी जी की कहानी 'उसने कहा था' विद्यार्थियों को विशेष प्रिय है। मनोवैज्ञानिक कहानियाँ जिनमें मानव-मन के अज्ञात रहस्यों का उद्घाटन और अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण होता है, तीव्र बुद्धि वाले बालकों को प्रिय होती है।

इस स्तर पर बालकों में कथा साहित्य के प्रति समीक्षात्मक दृष्टि भी विकसित होने लगती है। वे यथार्थ एवं आदर्श का अन्तर समझने लगते है। अतः कहानी पठन द्वारा उनमें समीक्षात्मक दृष्टि पल्लवित करना शिक्षक का कर्त्तव्य है।

(2) **संवाद, एकांकी और नाटक**—अभिनयात्मक पाठों में बालकों को स्वाभाविक रुचि होती है। चारित्रिक विकास, मानसिक क्रियाशीलता, आनन्द, व्यावहारिक ज्ञान आदि की दृष्टि से नाटक अधिक रोचक पाठ्य सामग्री है। माध्यमिक स्तर पर संवादात्मक एवं अभिनय सम्बन्धी पाठ, लघु नाठक और एकांकी अधिक रोचक सिद्ध होते हैं; जैसे रायकृष्णदास का 'हीरा और कोयला', रामकुमार वर्मा—'पृथ्वीराज की आँखें', हरिकृष्ण प्रेमी—'पश्चात्ताप' आदि।

साहसिक घटनाओं से सम्बन्धित, देशभक्तिपूर्ण, अंधविश्वासों एवं रूढियों पर प्रहार करने वाले नाटक या प्रहसन उच्चतर माध्यमिक स्तर के बालक बहुत पसंद करते हैं। इन कक्षाओं के छात्र कथानक के विकास और पात्रों के चरित्र चित्रण का विश्लेपण स्वयं कर सकते हैं, यदि शिक्षक यथावसर उनका मार्ग निर्देशन करता रहे। संवादों की संवेगात्मक शैली उन्हें विशेष प्रिय होती है। मिलिन्द का 'प्रताप प्रतिज्ञा', आनन्दी प्रसाद श्रीवास्तव का 'अछूतोद्धार', हरिकृष्ण प्रेमी के हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य सम्बन्धी नाटक, सेठ गोविन्ददास का 'व्यवहार एवं सच्चा धर्म', जगदीशचन्द्र माथुर के 'भोर का तारा' और 'रीढ़ की हड्डी', लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'एक दिन' आदि एकांकी बड़े ही प्रिय सिद्ध हुए है।

(3) **जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण एवं रेखाचित्र**—कक्षा 6–7 में निम्नांकित प्रकार की रचनाएँ विशेष उपयोगी सिद्ध होती हैं—

(i) महापुरुषों की जीवनी के वे अंश जो बाल्य जीवन से सम्बन्धित है, जैसे गांधीजी, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की बाल्यावस्था की घटनाएँ।

(ii) देश-विदेश के बालकों, के जीवन।

(iii) पौराणिक महापुरुषों की जीवनी; जैसे, राम, कृष्ण, शिवि, दधीचि, हरिश्चन्द्र आदि।

(iv) साहसिक व्यक्तियों के जीवन।

कक्षा 8–9 से विद्यार्थियों की रुचि पौराणिक महापुरुषों की चमत्कारपूर्ण जीवनी से हटकर अपने देश के ऐतिहासिक महापुरुषों के प्रति अधिक बढ़ जाती है,

जैसे, बुद्ध, अशोक, हर्ष, विक्रमादित्य, प्रताप, शिवाजी, झाँसी की रानी, गांधी, नेहरू आदि। इनकी यशोपूर्ण गाथाएँ पढ़ने में बालक आनन्द के साथ-साथ प्रेरणाएँ भी ग्रहण करते है। ऐसा साहित्य उनकी सद्वृत्तियो के विकास में सहायक होता है।

संस्मरणात्मक निवन्ध पढ़ने में बालको को जीवनी एवं आत्मकथा का सा ही आनन्द आता है, अतः विभिन्न महापुरुषों के जीवन एवं चरित्र पर प्रकाश डालने वाले संस्मरण छात्रो को पढ़ने के लिए देने चाहिए।

घटना प्रधान जीवनियाँ तथा आत्मकथाएँ जिनमें सामाजिक एवं राष्ट्रीय परिस्थितियों, एवं आर्थिक विषमताओं के विरुद्ध संघर्ष का वर्णन हो, छात्र खूब पढ़ते है, जैसे, तिलक, गांधी, पटेल, राजेन्द्र बाबू, सुभाष, भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद आदि।

संघर्षपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले साहित्यकारों की जीवनी पढ़ने में भी इस स्तर पर छात्रों की रुचि जागरित हो जाती है, जैसे प्रेमचन्द, निराला आदि। ऐसी संस्मरणात्मक रचनाएँ जिनमें प्रसिद्ध लेखको के अनुभव रहते हैं, लड़के बड़े चाव से पढ़ते है, जैसे, टैगोर का 'मेरा बचपन'।

10–11वी कक्षा के बालक साहित्यकारो, कलाकारों, वैज्ञानिकों विशेषतः आविष्कारकों एवं अन्वेषको की जीवनियाँ पढ़ने लगते है। इस आयु मे वे अपना आदर्श नायक भी चुनने लगते है। रेखाचित्र पढने में भी उनकी रुचि देखी जाती है, जैसे, 'अतीत के चलचित्र' में वर्णित पात्रों के सम्बन्ध में पढ़कर वे चर्चा करते है और अपनी सम्मति प्रकट करते है।

(4) वर्णन एवं निबन्ध

माध्यमिक स्तर सम्बन्धी वर्णन—प्राकृतिक व्यापार, वर्षा, वसंत, उद्यान, पशु-पक्षी आदि स्थानीय जीवन के प्रमुख सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, व्यावसायिक आदि विषयों से सम्बन्धित वर्णन, जैसे उत्तर प्रदेश की रामलीला, महाराष्ट्र का गणेश-पूजन, राजस्थान का गनगौर, पंजाब की लोहड़ी, क्रिस्मस, ईद आदि। स्वास्थ्य संबंधी पाठ जैसे शारीरिक सफाई, स्वच्छता, पोशाक, भोजन आदि। जन साधारण के जीवन में उपयोगी वैज्ञानिक पाठ-रेडियो, बिजली। शिष्ट हास्य एवं व्यग्य के पाठ, जैसे सुदर्शन की साइकिल की सवारी।

निबन्ध—विनोदात्मक निवन्ध जैसे विनोदी बापू। विवरणात्मक निबंध-स्थान, यात्रा, प्राकृतिक दृश्य पर आधारित विवरण, चित्तौड़ वर्णन, हिमालय की यात्रा। सरल विचारात्मक निवन्ध—सच्ची नागरिकता, चरित्र का महत्त्व, हम सौ वर्ष कैसे जिएँ। सामाजिक समस्याओं से परिचित कराने वाले तथा अन्य प्रकार की सूचना देने वाले निवन्ध—ग्राम्य जीवन, गृह उद्योग-धन्धे, पशु पालन, भाखड़ा-नागल, हमारा औद्योगिक विकास, सैनिक शिक्षा, स्काउटिंग, ओलम्पिक खेल। वैज्ञानिक विषयो जैसे रेडियो, टेलीविजन, अंतरिक्ष में उड़ान, भूकम्प आदि पर सरल रोचक निबंध।

उच्चतर माध्यमिक स्तर :

वालक आनन्द के लिए निम्न प्रकार के निवन्ध स्वतः पढ़ते है—

साहसिक घटनाओ से सम्वन्धित निवन्ध जो केवल वर्णनात्मक न होकर भावात्मक भी हों, जैसे मौत के मुंह में, वाघ से भिड़ंत।

राष्ट्रीय भावना सम्वन्धी निवन्ध जिनमें देशभक्ति और देशसेवा के आदर्श मिल सकें, जैसे काका कालेलकर का 'तारक स्वदेशी'।

भावात्मक निवन्ध जो विचारशीलता एवं कल्पना के विकास में सहायक हों; जैसे, काका कालेलकर का 'गंगा मैया', पांडेय वेचन शर्मा उग्र का 'रुपया', सरदार पूर्णसिंह का मजदूरी और प्रेम, सच्ची वीरता।

विज्ञान के चमत्कार सम्वन्धी सरल निवन्ध जिनमें दैनिक जीवन सम्वन्धी आश्चर्यों के रहस्य का उद्घाटन हो; जैसे, सूरज और उसका परिवार।

यात्रा सम्वन्धी जिससे देश-विदेश का ज्ञान हो सके, जैसे, प्रो. विराज की 'सुभाष की वीर यात्रा', डा. राजेन्द्रप्रसाद की 'मेरी यूरोप यात्रा', राहुल सांकृत्यायन के भ्रमण सम्वन्धी निवन्ध।

हास्य प्रधान लेख जो आनन्द और मनोविनोद के लिए वालक पढ़ते हैं, जैसे, वेढव वनारसी का 'वनारसी एक्का'।

साहित्यिक एवं सरल विचार प्रधान निवन्ध; जैसे, महावीर प्रसाद द्विवेदी का साहित्य की महत्ता, श्यामसुन्दर दास का हिन्दी साहित्य की विशेषताएँ। आचार्य शुक्ल के मनोवैज्ञानिक निवन्ध, जैसे उत्साह, क्रोध, ईर्ष्या, करुणा आदि।

10–11वीं कक्षा के वालकों से भाषा सम्वन्धी सभी योग्यताएँ अपेक्षित हैं। इसके वाद छात्र या तो विश्वविद्यालय में प्रवेश लेता है या किसी व्यावसायिक प्रशिक्षण में जाता है, अतः इस स्तर पर अधिकाधिक पठन का और भी महत्त्व है। वे वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक और भावात्मक सभी प्रकार के निवन्ध पढ़ सकते हैं और समझ सकते है। वर्णनात्मक एवं विचारात्मक निवन्धो में शिक्षक की सहायता वहुत कम पड़ती है, पर शिक्षक वोध एवं प्रेरणा की दृष्टि से कुछ संकेत एवं प्रश्न दे सकता है। विचारात्मक एवं भावात्मक निवंधों में शिक्षक की सहायता अपेक्षित है, जैसे, आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त निवन्धों के पठन में।

(5) कविता

माध्यमिक स्तर

नाद सौन्दर्य, अभिनेयता एवं प्रयाणगीत तत्त्व वाली कविताएँ; जैसे, सुभद्रा कुमारी चौहान की 'झांसी की रानी', दिनकर की 'पानी की चाल'। प्राकृतिक सौन्दर्य का सहज एवं सरस विम्व-चित्र प्रस्तुत करने वाली कविताएँ; जैसे, सोहन

लाल द्विवेदी की 'लहर', दिनकर की 'संध्या', टैगोर की कविता 'चम्पा का फूल', वालभावना सम्बन्धी कविताएँ; जैसे सुभद्रा कुमारी चौहान की कविता कदम्ब का पेड़, मेरा नया वचपन, सूर के वाल लीला सम्बन्धी सरल पद।

इस आयु के बच्चों में साहस, उत्साह, राष्ट्र-प्रेम, त्याग, वलिदान आदि भावों की प्रधानता होती है। अतः श्यामनारायण पांडे की 'हल्दीघाटी', 'जौहर' अथवा सुभद्राकुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी', 'वीरों का कैसा हो वसंत' वालकों को वहुत ही प्रिय है। सरल नीति सम्बन्धी कविताएँ; जैसे, तुलसी, रहीम, गिरधर, वृन्द आदि की नीति कविताएँ, नरोत्तमदास के सुदामा चरित के सरल अंश। हरिऔध की कर्मवीर, माखनलाल चतुर्वेदी की 'एक फूल की चाह' कविताएँ वालकों के लिए प्रेरणादायक सिद्ध हुई हैं। करुणा, भक्ति और प्रेम सम्वन्धी कविताएँ; जैसे, मीरा के सरल पद, कवितावली से 'रामवनगमन' प्रसंग, सूर के भक्ति सम्वन्धी सरल पद।

प्रकृति चित्रण सम्वन्धी कविताएँ—तुलसी-वर्षा और शरद वर्णन, हरिऔध-वर्षा, पंत–ग्रामश्री, गोपालशरणसिंह नैपाली–ग्राम छवि, श्रीधर पाठक-हिमालय वर्णन आदि।

सामाजिक विषमता का यथार्थ चित्रण करने वाली कविताएँ—निराला-'भिक्षुक', दिनकर-'जमीन दो' आदि।

महाकाव्यों और पौराणिक प्रसंगों पर आधारित कविताएँ—मैथिलीशरण गुप्त–'पंचवटी', 'जयद्रथ वध' आदि।

इस स्तर पर शृंगारिक, निराशावादी, रहस्यवादी या अध्यात्मपरक कविताएँ उपयुक्त नही होती और न वालक उनमें रुचि ही लेते हैं। खड़ी वोली की कविताएँ ही इस स्तर पर उपयुक्त हैं। प्राचीन हिन्दी, व्रजभाषा और अवधी की कविताएँ उन्हे ग्राह्य नही होतीं।

उच्चतर माध्यमिक स्तर

वीरता, जोश, हास्य, करुणा आदि भावों वाली कविताएँ वालक अधिक रुचि के साथ पढते है। सहज शृंगार की कविताओं में उनकी रुचि होने लगती है। सामयिक विषयों जैसे पाकिस्तान का आक्रमण, चीन का आक्रमण, वंगला देश का स्वातंत्र्य युद्ध, अकाल आदि विषयों की कविताएँ भी वे चाव से पढ़ते है।

नैतिक मूल्यों, राष्ट्रीय भावनाओं एवं सौन्दर्यानुभूति परक कविताओं में भी उनकी रुचि वढ़ जाती है। व्रज और अवधी भाषाओं की कविताएँ भी वे समझने लगते है।

10वीं, 11वीं कक्षा के विद्यार्थी स्वांतः सुखाय अच्छी कविताएँ पढ़ने लगते हैं। ये कविताएँ देश-प्रेम, भक्ति एवं नैतिक मूल्यों वाली अधिक होती है; जैसे,

दिनकर–'परशुराम प्रतिज्ञा'; श्यामनारायण पांडे-'हल्दीघाटी'; तुलसी, सूर और मीरा के भक्ति विषयक पद।

इस स्तर पर बालक आधुनिक कवियों बच्चन, नीरज, नैपाली, नरेन्द्र शर्मा, बालस्वरूप राही, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, भवानी प्रसाद मिश्र आदि की कविताएँ साप्ताहिक एवं मासिक पत्र-पत्रिकाओं से पढ़ते हैं। स्वांतः सुखाय पढ़ी जाने वाली कविताएँ प्रायः वीर रसात्मक और स्वदेशाभिमान सम्बन्धी होती है।

शिक्षक की सहायता से अब बालक कठिन या गूढ़ कविताएँ भी पढने की क्षमता रखते है; जैसे, कबीर की उलटबासियाँ; पद्मावत के रहस्यात्मक अंश; पंत, निराला और महादेवी की प्रतीक बहुल कविताएँ। रामचरितमानस के भावात्मक स्थल वाली कविताएँ, कबीर की 'घूँघट के पट खोल.......', 'झीनी झीनी बीनी चदरिया.......' आदि कविताएँ पढने में बालकों की रुचि देखी जाती है पर आधुनिक कविताएँ विशेषतः प्रयोगवादी कविताएँ समझने में उन्हे कठिनाई होती है।

अलंकार, रस और छंद विधान का सामान्य परिचय हो जाने से इस स्तर के बालक कविता के शास्त्रीय पक्ष की भी थोड़ी बहुत समीक्षा कर सकते हैं। कवियों की तुलनात्मक समीक्षा–कबीर और जायसी, सूर और तुलसी आदि की भी वह कुछ-कुछ करने लगता है पर मीरा और महादेवी, निराला और पंत की तुलना नही कर सकता। इस स्तर पर शिक्षक कविताओं के समीक्षात्मक अध्ययन की ओर प्रवृत्त कर सकता है।

सारांश

विद्यालय द्वारा प्रदत्त सबसे अधिक उपयोगी कौशल अथवा बौद्धिक प्रक्रिया पठन-शिक्षण है। बालक की समस्त मानसिक एवं भावात्मक उन्नति पठन-योग्यता पर निर्भर है। नूतन ज्ञानोपलब्धि, नवीन रुचि परिष्कार, जिज्ञासा तृप्ति, आनन्द प्राप्ति, व्यावहारिक एव साहित्यिक योग्यता की संवृद्धि, भाषा के विविध कौशलो का विकास आदि पठन द्वारा ही संभव हैं।

लिपि प्रतीकों की पहचान, अर्थग्रहण तथा पूर्वापर सम्बन्ध जोड़ते हुए पूर्ण आशय समझ लेने का नाम पढ़ना है।

पठन प्रक्रिया के आधारभूत तत्त्व हैं—आसन एवं मुद्रा, ध्वनि प्रकाशन सम्बन्धी विशेषताएँ, दृष्टि विराम एवं दृष्टिकेन्द्र, लय, गति, शब्द भंडार, अर्थान्वितियों के अनुसार शब्द समूहो का एक साथ पठन, अर्थग्रहण।

पठन के दो प्रकार—(i) सस्वर पठन, (ii) मौन पठन।

शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारण, उचित स्वराघात, अनुतान, स्वर की उच्चता-मंदता, लय, यति, गति, भावाभिव्यक्ति की स्पष्टता, उचित भाव-भंगिमा के साथ

पढ़ना सस्वर पठन है। बिना बुदबुदाए, ओठ हिलाए एकाग्रचित्त होकर शांतिपूर्वक अर्थ ग्रहण करते हुए मन में ही पढ़ना मौन पठन है। मौन पठन की उपयोगिता—समय, शक्ति और श्रम की बचत होती है; व्यक्तिगत जीवन में सर्वाधिक सुगम, स्वाभाविक एवं व्यापारिक पठन मौन पठन है; अर्थग्रहण, स्मरण, अध्ययन आदि की दृष्टि से मौन पठन का विशेष महत्त्व है।

मौन पठन की दक्षता में मुख्य बात है तीव्रगति से तत्काल अर्थ बोध करते हुए पढ़ना। पठन में केवल चक्षु और मस्तिष्क का प्रयोग होता है। पाठक शब्द के स्थान पर विचारों को पढ़ता है। मौन पठन के प्रकार है—सिंहावलोकन, द्रुत पठन, विहंगावलोकन।

मौन पठन को सोद्देश्य बनाने के साधन—उपयुक्त पाठ्य सामग्री का चयन, स्वाध्याय के लिए प्रोत्साहन, शब्दार्थ-ज्ञान, गृहीत अर्थ की अभिव्यक्ति, समीक्षात्मक दृष्टि से पढ़ने के लिए प्रोत्साहन, विविध पठन-अभ्यास।

मौन पठन के शिक्षण में विद्यार्थियों में यह आदत उत्पन्न करनी चाहिए कि वे बिना गुनगुनाए और होठ हिलाए पढ़ें। मौन पठन के समय निरीक्षण होना चाहिए और यथोचित सुधार के लिए प्रयत्न करना चाहिए। बोध परीक्षण द्वारा छात्रों को प्रेरित करना चाहिए कि वे समझते हुए पढ़ें।

पठन-रुचि के विस्तार के लिए केवल पाठ्यपुस्तक पढ़ना पर्याप्त नहीं है। इसके लिए अन्यान्य साहित्यिक रचनाएँ एवं पुस्तकें पढ़ने के लिए छात्रों को प्रोत्साहित और अभिप्रेरित करना चाहिए। ये पुस्तकें है–कहानियाँ, संवाद, नाटक, एकांकी, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र, निबंध, कविता आदि।

प्रश्न

1. भाषा की शिक्षा में पठन-शिक्षण का महत्त्व प्रतिपादित कीजिये।

2. "पढना एक संश्लिष्ट मानसिक क्रिया है।" इस कथन से आप क्या तात्पर्य समझते हैं?

3. पठन-शिक्षण के उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए।

4. पठन-प्रक्रिया के आधारभूत तत्त्व क्या हैं? उनके महत्त्व पर भी प्रकाश डालिए।

5. दृष्टि विराम एवं दृष्टि केन्द्र से क्या तात्पर्य है? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

6. माध्यमिक स्तर पर सस्वर पठन की अपेक्षा मौन पठन पर अधिक बल क्यों देना चाहिए?

7. सस्वर पठन को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए शिक्षक को क्या उपाय करने चाहिए ?

8. मौन पठन की उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

9. पठन-दक्षता के क्या लक्षण हैं ?

10. मौन पठन को सोद्देश्य बनाने की विधि क्या है ? उस दृष्टि से किन-किन योग्यताओं के विकास पर बल देना आवश्यक है ?

11. मौन पठन के संचालन और शिक्षण में किन-किन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है ?

12. बालकों की पठन-रुचि के विस्तार के लिए किस प्रकार की पाठ्य सामग्री आप देना चाहेंगे ? सोदाहरण लिखिए।

13
गद्य-शिक्षण

[गद्य-शिक्षण का महत्त्व । गद्य पाठों के प्रकार, गद्य पाठ-शिक्षण और पाठ-विकास के सोपान, माध्यमिक स्तर पर गद्य पाठ-शिक्षण का प्रारम्भ मौन पाठ से हो या आदर्श पाठ से, भाषा कार्य एवं भाव ग्रहण साथ-साथ हों या पृथक्-पृथक्, गद्य पाठ-शिक्षण में विविध सोपानों-विशिष्ट उद्देश्य, प्रस्तावना, प्रस्तुतीकरण, मौन पाठ, बोध-परीक्षण, भाषा-कार्य, स्पष्टीकरण, आदर्श पाठ, अनुकरण पाठ, पुनरावृत्ति, श्यामपट्ट लेख, गृहकार्य आदि—की क्रियाविधि]

"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक संभव होता है। इसीलिए गद्य शैली के विवेचक उदाहरणों के लिए निबन्ध ही चुना करते हैं।"[1]

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

गद्य-शिक्षण का महत्त्व :

हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग को गद्ययुग की संज्ञा प्रदान की जाती है। इसका कारण है—गद्य साहित्य की रचना का प्रचुर परिमाण एवं उसके विविध रूपों का विकास। हिन्दी साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आदिकाल से लेकर रीतिकाल के अंत तक (11वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी के मध्य तक) हिन्दी साहित्य मे कविता का ही पूर्ण साम्राज्य छाया हुआ था। किन्तु विगत सौ-सवा सौ वर्षों में ही गद्य साहित्य का क्षेत्र इतना विस्तीर्ण होता गया कि उसके प्रचुर परिमाण एवं तदन्तर्गत साहित्यिक अभिव्यक्ति की अनेकानेक विधाओं एवं शैलियों को देखते हुए आधुनिक युग को गद्ययुग कहना ही समीचीन सिद्ध होता है।

गद्य-साहित्य की विशालता एवं व्यापकता के अनेक कारण भी हैं। आधुनिक युग ज्ञान-विज्ञान के तीव्र विकास का युग है। सारा ज्ञानात्मक साहित्य-

1. आचार्य शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 482

इतिहास, दर्शन, राजनीति विज्ञान, अर्थविज्ञान, मनोविज्ञान, धर्म एवं नीतिशास्त्र, विज्ञान, प्राविधिक विषय, कला, कौशल, वाणिज्य, व्यवसाय आदि-गद्य मे ही है। वह कविता में संभव ही नही। हमारे समस्त सामाजिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, वाणिज्यिक, व्यावसायिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्रियाकलाप गद्य के ही माध्यम से सम्पन्न होते हैं, अतः तत्सम्बन्धी साहित्य गद्य में ही उपलब्ध है।

भावात्मक साहित्य की दृष्टि से भी गद्य का क्षेत्र अति व्यापक एवं नानारूपात्मक है। गद्य साहित्य की विभिन्न विधाओं एवं शैलियों पर दृष्टि डालने से गद्य की अभिव्यंजनात्मक विविधता एवं शक्ति का परिचय अपने-आप मिल जाता है। ये विधाएँ हैं—

निबन्ध, वर्णन, कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, आलोचना आदि।

इन साहित्यिक विधाओं एवं रूपों की अपनी-अपनी शैलियाँ हैं और प्रत्येक के अन्तर्गत अनेक शाखा-प्रतिशाखाएँ है। इन साहित्यिक विधाओं एवं शैलियों का परिचय गद्य-शिक्षण द्वारा ही संभव है।

ज्ञान-विज्ञान के परिचय की दृष्टि से गद्य-शिक्षण का विशेष महत्त्व है क्योंकि इसके माध्यम से जीवन और जगत के सभी पक्षों का ज्ञान बालकों को प्राप्त होता है। विषय-सामग्री की जितनी विविधता गद्य साहित्य में संभव है, उतनी कविता में संभव हो नही। ज्ञानोपलब्धि का साधन तो गद्य साहित्य ही है।

किसी समय यह माना जाता था कि हमारे बौद्धिक पक्ष की साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम गद्य है और भावात्मक पक्ष की साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम कविता है। गद्य विचार प्रधान साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है और कविता भाव प्रधान साहित्य का। गद्य अपेक्षाकृत बौद्धिक, सूचनात्मक, शुष्क और नीरस रचना है, पर कविता भावात्मक, रसात्मक, सरस और आह्लादकारी रचना है। पर यह मान्यता भी मिथ्या सिद्ध हो गई है। गद्य रचनाएँ भी रसात्मक होती हैं। कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी आदि तो रसात्मक होते ही है; यात्रा-वर्णन, जीवनी, निवन्ध आदि रचनाएँ भी रसात्मक शैली में लिखी जाती हैं। भावात्मक भाषा (इमोटिव्ह लैंग्वेज) पर कविता का ही एकाधिकार नहीं है। गद्य के माध्यम से भावात्मक एवं काव्यात्मक अभिव्यक्ति इतनी सरस, सशक्त, पुष्ट और प्रभावपूर्ण होने लगी है कि गद्य भी कविता के समान ही हृदय को स्पर्श करता है। प्रसाद, महादेवी, चतुरसेन शास्त्री, रायकृष्णदास, वियोगी हरि, डा० रघुवीरसिंह, वेनीपुरी, भँवरमल सिंघी आदि के गद्य साहित्य इसके प्रमाण हैं।

'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' उक्ति इस बात का प्रमाण है कि भाषा का जितना परिष्कृत, प्रांजल और परिनिष्ठित रूप गद्य में मिलता है, उतना पद्य में

नहीं। कविता में व्याकरण का उल्लंघन पाया जाता है, पर गद्यकार को तो भाषा की शुद्धता, स्वच्छता और उसके व्याकरण-सम्मत रूप का सदा ध्यान रखना पड़ता है। अतः भाषा के शुद्ध, परिनिष्ठित रूप का ज्ञान गद्य साहित्य के अध्ययन से ही संभव है।

कविता में हमारा ध्यान साहित्यिक सौन्दर्य तत्त्वों की ओर अधिक रहता है, अतः शिक्षण में भाषिक तत्त्वों की उपेक्षा स्वाभाविक है, पर गद्य-शिक्षण में भाषिक तत्त्वों का ज्ञान प्रदान करने का विशेष अवसर मिलता है। भाषिक तत्त्वों (शब्द भंडार की वृद्धि, शब्दों के शुद्ध उच्चारण, अर्थ, प्रयोग एवं रचना, वाक्य-रचना, अनुच्छेद रचना, मुहावरे, लोकोक्तियाँ आदि) के ज्ञान एवं भाषिक कौशलों के अभ्यास की दृष्टि से गद्य-शिक्षण की उपयोगिता सर्वमान्य है।

पठन-शिक्षण की दृष्टि से गद्य पाठों के प्रकार

पठन-शिक्षण का मुख्य आधार पाठ्य पुस्तक है। पाठ्य पुस्तकें भी दो प्रकार की होती हैं—

(1) गहन एवं सूक्ष्म अध्ययन के लिए।[2]

(2) द्रुत पाठ अथवा व्यापक पठन के लिए।[3]

इन दोनों का ही पठन-शिक्षण की दृष्टि से अपना-अपना महत्त्व है। गद्य की उपर्युक्त विधाओं में उपन्यास, जीवनी, आत्मकथा, सरल वर्णन आदि प्रायः द्रुतपाठ के रूप में पढ़ाए जाते हैं और निबन्ध गहन एवं सूक्ष्म अध्ययन के रूप में। पर इस नियम के अपवाद भी हो सकते हैं। अति सरल निबन्ध भी द्रुतपाठ के रूप में पढ़ाए जा सकते हैं। **वस्तुतः पाठ की विषय-सामग्री, भाषा और शैली देखकर ही शिक्षक निर्णय कर सकता है कि कौन पाठ सूक्ष्म अध्ययन के रूप में पढ़ाया जाय और कौन पाठ द्रुत पठन के रूप में।**

गद्य साहित्य की विधाओं में कहानी और नाटक की शैली का विशेष महत्त्व है और इस कारण उनकी शिक्षण-विधि भी अलग है। उस पर हम अगले अध्यायों में विचार करेंगे। गद्य-शिक्षण का तात्पर्य हमें निबन्ध या निबन्धात्मक शैली में लिखी गई रचनाओं से ही लेना चाहिए।

कक्षा 6, 7, 8 में भाषा की पाठ्य पुस्तक में सभी प्रकार के पाठ होते हैं—कहानी, एकांकी, निबन्ध, सरल विज्ञान विषयक पाठ, स्थान वर्णन, प्रकृति वर्णन, गृह-उद्योग सम्बन्धी पाठ, कल-कारखाने सम्बन्धी पाठ, जीवनी, यात्रा, संस्मरण, कविता आदि। इन पाठों का गहन अध्ययन अपेक्षित है, किन्तु इनमें अनेक ऐसे सरल पाठ हो सकते हैं जिन्हें शिक्षक द्रुतपाठ के रूप में पढ़ा सकता है।

---

2. Detailed Study or Intensive reading

3. Non-detailed Study or Extensive reading

उच्चतर माध्यमिक स्तर पर गद्य की पाठ्यपुस्तक अलग होती है और कविता की अलग। ये दोनों पुस्तकें गहन अध्ययन की पाठ्यपुस्तकें हैं। द्रुत पठन के लिए अलग से पुस्तकें होती हैं जैसे सरल उपन्यास, कहानी-संकलन, जीवनी-संकलन, एकांकी-संकलन, आत्मकथा आदि।

गहन अध्ययन में पाठान्तर्गत तथ्यों, भावों एवं विचारों के ग्रहण और विश्लेषण के साथ-साथ भाषिक तत्त्वों का भी विस्तृत अध्ययन आवश्यक है, अर्थात् विषय-सामग्री एवं भाषा के तत्त्व दोनों ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। व्यापक अथवा द्रुत पठन में छात्रों के स्वतन्त्र रूप से पढने की योग्यता उत्पन्न करना, पुस्तकालय का उपयोग करना, स्वाध्याय की आदत डालना आदि मुख्य शिक्षण-उद्देश्य हैं। निस्संदेह ही यह पठन मौन पठन होता है। इसमें बालकों के आत्म-प्रयत्न का महत्त्व अधिक है। शिक्षक आवश्यकतानुसार निर्देशन एवं पथ-प्रदर्शन करता रहता है।

प्रस्तुत अध्याय में हम गहन अध्ययन की दृष्टि से गद्य-पाठों के शिक्षण पर विचार करेंगे।

गद्य पाठ-शिक्षण और पाठ-विकास के सोपान

कक्षा में पाठ-शिक्षण की दृष्टि से सर्वप्रथम पाठ-विकास के विविध सोपानों पर ध्यान जाता है और प्रशिक्षण महाविद्यालयों के शिक्षक प्रशिक्षकों में इस विषय को लेकर अनेक विवाद उठते रहते हैं। गद्य पाठ-शिक्षण में शायद यह विवाद सबसे अधिक उठाया जाता है कि कौन सोपान पहले हो और कौन पीछे; व्यक्त या सस्वर पाठ कब हो, मौन पाठ कब हो, भाषा कार्य कब हो और किस प्रकार हो; भाषा कार्य, अर्थ ग्रहण एवं विचार-विश्लेपण साथ-साथ ही क्रमोत्तर रूप से होते चलें या सम्पूर्ण भाषाकार्य एक साथ सम्पन्न हो जाने के बाद अर्थ ग्रहण एवं विचार-विश्लेपण कराया जाये ?

इन विवादों को तूल देना व्यर्थ है। पाठ-शिक्षण का हमारा उद्देश्य तो यह होना चाहिए कि पाठांतर्गत कोई भी शिक्षण-बिन्दु छूटने न पाए, बालक सभी भाषिक एवं वैचारिक तत्त्वों से परिचित हो जायें और उनमें स्वयं पाठ पढने, विषय सामग्री ग्रहण करने, तद्विषयक चिन्तन करने, समीक्षा करने, नवीन कल्पना करने तथा भाषा शक्ति बढ़ाने की अभिवृत्ति उत्पन्न हो जाय। यदि क्रम पर थोड़ी देर के लिए ध्यान न दें तो गद्य पाठ की शिक्षण प्रक्रिया में निम्नांकित सोपान अनिवार्य से हैं—प्रस्तावना, प्रस्तुतीकरण, आदर्श पाठ, अनुकरण पाठ, मौन पाठ, बोध प्रश्न, भाषा-कार्य, अर्थग्रहण, विचार विश्लेपण, पुनरावृत्ति अथवा अनुमूल्यन, गृह कार्य।

माध्यमिक स्तर पर गद्य शिक्षण के इन सोपानों का दो प्रकार से क्रमायोजन पाया जाता है—

(1)	(2)
(i) सामान्य उद्देश्य	(i) सामान्य उद्देश्य
(ii) विशिष्ट उद्देश्य	(ii) विशिष्ट उद्देश्य
(iii) सहायक सामग्री	(iii) सहायक सामग्री
(iv) पूर्व ज्ञान	(iv) पूर्व ज्ञान
(v) प्रस्तावना	(v) प्रस्तावना
(vi) प्रस्तुतीकरण	(vi) प्रस्तुतीकरण
(vii) आदर्श पाठ (शिक्षक द्वारा)	(vii) मौन पाठ (छात्रों द्वारा)
(viii) अनुकरण पाठ (छात्रों द्वारा)	(viii) बोध प्रश्न अथवा केन्द्रीय भाव-परीक्षण
(ix) व्याख्या (शब्दार्थ, भाषा कार्य आदि)	(ix) भाषा कार्य, व्याख्या एवं स्पष्टीकरण (भाषा कार्य, भाव एवं विचार ग्रहण और विश्लेषण साथ-साथ क्रम से चलते रहेंगे)
(x) मौन पाठ	(x) आदर्श पाठ (शिक्षक द्वारा)
(xi) विवेचनात्मक प्रश्न	(xi) सस्वर या अनुकरण पाठ (छात्रों द्वारा)
(xii) अनुमूल्यन या पुनरावृत्ति	(xii) अनुमूल्यन या पुनरावृत्ति
(xiii) गृह कार्य	(xiii) गृह कार्य

उपर्युक्त दोनों क्रमों पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जाता है कि पठन सम्बन्धी क्रियाओं में कोई अन्तर नहीं है, भेद केवल क्रम का है। यह भेद केवल दो बातों को लेकर है—

(1) प्रस्तुतीकरण के पश्चात् गद्य शिक्षण का प्रारम्भ आदर्श पाठ से हो या मौन पाठ से।

(2) भाषा कार्य, स्पष्टीकरण, व्याख्या, विचार-विश्लेषण आदि साथ-साथ विषय सामग्री के उत्तरोत्तर विकास के अनुसार हों अथवा पहले सम्पूर्ण भाषा कार्य, मुख्यतः शब्दार्थ ज्ञान करा लिया जाय और फिर अर्थग्रहण एवं विचार-विश्लेषण कराया जाय।

इन दोनो मतभेदों पर संक्षेप में विचार कर लेना उचित होगा।

(1) माध्यमिक स्तर पर गद्य पाठ-शिक्षण मौन पाठ से प्रारम्भ हो या आदर्श पाठ से—प्राथमिक स्तर पर गद्य शिक्षण का प्रारम्भ आदर्श पाठ द्वारा ही होना चाहिए और इस मत से सभी भाषा शिक्षक सहमत है किन्तु माध्यमिक स्तर पर यह विवाद का विषय हो जाता है कि गद्य पाठ-शिक्षण आदर्श पाठ से प्रारम्भ करें या मौन पाठ से। इस सम्बन्ध में निम्नांकित बातें विचारणीय है—

(i) माध्यमिक स्तर पर पठन-शिक्षण का मुख्य उद्देश्य मौन पाठ की योग्यता प्राप्त करना और उसकी आदत सुदृढ़ करना है जिससे बालक त्वरित गति से पढ़ सके और तत्काल अर्थग्रहण भी कर सके। यदि गद्य-शिक्षण के प्रारम्भ में मौन पाठ का अवसर नहीं दिया जाता है और आदर्श पाठ, अनुकरण पाठ, शब्दार्थ एवं भाषा कार्य के पश्चात् मौन पाठ कराया जाता है तो वह मौन पाठ निरर्थक सा है; मौन पाठ का वास्तविक लक्ष्य ही (तीव्र गति से बोध के साथ पढ़ना) विफल हो जाता है क्योंकि बालक को पाठ्य सामग्री का बोध तो बहुत कुछ पहले ही हो चुका है और वह बिना एकाग्रचित्त हुए ही यांत्रिक रूप से मौन पाठ की रस्म अदा कर देता है। प्रारम्भ में मौन पाठ कराना इस दृष्टि से आवश्यक है कि वह अज्ञात एवं अपरिचित पाठ्य सामग्री स्वयं पढ़कर समझने का प्रयत्न करे और इसकी दक्षता के लिए अभ्यास करे।

(ii) गद्य शिक्षण का दूसरा मुख्य उद्देश्य तथ्यों, भावों एवं विचारों का ग्रहण एवं अनुशीलन करना है जिसका सर्वोत्तम साधन मौन पठन ही है, सस्वर पठन नहीं। इस सम्बन्ध में पठन-शिक्षण के सन्दर्भ में विस्तार से लिखा जा चुका है। यहाँ तक कि वे भाषा-शिक्षण विशेषज्ञ भी, जो आदर्श पाठ से गद्य पाठ प्रारम्भ करने के समर्थक है, मानते ही है कि "मौन वाचन के समय हमारा ध्यान केन्द्रित रहता है, इसलिए मन के द्वारा विषय का ग्रहण सफलतापूर्वक हो सकता है। यदि हम चाहते है कि छात्र गहन विचारों को समझ सकें, कठिन अनुच्छेदों का भाव ग्रहण कर सकें और किसी ग्रन्थ की आत्मा तक पहुँच सकें तो उन्हें मौनवाचन का प्रशिक्षण देना होगा। जीवन में भी हम देखते हैं कि मौन वाचन ही अधिक काम में आता है।"[4] यह मानते हुए भी मौन पाठ को केवल द्रुत पाठों के लिए ही उपयुक्त मानना और गहन एवं सूक्ष्म अध्ययन वाले पाठो का प्रारम्भ सस्वर पाठ द्वारा कराना कहाँ तक उचित है? मौन पाठ का उचित प्रशिक्षण और उसकी सार्थकता गहन अध्ययन वाले गद्य-पाठों में अधिक सिद्ध होती है।

(iii) मौन पाठ से गद्य-शिक्षण प्रारम्भ करने का विरोध इसलिए भी किया जाता है कि "पाठक कठिन शब्दों तथा गुंफित वाक्यों के अर्थों से परिचित नहीं, अतः पढ़ते हुए भी विचार ग्रहण नहीं कर सकते। वाचन में केवल पढ़ना-ही नहीं है, विचार ग्रहण करना भी सम्मिलित है। जब तक गद्यांश की व्याख्या नहीं होगी, तब तक मौन पाठ अधूरा रहेगा। वास्तव में व्याख्या के बाद ही मौन पाठ के लिए उपयुक्त अवसर है। उस दशा में मौन पाठ के बाद प्रश्न भी पूछे जा सकते हैं जिससे अध्यापक जाँच कर सके कि पाठक कहाँ तक विचार ग्रहण कर सकते है। जब तक व्याख्या नहीं होती, तब तक मौन पाठ और बोध परीक्षा व्यर्थ है। कठिन शब्दों तथा स्थलों की व्याख्या से पहले ही पाठकों से विचार ग्रहण करने की आशा रखना

4. भाई योगेन्द्र जीत—हिन्दी भाषा शिक्षण, पृ० 257

बड़ी भारी भूल है।"[5] इस कथन के अनुसार मौन पठन व्याख्या के बाद होना चाहिए। पर यह तर्क भी आपत्तिजनक है क्योंकि इस प्रकार के मौन पठन में स्वयं बोध ग्रहण करने के प्रयत्न का अभाव रहता है। यदि स्वयं समझते हुए पढ़ने का अभ्यास कराना है तो बालक को स्वयं पढ़कर समझने दीजिये। प्रारम्भिक दो-चार दिनों तक असफलता और निराशा का सामना करना पड़ सकता है, पर कुछ अभ्यास होते ही सफलता मिलने लगेगी।

यह कहना कि छात्र मौन पठन द्वारा पठित अंश का भाव नहीं ग्रहण कर सकते और आदर्श पठन, अनुकरण पठन एवं व्याख्या के बाद ही इस योग्य हो पाते है, उचित धारणा नहीं है। यदि वे प्रारम्भ में मौन पाठ द्वारा पठित अंश का केन्द्रीय भाव ग्रहण करने में कठिनाई भी अनुभव करें तो भी हमें उन्हे मौन पठन में प्रवृत्त करना चाहिए क्योंकि मौन पठन की दक्षता-प्राप्ति पठन-शिक्षण का सर्वोपरि उद्देश्य है।

मौन पठन का पूर्ण अभ्यास नहीं होने तक बालकों से केवल यही अपेक्षा की जाती है कि वे पठित अवतरण का मुख्य या केन्द्रीय भाव ग्रहण करने में योग्य हो सकें। इस मुख्य भाव-ग्रहण या बोध परीक्षण के बाद विस्तार से भाषा-कार्य, व्याख्या और विचार-विश्लेषण तो कराना ही है। यह देखा गया है कि कुछ दिनो के ही अभ्यास के बाद बालक इस बोध ग्रहण में इतने सक्षम हो जाते है कि वे यहाँ तक अनुमान कर लेते हैं कि शिक्षक किस प्रकार के बोध प्रश्न पूछेगा। इस कारण वे बड़े ध्यान से पढ़ते भी हैं। आत्म-प्रयत्न द्वारा बोध ग्रहण की सफलता पर उन्हें आत्म सन्तोष और गौरव का अनुभव भी होता है जिससे वे अधिकाधिक पठन के लिए प्रोत्साहित, प्रेरित और प्रयत्नशील होते हैं। अपरिचित पाठ्यसामग्री पढ़कर स्वयं ही भाव-बोध एवं विचार ग्रहण कर लेने की दक्षता प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन मौन पठन है।

(iv) वास्तविक विवाद यह नहीं है कि गद्य पाठ-शिक्षण के प्रारम्भ में आदर्श पाठ हो या मौन पाठ; प्रश्न तो यह है कि हमारा उद्देश्य क्या है? यदि माध्यमिक स्तर पर मौन पठन की दक्षता प्रदान करना हमारा उद्देश्य है तो मौन पाठ का

---

5. रघुनाथ सफाया—हिन्दी शिक्षण विधि, पृ० 193

स्थान प्रारम्भ में ही है। यदि सस्वर पाठ को ही पठन का साधन मानते रहेंगे और उसको प्रमुखता देते रहेंगे तो मौन पठन की दक्षता कभी भी प्राप्त नही होगी।[6]

(v) प्रारम्भ मे ही आदर्शपाठ प्रस्तुत करने पर तत्पश्चात् अनुकरण पाठ भी ठीक नहीं हो पाता, क्योंकि बालक प्रत्येक शब्द का शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारण केवल एक बार सुनने से ही नहीं कर पाता। पर शब्दार्थ, शब्द प्रयोग, व्याख्या आदि के प्रसंग में जब वह अपरिचित एवं उच्चारण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण शब्दों को अच्छी तरह जान लेता है, तब अनुकरण पाठ भी अच्छा होता है। अतः गद्य पाठ का प्रारम्भ मौन पाठ द्वारा होना चाहिए और अंत में प्रभावपूर्णता की दृष्टि से आदर्श पाठ एवं अनुकरण पाठ होने चाहिए।

(vi) मातृभाषा-शिक्षण में यह अपेक्षा की जाती है कि कक्षा 5 तक बालक पठन प्रक्रिया सम्बन्धी यान्त्रिकताओं (उच्चारण की शुद्धता और स्पष्टता, स्वराघात, आरोह-अवरोह, स्वर, यति, गति, लय, प्रवाह आदि) से भली-भाँति परिचित हो चुकेंगे। अतः कक्षा 6 से मौन पठन को अधिक महत्त्व मिलना ही चाहिए। इसके महत्त्व एवं कारणों पर पठन-शिक्षण के अध्याय में विस्तृत प्रकाश डाला जा चुका है।

(vii) यह कहा जाता है कि आदर्श पठन द्वारा गद्य-शिक्षण प्रारम्भ करने से कक्षा में सजीवता आ जाती है, शिक्षण का एक उपयुक्त वातावरण बन जाता है, पाठ्यसामग्री बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाती है और शिक्षण-कार्य सरल हो जाता है। परन्तु बालकों की पठन-दक्षता की दृष्टि से यह उचित नही है। सजीवता, सरलता और वातावरण-निर्माण की बात भी भ्रम है। अच्छी प्रस्तावना एवं प्रस्तुतीकरण द्वारा यदि बालकों को पाठ्यसामग्री पढ़ने के लिए उत्कंठित कर दिया जाय तो मौन पठन मे भी बालक आनन्द लेने लगते है। वास्तविक समस्या है पठन-क्रिया को सोद्देश्य बनाना। यह तो सही बात है कि आदर्श पठन से शिक्षण प्रारम्भ करना सरल साधन

---

6. शिक्षकों को प्रयोग एवं सफलता-असफलता के अनुभव के आधार पर मौन पठन या आदर्श पठन द्वारा गद्य-शिक्षण का प्रारम्भ करना चाहिये। सेण्ट्रल पेडागाजिकल इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद ने मौन पठन द्वारा गद्य शिक्षण को प्रारम्भ करने का सफल प्रयोग किया है। रीजनल कालेज ऑफ एजुकेशन, अजमेर, के बी.एड. लैंग्वेजेज के छात्र भी इसी विधि का प्रयोग विगत चार वर्ष से कर रहे है और राजस्थान के उन स्कूलो में, जहाँ आदर्श पाठ से ही गद्य-शिक्षण प्रारम्भ करने की परम्परा है, मौन पाठ द्वारा गद्य शिक्षण पर्याप्त सफल हुआ है। अन्यत्र भी प्रयोग द्वारा यह देखा गया है कि कुछ ही दिनों के अभ्यास से बालक बड़ी सरलतापूर्वक मौन पाठ द्वारा मुख्य भाव ग्रहण करने लगते हैं और बोध परीक्षा सम्बन्धी प्रश्नों के उचित उत्तर देने लगते है।

है पर सरलता की दृष्टि से तो पुरातन पद्धति और भी अच्छी थी जिसमें शिक्षक ही पढ़ता था, शब्दार्थ बताता था, व्याख्या करता था और छात्र अन्त तक श्रोता बने रहते थे। पर वह पद्धति सर्वथा अमनोवैज्ञानिक थी और उसमें छात्रों की क्रिया-शीलता एवं स्वयं-शिक्षा (सेल्फ एजुकेशन) का अभाव था। इसी कारण कहा जाता था कि 'बालकों की पठन-शिक्षा की जगह शिक्षकों की ही पठन-शिक्षा होती है।' अत: बालक स्वयं पढ़ें, यही मुख्य उद्देश्य है।

(viii) मौन पठन से गद्य-शिक्षण प्रारम्भ करने पर उच्चारण अभ्यास नहीं हो पाता, यह तर्क भी निराधार है। भाषा-कार्य, व्याख्या एवं स्पष्टीकरण में इसका पर्याप्त अवसर मिलता है और अंत में आदर्श पाठ एवं अनुकरण पाठ द्वारा उसका अभ्यास भी हो जाता है।

उपर्युक्त विवरण एवं तर्कों के आधार पर कहा जा सकता है कि कक्षा 6 से गद्य शिक्षण का प्रारम्भ मौन पठन से करना अधिक मनोवैज्ञानिक, सोद्देश्य और पठन-दक्षता प्राप्ति में उपयोगी सिद्ध होता है।

(2) भाषा कार्य, स्पष्टीकरण, व्याख्या, विचार-विश्लेषण आदि साथ-साथ विषय सामग्री के उत्तरोत्तर विकास के अनुसार हों अथवा पहले सम्पूर्ण भाषा-कार्य मुख्यत: शब्दार्थ ज्ञान करा लिया जाय और फिर अर्थग्रहण एवं विचार-विश्लेषण कराया जाय?

प्रशिक्षण महाविद्यालयों में निम्नांकित दोनों विधियाँ प्रचलित हैं—

(i) पाठांतर्गत सभी अपरिचित शब्दों के अर्थ छात्रों के सहयोग से स्पष्ट किए जाते हैं, प्रयोग, शब्द-रचना एवं भाषा सम्बन्धी कार्य पूरे कर लिए जाते है और फिर भाव, विचार आदि की व्याख्या की जाती है। पर, इस पद्धति में यह दोष है कि शब्द अपने संदर्भ से पृथक् हो जाते हैं और ऐसा लगता है कि यह पाठ शब्दार्थ-ज्ञान का पाठ है। सभी भाषा-शिक्षक यह मानते हैं कि शब्द का अपने संदर्भ से पृथक् कोई महत्त्व नहीं है और संदर्भ में ही उसका अर्थ बताना चाहिए।

(ii) दूसरी विधि यह है कि पाठ्यसामग्री में आए हुए कठिन शब्दों एवं मुहावरों का अर्थ क्रम से भाव एवं विचार-व्याख्या के ही प्रसंग में स्पष्ट कराया जाता है जिससे भाषा सम्बन्धी कठिनाई दूर होती चले और भाव एवं विचार भी स्पष्ट होते चलें। इस विधि में भाषा कार्य भावों एवं विचारों के स्पष्टीकरण के लिए साधन रूप में सम्पन्न होता चलता है।

भाषा सीखने की प्रकृति की दृष्टि से यह विधि अधिक वैज्ञानिक है।

गद्य शिक्षण सम्बन्धी पाठ संकेत या पाठ-योजना में विविध सोपानों की क्रियाविधि

गद्य शिक्षण सम्बन्धी विविध सोपानों का उल्लेख किया जा चुका है। उनके क्रम में किंचित मतभेद अवश्य है, पर वे सभी सोपान पाठ-विकास की दृष्टि से आवश्यक हैं, यह सर्वमान्य है। अत: क्रियाविधि की दृष्टि से उन पर पृथक्-पृथक्

विचार कर लेना आवश्यक है। उनका क्रमायोजन शिक्षक पर ही छोड़ना अधिक संगत है।[7]

(1) **सामान्य उद्देश्य**—पठन-शिक्षण सम्बन्धी जिन अपेक्षित योग्यताओं का उल्लेख पूर्व अध्याय में किया जा चुका है, उन योग्यताओं की प्राप्ति ही गद्य-शिक्षण के सामान्य उद्देश्य हैं। किन्तु पाठ-संकेत में उन सभी का उल्लेख आवश्यक नहीं। उनका संक्षिप्त संकेत दिया जा सकता है; जैसे—

(i) अर्थ ग्रहण करते हुए त्वरित गति से मौन पठन की योग्यता प्राप्त करना।

(ii) शुद्ध उच्चारण, सम्यक् स्वराघात, ध्वनि का आरोह-अवरोह, भावाभिव्यंजन की स्पष्टता, विराम एवं गति का ध्यान रखते हुए व्यक्त पठन की योग्यता प्राप्त करना।

(iii) पठित अंश के भावों एवं विचारों को ग्रहण करने तथा व्यक्त करने की योग्यता प्राप्त करना।

(iv) शब्द भंडार, सूक्तियों एवं मुहावरों की अभिवृद्धि तथा उनके यथोचित प्रयोग की योग्यता प्राप्त करना।

(v) स्वाध्याय-रुचि एवं साहित्य-प्रेम विकसित करते हुए साहित्यिक सौंदर्य बोध एवं समीक्षा शक्ति का विकास करना।

गद्य शिक्षण सम्बन्धी सामान्य उद्देश्यों का उल्लेख पाठ संकेतों में अनावश्यक सा है। आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों का कहना है कि पाठ सम्बन्धी विशिष्ट उद्देश्यों का ही उल्लेख होना चाहिए क्योंकि सामान्य उद्देश्य तो सभी गद्य-पाठों में एक ही समान है। विशिष्ट उद्देश्य ही प्रस्तुत पाठ से सम्बन्धित होते है। अतः सामान्य उद्देश्य लिखना अनावश्यक है।

(2) **विशिष्ट उद्देश्य**—प्रत्येक पाठ के विशिष्ट उद्देश्यों का उल्लेख आवश्यक है। विशिष्ट उद्देश्यों के निर्धारण में प्रस्तुत पाठ के सभी शिक्षण विन्दुओं का ध्यान रखना भी आवश्यक होता है। ये उद्देश्य निम्नांकित क्रम से लिखे जा सकते हैं—

(i) **भाषिक तत्त्वों का ज्ञान**—इसके अन्तर्गत उच्चारण, शब्दार्थ, शब्द प्रयोग, शब्द रचना-संधि, समास, उपसर्ग, प्रत्यय आदि का उल्लेख।

(ii) **विषय सामग्री का बोध**—पाठांतर्गत प्रमुख तथ्यो, भावों एवं विचारों का उल्लेख।

(iii) **विचार विश्लेषण अथवा अर्थ ग्रहण**—समीक्षात्मक एवं सराहना की दृष्टि से आवश्यक उद्देश्यों का उल्लेख।

---

7. परिशिष्ट में गद्य शिक्षण की पाठ योजनाओं में दोनों क्रमों पर आधारित उदाहरण प्रस्तुत है।

(iv) अभिव्यक्ति—प्रमुख भावों, विचारों की अभिव्यक्ति सम्बन्धी उद्देश्यों का उल्लेख।

(3) सहायक सामग्री—यदि शिक्षण के लिए किसी सामग्री का प्रयोग करना है, तो उसका उल्लेख; अन्यथा इस शीर्षक की आवश्यकता नहीं। खड़िया, डस्टर, श्यामपट्ट आदि को सहायक सामग्री के रूप में लिखना उचित नहीं है, वे तो प्रतिदिन शिक्षण के लिए आवश्यक ही हैं।

(4) पूर्वज्ञान—छात्रों के उस पूर्वज्ञान का उल्लेख जिसे आधार बनाकर प्रस्तुत पाठ प्रस्तावित किया जा सकता है।

(5) प्रस्तावना—वास्तविक शिक्षण प्रस्तावना से ही प्रारम्भ होता है। उपर्युक्त चार सोपान पाठ सम्बन्धी जानकारी देने के लिए लिखे जाते हैं। अतः प्रस्तावना रोचक, सजीव और अभिप्रेरक होनी चाहिए। इसका मुख्य उद्देश्य बालक को प्रस्तुत पाठ पढ़ने के लिए उत्कंठित करना है। प्रस्तावना में प्रायः ऐसे प्रेरणात्मक प्रश्न पूछे जाते है कि बालक प्रस्तुत पाठ पढ़ने के लिए स्वतः उत्सुक हो जाते है। प्रस्तावना की अनेक विधियाँ हो सकती हैं—

(i) पूर्वज्ञान पर आधारित प्रश्नो द्वारा।

(ii) शिक्षोपकरणों की सहायता से (कक्षा 6–7 तक)

(iii) लेखक के परिचय द्वारा।

(iv) प्रस्तुत पाठ सम्बन्धी रोचक एवं सजीव वर्णन, प्रसंग-कथन, अंतः कथा (यदि कोई है) आदि द्वारा।

(v) यदि पाठ का कुछ अंश पहले पढ़ाया जा चुका है, तो पठित अंश पर आधारित प्रश्नो द्वारा।

प्रेरणात्मक प्रश्न, समस्या प्रस्तुत करने वाले प्रश्न प्रस्तावना की दृष्टि से विशेष उपयोगी सिद्ध होते हैं।

(6) प्रस्तुतीकरण—प्रस्तावना के पश्चात् सोद्देश्य पठन की दृष्टि से पढ़े जाने वाले पाठ या पाठांश को प्रस्तुत करना।

(7) मौन पाठ—कक्षा 6 से प्रस्तुतीकरण के पश्चात् मौन पठन कराया जा सकता है जिससे बालकों को इसी समय से पठन-दक्षता के लिए प्रशिक्षित किया जा सके। कुछ अत्यधिक कठिन पाठो में, उसे सरल बनाने की दृष्टि से व्यक्त पठन भी हो सकता है, पर सामान्य रूप से मौन पठन से पाठ प्रारम्भ करना उपयुक्त होगा।

मौन पठन का मुख्य उद्देश्य है—बालकों में स्वयं भाव ग्रहण करने, विचार विश्लेषण करने और अध्ययन की कला मे दक्षता प्रदान करने की योग्यता का विकास करना। प्रस्तुतीकरण के समय ही बालको को निर्देशित करना चाहिए कि अमुक प्रश्न या समस्या के उत्तर ढूँढ़ने के लिए अथवा अमुक जानकारी के लिए प्रस्तुत पाठ को वे पढ़े।

मौन पाठ के समय शिक्षक निरीक्षण करता रहेगा कि वालक उचित आसन एवं मुद्रा में, उचित रीति से (विना ओठ हिलाए या बुदबुदाए) मनयोग पूर्वक पढ़ रहे है या नही और तदनुसार उचित निर्देश देगा।

(8) **बोध प्रश्न**—केन्द्रीय भाव ग्रहण सम्बन्धी दो-तीन प्रश्न पर्याप्त हैं। इससे छात्रों की योग्यता, ग्रहणशीलता, प्रस्तुत पाठ सम्बन्धी कठिनाई आदि को शिक्षक समझ लेता है।

(9) **भाषा कार्य, व्याख्या एवं विचार विश्लेषण**—इसके अन्तर्गत विस्तार से शब्दार्थ, शब्द प्रयोग, उच्चारण-प्रशिक्षण, प्रस्तुत-अप्रस्तुत अर्थ, अर्थ-ग्रहण, विचार-विश्लेषण, साहित्यिक सौन्दर्य तत्त्वों का वोध, सराहना आदि के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर प्रणाली से शिक्षण-कार्य सम्पन्न होना चाहिए। शिक्षक आवश्यकतानुसार प्रेरणात्मक एवं पाठ-विकासात्मक प्रश्न पूछेगा और छात्रों से अभीष्ट उत्तर प्राप्त करते हुए आगे वढता चलेगा। पाठ विकास का यह सोपान सवसे महत्त्वपर्ण है।

इस सोपान के मुख्यत: दो अंग हैं (क) **भाषा कार्य** एवं (ख) **विषय सामग्री सम्बन्धी योग्यता**।

(क) भाषा कार्य में शब्द भंडार की अभिवृद्धि मुख्य कार्य है। पाठ में आए हुए कठिन एवं अपरिचित शब्दों के आधार पर शिक्षक इसका प्रयत्न करता है। इसकी अनेक विधियाँ है[8]—

(i) **पर्याय तथा समानार्थी शब्द**—शब्दार्थ वताने की परम्परागत विधि यही है, जैसे भास्कर–सूर्य, वसुन्धरा–पृथ्वी। पर्यायवाची शब्दो के ज्ञान से वालको के शब्द भंडार की अभिवृद्धि होती है। इन समानार्थी शब्दो के सूक्ष्म अंतर को भी यथा प्रसग स्पष्ट कर देना चाहिए।

(ii) **अनेकार्थी शब्दों का ज्ञान**—जहाँ एक शब्द के अनेक अर्थ होते है, वहाँ प्रस्तुत प्रसंग के अनुसार शब्द का अर्थ विशेष रूप से वताना चाहिए और आवश्यकतानुसार अन्य अर्थ भी वता देने चाहिए, जैसे, कर–किरण, हाथ, सारंग–कमल, मुरली–मृग आदि।

(iii) **सहचर शब्द**—सहचर शब्द कभी विपरीतार्थक, जैसे, हर्ष–विषाद, कभी मिलते-जुलते अर्थ वाले, जैसे, ईर्ष्या-द्वेष, अन्वेषण-आविष्कार, कभी भिन्नार्थक पर समानप्राय उच्चरित, जैसे, अनल–अनिल आदि रूपों में आते है। इनके अर्थ स्पष्ट हो जाने चाहिए। ऐसे युग्म शब्दों का उल्लेख शब्द-शिक्षण के अध्याय में किया जा चुका है।

---

8. इस सम्बन्ध में विस्तार से शब्द-शिक्षण के अध्याय मे लिखा जा चुका है। यहाँ संकेत मात्र ही यथेष्ट है।

(iv) **विलोमार्थी शब्द**—अनुराग-विराग, सुमति–कुमति, मन्द–तीव्र, पक्ष-विपक्ष आदि शब्दों के रूप में अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। पाठ मे आए हुए ऐसे शब्दो के विलोम बताने चाहिए।

(v) **शब्द-रचना या खण्ड द्वारा**—उपसर्ग, प्रत्यय, संधि, समास आदि द्वारा शब्द रचना कराना या खंड करके अर्थ स्पष्ट करना, एक शब्द के आधार पर वैसे ही बने हुए दूसरे शब्दो के उदाहरण देना।

(vi) **वाक्य प्रयोग द्वारा**—शब्द का वाक्य में प्रयोग करके अथवा छात्रों से कराकर अर्थ स्पष्ट करना और शब्द प्रयोग के अभ्यास का अवसर देना।

(vii) **प्रतीकात्मक या रूपक शब्दों की व्याख्या**—ऐसे शब्दो का अर्थ व्याख्या द्वारा स्पष्ट किया जाय, जैसे, उषा-प्रसन्नता या प्रफुल्लता, रात्रि–दुःख, अंधकार-अज्ञान, प्रकाश–सुख या ज्ञान आदि।

(viii) **व्याख्या, परिभाषा और उदाहरण द्वारा**—अध्यात्म, पुरुषार्थ, निर्वाण आदि शब्दो को व्याख्या द्वारा ही स्पष्ट किया जा सकता है।

(ix) **व्युत्पत्ति द्वारा**—कुछ शब्दों का अर्थ उनके मूल रूप को, जिनसे वे निकाले हैं, सामने रखकर स्पष्ट किया जा सकता है।

(x) **मुहावरों कहावतों** आदि का अर्थ और प्रयोग दोनो ही आवश्यक है।

(xi) **भाषांतर द्वारा**—दूसरी भाषा के कठिन शब्दों को मातृभाषा के समानार्थी शब्द द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। छात्रों द्वारा शब्दो के प्रयोग और सादृश्य के आधार पर शब्द रचना का अभ्यास आवश्यक है। बालक स्वयं प्रयोग करे, उदाहरण दें, रिक्त पूर्ति करें, शुद्ध-अशुद्ध बता सकें, सत्यासत्य का निर्णय कर सकें, इन बातों पर शिक्षक को विशेष बल देना चाहिए।

(ख) **विषय सामग्री सम्बन्धी योग्यता**—इसके अन्तर्गत वस्तुबोध, व्याख्या, स्पष्टीकरण, विचार विश्लेषण, सराहना, समीक्षा आदि सम्बन्धी प्रश्न आते है। सामान्य अर्थ के साथ-साथ विशेष एवं लाक्षणिक अर्थों को भी स्पष्ट कराने का प्रयत्न करना चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि सभी तथ्य, भाव, विचार आदि बालक हृदयंगम कर सकें। यदि छात्र विविध अर्थान्वितियो को पृथक्-पृथक् स्पष्ट कर सकें, पठित सामग्री की विचार-शृंखला बता सकें, यथा प्रसंग अंतःकथाओं को जान सकें, शीर्षक दे सकें, सारांश बता सकें, अपने शब्दों मे भावार्थ प्रकट कर सकें, चरित्र चित्रण (यदि है तो) कर सकें, घटना का विवरण या वर्णन प्रस्तुत कर सकें, भाव एवं विचार सौन्दर्य को परख सकें, मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सकें और भावानुभूति कर सकें, समीक्षात्मक एवं सराहना सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर दे सकें, तभी समझना चाहिए कि पठन सफल हुआ है।

विषय सामग्री के बोध में व्याख्या का विशेष महत्त्व है। भाषा एवं अर्थ की दृष्टि से किसी कठिन बात को सरल करके समझाना ही व्याख्या है। पाठ में आई

हुई प्रत्येक कठिनाई या जटिलता को इस रूप में स्पष्ट करना कि बालक उसे तत्काल ग्रहण कर लें, व्याख्या का उद्देश्य है। भाषा के पाठों में शाब्दिक कठिनाइयों को समझने के साथ-साथ भावों एवं विचारों की कठिनाइयाँ भी सुलझानी पड़ती है।

व्याख्या करने में वही शिक्षक सफल होता है जिसका भाषा पर अधिकार हो और जिसका शब्द भंडार प्रचुर एवं व्यापक हो। उसे विषय का अच्छा ज्ञान हो और अन्य विषयों का भी सामान्य ज्ञान हो जिसका समय पर उपयोग कर सके। व्याख्या करने में निम्नांकित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

(i) व्याख्या करने में सरल भाषा का प्रयोग अपेक्षित है अन्यथा व्याख्या का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। कुछ शिक्षकों में व्याख्या करते समय भी श्लिष्ट शब्दावली के प्रयोग का मोह बना रहता है। यह दृष्टिकोण सर्वथा त्याज्य है। सरल एवं छोटे-छोटे वाक्यों मे व्याख्या प्रस्तुत करने से बालक आसानी से विचारों एवं भावो को ग्रहण कर लेते हैं।

(ii) व्याख्या स्पष्ट, क्रमयुक्त एवं सुसम्बद्ध हो। बालकों की योग्यता एवं ग्राह्यता को ध्यान में रखकर व्याख्या करनी चाहिए।

(iii) व्याख्या न तो इतनी लम्बी हो कि अनावश्यक आवृत्ति हो और न इतनी संक्षिप्त कि कठिनाई ही न सुलझ सके। प्रसंगानुकूल उचित मात्रा में व्याख्या होनी चाहिए।

(iv) जो बातें बालक स्वयं समझ सकते हैं, उनकी व्याख्या अनावश्यक है। शिक्षक प्रश्नों द्वारा समझ सकता है कि बालक कहाँ समझ रहे हैं और कहाँ नहीं समझ रहे है। व्याख्या करने के पहले विचार-प्रेरक प्रश्नों द्वारा छात्रों को स्वयं अर्थ एवं भाव ग्रहण करने के लिए उद्बुद्ध करना चाहिए। यदि वे स्वयं ही अर्थ निकाल लेते हैं तो उन्हें बहुत आनन्द आता है। इस पर भी यदि पूरी बात स्पष्ट न हो तो व्याख्या अवश्य करनी चाहिए।

(v) व्याख्या को रोचक एवं सजीव बनाने के लिए आवश्यक उदाहरणों एवं दृष्टान्तो का प्रयोग करना चाहिए।

(vi) व्याख्या के बीच-बीच में छात्रों को प्रश्न पूछने अथवा अपनी कठिनाई प्रस्तुत करने का अवसर देना चाहिए। विद्यार्थियों की शंकाओं का निराकरण करने से व्याख्या सरल और सुग्राह्य हो जाती है।

(vii) व्याख्या करते समय बालकों का ध्यान मुख्य-विषय, प्रसंग या स्थल की ओर आकृष्ट करना चाहिए।

(viii) व्याख्या उपदेशात्मक नहीं होनी चाहिए। वह विषय को स्पष्ट करने का एक साधन या युक्ति मात्र है, स्वतः कोई साध्य नहीं है।

(ix) व्याख्या के उपरांत प्रश्नों द्वारा यह जाँच कर लेनी चाहिए कि छात्रों ने समझ लिया है। यदि कुछ कमी प्रतीत हो तो पुनः समझा देना चाहिए।

यह ध्यान रखना चाहिए कि शब्दार्थ तथा भाषा-कार्य इस वस्तु बोध एवं विचार-विश्लेषण के सहायक है। अतः दोनों कार्य एक संगति एवं क्रमायोजित रूप में हों। एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र इनका कोई अस्तित्व नही। अतः पाठ-विकास में दोनों कार्य यथाक्रम साथ-साथ चलते रहेंगे।

(10) शिक्षक द्वारा आदर्श पाठ—सस्वर पाठ की विशेषताओं का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उन सभी बातों का ध्यान रखते हुए शिक्षक आदर्श पाठ प्रस्तुत करेगा। प्रभावान्विति की दृष्टि से इस आदर्श पाठ का विशेष महत्त्व है।

(11) अनुकरण पाठ—विद्यार्थी सस्वर पाठ करेंगे। तीन-चार विद्यार्थियों को यह अवसर दिया जा सकता है। शिक्षक का आदर्श पाठ उनके लिए उचित पथ-प्रदर्शन का काम करता है।

(गद्य पाठ प्राय: दो अन्वितियों में पढ़ाया जाता है। प्रथम अन्विति पढ़ा लेने पर द्वितीय अन्विति भी इसी प्रकार अर्थात् मौन पाठ, भाषा कार्य, व्याख्या एवं स्पष्टीकरण, आदर्श पाठ, अनुकरण पाठ के सोपानों द्वारा पढ़ा ली जाएगी। फिर निम्नांकित सोपानों का प्रयोग किया जायेगा।)

(12) पुनरावृत्ति अथवा अनुमूल्यन—पाठ-शिक्षणोपरांत सम्पूर्ण पाठ पर आधारित कुछ प्रश्नों द्वारा बालकों के वस्तु बोध एवं अर्जित भाषा-ज्ञान के परीक्षण के लिए प्रश्न पूछे जाते हैं। ये प्रश्न पाठ-विकास के समय पूछे गए प्रश्नों से भिन्न होते है। वस्तुनिष्ठ एवं संक्षिप्त उत्तर वाले प्रश्न अधिक उपयोगी होते हैं। समीक्षात्मक एवं बालकों की कल्पना प्रवणता को उद्रिक्त करने वाले प्रश्न भी अवश्य पूछने चाहिए।

(13) श्यामपट्ट लेख—पाठ-विकास के साथ-साथ बताए गए शब्द, अर्थ, प्रयोग, विशिष्ट तथ्य या विचार आदि का उल्लेख श्यामपट्ट पर किया जाता है। छात्र इन्हें अपनी कापी में लिख लेते हैं।

(14) गृहकार्य—प्रस्तुत पाठ सम्बन्धी कार्य जैसे शब्द रचना, प्रयोग, भावाभिव्यक्ति, सारांश आदि घर से पूरा कर लेने के लिए छात्रों को दिया जाता है। इसका मुख्य उद्देश्य प्रस्तुत पाठ से प्राप्त ज्ञान को स्थायी बनाना है। पाठ से सम्बन्धित सहायक पुस्तक का पठन या स्वतन्त्र रूप से लिखने का काम भी दिया जा सकता है। रस्म अदायगी के लिए गृहकार्य देना आवश्यक है। गृहकार्य की जाँच करना शिक्षक का आवश्यक कर्त्तव्य है।

सारांश

गद्य साहित्य की अनेक विधाएँ है—निबन्ध, वर्णन, कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, आलोचना आदि।

गद्य-शिक्षण का महत्त्व ज्ञान-विज्ञान के परिचय के साथ-साथ भावात्मक दृष्टि से भी है। भाषा के शुद्ध, परिनिष्ठित रूप का ज्ञान गद्य साहित्य के अध्ययन से ही संभव है।

पठन की दृष्टि से गद्य पाठ दो प्रकार के हैं—गहन अध्ययन की दृष्टि से और द्रुतपाठ अथवा व्यापक पठन की दृष्टि से। पाठ की विषय-सामग्री, भाषा और शैली देखकर शिक्षक निर्णय कर सकता है कि कौन पाठ सूक्ष्म अध्ययन के रूप में पढ़ाया जाय और कौन पाठ द्रुत पठन के रूप में।

गद्य पाठ-शिक्षण में निम्नांकित सोपानों का अनुसरण किया जाता है—विशिष्ट उद्देश्य (विषय सामग्री एवं भाषा कार्य दोनों दृष्टियों से), सहायक सामग्री, पूर्वज्ञान, प्रस्तावना, प्रस्तुतीकरण, मौनपाठ, बोध प्रश्न, भाषा कार्य, व्याख्या एव विचार विश्लेषण, आदर्श पाठ, अनुकरण पाठ, पुनरावृत्ति अथवा अनुमूल्यन, श्यामपट्ट लेख, गृहकार्य।

प्रस्तुतीकरण के पश्चात् मौन पाठ की जगह आदर्श पाठ द्वारा भी गद्य शिक्षण प्रारम्भ किया जाता है, पर मौन पाठ-दक्षता के लिए मौन पाठ को प्रमुखता देना आवश्यक है। बहुत कठिन गद्यांशों के पढ़ाने में हम आदर्श पाठ को मौन पाठ की जगह अपना सकते हैं।

प्रश्न

1. गद्य शिक्षण द्वारा बालकों में कौन-कौन सी योग्यताएँ विकसित करना अपेक्षित है ?

2. गद्य-शिक्षण के सोपानों का उल्लेख कीजिए और उनके उचित क्रमायोजन पर भी विचार कीजिए।

3. आप गद्य-शिक्षण में प्रस्तुतीकरण के बाद मौन पाठ आवश्यक समझते हैं या आदर्श पाठ ? तर्क सहित उत्तर लिखिए।

4. गद्य-शिक्षण में शब्दार्थ एवं शब्द भंडार वृद्धि के लिए किन-किन युक्तियों का प्रयोग किया जाता है ? उदाहरण भी दीजिए।

5. निम्नांकित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) व्याख्या, (ख) गहन अध्ययन, (ग) द्रुत पठन, (घ) सस्वर पाठ एवं मौन पठन का सापेक्षिक महत्त्व।

14
सहायक पुस्तकें एवं द्रुत पाठ-शिक्षण

[द्रुतपठन का महत्त्व, द्रुत पाठ-शिक्षण के उद्देश्य, द्रुत पाठ-शिक्षण की दृष्टि से उपयुक्त शैक्षणिक स्तर, सहायक पुस्तकों का चयन, स्वाध्याय की आदत एव पठन-रुचि का विस्तार, शिक्षण-सोपान]

"पढ़ो, पढ़ो, कुछ और पढो, कुछ भी पढ़ो, प्रत्येक वस्तु के विषय में पढो। मनोरंजन सामग्री पढो, जो तुम्हें रुचिकर हो वह पढ़ो, पढ़ो और पठित सामग्री के विषय में चर्चा करो, कुछ चीजें सावधानी के साथ पढ़ो, अधिकांश चीजें सरसरी रूप से पढो, पढने के विषय मे सोचो मत, वस पढ़ो।" —कॉटन डैना

गद्य-शिक्षण के प्रसंग में लिखा जा चुका है कि माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक स्तर पर दो प्रकार की पाठ्यपुस्तकें होती है—एक गहन-शिक्षण के लिए और दूसरी द्रुत या व्यापक पठन के लिए। सहायक पुस्तकें या पूरक पाठ्यपुस्तकें द्रुत या व्यापक पठन के लिए ही रखी जाती हैं। इसकी शिक्षण-विधि गहन अध्ययन के पाठो से भिन्न है। गहन अध्ययन के लिए निर्धारित पाठ्यपुस्तक में भी कोई सरल पाठ है और वालक उन्हें स्वयं समझ सकते है तो उन्हें द्रुत पाठ के रूप में ही पढ़ना चाहिए न कि गहन पाठ के रूप में।

वालको की भाषा-योग्यता का विकास केवल पाठ्यपुस्तक से ही संभव नहीं। अतः सहायक पुस्तको एव द्रुतपाठों के शिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। ये पुस्तकें या पाठ ऐसे होते है जिन्हें वालक स्वयं पढ़कर समझ सके। समय, श्रम और शक्ति की वचत के लिए द्रुत पठन का अभ्यास आवश्यक है।

द्रुत पठन का महत्त्व

(i) परिचित किन्तु निष्क्रिय शव्द भण्डार सक्रिय शव्द भण्डार में परिणत होता है। वालकों के शव्द भण्डार में कुछ शव्द ऐसे होते हैं जिनका वे अपनी भावाभिव्यक्ति में स्वाभाविक रूप से प्रयोग करते है। ऐसी शव्दावली को **सक्रिय शव्दावली** (Active Vocabulary) कहते है। किन्तु अनेक शव्द ऐसे होते है जिनका अर्थ वालक समझता है, पर प्रयोग नहीं करता। ऐसी शव्दावली को **निष्क्रिय शव्दावली** (Passive Vocabulary) कहते है। द्रुत पठन में ये शव्द भी वार-वार प्रयुक्त होते

(v) इन पुस्तकों का मुद्रण अच्छा हो, यथावश्यक चित्रों का प्रयोग हो और मुखपृष्ठ आकर्षक हो।

स्वाध्याय की आदत एवं पठन रुचि का विस्तार—यह लिखा जा चुका है कि सहायक पुस्तकों एवं द्रुत पाठों के शिक्षण का उद्देश्य स्वाध्याय की आदत डालना और पठन रुचि का विस्तार करना है। इसके लिए नीचे लिखे उपाय करने चाहिए—

शिक्षक को चाहिए कि सहायक पाठ्यपुस्तक पढ़ाते समय यथाप्रसंग ऐसी अन्य पुस्तकों के भी पढ़ने का निर्देश करे जो उस प्रसंग पर विस्तृत विवरण दे सकें। ये पुस्तकें कहाँ मिलेंगी, यह भी बताएँ और आवश्यकतानुसार पुस्तकालय में जाकर पुस्तकें ढूँढ़ने और निकलवाने मे मदद भी करे। बालकों को इन अपठित एवं सहायक पुस्तकों के अध्ययन के लिए सदा प्रोत्साहित करते रहना चाहिए।

अनेक ऐतिहासिक नाम, यात्राप्रसंग, खोजपूर्ण एवं साहसिक गाथाएँ, महापुरुषों के जीवन की घटनाएँ, वैज्ञानिक आविष्कार, भौगोलिक विवरण आदि नाना प्रकार के प्रसंग शिक्षण के समय उठते रहते हैं। इन प्रसंगों पर अच्छी पुस्तकों का सुझाव देना और उन्हें पढने के लिए प्रोत्साहित करना शिक्षक का कर्तव्य है। शिक्षक के पास ऐसी पुस्तकों की सूची अवश्य होनी चाहिए।

कक्षा में सामान्य ज्ञान सम्बन्धी बातें विद्यार्थियों से पूछी जायँ और जो छात्र उत्तर दें, उन्हें और भी प्रोत्साहित किया जाय। इस प्रकार स्पर्द्धाशक्ति उत्पन्न करके विद्यार्थियों को सहायक पुस्तकों के अध्ययन के लिए प्रेरित किया जाय। उन्हें आवश्यक तथ्यों की जानकारी के लिए उत्सुक और जिज्ञासु बनाया जाय और रुचि वर्द्धक पुस्तकों को पढने के लिए कहा जाय।

शिक्षक को स्वयं समय-समय पर ऐसी पुस्तकों से कोई प्रसिद्ध कथन, रोचक-विवरण और मर्मस्पर्शी स्थल पढ़ कर सुनाना चाहिए। बालकों को सहायक पुस्तकें पढ़ने का ढंग बताना चाहिए और उदाहरण भी देने चाहिए कि उस पुस्तक में क्या स्मरण करने योग्य है और किसी पुस्तक को पढ़कर सारांश कैसे तैयार किया जा सकता है। नोट करने की प्रवृत्ति भी उत्पन्न करनी चाहिए। अच्छा तो यह होता है कि कुछ प्रश्न देकर उनके उत्तर ढूँढ़ने के लिए पुस्तक पढ़ने को कहा जाए। किसी रूपरेखा या संकेत के आधार पर भी पुस्तक पढ़ने के लिए कहा जा सकता है। समय-समय पर पढ़ी हुई पुस्तक के आधार पर छात्रों की परीक्षा भी लेनी चाहिए कि उन्हें कहाँ तक वस्तु-ज्ञान या अर्थग्रहण हुआ है। इससे विद्यार्थी सजग, तत्पर और अध्ययन-संलग्न बने रहते हैं।

पुस्तकों के आवश्यक एवं उपयोगी स्थल कण्ठस्थ करने की भी प्रेरणा देनी चाहिए। यह तभी संभव है जब शिक्षक स्वयं इन पुस्तकों से अभिज्ञ हो और उनकी सामग्री का यथा अवसर उल्लेख कर सकने मे समर्थ हो।

शिक्षण सोपान

गहन अध्ययन के गद्यपाठों से द्रुत पठन का शिक्षण कुछ भिन्न होगा, क्योंकि इसका उद्देश्य व्याख्या एवं भाषाकार्य की गहराई में न जाकर सवेग मौन पठन द्वारा तत्काल बोध ग्रहण की योग्यता उत्पन्न करना है। आदर्श पाठ के लिए भी द्रुत पठन में स्थान नहीं है। यदि कोई स्थल बहुत ही भावपूर्ण है तो उतना अंश सस्वर पाठ द्वारा भी पढा जा सकता है। अतः द्रुत पाठों में शिक्षण-सोपान सामान्यतः इस प्रकार होंगे :—

(i) **प्रस्तावना**—गद्य पाठों की ही भाँति।

(ii) **प्रस्तुतीकरण**—उद्देश्य बताते हुए उसके प्रकाश में पढ़ने के लिए पाठ प्रस्तुत करना (पाठ को दो या तीन अन्वितियों में बाँटकर क्रम से प्रत्येक अन्विति पढ़ायी जायगी)।

(iii) **मौन पाठ**—छात्रों द्वारा।

(iv) **बोध-परीक्षण**—पठित अंश पर आधारित तथ्य, भाव, विचार आदि से सम्बन्धित प्रश्नों द्वारा छात्रों के वस्तुग्रहण एवं अर्थग्रहण की जाँच। द्रुत पाठों में भाषा-शिक्षण जैसे शब्दार्थ, उच्चारण अभ्यास, प्रयोग आदि के लिए स्थान नही। बालकों को संदर्भ के अनुसार अपरिचित शब्दों के अर्थ समझने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए अथवा विशेष कठिनाई होने पर सीधे बता देना चाहिए। वस्तु बोध पर ही विशेष बल देना चाहिए।

(मौन पाठ एवं बोध-परीक्षण का क्रम प्रत्येक अन्विति में अपनाया जायगा)

(v) **पुनरावृत्ति**—सम्पूर्ण पाठ पर आधारित प्रश्नों द्वारा विषय सामग्री का छात्रो से प्रकाशन। इससे गृहीत भावों एवं विचारो की अभिव्यक्ति की योग्यता बालको मे विकसित होती है।

(vi) **गृहकार्य**—पाठ से सम्बन्धित जानकारी के लिए पठन-निर्देश।

कभी-कभी द्रुत पाठ की पुस्तकों में भी ऐसे कठिन पाठ मिलते है जिनके शिक्षण में भाषा कार्य, व्याख्या, विचार-विश्लेषण आदि की आवश्यकता पड़ जाती है अतः ऐसे पाठों को पाठ्यपुस्तक की ही भाँति पढाना चाहिए। इसी प्रकार पाठ्यपुस्तक में यदि सरल पाठ हैं तो उन्हें द्रुत पाठ की भाँति पढाना चाहिए। यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि पाठ-सोपान शिक्षण के साध्य नही है बल्कि साधन है।

सारांश

द्रुत पठन का महत्त्व—भाषा-योग्यताओं की संवृद्धि, वस्तु एवं अर्थग्रहण की योग्यता, सामान्य ज्ञान-विज्ञान की अभिवृद्धि, स्वाध्याय की आदत, बहुमुखी रुचि का निर्माण, आनन्द एवं अनुरंजन के लिए पठन, साहित्यिक अनुराग एवं अभिरुचि का विकास।

द्रुत पठन के शिक्षण सोपान—भाषाकार्य, विस्तृत व्याख्या या विचार विश्लेषण और आदर्श पाठ आदि के लिए द्रुतपाठों के शिक्षण में स्थान नहीं है। मौन पाठ, बोध-परीक्षण और पुनरावृत्ति ही मुख्य शिक्षण-सोपान हैं।

इन पाठों के द्वारा बालकों में स्वाध्याय की आदत और पठन-रुचि का विस्तार ही शिक्षण का लक्ष्य होता है।

प्रश्न

1. सहायक पुस्तकों एवं द्रुत पाठों के शिक्षण के महत्त्व एवं उद्देश्य लिखिए।
2. छात्रों में स्वाध्याय की आदत डालने और पठन-रुचि का विस्तार करने के लिए शिक्षक को क्या प्रयत्न करने चाहिए?
3. सहायक पुस्तकों के चयन में किन बातों का ध्यान रखना चाहिए?
4. द्रुतपाठ-शिक्षण, गहन गद्यपाठ-शिक्षण से किस प्रकार भिन्न है और क्यों? दोनों के शिक्षण-सोपानो का उल्लेख करते हुए यह अन्तर स्पष्ट कीजिए।

15

कहानी-शिक्षण

[कहानी-शिक्षण का महत्त्व, आधुनिक हिन्दी कहानियों के विविध रूपों एवं शैलियों का छात्रों को परिचय, कहानी कहने में ध्यान देने योग्य बातें, कहानी-शिक्षण की क्रियाविधि एवं पाठ-योजना]

"गल्प एक ऐसी रचना है जिसमें जीवन के किसी एक अंग या एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य हो। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथानक—उसी एक भाव को पुष्ट करते हों। उपन्यास की भाँति उसमें मानव जीवन का सम्पूर्ण तथा वृहत् रूप दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता, न उसमें उपन्यास की भाँति सभी रसों का समावेश होता है। यह एक ऐसा रमणीक उद्यान नहीं, जिसमें भाँति-भाँति के फूल, बेल-बूटे सजे हुए हैं, बल्कि यह एक ऐसा गमला है, जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।"

—प्रेमचन्द

कहानी एक लघु गद्य रचना है जिसमें मानव जीवन एवं चरित्र का वर्णन बड़े ही हृदयस्पर्शी, कलात्मक एवं आकर्षक रूप में होता है। भाव प्रधान रचना होने के कारण कहानी की गणना रागात्मक पाठों में होती है। लघुता कहानी का विशेष गुण है। एडगर एलन पो ने कहानी को ऐसी छोटी रचना कहा है जो एक ही बैठक में पूरी पढ़ी जा सके। एच. जी. वेल्स ने भी कहानी को एक लघु रचना ही माना है।

"कहानी गागर में सागर होती है, अतः उसमें लेखक किसी एक उद्देश्य को लेकर चलता है, तथा जैसे ही उद्देश्य पूर्ति की चरमावस्था पहुंची कि कहानी समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार घटना भी जीवन के किसी एक अंश को लेकर चलती है, और उसका भी सांगोपांग वर्णन नहीं कर सकती है। पात्रों की संख्या भी सीमित होती है।[1] यह कथन कथानक, चरित्र और उद्देश्य की दृष्टि से कहानी की लाघवता का ही द्योतक है।

कहानी-शिक्षण का महत्त्व

भाषा में द्रुत पाठों की दृष्टि से कहानियाँ सबसे अधिक उपयोगी होती हैं।

1. लक्ष्मीलाल के ओड़—भाषा-शिक्षण की नवीन विधियाँ, पृ० 81

कहानी का सबसे बड़ा गुण उसका मनोरंजनात्मक पक्ष है। कहानियाँ मानव सभ्यता के आदि काल से ही मनोरंजन एवं आनन्द का साधन रही हैं। शिक्षित-अशिक्षित, धनी-निर्धन, स्त्री-पुरुष, बालक, युवक, वृद्ध सभी को कहानी मंत्रमुग्ध कर लेती है। कहानी केवल मनोरंजन का ही साधन नहीं है, बल्कि शिक्षा प्रदान करने, नीति एवं सदाचार का उदाहरण प्रस्तुत करने और मानव जीवन का परिचय देने का भी उत्तम साधन है। हमारे देश में मनोरंजन के लिए जहाँ वृहत्कथा मंजरी और कथा सरित सागर सदृश रोचक कहानी-ग्रन्थ मिलते हैं वहाँ मानव व्यवहार सम्बन्धी नीति भरी उपदेशात्मक कहानियाँ पंचतन्त्र एवं हितोपदेश जैसी रचनाओं में भरी पड़ी है। साथ ही जीवन एवं जगत के गूढ रहस्यों की मीमांसा करने वाली उपनिषदों की कहानियाँ भी है जिनके द्वारा सहज ही दार्शनिक रहस्यों को भी समझने में हम प्रवृत्त हो सकते है। इस प्रकार कहानी वह रोचक, प्रिय, सरल तथा सुबोधपूर्ण माध्यम है जिसके द्वारा हम जीवन और जगत के अनेक पक्षो से परिचित हो सकते हैं।

कहानी का सबसे बड़ा गुण है जिज्ञासा और कौतूहल को जागरित किये रहना। बालक स्वभावतः जिज्ञासाप्रिय होता है और वह अपनी उत्सुकता तथा कौतूहल की तृप्ति चाहता है। इसी कारण वह कहानी सुनने में तल्लीन हो जाता है और एकाग्रचित्त बना रहता है।

कहानी-शिक्षण की उपयोगिता संक्षेप में निम्नलिखित है—

(i) **सामान्य ज्ञान की वृद्धि**—कहानी द्वारा मनोरंजनात्मक ढंग से बालक संसार के अनेक क्षेत्रों का ज्ञान अनायास ही प्राप्त कर लेता है। प्रारम्भिक अवस्था मे पशु-पक्षियो, जीव-जन्तुओं की कहानियों से उनके सम्बन्ध में बालकों को परिचय प्राप्त हो जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक कहानियों द्वारा बालको में विज्ञान के प्रति रुचि जागरित होती है और विज्ञान सम्बन्धी अनेक बातें आसानी से वे जान लेते है।

(ii) **मानव व्यवहार एवं चरित्र का परिचय**—मानव-व्यवहार, सदाचार, शिष्टाचार, विविध परिस्थितियों में व्यावहारिक कुशलता एवं आचरण की रीति का ज्ञान बड़े ही सरल रूप में कहानी द्वारा प्राप्त हो जाता है। मानव चरित्र के रहस्यों, मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों एवं चरित्रगत सूक्ष्मताओं का परिचय जितना कहानियों से मिलता है उतना अन्य रचनाओं से नहीं।

(iii) **तर्क, विवेक, संकल्प एवं कल्पनाशक्ति की अभिवृद्धि**—इन शक्तियों का विकास कहानियों द्वारा यथेष्ट मात्रा में होता है। विविध परिस्थितियों में मनुष्य किस प्रकार सोचता है, प्रस्तुत आपत्तियों का सामना करता है, जटिलताओं एवं गुत्थियों को सुलझाता है, अन्तर्द्वन्द्वों एवं वहिर्द्वन्द्वों के घात-प्रतिघात से जीवन की

गतिविधियाँ किस प्रकार निर्दिष्ट होती हैं, किस प्रकार नई-नई कल्पनाएँ उद्बुद्ध होती है, आदि का परिचय कहानी-शिक्षण द्वारा सहज ही हो जाता है।

(iv) **अवलोकन एवं निरीक्षण शक्ति का विकास**—कहानियों के कथानक विकास एवं चरित्रांकन द्वारा बालकों में भी सूक्ष्मदर्शिता एवं अन्तर्दर्शिता का विकास होता है।

(v) **सृजनात्मकता का विकास**—कहानियों के अध्ययन से बालकों में स्वयं रचना करने की शक्ति का उदय एवं विकास होता है। चित्रों एवं संकेतों के आधार पर वे घटना सूत्रों को समझने तथा नई कहानी रचने लगते है।

(vi) **भावाभिव्यक्ति की योग्यता का विकास**—भावों एवं विचारो को प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त करने की क्षमता प्राप्त होती है। झिझक और संकोच की भावना दूर होती है। बोलने में स्वाभाविकता, सरसता एवं प्रवाह आ जाता है।

(vii) **वक्ता और श्रोता के बीच घनिष्ठता एवं आत्मीयता** की स्थापना का सर्वोत्तम साधन कहानी है। अध्यापक अन्य प्रकार के वर्णन मे छात्रों का आत्मीय नही बन पाता, परन्तु कहानी द्वारा वह उनमें घुल-मिल जाता है। कक्षा का वातावरण घर जैसा बन जाता है।

(viii) **साहित्यिक अनुराग**—बच्चों में कहानी सुनने, पढ़ने और कहने की उत्कण्ठा पैदा हो जाती है तब उनमें साहित्य के प्रति अनुराग भी उत्पन्न हो जाता है। कहानियों द्वारा पठन रुचि का विस्तार होता है और बालक पढ़ने में आनन्द लेने लगते है।

आधुनिक हिन्दी कहानी के विविध रूपों एवं शैलियों का छात्रों को परिचय—

मौखिक रचना, लिखित रचना एवं पठन-शिक्षण के अध्यायों मे माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक स्तर पर शिक्षण की दृष्टि से उपयुक्त कहानियों के चयन पर लिखा जा चुका है। बालकों की रुचि, योग्यता एवं भाषा-शक्ति के अनुसार किस स्तर पर किस कहानी का प्रयोग किया जाय, इसके सम्बन्ध में भी पठन-शिक्षण के अध्याय में 'पाठ्यसामग्री' शीर्षक के अन्तर्गत उपयुक्त कहानियों का संकेत किया गया है। यहाँ हमारा अभीष्ट विषय केवल यह बताना है कि आज कहानियो का विकास बहुत ही विशद और विस्तृत रूप में हुआ है और उसके इतने रूप-रंग हमारे सामने आये है कि जीवन का कोई भी अंग अछूता नही रहा है। उदाहरणतः

(i) सामान्यतः जीवन के किसी स्वरूप की मार्मिकता सामने लाने वाली कहानियाँ।
(ii) विभिन्न वर्गों के संस्कार का स्वरूप सामने रखने वाली कहानियाँ।
(iii) किसी मधुर या मार्मिक प्रसंग की कल्पना के सहारे किसी ऐतिहासिक काल का खंड चित्र दिखाने वाली कहानियाँ।
(iv) देश की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था से पीड़ित जनसमुदाय की दुर्दशा सामने लाने वाली कहानियाँ।

(v) स्वदेश-प्रेम, त्याग, साहस और जीवनोत्सर्ग का चित्र प्रस्तुत करने वाली कहानियाँ।

(vi) समाज के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के बीच धर्म, समाज-सुधार, व्यापार, व्यवसाय, सरकारी काम, नई सभ्यता आदि की ओट मे होने वाली पाखण्ड पूर्ण पापाचार के चटकीले चित्र सामने लाने वाली कहानियाँ।

(vii) सभ्यता और संस्कृति की किसी व्यवस्था के विकास का आदिम रूप झलकाने वाली कहानियाँ।

(viii) अतीत के किसी पौराणिक या ऐतिहासिक कालखण्ड के बीच अत्यन्त मार्मिक और रमणीक प्रसंग का अवस्थान करने वाली कहानियाँ।

(ix) हास्य. विनोद, व्यंग्य चित्र प्रस्तुत करने वाली कहानियाँ।

(x) मानव-हृदय के रहस्यों को प्रकट करने वाली, अन्तर्द्वन्द्वों, मानसिक ग्रंथियों एवं प्रतिरोधों को चित्रित करने वाली मनोवैज्ञानिक कहानियाँ।

(xi) आधुनिक वैज्ञानिक चमत्कारो पर आधारित कहानियाँ।

स्वतंत्रता के बाद लिखी जाने वाली कहानियों में वर्तमान जीवन की झाँकी और भी मार्मिक एवं आकर्षक रूप में मिलती है। उनमें यथार्थ परिस्थितियों के विशद और मार्मिक चित्र मिलते है, घटना और संवाद दोनो मे व्यंजकता और रमणीय कल्पना के दर्शन होते हैं। अति काल्पनिकता और आदर्श से मुक्त होकर आज की कहानी यथार्थ जीवन के धरातल पर उतर आयी है और वह वर्तमान जीवन की विषमताओं पर सीधे प्रहार करती है।

वस्तुसमष्टि के अतिरिक्त तत्त्वो की दृष्टि से भी कहानी के अनेक रूप हमारे सामने आते हैं—घटना प्रधान, चरित्र प्रधान, वातावरण प्रधान, प्रभाव प्रधान आदि। यह मान्यता कि कहनी के 6 तत्त्व (घटना, पात्र, कथोपकथन, वातावरण, उद्देश्य, भाषा एव शैली) प्रत्तेक कहानी में हों, भ्रामक सिद्ध हो चुकी है। इनमें एक या एकाधिक तत्त्व नहीं भी हो सकते हैं। शैली की दृष्टि से भी कहानी के अनेक रूप सामने आते हैं—वर्णनात्मक शैली, डायरी शैली, पत्र शैली, आत्मकथात्मक शैली, संवादात्मक शैली आदि।

माध्यमिक एवं उच्चत्तर माध्यमिक स्तर के लिए कहानियों का चयन करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि आज की हिन्दी कहानी में इन विविध रूपों एवं शैलियो का परिचय बालकों को मिल जाय और उनके शैक्षणिक उद्देश्यों की पूर्ति भी हो जाय।

कहानी कहने में ध्यान देने योग्य बातें

शिक्षक के लिए कहानी कहने की कला में प्रवीण होना आवश्यक है। कुछ

शिक्षकों में तो यह गुण जन्मना होता है और वे इसके द्वारा बालकों का मन मोह लेते है और कक्षा वातावरण सजीव एवं उत्फुल्ल हो उठता है। किन्तु अन्य शिक्षकों को भी इस कला से अभिज्ञ होना चाहिए। निम्नांकित बातें इस कला के अर्जन की दृष्टि से ध्यान देने योग्य है—

(i) कहानी का चुनाव, उसकी भाषा एवं कथन का ढंग बालकों की आयु, योग्यता, ज्ञान एवं अभिरुचि के अनुकूल हो, जैसे प्रारम्भिक स्तर पर पशु-पक्षी संबंधी काल्पनिक कहानियाँ, फिर आगे पौराणिक कहानियाँ, लोक-कथाएँ, साहसिक यात्रा संबधी कहानियाँ; माध्यमिक एव उच्चतर माध्यमिक स्तर पर आविष्कार एवं अनुसंधान संबधी कहानियाँ; सामाजिक, पारिवारिक एव मनोवैज्ञानिक कहानियाँ आदि।

(ii) कक्षा में कहानी कही जाय, पढी न जाय। यदि कहानी पढकर सुनाई जाती है तो बालकों की उत्कण्ठा, रुचि और लालसा समाप्त हो जाती है।

(iii) शिक्षक को कहानी अच्छी तरह ज्ञात होनी चाहिए और अपनी भाषा में कहानी सुनानी चाहिए। इससे कहानी में एक नवीनता आ जाती है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि अपनी भाषा का प्रयोग करने के कारण कहानी के मूल तत्त्वों में कोई अन्तर न आने पाए।

शिक्षक को कहानी की प्रत्येक घटना एवं उनके क्रमिक विकास का ज्ञान होना चाहिए और पूरी तैयारी के बाद कहानी कहनी चाहिए। कहानी आद्यन्त क्रमबद्ध रूप से ज्ञात हो और प्रवाह के साथ कही जाय।

(iv) शिक्षक को कहानी कहने में स्वयं उत्साह एवं आनन्द का अनुभव करना चाहिए। कहानी कहने वाला जब स्वयं कहानी में तन्मय हो जाता है, तभी श्रोता भी उसमे तन्मय हो पाते है। शिक्षक के कथन के ढंग पर ही कहानी की रोचकता निर्भर करती है अन्यथा उसका कोई प्रभाव नही पड़ता।[2]

(v) कहानी के कुछ स्थल बड़े ही मार्मिक होते है। ऐसे स्थल बिना किसी शब्द परिवर्तन के अपने मूल रूप में प्रस्तुत करने चाहिए। प्रभाव की दृष्टि से यह आवश्यक है।

(vi) कहानी में घटनात्मक स्थलों को जहाँ तक संभव हो, स्पष्ट रूप में चित्रित किया जाय। भाषा सरल एवं शुद्ध हो। बातचीत की शैली मे कहानी

---

2. "The story teller, like the artist, must believe the spoken tale to be a medium through which he can touch all that is best in the heart and mind of the child. Her work must be marked by enthusiasm, sincerity and belief, or it will carry no conviction." —K.D. Eather.

कहना अधिक सरस होता है। भाषा के प्रवाह तथा ध्वनि के आरोह-अवरोह द्वारा कथन प्रभावपूर्ण बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

कहानी के भावात्मक, विनोदात्मक एवं प्रहसनात्मक स्थलों को तदनुरूप प्रभावपूर्ण बनाने का प्रयत्न आवश्यक है। कथन में एकरसता नहीं होनी चाहिए। हास्य रस की कहानी मे छात्रों को हँसने का उचित अवसर देना चाहिए, पर हास्य संयत ही रहना चाहिए। शिक्षक के लिए स्मित हास्य ही यथेष्ट है।

(vii) कहानी का वर्णन स्वाभाविक हो। जान-बूझ कर नाटकीयता नहीं लानी चाहिए। उचित भाव-भंगिमा ही यथेष्ट है। सौम्य एवं प्रफुल्ल मुद्रा में कही गई कहानी अधिक प्रभावपूर्ण सिद्ध होती है।

मध्यम गति से कहानी कहनी चाहिए। तीव्र या मंद गति उचित नहीं। स्थल विशेष के अनुसार गति कहीं थोड़ी तेज और कहीं थोड़ी मंद अवश्य कर सकते हैं, पर सामान्यतः मध्यमगति ही उचित है।

(viii) कहानी कहते समय शिक्षक को इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि घटनाचित्र बालकों के मानस पटल पर खिंच जाय। इसके लिए उसे अपनी कल्पना शक्ति का प्रयोग करना चाहिए। शिक्षक अपने मनःचित्रों को जितना ही प्रेषणीय बना सकेगा उतना ही अपने उद्देश्य में सफल होगा।

(ix) कहानी सोद्देश्य होनी चाहिए और शिक्षक को यह ध्यान रखना चाहिए कि बालक उस उद्देश्य को भी समझ लें। विशुद्ध मनोरंजन ही कहानी का उद्देश्य होना चाहिए। कोई न कोई नैतिक, व्यावहारिक एवं सामाजिक मूल्य सम्बन्धी अभिप्राय प्रकट होना चाहिए।

(x) कहानी कक्षा के स्तर को देखते हुए निरूपित कर लेनी चाहिए। एक ही कहानी यदि विभिन्न कक्षाओं मे सुनानी है तो उसका रूप और उसकी भाषा तदनुकूल बना लेनी चाहिए।

(xi) यदि कहानी बड़ी प्रचलित है और बालकों की जानी हुई तो उसके कथन का ढंग बदल देना चाहिए। उदाहरणतः कहानी के ही किसी प्रमुख पात्र की आत्मकथा के रूप में कहानी कही जा सकती है। इससे कहानी में एक नवीनता आ जाती है।

(xii) कहानी अधिक लम्बी नहीं होनी चाहिए, अन्यथा बालक आनन्द की जगह बोझिलता का अनुभव करने लगते हैं। यदि कहानी कुछ बड़ी है तो उसे कुछ खण्डों में विभाजित कर लेना चाहिए, पर यह विभाजन ऐसा न हो कि सरसता भंग हो। एक खण्ड या सोपान वर्णन कर लेने पर दो-तीन प्रश्नों द्वारा छात्रों की ग्राह्यता की जाँच कर लेनी चाहिए और उसके द्वारा कथासूत्र को आगे बढ़ाने के लिए छात्रों को अभिप्रेरित करना चाहिए।

(xiii) कुछ शिक्षाशास्त्रियो के अनुसार कहानी में सरल पद्यों एवं चित्रों के प्रयोग से प्रभावपूर्णता आ जाती है पर माध्यमिक स्तर की कहानियों में कविता

का समावेश ठीक नहीं। चित्र भी कक्षा 6-7 तक ही उपयोगी सिद्ध होते हैं। प्राथमिक स्तर पर कविता और चित्र दोनों का ही प्रयोग हो सकता है।

कहानी-शिक्षण की क्रिया विधि एवं पाठ-योजना

कहानी बालकों की कल्पना एवं भावानुभूति की शक्ति जागरित करने का अच्छा साधन है। इसीलिए इसकी गणना रागात्मक पाठों के अन्तर्गत की जाती है। कहानी पढ़ाने के लिए शिक्षक को स्वयं कहानी में रुचि लेनी चाहिए और कहानी कहने की कला का मर्मज्ञ होना चाहिए जिससे छात्रों को भावानुभूति एवं रसास्वादन का अवसर मिल सके। कहानी के कहने में उचित नाटकीयता भी अपनाई जा सकती है, पर वाचिक रूप में ही।

कहानी के शिक्षण में पाठ-योजना की दृष्टि से हम निम्नांकित क्रम या सोपानों का अनुसरण कर सकते हैं—

(1) उद्देश्य
(2) प्रस्तावना अथवा उत्प्रेरणात्मक उपक्रम
(3) प्रस्तुतीकरण (शिक्षक द्वारा कहानी वर्णन)
(4) विद्यार्थियों द्वारा कहानी वर्णन
(5) पुनरावृत्ति
(6) गृहकार्य

1. **उद्देश्य**—किसी भी कहानी के शिक्षण के उद्देश्यों का निर्धारण निम्नांकित आधारों पर किया जा सकता है—

(i) सुनकर कथावस्तु ग्रहण करने की योग्यता का विकास। कहानी में निहित प्रमुख घटनाओं एवं तथ्यों का उल्लेख।

(ii) सुनकर भावों, विचारों एवं नैतिक मूल्यों को ग्रहण करने की योग्यता का विकास, कहानी मे निहित आदर्श, नैतिक मूल्य जैसे करुणा, वीरता, आत्मोत्सर्ग आदि का उल्लेख। चरित्रगत विशेषताओं का उल्लेख।

(iii) कहानी वर्णन करने की योग्यता का विकास। कहानी सुनकर छात्र स्वयं अपनी भाषा में उसका वर्णन कर सकेंगे।

2. **प्रस्तावना अथवा उत्प्रेरणात्मक उपक्रम**—प्रसंगोद्भावना सम्बन्धी उपयुक्त प्रश्नों द्वारा अथवा किसी कथन द्वारा छात्रो को प्रस्तुत कहानी सुनने के लिए आकर्षित करना। छठी-सातवीं कक्षा में चित्रों द्वारा प्रस्तुत कहानी की प्रसंगोद्भावना करायी जा सकती है।

3. **प्रस्तुतीकरण**—इस सोपान के अन्तर्गत शिक्षक द्वारा कहानी प्रस्तुत की जाती है जिसकी क्रियाविधि इस प्रकार है—

(i) कहानी को आवश्यकतानुसार कुछ अन्वितियों में विभक्त कर लिया जाय।

(ii) शिक्षक द्वारा प्रभावपूर्ण ढंग से एक अन्विति का वर्णन और वर्णित अंश पर आधारित उचित प्रश्नों द्वारा आवृत्ति। फिर दो-एक प्रश्नों द्वारा कथा सूत्र को आगे बढ़ाने के लिए छात्रों को उत्प्रेरित किया जाय।

(iii) एक अन्विति के बीच में भी महत्त्वपूर्ण घटना एवं चरित्र-परिवर्तन आदि संबंधी विशिष्ट स्थलों पर शिक्षक प्रश्न पूछ सकता है, जिससे बालकों में कहानी के सम्बन्ध में उत्सुकता बनी रहे और नये विचार एवं कल्पना करने की उत्प्रेरणा मिलती रहे। कहानी में यदि कोई बहुत ही भावपूर्ण स्थल है तो शिक्षक उस अंश को ज्यों का त्यों सुना सकता है। इससे कहानी की भाषा और शैली का परिचय छात्रो को होता है और वे कहानी के प्रति विशेष रूप से आकर्षित हो जाते है।

(iv) क्रम से सभी अन्वितियाँ समाप्त कर लेने पर प्रश्नों द्वारा छात्रों से उत्तर प्राप्त करते हुए पूरी कहानी व्यक्त करा ली जाय। इस अवसर पर मार्मिक स्थलों की व्याख्या एवं चरित्र-चित्रण सम्बन्धी प्रश्न भी पूछे जाएँ।

4. **विद्यार्थियों द्वारा कहानी कहलाना**—अन्त में पहले किसी तेज विद्यार्थी से पूरी कहानी संक्षेप में सुनाने के लिए कहना चाहिए और फिर दो-एक और बालको को भी अवसर देना चाहिए।

कभी-कभी कहानी खण्डशः चार-पाँच बालकों द्वारा भी कहलाई जा सकती है। छात्रों को कहानी सुनाने के ढंग के बारे में आवश्यक निर्देश भी दे देने चाहिए। कक्षा के सामने कहाँ खड़ा होना है, किस मुद्रा में और भाव-भंगिमा के साथ कहानी कहनी चाहिए, यह भी बता दिया जाय। इससे बालकों का संकोच दूर होगा और मौखिक भाव-प्रकाशन का अभ्यास बढ़ेगा।

कहानी-शिक्षण में भाषिक तत्त्वों के ज्ञान पर बल नहीं दिया जाता। यथा प्रसंग शब्दों, मुहावरों या सूक्तियों आदि को स्पष्ट कर देना ही पर्याप्त है, उन्हे आधार बनाकर विस्तृत भाषा कार्य उचित नहीं है।

अभिनय योग्य कहानियों का अभिनय भी छात्रों द्वारा कराया जा सकता है। इससे छात्रों को कथावस्तु की मार्मिकता, अर्थ की स्पष्टता आदि का ज्ञान हो जाता है। इसके द्वारा बालक कहाँ तक कहानी का मर्म समझ सके हैं, इसकी परीक्षा हो जाती है और उन्हें क्रियात्मक ढंग से भाषा सीखने का अवसर मिलता है। बालक संवाद अथवा कथोपकथन का भी मर्म समझने लगते हैं, उन्हें आवश्यक गद्यांश एवं पद्यांश अनायास ही स्मरण हो जाते हैं और संभाषण-पटुता भी आ जाती है।

5. पुनरावृत्ति—पूरी कहानी पर आधारित मूल्यांकन सम्बन्धी प्रश्न। कहानी के प्रमुख कथा-सूत्रों, चरित्रों पर छात्रों द्वारा प्रकाश डाला जाय।

द्रुत पठन के रूप में कहानी-शिक्षण

कहानी पहले दिन मौखिक रूप में ही कक्षा में पढ़ानी चाहिए और उपर्युक्त विधि अथवा सोपान-क्रम का पालन करना चाहिए, और दूसरे दिन उसे द्रुत पठन के रूप में पढ़ाना चाहिए। पहले दिन कहानी शिक्षण का उद्देश्य होता है कि बालक सुनकर कहानी समझें, अर्थ ग्रहण करें और स्वयं कहानी कहने की योग्यता प्राप्त करें। दूसरे दिन द्रुत पठन के रूप में बालक स्वयं कहानी पढ़ें। यह पठन मौन पठन होगा। इस दृष्टि से निम्नांकित सोपान अनुसरणीय हैं—

प्रस्तावना—पूर्व वर्णित कहानी पर दो-एक प्रश्नों द्वारा कहानी की ओर ध्यान आकृष्ट करना।

प्रस्तुतीकरण—कहानी का दो-तीन अन्वितियों में विभाजन। प्रत्येक अन्विति का मौन पठन एवं बोध परीक्षण के प्रश्न। ये बोध प्रश्न कथानक, घटना के क्रमिक विकास, चरित्र-चित्रण सम्बन्धी विशेषताएँ आदि के सम्बन्ध में होंगे।

क्रम से सभी अन्वितियों का इसी प्रकार मौन पठन एवं बोध परीक्षण।

पुनरावृत्ति

संपूर्ण कहानी पर आधारित दो-तीन प्रश्नों द्वारा कहानी के मुख्य तथ्यों, भावों, विचारो एवं चरित्रगत विशेषताओं की अभिव्यक्ति। कुछ ऐसे प्रश्न भी पूछे जा सकते है जिनके द्वारा कहानी में नया मोड़ देने के लिए बालक नई कल्पना कर सकें, जैसे, यदि इस अवसर पर ऐसी घटना नहीं घटती या ऐसा संयोग नहीं होता, या अमुक पात्र का व्यवहार इस प्रकार का होता तो कहानी क्या मोड़ या करवट लेती? ऐसे प्रश्नों से छात्रों में कल्पना प्रवणता एवं सृजनात्मकता का विकास होता है।

सारांश

कहानी एक लघु गद्य रचना है जिसमें मानव जीवन एवं चरित्र का वर्णन बड़े ही मर्मस्पर्शी, कलात्मक एवं आकर्षक रूप में किसी कथावस्तु के माध्यम से किया जाता है। कहानी का सबसे बड़ा गुण उसका मनोरंजनात्मक पक्ष है। गूढ़ से गूढ बातें भी कहानी के माध्यम से सरलता पूर्वक बालकों को समझायी जा सकती है। कहानी शिक्षक की उपयोगिता इस प्रकार है—बालकों के सामान्य ज्ञान की वृद्धि, मानव व्यवहार एवं चरित्र का परिचय, तर्क, विवेक, संकल्प, कल्पना, निरीक्षण, स्मरण आदि शक्तियों का विकास, सृजनात्मकता का विकास, साहित्यिक अनुराग आदि।

कहानियों का चयन इस प्रकार होना चाहिए कि बालकों को आधुनिक हिन्दी कहानियों के विविध रूपों एवं शैलियों का यथेष्ट परिचय प्राप्त हो जाय।

कहानी कहने में ध्यान देने योग्य बातें—बालकों की आयु, योग्यता, ज्ञान एवं अभिरुचि के अनुकूल कहानियों का चयन, कहानी पढ़ी न जाय बल्कि कही जाय, कहानो कहने की अच्छी तैयारी, कहानी कहने में उत्साह एवं आनन्द का अनुभव, मार्मिक स्थलों का भावानुरूप वर्णन, उचित गति से कहानी कहना आदि।

कहानी-शिक्षण की क्रियाविधि एवं पाठ-योजना-प्रस्तावना, प्रस्तुतीकरण (शिक्षक द्वारा दो-तीन अन्वितियों में कहानी का वर्णन, उचित प्रश्नों द्वारा छात्रों का औत्सुक्य वर्द्धन)। विद्यार्थियों द्वारा कहानी कहलाना।

प्रश्न

1. कहानी शिक्षण की उपयोगिता एवं महत्त्व पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
2. माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक स्तर पर आप किस प्रकार की कहानियों को पढ़ाना चाहेंगे और क्यों ?
3. कहानी कहने में शिक्षक को किन बातों का ध्यान रखना चाहिए ?
4. कहानी-शिक्षण में पाठ-विकास की दृष्टि से आप किन सोपानों का अनुकरण करेंगे ? किसी कहानी को आधार बनाकर अपना उत्तर लिखिए।

16

नाटक-शिक्षण

[नाटक की परिभाषा, नाटक-शिक्षण का महत्त्व, नाटक-शिक्षण के उद्देश्य, नाटक-शिक्षण प्रणाली-आदर्श नाट्य प्रणाली, अभिनय प्रणाली, व्याख्या प्रणाली, शिक्षण-सोपान, नाटक-शिक्षण में ध्यान देने योग्य बातें, अभिनय]

"अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्"

—भरत मुनि

प्राचीन भारतीय साहित्याचार्यों के अनुसार साहित्यिक कृतियों के दो भेद हैं—श्रव्य काव्य एवं दृश्य काव्य। सभी प्रकार के गद्य-पद्य श्रव्य काव्य के अतर्गत आते हैं और नाटक दृश्य काव्य के अंतर्गत। अब श्रव्य काव्य को पाठ्य काव्य भी कहा जाता है क्योंकि अब उन्हें पढ़कर हम आनंद लेते है, प्राचीनकाल की भाँति केवल सुनकर नही। प्राचीनकाल में नाटक को रूपक भी कहते थे।

आचार्य भरत मुनि के अनुसार किसी भी अवस्था के अनुकरण को नाटक कहते हैं। अवस्था से तात्पर्य मानव जीवन की विविध परिस्थितियों से है। यह अनुकरण आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक चार प्रकार का होता है। नाटक का अभिनेय होना आवश्यक है और अभिनेयता के लिए पात्रानुसार सवाद या कथोपकथन। इस अभिनेयता एवं कथोपकथन की विशेषता के कारण नाटक अन्य कथाकाव्यों–उपन्यास, कहानी आदि–से भिन्न है।

अभिनव भरत के अनुसार "नाटक वह प्रयोग है जिसमें किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक अथवा कल्पित कथा के आधार पर, नाट्यकार द्वारा रचित रूप के अनुसार, नाट्य प्रयोक्ता द्वारा प्रशिक्षित नट जब रंगमंच पर अभिनय तथा संगीत की सहायता से दर्शकों के हृदयों मे रस उत्पन्न करके उनका मनोविवाद करते है और उन्हें उपदेश तथा मनःशांति प्रदान करते है, तब उस प्रयोग को नाटक या रूपक कहते हैं।"

नाटक में समस्त कलाओं का समावेश माना गया है।[1] "काव्येषु नाटकं रम्यम्"।

प्राचीन भारत में नाट्य साहित्य की बड़ी उन्नत और उज्ज्वल परम्परा मिलती है। कालिदास और भवभूति के नाटकों का विश्व साहित्य में अप्रतिम स्थान है। पर यह परम्परा हिन्दी साहित्य में नहीं विकसित हुई। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतेंदु ने नाट्य साहित्य की रचना का श्रीगणेश किया। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जयशंकर प्रसाद ने उसे विकसित कर उन्नत एवं कलात्मक रूप दिया। आगे चलकर श्री हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्ददास, गोविन्द वल्लभ पंत, उदय शंकर भट्ट, लक्ष्मी नारायण मिश्र आदि ने हिन्दी नाट्य साहित्य को और भी आगे बढ़ाया।

नाटक-शिक्षण का महत्त्व

गद्यात्मक रचना होते हुए भी नाटक गद्य से भिन्न है। उसमें शैलीगत विशेपता के कारण रागात्मक अश विशेप रूप से आ जाते हैं।

नाटको द्वारा मानव-प्रकृति एवं चरित्र से अवगत होने का अवसर मिलता है और विविध परिस्थितियों एवं अवसरों पर मानव-व्यवहार, शिष्टाचार एवं आचरण की रीति का भी परिचय प्राप्त होता है।

मानवीय भावों का प्रदर्शन नाटक के माध्यम से जितना प्रभावपूर्ण होता है, उतना और किसी माध्यम से नहीं और इसी कारण नाटक पढ़ने या देखने से भावों का उद्रेक भी उतना ही तीव्र होता है।

संवादात्मक शैली होने के कारण नाटक-शिक्षण द्वारा बालकों को भापा-प्रयोग की एक विशिष्ट शैली से परिचित होने का अवसर मिलता है। किस प्रसंग और किस अवसर पर किस प्रकार की भावाभिव्यक्ति अधिक प्रखर और प्रभावपूर्ण हो सकती है, इससे बालक अवगत होते हैं। उनकी मौखिक भावाभिव्यक्ति की योग्यता विकसित होती है। वातचीत, भाषण, उत्तर-प्रत्युत्तर के प्रभावपूर्ण ढंग से परिचित होने पर बालक स्वयं उस प्रकार की भापा के प्रयोग का प्रयत्न करते हैं।

---

1. कहा जाता है कि वैवस्वत मनु के दूसरे कल्प में लोग दुखी और उदास रहने लगे। तव इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने ब्रह्मा के पास जाकर उनसे प्रार्थना की कि आप मनोरंजन का कोई ऐसा साधन उत्पन्न कीजिए जिससे सवका चित्त प्रसन्न हो सके। इस पर ब्रह्मा ने चारों वेदो का आह्वान किया और उन चारों की सहायता से नाट्य के पंचमवेद की रचना की। इस नए वेद के लिए ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से नाट्य और अथर्ववेद से रस लिया गया था। इस प्रकार इसमें सभी कलाओं का समावेश है।

नाटक एक प्रकार की दृश्य-श्रव्य शिक्षण प्रणाली है। किसी भी विषय का ज्ञान नाटको के माध्यम से अधिक प्रत्यक्षदर्शी और प्रभावपूर्ण ढंग से प्रदान किया जा सकता है। बालक इसमें स्वयं उत्साहपूर्वक सक्रिय भाग लेते है और साक्षात् अनुभव द्वारा शिक्षा ग्रहण करते है। यह क्रियात्मक शिक्षा है। अशिक्षित प्रौढ़ों को शिक्षित करने में नाटक प्रणाली और भी सफल सिद्ध हुई है। अब सर्वत्र ही नवीन ज्ञान-विज्ञान के प्रसार एवं जन-शिक्षा के साधन रूप में नाटकों का प्रचुर प्रयोग किया जाने लगा है। लोकरंजन के माध्यम से लोकहित का बहुत बड़ा साधन नाटक है।[2]

नाटक-शिक्षण के उद्देश्य

(i) मानव मन में अन्तर्भूत आत्मप्रदर्शन, आत्मप्रकाशन एवं अनुकरण की भावना को क्रियात्मक एवं कलात्मक रूप देना और आत्मसंतोष का अनुभव करना।

(ii) विविध मनोभावों का उदात्तीकरण।[3]

(iii) मनोरंजन के साथ-साथ मानव प्रकृति एवं चरित्रगत विशेषताओं से परिचय प्राप्त करना। विभिन्न परिस्थितियों में मानव व्यवहार का परिचय।

(iv) संवाद एवं अभिनय कला में कुशलता प्राप्त करना। अभिनय के साथ-साथ सहायक रूप में संगीत, नृत्य आदि कलाओं के प्रति अनुराग और उसमें दक्षता प्राप्त करने की प्रेरणा।

(v) रंगमंच पर अभिनय द्वारा शुद्ध उच्चारण, प्रभावपूर्ण कथन तथा भाषा प्रयोग की योग्यता का विकास।

(vi) भावानुकूल बोलने और पढ़ने की दक्षता की प्राप्ति। भावाभिव्यक्ति की योग्यता का विकास।

(vii) निरीक्षण एवं कल्पना, बोध एवं विवेचना आदि शक्तियों का विकास।

(viii) साहित्यिक, कलात्मक एवं सृजनात्मक वृत्तियों का विकास।

नाटक-शिक्षण प्रणाली

नाटकों के शिक्षण के लिए कई सुझाव प्रस्तुत किए जाते हैं—

1. आदर्श नाट्य प्रणाली—शिक्षक कक्षा में पूरा पाठ इस प्रकार भाव-भंगिमा के साथ पढ़ता है कि सभी पात्रों के भाव एवं चरित्र का पूर्ण प्रकाशन हो

2—"हितोपदेश जननम् नाट्यमेतद् भविष्यति।
विनोदकरणम् भविष्यति॥"

3—Sublimation

जाता है। वस्तुतः वह अभिनेता के रूप में सभी पात्रों के संवादों का पठन प्रस्तुत करता है। आवश्यकतानुसार कठिन शब्द का अर्थ भी बता देता है। अपनी भाव-भंगिमा द्वारा हर्ष-विषाद, करुणा-क्रोध, प्रेम-घृणा आदि भावों को प्रदर्शित करता है।

इस प्रणाली में नाटक के तत्त्वों की व्याख्या के लिए अवसर नहीं मिलता। शिक्षक ही सक्रिय रहता है और विद्यार्थी मूक श्रोता एवं दर्शक बने रहते हैं। अतः यह उचित शिक्षण प्रणाली नहीं है।

यह प्रणाली इस दृष्टि से भी शिक्षणोपयोगी नहीं है, क्योंकि इससे छात्रों का ध्यान मुख्यतः अभिनय पर ही केन्द्रित रहता है और भाषिक एवं साहित्यिक उपलब्धि नहीं हो पाती।

2. **अभिनय प्रणाली**—इसके दो रूप हैं—

(i) **रंगमंच अभिनय प्रणाली**—रंगमंच पर नाटक को विधिपूर्वक खेलना जिससे पाठांतर्गत दृश्यों एवं संवादों से छात्र परिचित हो जायँ। प्रभापूर्णता की दृष्टि से यह प्रणाली ठीक लगती है, पर कला-शिक्षण की दृष्टि से व्यावहारिक नहीं है। यह प्रणाली समय, श्रम और व्यय साध्य है और विद्यालयों के पास इसके लिए उचित साधन होना भी कठिन ही है।

(ii) **कक्षाभिनय प्रणाली**—कक्षा में छात्रों को विविध पात्रों के रूप में मानकर उचित भाव-भंगिमा के साथ पढ़ने के लिए कहना। छात्र अपने दैनिक सामान्य वेश-भूषा में ही रहते हैं। इस प्रणाली में भावानुरूप अभिनयात्मक पठन का अवसर बालकों को मिलता है और वे आनन्द का भी अनुभव करते हैं, किन्तु इस प्रणाली में भी कथानक, चरित्र-चित्रण आदि की व्याख्या एवं विवेचना के लिए पूरा अवसर नहीं मिलता है। उपर्युक्त रंगमंच अभिनय प्रणाली अथवा आदर्श नाट्य प्रणाली की अपेक्षा यह अधिक उपयोगी अवश्य है।

3. **व्याख्या प्रणाली**—इस प्रणाली में शिक्षक द्वारा पठन एवं व्याख्या की जाती है। वह यथा प्रसंग प्रश्नोत्तर प्रणाली द्वारा कथावस्तु का स्पष्टीकरण, पात्रों का चरित्र-चित्रण, कथोपकथन की विशेषताओं तथा विविध भावों एवं अनुभूतियों की विवेचना भी करता है।

इस प्रणाली में शिक्षक कठिन स्थलों की स्वयं व्याख्या करता है और नाटक के गुण-दोष की विवेचना करता है। यह प्रणाली महाविद्यालयीय स्तर पर उपयुक्त हो सकती है, पर माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक स्तर पर नहीं।

इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि नाटक का पाठ गद्यपाठ की ही भाँति हो जाता है और उसकी रसात्मकता समाप्त हो जाती है।

इन उपर्युक्त प्रणालियों में से कोई भी पद्धति अपने-आप में पूर्ण नहीं है और केवल एक के ही अवलम्बन से नाटक का शिक्षण न तो रुचिकर हो पाता है और न

उपयोगी ही। हमें नाटक के शिक्षण में यह नहीं भूलना चाहिए कि वह गद्य-विधा होते हुए भी भावात्मक एवं रागपूर्ण रचना है। उसकी अभिनेयता एवं संवाद शैली छात्रों के लिए बहुत ही प्रिय एवं रोचक वस्तु है। उसकी शिक्षण विधि में भाषिक एवं साहित्यिक तत्त्वों के साथ-साथ अभिनेयता एवं संवादात्मक विशेषताओं का भी ध्यान रखना है। अतः उपर्युक्त प्रणालियों के आधार पर कोई संक्त या मिश्रित प्रणाली ही अपनाना अधिक उपयोगी है।

शिक्षण सोपान

विशिष्ट उद्देश्य—प्रस्तुत पाठ संबंधी भाव, विचार, संवाद, चरित्र-चित्रण पर आधारित उद्देश्यों का निर्धारण।

प्रस्तावना—पाठ सम्बन्धी प्रसंग की उद्भावना एवं उसकी ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित करना होता है। नाटककार के संक्षिप्त परिचय अथवा नाटक के मुख्य भाव पर आधारित संक्षिप्त वक्तव्य अथवा कुछ भावप्रेरक प्रश्नों द्वारा भी प्रस्तावना हो सकती है। तत्पश्चात् सोद्देश्य पठन की दृष्टि से इस बात का भी उल्लेख किया जाता है कि प्रस्तुत पाठ द्वारा बालक क्या अर्जित करने जा रहे हैं।

प्रस्तुतीकरण—पाठ का उल्लेख करना।

आदर्श पाठ—शिक्षक द्वारा सात्त्विक अभिनययुक्त वाचन। इस पठन में केवल ध्वनि के आरोह-अवरोह द्वारा ही भावाभिव्यंजन का प्रयत्न होता है, आंगिक अभिनय द्वारा नही।

कुछ विचारकों ने गद्य पाठ की भाँति नाटक में भी मौन पाठ का समर्थन किया है, पर नाटक मे रागात्मकता होने के कारण उसका सस्वर वाचन ही अच्छा है। संवादों का मौन पठन द्वारा वह प्रभाव नही पड़ता जो व्यक्त पठन मे पड़ता है।

केन्द्रीय भाव ग्रहण—पठित अंश पर आधारित दो-एक प्रश्नों द्वारा पाठ के विषय एवं कथावस्तु ग्रहण की परीक्षा।

व्याख्या—उपयुक्त प्रश्नों द्वारा भावार्थ, चरित्र-चित्रण, भावात्मक स्थलों की व्याख्या, वार्तालाप एवं कथन सम्बन्धी विशेषताओ पर प्रकाश डालना। मानवीय संबध, व्यवहार, शिष्टाचार, सवादात्मक विशेषताएँ आदि को भी प्रकाश मे लाना चाहिए। नाटक के विभिन्न तत्त्वों पर प्रश्न पूछते हुए उनका स्पष्टीकरण और गुण-दोष विवेचन व्याख्या का मुख्य अंग है।

पाठ्याभिनय—अंत में पूरे पाठ का अभिनय छात्रों द्वारा वाचिक रूप में होगा। शिक्षक के निर्देशानुसार छात्र द्वारा अपने पठन में किंचित हाव-भाव का भी अवलम्बन लिया जा सकता है। शिक्षक छात्रो को बता देता है कि कौन छात्र किस पात्र का संवाद पढेगा। छात्रों को निर्भीकता के साथ संभाषण या संवाद प्रस्तुत करने के लिए इस प्रकार अच्छा अवसर मिलता है। साभिनय वाचन का आदर्श आवश्यकतानुसार शिक्षक स्वयं भी प्रस्तुत कर सकता है।

पुनरावृत्ति—संपूर्ण पठित अश पर समालोचनात्मक प्रश्न—कथावस्तु, चरित्र-चित्रण एवं संवाद आदि तत्त्वों पर—पूछे जायेंगे।

नाटक-शिक्षण में और ध्यान देने योग्य बातें

(i) नाटक के शिक्षण के लिए चाहे हम किसी भी प्रणाली का प्रयोग करें, हमें इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि नाटक एक रागात्मक पाठ है और उसके द्वारा बालकों की कल्पना एवं सौन्दर्यानुभूति की शक्ति को जगाना है और उनमें कलात्मक रुचि का विकास करना है।

(ii) गद्य पाठों की भाँति भाषिक तत्त्वों के ज्ञान या शब्द भंडार की वृद्धि पर बल न देकर भाषा के कलात्मक प्रयोग की ओर छात्रों का ध्यान आकृष्ट किया जाय।

(iii) कथावस्तु एवं चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध को अवश्य स्पष्ट किया जाय। घटना किस प्रकार पात्र के चरित्र पर प्रकाश डालती है और चरित्र का घटना विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसे स्पष्ट करना चाहिए।

(iv) विद्यालय में समय-समय पर रंग-मंच पर नाटक अवश्य खेले जायँ। इससे विद्यार्थियों में अभिनय के प्रति रुचि बढ़ती है। नाटक खेलने के बाद विद्यार्थी नाटक पर समीक्षात्मक रूप से विचार करें। उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में कथा वस्तु, चरित्र चित्रण और कथोपकथन की विशेषताओं पर अवश्य चर्चा-परिचर्चा होनी चाहिए।

(v) नाटक प्रारम्भ करने के पूर्व शिक्षक नाटककार का संक्षिप्त परिचय दे सकता है। कथावस्तु सम्बन्धी ऐतिहासिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि का भी संक्षिप्त परिचय देना अच्छा रहता है, पर कथानक न बताया जाय अन्यथा उत्सुकता नष्ट हो जाती है।

(vi) यदि नाटक में गीत हैं तो उनका शिक्षण कविता-शिक्षण विधि के अनुसार होना चाहिए। नाटक के कठिन गद्य स्थलों की व्याख्या गद्य शिक्षण विधि के अनुसार होनी चाहिए।

(vii) एकांकी नाटक एक घंटे में समाप्त किया जा सकता है पर यदि बड़ा नाटक है तो उसका उतना ही अंश (प्राय: एक अंक या दृश्य) पढ़ाना चाहिए जो एक घंटे मे समाप्त हो जाय।

अभिनय

अभिनय नाटक का एक आवश्यक घटक है। अभिनय में व्यक्ति किसी दूसरे के व्यक्तित्व का अपने ऊपर आरोपण करता है। व्यक्ति जब स्वयं क्रिया करता है तो वह क्रिया अभिनय नहीं है, पर जब वह किसी दूसरे व्यक्ति की क्रियाओं का अनुकरण करता है तो वह अभिनय की परिधि में आता है।

नाटक एवं अभिनय एक नहीं हैं। अभिनय नाटक का एक घटक है जबकि नाटक संपूर्ण प्रयोग है। नाटक का क्रिया विशेष अभिनय है पर वह निस्संदेह ही नाटक का प्राण है, अभिनय विहीन नाटक, नाटक नहीं। अतः यह कहा जा सकता है कि नाटक का व्यावहारिक रूप अभिनय ही है।

यह सत्य है कि माध्यमिक कक्षाओं में अभिनय की शिक्षा की ओर कोई ध्यान नही दिया जाता पर इस अवस्था के बालकों में अनुकरण की प्रवृत्ति बड़ी प्रबल होती है और उनकी भाषा की योग्यता तथा भावात्मक एवं वैचारिक स्थिति भी इतनी विकसित हो जाती है कि वे किसी पात्र का रूप ग्रहण कर सकते हैं। अतः यह अवस्था अभिनय सिखाने की दृष्टि से सर्वोपयुक्त अवस्था है।

अभिनय में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान कथोपकथन का है, अतः कथोपकथन को प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने की शिक्षा समुचित ढंग से होनी चाहिए। कथोपकथन की सफलता पर ही अभिनय की सफलता है। कथोपकथन में निम्नांकित बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है—

(i) अवसरानुकूल भाषा का प्रयोग
(ii) पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग
(iii) उच्चारण (वर्णोच्चारण, शब्दोच्चारण, वाक्योच्चारण)
(iv) उचित हाव-भाव।

अभिनय के लिए विषय सामग्री का चयन प्रायः छात्रों की पाठ्यपुस्तकों से करना चाहिए पर आवश्यकतानुसार किसी नाटक या एकांकी को भी चुना जा सकता है। ऐसी सामग्री चुननी चाहिए जिसकी भाषा सरल, स्पष्ट और भावपूर्ण हो।

यह लिखा जा चुका है कि अभिनय दो प्रकार से कराया जा सकता है—(i) कक्षा में अभिनय कराया जाय और उसी घंटे में समाप्त कर दिया जाय। यह अभिनय बिना किसी साज-सज्जा और वेश-भूषा के वाचिक अभिनय होगा। (ii) अभिनय सपूर्ण विद्यालय की ओर से रंगमंच पर किया जाय जिसमें सभी छात्र उसका आनन्द ले सकें।

विद्यालय की ओर से होने वाले अभिनय की पूरी योजना पहले बना लेनी चाहिए। नाटक का चयन, पात्रों का निर्धारण, समय निर्धारण आदि बातें हिन्दी शिक्षक के पथप्रदर्शन में कक्षा के छात्रों द्वारा निश्चित हो जानी चाहिए। अभिनय से सम्बन्धित सारे क्रियाकलापों को सम्पन्न करने के लिए छात्रो की विभिन्न समितियां बना देनी चाहिए जो अपने-अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करें। पूर्वाभ्यास के लिए भी उचित व्यवस्था रहनी चाहिए। वेश-भूषा की व्यवस्था, रंगमंच की व्यवस्था, साज-सज्जा एवं प्रसाधन सामग्री आदि की व्यवस्था का पूरा ध्यान रखना चाहिए। अभिनय का संचालन ऐसे किसी कुशल शिक्षक को सौंपना चाहिए जिसे इसका अनुभव हो। अभिनय के दिन क्या-क्या आवश्यकताएँ पड़ती हैं, उनकी सूची भी बना लेनी चाहिए और उनकी पूर्ति की व्यवस्था रहनी चाहिए। नेपथ्य में सामान रखने की व्यवस्था, पात्रों के रंगमंच पर आने-जाने पर व्यवस्था, अतिथियों के स्वागत एवं उनके बैठने की व्यवस्था, संगीत-नृत्य संबंधी सभी उपकरणो की व्यवस्था, प्रकाश एवं सजावट की व्यवस्था आदि अनेक बातों का ध्यान भी आवश्यक है।

अभिनय के दिन निर्णायक मण्डल भी बना देना चाहिए जो अभिनय कुशलता के आधार पर छात्रों को अंक प्रदान करे और तदनुसार सर्वोत्तम छात्रों को पुरस्कृत किया जा सके।

सारांश

किसी भी अवस्था के अनुकरण को नाटक कहते हैं। यह अनुकरण आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक चार प्रकार का होता है। कक्षा में नाटक-शिक्षण की दृष्टि से वाचिक अनुकरण का विशेष महत्त्व है।

नाटक-शिक्षण का महत्त्व—मानव प्रकृति, चरित्र, व्यवहार, शिष्टाचार आदि से परिचय, भावों का प्रदर्शन, मौखिक भावाभिव्यक्ति की योग्यता में वृद्धि, शिक्षण का दृश्य-श्रव्य साधन।

उद्देश्य-अनुकरण एवं आत्मप्रकाशन की भावना को क्रियात्मक एवं कलात्मक रूप देना, मनोरंजन करना, मनोभावों का उदात्तीकरण करना, संवाद एवं अभिनय कला में कुशलता प्राप्त करना, भाषा-प्रयोग की योग्यता बढ़ाना, साहित्यिक एवं कलात्मक रुचि का विकास करना।

नाटक-शिक्षण प्रणाली—(i) आदर्श नाट्य प्रणाली, (ii) अभिनय प्रणाली–रंगमंच अभिनय प्रणाली, कक्षाभिनय प्रणाली, (iii) व्याख्या प्रणाली। इन सभी प्रणालियों से समन्वित प्रणाली ही अधिक उपयुक्त प्रणाली है।

शिक्षण-सोपान—प्रस्तावना, प्रस्तुतीकरण, आदर्श पाठ, केन्द्रीय भाव ग्रहण, व्याख्या, पाठ्याभिनय, पुनरावृत्ति।

प्रश्न

1. नाटक में अनेक कलाओं का समावेश है? इस कथन की सार्थकता सिद्ध कीजिये।

2. नाटक-शिक्षण के महत्त्व एवं उद्देश्य पर प्रकाश डालिए।

3. नाटक-शिक्षण की विभिन्न प्रणालियाँ क्या हैं? आप किस प्रणाली का प्रयोग करेंगे और क्यों?

4. नाटक-शिक्षण में किन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है?

5. नाटक-शिक्षण में अभिनय का क्या महत्त्व है? आप उसे क्या स्थान देना चाहते हैं और किस प्रकार?

17

कविता-शिक्षण

[कविता की परिभाषा, कविता-शिक्षण का महत्त्व, कविता-शिक्षण के उद्देश्य, उपयुक्त कविताओं का चयन, शैक्षिक स्तरों की दृष्टि से कविता के प्रकार। हिन्दी कविता के सौन्दर्य तत्त्व, काव्यानुभूति के मुख्य सिद्धान्त, कविता-शिक्षण-विधियाँ–गीत प्रणाली, नाट्य प्रणाली, शब्दार्थ कथन प्रणाली, प्रश्नोत्तर अथवा खण्डान्वय प्रणाली, व्याख्या प्रणाली (व्यास, तुलना एवं समीक्षा प्रणाली); कविता शिक्षण–सोपान, काव्यात्मक रुचि बढ़ाने के साधन]

"जब मनुष्य प्रकृति के नाना रूपों और व्यापारों से ऊँचा उठकर अपने योग–क्षेम, हानि–लाभ, सुख–दुःख आदि को भूलकर तथा अपनी पृथक् सत्ता से छूट कर केवल अनुभूतिमात्र रह जाता है, तब हम उसे मुक्त हृदय कहते हैं। हृदय की इस मुक्ति साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते है।"

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

कविता की परिभाषा

कविता सदा से ही भाषा की साहित्यिक एवं कलात्मक सौन्दर्यानुभूति का प्रमुख स्रोत रही है। आदि काल से ही वह मानव हृदय में आनन्द एव रस का संचार करती रही है। इसी कारण मानव हृदय कविता के प्रति जितना विमुग्ध होता है, उसकी रमणीयता में रमना चाहता है और उसकी भाव लहरियों का अवगाहन कर आनन्द विभोर होना चाहता है, उतना भाषा की अन्य कृतियों में नही। कविता में यह कौन सी रमणीयता है ? उसमें वे कौन से सौन्दर्य तत्त्व है जो आबालवृद्ध मानव-हृदय को इस प्रकार अपने में निमज्जित कर लेते है ?

प्राचीन भारतीय साहित्य शास्त्रियों एवं विचारकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से काव्य के सौदर्य तत्त्वों का, दूसरों शब्दों में उसकी आत्मा का उल्लेख किया है—

विश्वनाथ कविराज—"वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्।" रसात्मक वाक्य ही काव्य है।

पण्डितराज जगन्नाथ—"रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।" रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है ।

आचार्य आनन्दवर्धन—"काव्यस्यात्मा ध्वनिः ।" ध्वनि ही काव्य की आत्मा है ।

आचार्य वामन—"रीतिरात्मा काव्यस्य ।" रीति ही काव्य की आत्मा है ।

आचार्य दण्डी—"काव्य शोभाकरान्धमनिननलंकारान्द्र चक्षते ।"

आचार्य मम्मट—"तददोषौ शब्दार्थों सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि ।" दोप रहित, गुणयुक्त, प्रायः अलंकृत पर कभी-कभी अनलंकृत शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं ।

आचार्य कुंतल—"वक्रोक्तिः काव्य जीवितम् ।" वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है ।

आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्तुत परिभाषा ऊपर लिखी जा चुकी है । उन्होने दूसरे रूप में कविता की परिभाषा इस प्रकार लिखी है—"कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेप सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है ।"

जयशंकर प्रसाद—"आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति काव्य है ।"

पाश्चात्य साहित्यकारों द्वारा प्रस्तुत कविता की कतिपय परिभाषाओं का अवलोकन भी समीचीन प्रतीत होता है—

मिल्टन—कविता सरल, ऐंद्रिक एवं रागात्मक होनी चाहिए ।[1]

जान्सन—कविता सत्य और आनन्द के एकीकरण की कला है जिसमें विवेक के साथ कल्पना का प्रयोग होता है ।[2]

हडसन—कविता कल्पना एवं मनोवेगों के माध्यम से जीवन की व्याख्या है ।[3]

मेथ्यू आर्नल्ड—कविता मूलतः जीवन की समालोचना है ।[4]

कालरिज—सर्वोत्तम शब्दों का सर्वोत्तम क्रम ही कविता है ।[5]

---

1. "Poetry should be simple, sensuous and impassioned."
2. "Poetry is the one of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason."
3. "Poetry is an interpretation of life through imagination and emotion."
4. "Poetry is at bottom criticism of life."
5. "Poetry is the best words in the best order."

वर्ड्सवर्थ—शांति के क्षणों में प्रत्यास्मरित मनोवेगों का प्रवाह कविता है।[6]

कारलायल—संगीतमय विचार ही कविता है।[7]

उपर्युक्त प्रत्येक परिभाषा में कविता के किसी न किसी विशिष्ट सौन्दर्य का संकेत है। रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, गुण कविता के विधान एवं आत्मा के विविध परिचायक तत्त्व हैं। वस्तुतः कविता इन सभी तत्त्वों की समष्टि है। वह जीवन की समालोचना भी है और संगीतमय विचार भी, वह जीवन का प्रतिबिम्ब भी है और सर्वोत्तम शब्द-योजना भी। ये सभी गुण उसके विविध सौन्दर्य तत्त्व हैं और छात्रों में इन सौन्दर्य तत्त्वों के बोध एवं अनुभूति की योग्यता विकसित करना कविता-शिक्षण का सर्वप्रमुख उद्देश्य है।

कविता की हम चाहे जो भी परिभाषा प्रस्तुत करें और उनमें चाहे कितनी ही विविधता क्यों न हो, पर इतना तो निर्विवाद है ही कि उससे हमारे हृदय में एक अद्भुत, लोकोत्तर आनन्द का संचार होता है और हम कुछ देर के लिए सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर भावों के अनुपम जगत में विचरण करने लगते हैं। इसी कारण उसे ब्रह्मानन्द सहोदर की संज्ञा प्रदान की जाती है। बालक के हृदय में इसी लोकोत्तर आनन्द का संचार और रस की सृष्टि करना कविता-शिक्षण का उद्देश्य है।

कविता-शिक्षण का महत्त्व

कविता-शिक्षण द्वारा बालक के रागात्मक भावों को तुष्टि मिलती है, सौदर्न्य की परख एवं सौन्दर्यानुभव की शक्ति बढ़ती है और चित्तवृत्तियों का परिष्कार होता है।

मनुष्य ज्ञान, इच्छा और क्रिया का पुंज होता है। जहाँ ज्ञान और क्रिया को प्रबुद्ध एवं उन्नत करने के साधन ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक विषय है, वहाँ हमारी इच्छाओं को उद्रिक्त एवं उन्नत करने के साधन रागात्मक विषय है और रागात्मक विषयों में कविता का स्थान सर्वप्रमुख है। कविता द्वारा हमारे भावों का उद्रेक होता है और उनका पोषण भी। इससे हमारे मनोवेग जागरूक और परिष्कृत होते है। मानव हृदय में स्थित हर्ष और विषाद, प्रेम और घृणा, करुणा और क्रोध आदि भाव ही राग कहलाते हैं। ये राग ही अनुकूल उत्तेजकों एवं उद्दीपकों के कारण उद्रिक्त एवं प्रबल होकर संवेगों का रूप धारण कर लेते हैं और मनुष्य को कार्य की प्रेरणा देते हैं। अतः मनुष्य की क्रियाशीलता को स्फुरित करने के लिए रागात्मक

6. "Poetry is the emotion recollected in tranquility."

7. "Poetry is the musical thought."

प्रवृत्तियों का विकास अति आवश्यक है। इस विकास में कविता-शिक्षण से यथेष्ट सहायता मिलती है।

हमें यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि भाव तथा रस व्यक्ति में बाहर से नहीं आरोपित होते। व्यक्ति के हृदय में भाव या रागतत्त्व विद्यमान रहते हैं पर वे सुषुप्तावस्था में पड़े रहते हैं। कविता-शिक्षण से ये रागतत्त्व जागरित होते हैं और रसानुभूति होती है। यह भी समझ लेना चाहिए कि सभी बालकों में सौन्दर्यानुभूति की शक्ति एक समान नहीं होती, कोई अधिक भावुक होता है और कोई कम। अतः शिक्षक को प्रत्येक बालक से समान रूप की रसानुभूति का आग्रह नहीं करना चाहिए।

कविता द्वारा हम सौन्दर्य के माध्यम से सत्य की अनुभूति करते हैं। मनुष्य सदा से ही सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का उपासक रहा है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की उपलब्धि क्रमशः ज्ञान, इच्छा और क्रिया के उन्नयन एवं परिष्कार का ही परिणाम है और इन तीनों तत्त्वों की दृष्टि से पाठ्यक्रम मे ज्ञानात्मक, क्रियात्मक एवं भावात्मक पाठों का समावेश किया जाता है—

ज्ञान → ज्ञानात्मक पाठ → सत्यम्
क्रिया → कौशल पाठ → शिवम्
इच्छा → भावात्मक पाठ → सुन्दरम्

भावात्मक पाठों में कविता का प्रमुख स्थान है।

वस्तुतः मनुष्य के मानसिक पक्ष का ज्ञान, क्रिया और इच्छा के रूप में विभाजन केवल सुविधा एवं प्रमुखता की दृष्टि से है, अन्यथा प्रत्येक मे शेष दो तत्त्व गौण रूप में विद्यमान रहते हैं। अतः भावात्मक पाठों द्वारा सौन्दर्य की अनुभूति होती है पर वह सौन्दर्यानुभूति सत्य की ओर ले जाती है और कर्म की प्रेरणा भी देती है।

कविता आनन्द की अनुभूति का साधन है। यह आनन्द सौन्दर्य-बोध एवं सौन्दर्यानुभूति के माध्यम से प्राप्त होता है। इस सौन्दर्य-बोध एवं सौन्दर्यानुभूति के अभाव में जीवन की सरसता जाती रहती है। कविवर हरिऔध का कथन है—

"मन रमा रमणी रमणीयता मिल गई यदि यह विधि योग से।
पर न मिली जिसे कविता सुधा रसिकता सिकता सम है उसे।।"

कविता-शिक्षण की उपादेयता सर्वमान्य है। कविता द्वारा मनुष्य की रागात्मक वृत्तियों का संशोधन और संस्कार तथा सात्विक वृत्तियों का उद्बोधन होता है। काव्य के अनुशीलन से मनुष्य की आदिम वृत्तियाँ—ईर्ष्या, लोभ, मोह, काम, मद, मत्सर आदि विकारों का भी रूपातर और उदात्तीकरण हो जाता है। इतना ही नहीं, कविता हमारे भौतिक जीवन के उत्कर्ष में भी सहायक होती है। आचार्य मम्मट ने कविता की उपादेयता इस प्रकार लिखी है—

"काव्यं यश से ऽर्थ कृते व्यवहारविदेशि वेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्ता सम्मितयोपदेश युजे ।।"

काव्य से यश और अर्थ प्राप्त होता है, व्यवहार कुशलता आती है, कल्याण सिद्धि होती है और वह मधुर उपदेश के सदृश प्रभावकारी होती है। कविता अपने इन्हीं गुणों के कारण ललित कलाओं में श्रेष्ठ और सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित की जाती है।

कविता शिक्षण का उद्देश्य

कविता-शिक्षण का उद्देश्य हृदय की रागात्मक वृत्तियों का संशोधन और संस्कार करना है। इसके द्वारा सात्विक वृत्तियों का उद्बोधन होता है और सत्कर्मो की प्रेरणा मिलती है।

सौन्दर्यानुभव की शक्ति वालक में प्रकृति प्रदत्त होती है। अबोध वालक भी उषा की लाली और चन्द्रज्योत्सना देखकर पुलकित हो उठता है। सुन्दर और चटकीले खिलौने देखकर उन पर लट्टू हो जाता है, रंग-विरंगे फूलों को देखकर उसका मन नाच उठता है। सुन्दर एवं मनोहर वस्तुओं एवं दृश्यों के प्रति अनुराग की भावना उसकी प्रकृति में है। कविता-शिक्षण का उद्देश्य वालक के इस प्रकृति-प्रदत्त सौन्दर्यानुभव की शक्ति का विकास करना है।

भावात्मक प्रशिक्षण के अभाव में रागात्मक वृत्तियों-हर्ष-विषाद, प्रेम-घृणा, करुणा-क्रोध आदि का ठीक विकास नहीं होता और वे विकृत हो जाती हैं, मानसिक कुण्ठा, प्रतिरोध, कलात्मक जड़ता तथा असामाजिक भावनाएँ घर कर लेती हैं, रचनात्मक प्रवृत्तियों का स्थान नकारात्मक एवं विध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ ग्रहण कर लेती हैं। कविता-शिक्षण इन विकृतियों से वचाने का एक उत्तम साधन है। इसके द्वारा रागात्मक प्रवृत्तियों को रचनात्मक वनाने में सहायता मिलती है। रागात्मक प्रवृत्तियों के उत्कर्ष से सृजनात्मक प्रवृत्तियों का विकास होता है। वालक किसी रचना में, उसे साज-सँवार कर सुन्दर वनाने में आन्तरिक आह्लाद का अनुभव करता है और नवीन सृजन एवं अन्वेषण द्वारा शिवत्व की ओर अग्रसर होता है।

संक्षेप मे कविता-शिक्षण के उद्देश्य इस प्रकार है—

1. शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारण, उचित गति, यति, लय और भाव के अनुसार कविता का सस्वर वाचन।

2. कविता के प्रति सामान्य अनुराग :

(i) सुरुचिपूर्ण कविताओं का संकलन, स्वयं कविता-रचना का प्रयत्न और अभ्यास।

(ii) प्रमुख कवियों की रचनाओं तथा काव्य-धारा का परिचय प्राप्त करना।

(iii) कविता कण्ठस्थ करना तथा उचित भाव-भंगिमा एव भावाभिव्यंजकता के साथ सस्वर पठन।

(iv) अंत:कथाओं का जानना, समान भावों की कविताएँ ढूँढ़ना और कण्ठस्थ करना।

3. कवि द्वारा व्यंजित भावों, अनुभूतियों और कल्पनाओं को समझना, ग्रहण करना और रसास्वादन करना—

(i) प्रस्तुत कविता के मुख्य भावों एवं विचारों को ग्रहण करना और कवि के आशय को समझना।

(ii) मर्मस्पर्शी स्थलों की पहिचान और तत्सम्बन्धी भावानुभूति।

(iii) कविता के मूल प्रेरणा तत्त्व को समझना।

(iv) कवि की अन्य रचनाओं को जानने का प्रयत्न करना।

(v) वाच्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को समझना, व्याख्या करना एवं तत्सम्बन्धी भावों एवं विचारों को अपनी भाषा में अभिव्यक्त करना।

(vi) यथावश्यक तद्निहित प्रसंगों की उद्भावना कर सकना।

4. छात्रों की रागात्मक शक्तियों का उदात्तीकरण, सात्विक भावों का उद्बोधन एवं उदात्त भावों का संवर्द्धन।

5. छात्रों की कल्पना शक्ति को जागरित करना तथा उन्हें मौलिक कल्पना के लिए प्रेरित करना।

6. काव्य सौन्दर्य तत्त्वों का बोध—

(क) नाद-सौन्दर्य का बोध, जैसे

(i) वर्णों, शब्दों या पदों की आवृत्ति (अनुप्रास, यमक आदि)।

(ii) मध्यवर्ती तुकांतपद, छन्द की गति, यति, मात्रा आदि।

(iii) स्वरों का आरोह–अवरोह, कोमल तथा कठोर वर्ण; ओज, प्रसाद, माधुर्य गुण।

(iv) भावानुरूप वर्ण-विन्यास; मधुर, द्वित्व, संयुक्त आदि।

(ख) भाव-सौन्दर्य; प्रेम, करुणा, क्रोध, उत्साह आदि विविध भावों की अनुभूति।

(ग) विचार-सौन्दर्य; कविता में वर्णित नैतिक गुणों, धार्मिक विचारों, मानवीय मूल्यों एवं आदर्शों को समझना। कबीर, तुलसी, रहीम, वृन्द आदि कवियों के नीतिपरक दोहों में विचार-सौन्दर्य की ही प्रधानता है।

(घ) शब्द-योजना के आधार पर दृश्य-चित्रों की कल्पना।

(ङ) प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत की व्याख्या; उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का ज्ञान और उनके चमत्कार एवं सौन्दर्य की सराहना।

7. समालोचना संबंधी विविध अंगो का सामान्य ज्ञान—

(i) विविध काव्यात्मक शैलियों का परिचय।

(ii) भाव एवं विचार-सौन्दर्य संबंधी गुण-दोष विवेचन और उनकी सम्यक् अभिव्यक्ति।

(iii) वस्तु, चरित्र चित्रण, वर्णन या संवाद, भाषा एवं शैली–शब्द चयन, छंद विधान, भाव–प्रवाह आदि ।

(iv) कवि का जीवनवृत्त, उसकी रचनाएँ, उसके काव्य के विषय और साहित्यिक विचार आदि का परिचय ।

(v) काव्यों की तुलनात्मक विवेचना ।

8. कविता में वर्णित नैतिक मूल्यों एवं आदर्शो द्वारा छात्रो की सद्वृत्तियों का विकास ।

9. स्वतंत्र साहित्यिक विचार, दृष्टिकोण एवं शैली का निर्माण ।

शैक्षिक स्तरों की दृष्टि से कविता के प्रकार

प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक स्तरों के अनुसार कविता के तीन प्रकार हो सकते है :—

1. प्राथमिक अवस्था–बालगीत तथा छंदोंबद्ध लय वाले पद्य प्राथमिक स्तर पर उपयुक्त होते हैं। बालक नाद सौंदर्य प्रधान कविताएँ विशेष चाव से पढ़ते है । इस स्तर पर ऐसी कविताएँ पढ़ायी जायें जिनसे बालकों में कविता के प्रति रुचि जगे और आगे की कक्षाओं के कविता-शिक्षण की पृष्ठभूमि तैयार हो जाय ।

छन्दोबद्ध लययुक्त गेय पद इस अवस्था के बालकों को बहुत अच्छे लगते है । अतुकांत पद इसी कारण इन छात्रो को प्रिय नहीं होते । तुकांत पद छात्रों को आसानी से कण्ठस्थ भी हो जाते है । इन कविताओं में भाषा की कठिनाई नही होनी चाहिए । शब्द सरल हों और भाव भी सरल हों । कविताएँ छोटी-छोटी हों । छन्द भी छोटे हो । कविता के विषय अनुभव सिद्ध हो ।

इस स्तर पर केवल खड़ी बोली की कविताएँ ही चुनी जायें । बाल्य-जीवन एवं प्राकृतिक सौदर्य–फूल, वन, बाग, जीव-जन्तु, सरिता, पर्वत, तारे, सूरज, चाँद, वर्षा, वसंत, झरना आदि से सम्बन्धित कविताएँ इस स्तर पर रुचिकर और उपयोगी होती है ।

अभियान गीत (मार्चिंग सांग) और क्रिया प्रधान गीत (ऐक्शन सांग) इस स्तर पर विशेष प्रिय सिद्ध होते है और बालक इन्हें गाने में बड़े उत्साह और आनन्द का अनुभव करते हैं।

2. माध्यमिक अवस्था–वर्णन प्रधान काव्य साहित्य इस स्तर के लिए उपयुक्त है । इन कक्षाओं में भाव एवं विचार प्रधान कविताएँ पढ़ाई जा सकती है, पर उनकी शैली वर्णन प्रधान हो । इतिवृत्यात्मक कविताएँ इस स्तर के लिए सरलतापूर्वक ग्राह्य सिद्ध होती हैं ।

उत्साह, साहस, करुणा, राष्ट्रप्रेम, त्याग, बलिदान आदि भावनाओं की कविताएँ इस स्तर पर रुचिकर होती हैं । नीति के दोहे भी बालक खूब याद करते हैं । भाषा और शैली दोनों दृष्टियों से इस स्तर पर कुछ उच्च स्तर की कविताएँ

चुनी जा सकती हैं। अवधी एवं ब्रजभाषा की भी सरल कविताएँ पढ़ाई जा सकती हैं पर प्रधानता खड़ी बोली की कविताओं को ही होनी चाहिए।

3. उच्चतर माध्यमिक अवस्था—भावात्मक एवं साहित्यिक सौंदर्य प्रधान कविताएँ इस स्तर पर उपयुक्त होती हैं। अलंकारयुक्त गूढ़, भावों तथा प्रतीकात्मक योजना वाली कविताएँ भी बालक समझने लगते हैं।

इस स्तर पर हिन्दी काव्य साहित्य का पूर्ण प्रतिनिधित्व अपेक्षित है। चारों कालों के प्रतिनिधि कवियों की रचनाओं से प्रेरणाप्रद उत्तम अंश इस स्तर के लिए संकलित होने चाहिए। ब्रज और अवधी की कविताओं को भी अच्छा प्रतिनिधित्व होना चाहिए, पर प्रधानता खड़ी बोली की कविताओं की ही रहनी चाहिए। कुछ कवियों की अनेक अथवा लम्बी कविताएँ देने की जगह अधिकाधिक कवियों की छोटी-छोटी रचनाएँ देना अधिक संगत है।

इस स्तर के लिए कविताओं के चयन में यह भी ध्यान में रखना है कि आधुनिक युग की काव्य शैलियों का उचित प्रतिनिधित्व हो गया है जैसे द्विवेदी युग, छायावाद, प्रगतिवाद और प्रसंगवाद की प्रतिनिधि कविताएँ। स्वातंत्र्योत्तर कालीन कवियों की भी कतिपय रचनाएँ इस स्तर पर पढ़ानी चाहिए।

इस स्तर पर छात्रों को हिन्दीतर भाषाओं की कविताओं से भी कुछ-कुछ परिचित होना आवश्यक है। अतः अन्य भारतीय भाषाओं से हिन्दी मे अनूदित कुछ कविताएँ भी रखी जाएँ। इसी प्रकार दो-एक प्रसिद्ध विदेशी कवियो की हिन्दी में अनूदित कविताएँ भी रखी जा सकती हैं। इनसे छात्रों की काव्य-रुचि के विस्तार और परिष्कार में सहायता मिलेगी।[8]

हिन्दी कविता के सौंदर्य तत्त्व

कविता-शिक्षण की विधि और पाठ-योजना पर विचार करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि हिन्दी कविता के सौंदर्य–तत्त्व क्या है और उनकी अनुभूति किस प्रकार करायी जा सकती है। ये सौंदर्य–तत्त्व इस प्रकार हैं—

1. अभिव्यक्ति का सौंदर्य—(i) नाद तथा ध्वनि का सौन्दर्य, वर्णों एवं शब्दों की आवृत्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, तुकांतपद, मात्रा (लघु, गुरु), यति, गति, स्वराघात आदि। विविध छन्द-विधान एवं उनका सौन्दर्य।

(ii) शब्द योजना तथा शैली-वर्ण-विन्यास, अर्थालंकार-प्रयोग–रूपक, उपमा, प्रस्तुत-अप्रस्तुत आदि, प्रतीकात्मक प्रयोग; शब्द-शक्ति-अभिधा, लक्षणा व्यंजना; गुण-ओज, प्रसाद, माधुर्य; भावानुकूल भाषा एवं छंद की योजना आदि।

(iii) चित्रात्मकता, शब्द चित्र योजना, मूर्त विधान, मानवीकरण।

---

8. माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं की दृष्टि से उपयुक्त कविताओं का उल्लेख विस्तार से 'पठन-शिक्षण' अध्याय में किया गया है। अतः यहाँ केवल संकेत भर कर दिया गया है।

(iv) कल्पना-सौन्दर्य—नयी-नयी कल्पनाएँ, रूप, आकार, भाव सादृश्य विधान, नवी उपमाएँ एवं दृश्य-चित्र आदि।

2. **भाव-सौंदर्य**—हर्ष, शोक, प्रेम, वात्सल्य, करुणा, उत्साह आदि विविध भावों का सौन्दर्य; स्थायी भाव, संचारी भाव, अनुभाव आदि का परिचय; आश्रय, आलंबन, उद्दीपन आदि का परिचय। इनके परिचय से बालक में कविता के रसास्वादन की योग्यता विकसित होती है और वह कविता के अनुशीलन में आनन्द का अनुभव करने लगता है।

कविता-शिक्षण में भाव-सौन्दर्य संबंधी शास्त्रीय प्रविधि की कठिनाइयों में न जाकर छात्रों को इनका सामान्य परिचय देना ही अपेक्षित होगा। इस परिचय के आधार पर बालक कविता के मर्मस्पर्शी स्थलों की पहिचान और अनुभूति में समर्थ हो सकेगा।

3. **विचार-सौंदर्य**—कविता में निहित उच्चचरित्र तथा नैतिकता का सौन्दर्य सात्विक एवं उदात्त गुणों का सौन्दर्य आदि की ओर छात्रों का ध्यान आकृष्ट करना चाहिए। विचार-सौन्दर्य की अनुभूति से ही सद्वृत्तियों के विकास में सहायता मिलती है। भक्तिकालीन हिन्दी कविता में विचार-सौन्दर्य के अनुपम उदाहरण मिलते हैं। कबीर, तुलसी, रहीम, वृन्द आदि के नीतिपरक दोहो में भी विचार-सौन्दर्य की ही प्रधानता है।

इस सौन्दर्य तत्वो के विश्लेषण में शिक्षक को बालकों के सौन्दर्य बोध की क्षमता का सदा ध्यान रखना चाहिए और तदनुकूल शिक्षण-योजना बनानी चाहिए। प्रारम्भिक अवस्था में भाव एवं विचार-सौन्दर्य के बोध की अपेक्षा करना उचित नही है। माध्यमिक कक्षाओं में कविता के विविध सौन्दर्य तत्वों का परिचय देने के बाद ही बालकों से कविता के रसास्वादन एवं समीक्षात्मक अध्ययन की आशा की जा सकती है।

काव्यानुभूति के मुख्य सिद्धांत

छात्रो में सौन्दर्यानुभूति की योग्यता विकसित करने के लिए निम्नांकित बातें ध्यान देने योग्य हैं:—

1. शिक्षक कविता में स्वयं रुचि रखे, भाव मग्न होकर पढाये और सूक्ष्म सौन्दर्य पूर्ण स्थलों की यथावश्यक व्याख्या स्वयं ही करे। छात्रों से ही उत्तर निकलवाने के प्रयत्न में और छात्रों द्वारा व्याख्या कराने का आग्रह करने पर कविता का भाव-सौन्दर्य और उसका सरस प्रभाव नष्ट हो जाता है। बालकों में काव्य-रसास्वादन की क्षमता भिन्न-भिन्न प्रकार की और भिन्न-भिन्न मात्रा में होती है। अतः प्रत्येक बालक से एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया की आशा नही करनी चाहिए।

2. अधिकाधिक शिक्षण और अभ्यास द्वारा बालकों की काव्यात्मक रुचि और काव्य रसास्वादन की योग्यता बढ़ाई जा सकती है। अतः इसके लिए विशेष प्रयत्न अपेक्षित है।

3. कविता सुनने के लिए भी बालकों को प्रोत्साहित किया जाए। इस दृष्टि से कविता-सुपाठ की योजना विशेष उपयोगी होती है।

4. कविता की भाव-समग्रता को अक्षुण्ण रखा जाय। शिक्षण के लिए चुनी हुई कविता भाव एवं विचार की दृष्टि से अपने-आप में पूर्ण हो। मुक्तक कविताओं में प्रत्येक पद अथवा छन्द स्वतन्त्र इकाई के रूप में पढाया जा सकता है, क्योंकि वे भाव एवं अर्थ की दृष्टि से अलग-अलग अपने मे पूर्ण होते हैं। प्रबन्धात्मक कविताओं में भाव की पूर्णता का ध्यान रखते हुए अन्वितियों का चुनाव होना चाहिए, जिससे भाव की अखण्डता बनी रहे।

5. कविता का प्रस्तुतीकरण अथवा प्रथम परिचय प्रभावपूर्ण हो। इसलिए कविता का प्रथम आदर्श पाठ मर्मस्पर्शी और भावोद्दीपक हो।

6. शब्द भण्डार वृद्धि तथा उच्चारण अभ्यास आदि भाषिक कार्यों के लिए कविता-शिक्षण में स्थान नहीं। सस्वर पाठ में यदि छात्रों द्वारा उच्चारण की अशुद्धियां होती हैं तो शिक्षक अपने आदर्श पाठ द्वारा अथवा किसी अच्छे बालक के सस्वर पाठ द्वारा उसका संशोधन या निराकरण कर सकता है, पर उच्चारण अभ्यास कराने का अवसर उसके पास नहीं है। इसी प्रकार यदि रसास्वादन में शब्दार्थ की कठिनाई है तो उसे भी सीधे बताकर भाव एवं विचार-सौन्दर्य पर ही आ जाना चाहिए।

7. उचित प्रकार के प्रश्नों, व्याख्या, तुलना, विरोधाभास आदि द्वारा कविता के भावों, विचारों, कल्पनाओं और शब्दचित्रों को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करना आवश्यक है।

8. कविता-शिक्षण में कक्षा का सजीव, सरस और काव्यात्मक वातावरण आवश्यक है। बातचीत का ढंग सरल, सहज और सौहार्द्रपूर्ण होना चाहिए। उत्फुल्ल और आनन्दपूर्ण वातावरण कविता-शिक्षण में विशेष सहायक सिद्ध होता है।

9. कविता की सरस पंक्तियाँ छात्रों से दुहराई जायँ। कविता की तुकांत योजना, पंक्ति का मध्यवर्ती अन्त्यानुप्रास, वर्ण-वृत्तों के गुरु–लघु-क्रम के संगीत का रसास्वादन में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। पर कक्षास्तर के अनुसार ही इन तत्त्वों की गहराई में जाना चाहिए, अन्यथा दुरूहता उत्पन्न हो जायेगी।

10. बालकों की व्यक्तिगत रुचि का ध्यान रखते हुए अच्छी-अच्छी कविताएँ चुनी जायँ, बालकों को कण्ठस्थ करने के लिए प्रेरित किया जाय और समय-समय पर उनका सुपाठ किया जाय। अन्त्याक्षरी इसका एक अच्छा साधन है पर इसका आयोजन कक्षा 6 तक ही होना चाहिए। आगे की कक्षाओं में कविता-सुपाठ, 'कवि दरबार'. आदि आयोजन होने चाहिए। इन आयोजनों से बालकों में काव्य के प्रति सहज ही अनुराग उत्पन्न होता है।

11. भावाभिव्यक्ति द्वारा रसानुभूति और गहरी होती है। सुपाठ, व्याख्या, विचार-विनिमय, समालोचना, पद्य-रचना, तुकात शब्द ढूँढना, उपयुक्त उपमाएँ ढूँढ़ना, समान भाव की कविताएँ एकत्र करना और सुनाना आदि अभिव्यक्ति की दृष्टि से अच्छी क्रियाएँ हैं।

कविता-शिक्षण-विधियाँ

उचित प्रकार से सौन्दर्य बोध एवं अनुभूति की योग्यता विकसित करने की दृष्टि से भाषा-शिक्षाशास्त्रियों ने कविता-शिक्षण की अनेक विधियों का उल्लेख किया है। कुछ प्रमुख शिक्षण-विधियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(1) गीत प्रणाली

(2) नाट्य प्रणाली

(3) शब्दार्थ-कथन प्रणाली

(4) प्रश्नोत्तर या खण्डान्वय प्रणाली

(5) व्याख्या प्रणाली—(i) व्यास प्रणाली (ii) तुलना प्रणाली (iii) समीक्षा प्रणाली।

1. गीत प्रणाली—इस प्रणाली का प्रयोग प्रारम्भिक कक्षाओं में होता है। बच्चे स्वभाव से ही सगीतप्रेमी होते हैं। इसी कारण बाल-गीत एवं छंदोबद्ध लय वाले गीत बच्चों को बहुत प्रभावित करते हैं। इन गीतों या लयात्मक पद्यों को पढाने की प्रणाली गीत प्रणाली है। शिक्षक स्वयं स्वर एवं ताल के साथ गीत पढ़ता है और बच्चे फिर अनुकरण करते है। बालको द्वारा समवेत सस्वर पाठ भी कराया जाता है। सस्वर पाठ में अनावश्यक हाव-भाव एवं अंग-संचालन नही होना चाहिए और उचित रीति से पढ़ने का अभ्यास कराना चाहिए।

इन गीतों या पद्यों की शब्दावली बड़ी सरल और ध्वन्यात्मक होती है। बालक सरलतापूर्वक इन्हें कण्ठस्थ कर लेते है और लय एवं ताल के साथ पढ़ने में आनन्द की अनुभूति करते है। यही इस प्रणाली का विशेष गुण है। यह प्रणाली केवल प्राथमिक स्तर पर ही प्रयुक्त होती है।

2. नाट्य प्रणाली—प्रारम्भिक स्तर पर अनेक गीत ऐसे पढ़ाने होते हैं जिनमें क्रियात्मकता अधिक होती है। ऐसे गीतों को नाट्य या अभिनय प्रणाली से पढ़ाया जा सकता है। कार्य अथवा भाव-प्रदर्शन के लिए बालक उचित भाव-भंगिमा और अंगसंचालन के साथ कविता पढ़ते हैं। इस प्रणाली से कक्षा में बड़ा ही सजीव और सरस वातावरण बन जाता है और बच्चे आनन्दमग्न बने रहते है। इस प्रणाली के प्रयोग में भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बालक अनावश्यक उछल-कूद न करने लगें और कविता में निहित क्रिया एवं भाव के सूचक रूप में ही अभिनयात्मकता या नाटकीयता का प्रदर्शन करें। यह प्रणाली भी केवल प्राथमिक स्तर पर ही प्रयुक्त होती है।

3. शब्दार्थ कथन प्रणाली—इस प्रणाली का प्रयोग कक्षा 4-5 से ही प्रारंभ हो जाता है और उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं तक चलता रहता है। यह प्रणाली परम्परागत प्रचलित प्रणाली है और आज भी शिक्षक इसका अनुसरण करते जा रहे है पर इससे कविता शिक्षण का उद्देश्य पूरा नहीं होता।

इस प्रणाली में शिक्षक किसी छात्र से कविता पढने को कहता है और कठिन शब्दों का अर्थ वताते हुए पद्य का अर्थ भी वताता जाता है। कभी-कभी छात्रों से भी अर्थ पूछ लेता है, पर सामान्यतः शिक्षक ही पूरी कविता का अर्थ स्पष्ट करता है।

कविता पढाने की यह विधि सर्वथा दोप पूर्ण है। शब्दार्थो पर वल देने से कविता का पाठ शुष्क एवं गद्यवत् हो जाता है। इस प्रणाली में छात्रों को शब्दार्थ ज्ञान तो हो जाना है, पर कविता के सौन्दर्य तत्वों का वोध नही हो पाता और वे आनन्द भी नही ले पाते। शिक्षक को माध्यमिक कक्षाओं मे कविता पाठ पढ़ाते समय छात्रों का सक्रिय सहयोग लेना चाहिए और कविता के सौन्दर्य तत्वों की अनुभूति कराने का प्रयत्न करना चाहिए। पर शब्दार्थ कथन प्रणाली मे इसका अवसर नहीं मिल पाता। कविता-सुपाठ का भी अवसर इस प्रणाली में नहीं मिलता।

4. प्रश्नोत्तर अथवा खण्डान्वय प्रणाली—कविता की एक-एक पंक्ति एवं उसके एक-एक खण्ड पर प्रश्न पूछते हुए, वालकों से उत्तर प्राप्त करते हुए और यथावश्यक स्वयं स्पष्ट करते हुए कविता का अर्थ वताने की विधि प्रश्नोत्तर अथवा खण्डान्वय प्रणाली कहलानी है। यह प्रणाली भी वहुत कुछ गद्य शिक्षण प्रणाली की ही भाँति है जिसमें पद्यांश के खण्ड-खण्ड करके प्रत्येक तथ्य, भाव या विचार के सम्वन्ध में प्रश्न पूछा जाता है और अभीष्ट उत्तर प्राप्त करते हुए संपूर्ण विपयवस्तु का परिचय छात्रों को करा दिया जाता है। यह विधि अपनाने से कविता की विपय-सामग्री तो स्पष्ट हो जाती है पर उसका सौन्दर्य-वोध छात्रों को नही हो पाता। सपूर्ण पाठ-विकास प्रश्नों का ही क्रमोत्तर विकास जैसा प्रतीत होता है। अतः यह प्रणाली कविता के लिए उपयुक्त नहीं मानी जाती क्योंकि कविता में मुख्य वात है उसके रागात्मक तत्त्वों से तादात्म्य स्थापन की क्रिया जो खण्डान्वय प्रणाली द्वारा सम्भव नही हो पाती।

फिर भी कहीं-कहीं इस प्रणाली का प्रयोग कविता-शिक्षण में किया जा सकता है। जैसे—वर्णनात्मक, इतिवृत्यात्मक कविताओं मे, जिनमे अनेक तथ्य एवं विचार गुंफित हों और अनेक प्रसंगों का समावेश हो, यह प्रणाली सफल हो सकती है। पर वहाँ भी यह ध्यान रखना चाहिए कि खण्ड-खण्ड अर्थ स्पष्ट करा लेने पर पूर्ण कविता का अर्थ समग्र रूप में भी स्पष्ट हो जाना चाहिए और तद्निहित सौन्दर्य तत्त्वो का वोध एवं अनुभूति भी छात्रों को हो जानी चाहिए।

5. व्याख्या प्रणाली—माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में व्याख्या प्रणाली का विशेष महत्त्व है। इस प्रणाली में उपयुक्त प्रश्नावली द्वारा छात्रो से कविता के भावों को प्रकाशित कराने का प्रयत्न किया जाता है और आवश्यकतानुसार यथा प्रसंग शिक्षक स्वयं भी व्याख्या प्रस्तुत करता जाता है। इससे छात्रों की रुचि कविता मे बनी रहती है। वह स्वयं भावार्थ समझने का प्रयास करता है और शिक्षक द्वारा गूढ़ या जटिल अंशों से सम्बन्धित व्याख्या सुनकर ग्रहण भी कर लेता है। वह इससे कविता की रमणीयता का भी आस्वादन करता है।

इस प्रणाली में शिक्षक का प्रयास शब्दार्थ की अपेक्षा भावार्थ की ओर अधिक रहता है। भावार्थ का स्पष्टीकरण और सौन्दर्य तत्त्वों का बोध बहुत कुछ उपयुक्त प्रश्नो की रचना पर निर्भर है। बच्चों की कल्पना शक्ति को उर्वर बनाने और उन्हें कविता के अर्थ-गौरव को समझने की योग्यता प्रदान करने के लिए शिक्षक बीच-बीच में यथाप्रसंग अपने संक्षिप्त वक्तव्यों द्वारा छात्रों को उद्रिक्त और उत्प्रेरित करता चलता है। कविता में आई हुई अंतःकथाओं एवं विविध प्रसंगों या प्रासंगिक कथाओं के वर्णन द्वारा शिक्षक छात्रों में कविता के प्रति अभिरुचि जगाए रहता है। इससे छात्रों को अर्थ-ग्रहण में सरलता होती है और पाठ की रोचकता बनी रहती है।

इस प्रणाली में शिक्षक का उद्देश्य कविता का सामान्य अर्थ बता देना ही नहीं रहता अपितु वह अर्थ के द्वारा भाव एवं विचार-सौन्दर्य की अनुभूति छात्रो को कराना चाहता है।

व्याख्या प्रणाली के तीन रूप या भेद माने गये हैं—

(i) **व्यास प्रणाली**

(ii) **तुलना प्रणाली**

(iii) **समीक्षा प्रणाली**

(i) व्यास प्रणाली—इस प्रणाली में शिक्षक स्वयं ही शब्दार्थ, भावार्थ, व्याख्या, समीक्षा आदि प्रस्तुत करता जाता है और छात्र श्रोता मात्र रह जाते है। शिक्षक कविता की विशेषताओं और सौन्दर्य-तत्त्वों का उल्लेख करता चलता है। वह आवश्यकतानुसार प्रस्तुत कविता के भावों से सम्बन्धित अन्य कविताओं का भी उद्धरण प्रस्तुत करता है। इससे व्याख्या में स्पष्टता आ जाती है।

इस प्रणाली का दोष यह है कि शिक्षक ही अपने भाषणों द्वारा छात्रों में सौन्दर्य-बोध एवं सौन्दर्यानुभूति की योग्यता प्रदान करने का प्रयत्न करता है, पर यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि शिक्षक का भाषण चाहे कितना ही मर्मस्पर्शी, मधुर और प्रभावपूर्ण क्यों न हो और छात्र थोड़ी देर के लिए उसमें कितने ही भावमग्न और विभोर क्यों न हो जायँ, पर छात्रो के सक्रिय सहयोग प्राप्त न करने से, और पाठ-विकास में उनके भाग न लेने से उनमें स्वतन्त्र रूप से काव्य-रसास्वादन की क्षमता

नहीं उत्पन्न हो पाती और न विवेचन की ही शक्ति विकसित होती है। वे भाव-प्रकाशन में भी सक्षम नहीं हो पाते, क्योंकि व्यास प्रणाली में उन्हें भावाभिव्यक्ति का अवसर ही नहीं मिल पाता।

अतः व्यास प्रणाली को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए आवश्यक है कि छात्रों को भी कविता पाठ के विकास में भाग लेने का अवसर दिया जाए।

(ii) तुलना प्रणाली—इस प्रणाली द्वारा कविता-शिक्षण में शिक्षक प्रस्तुत कविता के समान भाव वाली, उसी कवि द्वारा अथवा अन्य कवि द्वारा रचित कविताएँ छात्रों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। इससे कविता-पठन में छात्रों की रुचि परिवर्द्धित होती है और छात्रों में कल्पना शक्ति का भी विकास होता है। बालक कविता मे आनन्द भी लेने लगता है। उदाहरणतः सूर के बाल-वर्णन की कविता पढ़ाते समय उसी प्रकार के भाव-वर्णन की कविताएँ प्रस्तुत की जाती हैं। तुलसी द्वारा रचित बाल-वर्णन की कविता प्रस्तुत करने से बालक दोनों कवियों की शैली और वर्ण्य विषय का अन्तर समझने लगते हैं। इसी प्रकार कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि की भक्ति एवं नीति सम्बन्धी कविताओं में अनेक भावों एवं विचारों में साम्य मिलता है। रहीम और वृन्द के नीति संबंधी दोहों में समान भावों के आधार पर तुलना हो सकती है। इनके प्रस्तुत करने से छात्र विभिन्न शैलियों और कविता के विभिन्न रूपों से भी परिचित होता है और उसमें कविता के तुलनात्मक अध्ययन की प्रेरणा जगती है।

(iii) समीक्षा प्रणाली—समीक्षा प्रणाली भी व्यास प्रणाली का एक रूप है। इसमें शिक्षक का ध्यान कविता के अर्थ और व्याख्या के साथ-साथ साहित्यिक आलोचना-सिद्धांतों को भी स्पष्ट करते रहने की ओर बना रहता है। प्रस्तुत कविता के छंद, अलंकार, रस, गुण-दोष तथा भाषा और शैली आदि का भी यथाप्रसंग शास्त्रीय विवेचन शिक्षक करता चलता है। इस प्रणाली का प्रयोग उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं तथा उसके ऊपर के स्तर पर अधिक लाभदायक सिद्ध होता है, क्योंकि इस स्तर तक आते-आते छात्र सामान्य रूप से काव्य के सौन्दर्य तत्वों का बोध और रसानुभूति कर सकने की सामान्य योग्यता प्राप्त कर चुके रहते हैं।

व्याख्या प्रणाली का समन्वित रूप—वस्तुतः व्याख्या प्रणाली के इन तीनों रूपों का पृथक्-पृथक् प्रयोग उपयोगी नहीं है, अपितु इनका समन्वित प्रयोग ही वांछित है। शिक्षक आवश्यकतानुसार स्वयं स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करे, समान भावों की कविताओं का उदाहरण भी दे अर्थात् तुलना प्रणाली का भी प्रयोग करे, कविता का समीक्षात्मक स्वरूप भी प्रस्तुत करे और इन सभी क्रियाओं में उचित प्रश्नों द्वारा छात्रों का सक्रिय सहयोग लेता रहे, उन्हें भावाभिव्यक्ति का अवसर प्रदान करता रहे, कविता में उनकी रुचि बनाए रखे, कविता में निहित भावों के साथ उनके तादात्म्य स्थापन का प्रयत्न करता रहे, तभी कविता-शिक्षण का उद्देश्य पूरा हो सकता है

और कविता-शिक्षण-प्रणाली का एक सही रूप सामने आ सकता है। इन सारी क्रियाओं—अर्थ स्पष्टीकरण, व्याख्या, तुलना, समीक्षा आदि की परिणति छात्रों द्वारा कविता के रसास्वादन एवं रसानुभूति में ही होनी चाहिए। यही कविता-शिक्षण का परम उद्देश्य है।

कविता-शिक्षण-सोपान

कविता-शिक्षण की उपर्युक्त विधियों पर विचार करने के बाद हम कक्षा में कविता-पाठ के विकास की दृष्टि से शिक्षण-सोपान निर्धारित कर सकते है। इन सोपानों के अनुसार पाठ-योजना तैयार की जा सकती है। कविता पढाने के पहले उसकी योजना यथाविधि अवश्य तैयार कर लेनी चाहिए। ये शिक्षण सोपान इस प्रकार है—

1. विशिष्ट उद्देश्य—(i) प्रस्तुत कविता के भाव एवं विचार ग्रहण संबंधी उद्देश्य।
(ii) भाषा एवं शैली (छंद, अलंकार, शब्द-योजना आदि) संबंधी उद्देश्य।
(iii) सराहना संबंधी उद्देश्य।
(iv) अभिवृत्यात्मक उद्देश्य।

2. पूर्वज्ञान—प्रसंगानुकूल बालकों के ज्ञात भावों एवं तथ्यों का उल्लेख।

3. प्रस्तावना—कविता-शिक्षण में प्रस्तावना का विशेष महत्त्व है। पाठ के प्रारंभ में बालक के हृदय पर जिस भाव या दृश्य का प्रतिविम्ब पड़ता है, वह उससे पाठ के अंत तक प्रभावित बना रहता है। अतः कविता के विषय एवं भाव-तत्त्वों को देखते हुए उपयुक्त ढंग से पाठ प्रस्तावित करना चाहिए। प्रस्तावना के अनेक रूप हो सकते है—

(i) **शिक्षक द्वारा आदर्श पाठ**—आदर्श पाठ संबंधी उचित विधि का उल्लेख पहले किया जा चुका है किन्तु यहाँ इतना कह देना और आवश्यक है कि कविता का आदर्श पाठ गद्य का आदर्श पाठ नहीं होना चाहिए। कविता एक रागात्मक पाठ है अतः उसके सस्वर पठन में उचित लय का भी ध्यान रखना चाहिए। छंदो के अनुसार भी पठन के रूप में भिन्नता आ जाती है। दोहा, चौपाई, गीत, सोरठा, सवैया आदि के पठन में लयात्मक भिन्नता होती है। शिक्षक को इसका ध्यान रखना चाहिए। साथ ही भावानुरूप पठन कविता की सबसे बड़ी विशेषता है। क्रोध, करुणा, वीभत्स, उत्साह, निर्वेद आदि भावों की कविताएँ भी विभिन्न प्रकार से पढ़ी जायँगी।

कविता के आदर्श पाठ में इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि लय का स्थान संगीत न ले ले। कविता और संगीत का सबसे बड़ा अन्तर यह है कि कविता में हमारा ध्यान भाव एवं विचार ग्रहण पर रहता है जबकि संगीत मे हमारा ध्यान

केवल रागों के सौन्दर्य पर रहता है। इस कारण कविता-पठन में प्रत्येक वर्ण, शब्द एवं शब्द-समूह का स्पष्ट, शुद्ध उच्चारण आवश्यक है जिससे अर्थ ग्रहण में बालकों को कोई कठिनाई न हो। संगीत में यह स्पष्टता रागों के कारण नहीं रह पाती। कविता पढ़ते समय लय, गति, आरोह-अवरोह का ध्यान भावाभिव्यंजकता की स्पष्टता में सहायक होता है।

(ii) कविता की भाव-पृष्ठभूमि अथवा प्रसंग प्रस्तुत करना—प्रबंध काव्यों के अंश अथवा कथा प्रधान कविताओं में इसका उपयोग आवश्यक सा हो जाता है।

(iii) उचित वातावरण की सृष्टि द्वारा—कविता के विषय, भाव एवं विचार के प्रति औत्सुक्य एवं रुचि उत्पन्न करने के लिए तदनुकूल वातावरण की सृष्टि आवश्यक है। शिक्षक तद्विषयक एक संक्षिप्त, प्रभावपूर्ण एवं रोचक वक्तव्य कक्षा के सम्मुख प्रस्तुत करता है और छात्रों का ध्यान प्रस्तुत कविता के प्रति आकृष्ट कर लेता है।

(iv) कविता के परिचय द्वारा—यह विधि कोई विशेष उपयोगी नही है, पर कभी-कभी इसकी आवश्यकता पड़ जाती है। कवि के जीवन से अति सम्बन्धित या प्रभावित कविता की प्रस्तावना के लिए यह विधि अपनायी जा सकती है।

(v) व्याख्या अथवा वर्ण्य विषय के बोध द्वारा—कविता के मुख्य भाव, विचार तथा भाषा की सामान्य व्याख्या अथवा वर्ण्य विषय के बोध द्वारा भी पाठ प्रस्तावित कर सकते हैं।

(vi) संश्लेषणात्मक विधि—उचित प्रश्नों द्वारा कविता की प्रमुख बातों से छात्रों को अवगत कराने के बाद कविता पढ़ाना।

वस्तुतः प्रस्तुत कविता के भाव एवं शैली को देखते हुए शिक्षक ही निर्णय कर सकता है कि किस विधि से प्रस्तावना की जा सकती है।

4. आदर्श पाठ—यदि प्रस्तावना आदर्श पाठ द्वारा नही की गई है तो कविता के प्रस्तुतीकरण के बाद शिक्षक का आदर्श पाठ ही कविता-शिक्षण का पहला सोपान होगा।

5. केन्द्रीय भाव ग्रहण—कविता के मुख्य भाव, विषय अथवा प्रसंग को छात्रों ने कहाँ तक ग्रहण किया है, इसकी जांच के लिए कुछ प्रश्न पूछे जायँगे। यदि बालक कविता के मुख्य भाव अथवा विषय को बता देते है, तो व्याख्या एवं सौन्दर्यानुभूति संबंधी प्रश्न पूछे जायँगे। यदि बालक केन्द्रीय भाव बताने में असमर्थ दीख पड़ते हैं तो विषय की स्पष्टता के लिए शिक्षक द्वितीय आदर्श पाठ प्रस्तुत कर सकता है।

6. व्याख्या एवं सौन्दर्यानुभूति—प्रस्तुत कविता के प्रत्येक भाव एवं विचार को स्पष्ट करने के लिए शिक्षक प्रश्न पूछेगा और आवश्यकतानुसार स्वयं भी स्पष्टीकरण प्रस्तुत करता चलेगा। शिक्षक का यह प्रयत्न होना चाहिए कि छात्र स्वयं

कविता की व्याख्या के लिए प्रयत्नशील हों और यह तभी सम्भव है जब अच्छे एवं उत्प्रेरक प्रश्न बालकों से पूछे जायँगे।

यदि भाषा सम्बन्धी कोई कठिनाई है तो शिक्षक उन्हें भी स्पष्ट कर देगा। कुछ विचारकों का कथन है कि कविता की व्याख्या करने के पहले कविता सम्बन्धी पूरी शाब्दिक कठिनाई दूर कर देनी चाहिए जिससे अर्थ ग्रहण में छात्रों को सरलता का अनुभव हो। पर जहाँ तक सम्भव हो, शब्दार्थ या भाषा कार्य भावार्थ के क्रम में ही यथा प्रसंग उपयुक्त प्रश्नों द्वारा स्पष्ट कर दिया जाय। इससे कविता का प्रवाह बना रहता है और कविता में शब्द चयन का महत्त्व भी छात्रों को स्पष्ट हो जाता है।

व्याख्या एवं सौन्दर्यानुभूति के सोपान में शिक्षक को यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रस्तुत कविता में भाव, विचार एवं साहित्यिक सौन्दर्य सम्बन्धी जितने तत्त्व हैं, उन सभी का बोध छात्रों को हो जाय। कविता के सौन्दर्य तत्त्वों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उनमें से जो भी सौन्दर्य तत्त्व प्रस्तुत कविता में हों, उनका स्पष्टीकरण भलीभाँति हो जाना चाहिए। माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में व्याख्या एवं सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से यथाप्रसंग व्याख्या, समीक्षा एवं तुलना आदि विविध विधियों का प्रयोग करना चाहिए। बालकों की कल्पना शक्ति को उद्‌बुद्ध करने के लिए भी आवश्यक प्रश्न पूछने चाहिए।

7. **आदर्श पाठ**—शिक्षक द्वारा। पूरी कविता के भाव स्पष्ट हो जाने के बाद एक समग्र प्रभाव की दृष्टि से यह आदर्श पाठ प्रस्तुत किया जायगा।

8. **सस्वर पाठ**—बालकों द्वारा। दो-तीन अच्छे बालकों द्वारा यह सस्वर पाठ प्रस्तुत कराना चाहिए।

9. **अनुमूल्यन अथवा अनुभूति-परीक्षा**—इसके अनेक रूप हो सकते है। कविता के सुन्दर स्थलों का छात्रों द्वारा चुनाव, मर्मस्पर्शी स्थलों के लालित्य के कारण; जैसे—अलंकार, रस, भाषा, शैली, चमत्कार आदि बताते हुए सूक्ष्म विश्लेपण, लाक्षणिक तथा प्रतीकात्मक प्रयोगों की विशेषता बताना, शब्द-परिवर्तन द्वारा कविता के सौन्दर्य में होने वाली क्षति का बोध या ज्ञान, भावार्थ स्पष्ट करना, समान भाव की कविताएँ सुनाना, तुलना करना आदि।

10. अंतिम कविता-पाठ शिक्षक द्वारा अथवा किसी अच्छे बालक द्वारा।

कुछ विचारकों का यह कहना है कि कविता-शिक्षण के अंत में अनुभूति-परीक्षण अथवा अनुमूल्यन का सोपान नहीं होना चाहिए। छात्रों द्वारा सस्वर पाठ ही पाठ-समाप्ति का अंतिम सोपान अच्छा होता है क्योंकि बालक आनन्द की स्थिति में कविता गुनगुनाते हुए पाठ की समाप्ति करते हैं और आनन्दपूर्ण वातावरण बना रहता है। अनुमूल्यन से एक बोझिलता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। किन्तु

शिक्षक यदि अनुभूति-परीक्षण के अच्छे प्रश्नों की रचना करता है, और बालकों की रुचि कविता में बनी रहती है तो उनके आनन्द में बाधा नहीं पड़ेगी।

काव्यात्मक रुचि बढ़ाने के साधन :

कक्षा में कविता-शिक्षण को अधिकाधिक प्रभावपूर्ण बनाकर बालकों में कविता के प्रति रुचि और अनुराग की संवृद्धि की जा सकती है किन्तु उसके साथ ही अन्य अनेक साहित्यिक कार्यक्रमों द्वारा भी छात्रों में काव्यात्मक रुचि बढ़ाने का प्रयत्न अपेक्षित है। कतिपय साधन इस प्रकार हैं—

(i) **कविताएँ कण्ठस्थ करना**—छात्रों को अच्छी-अच्छी कविताएँ कण्ठस्थ करने के लिए सदा प्रेरित और प्रोत्साहित करना चाहिए। इस दृष्टि से शिक्षक के पास कक्षा-स्तर का ध्यान रखते हुए अच्छी कविताओं का संकलन होना चाहिए। इन कविताओं में राष्ट्र प्रेम, नैतिक आदर्श, त्याग, बलिदान, वीरता, साहस, करुणा आदि सम्बन्धी कविताएँ अवश्य होनी चाहिए।

(ii) **कविता-सुपाठ**—समय-समय पर कविता-सुपाठ प्रतियोगिता का आयोजन करना चाहिए। बालकों को अच्छी तरह तैयारी करके भाग लेने का निर्देश देना चाहिए।

(iii) **अन्त्याक्षरी**—छोटी कक्षाओं में कण्ठस्थ की हुई कविताओं को अच्छे ढंग से कहने की शिक्षा का उत्तम साधन अन्त्याक्षरी है। अन्त्याक्षरी के आयोजनों से बालकों में कविता कण्ठस्थ करने की प्रवृत्ति भी बढ़ती है।

(iv) **समस्या पूर्ति**—किसी दी हुई समस्या (कोई एक पंक्ति देकर अथवा कविता का एक अंश देकर, पंक्ति का आधा भाग देकर) की पूर्ति के रूप में छात्रों को कविता कराना। इससे छात्रों में कविता रचने की योग्यता का विकास होता है।

(v) **कविता लिखने का अभ्यास**—समस्या पूर्ति के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से भी कविता करने का अवसर और प्रोत्साहन छात्रों को देना चाहिए। कुछ बालकों में यह जन्मजात प्रतिभा होती है और वे माध्यमिक स्तर पर ही तुकबन्दियाँ करने लगते हैं। तुक मिलाने के लिए शब्द ढूँढ़ने का अभ्यास भी खेल-खेल में कराया जा सकता है।

(vi) **कवि सम्मेलन**—विद्यालय में समय-समय पर कवि सम्मेलन का आयोजन करना चाहिए। इसमें अच्छे कवियों को ही निमंत्रित करना चाहिए। बालकों में इस आयोजन के प्रति बहुत उत्साह देखा जाता है और अनेक बालक स्वयं कविता रचने और सुनाने के लिए उत्सुक रहते हैं।

(vii) **कवि-दरबार, कवि-जयन्ती**—अभिनयात्मक रूप में छात्र कवि दरबार आयोजित कर सकते हैं। छात्र कबीर, सूर, तुलसी आदि प्रसिद्ध कवियों के रूप में आकर उनकी कविताएँ सुनाते हैं। वेश-भूषा, आकार-प्रकार में भी वे उनका प्रतिरूप बनने का प्रयत्न करते हैं। कवि-दरबार का आयोजन विद्यालयों में बहुत ही रोचक सिद्ध होता है।

प्रसिद्ध कवियों की जन्मतिथियाँ भी मनानी चाहिए। इस अवसर पर कवि की अच्छी कविताओं का पाठ करना चाहिए।

यदि इन विविध आयोजनों द्वारा विद्यालयों का वातावरण साहित्यिक बना रहे तो बालकों में अपने-आप कविता और साहित्य के प्रति रुचि पैदा होगी और वे स्वयं इन आयोजनों में सक्रिय भाग लेते रहेंगे।

सारांश

कविता की अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई हैं। 'रसात्मक वाक्य' ही काव्य है। 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द' ही काव्य है। 'ध्वनि' ही काव्य की आत्मा है। 'रीति' ही काव्य की आत्मा है। 'वक्रोक्ति' ही काव्य की आत्मा है। "कविता मूलतः जीवन की व्याख्या है।" 'सर्वोत्तम शब्दों का सर्वोत्तम क्रम ही कविता है।" कविता की ये परिभाषाएँ कविता के विशिष्ट सौन्दर्य तत्त्वों का ही संकेत करती है। वस्तुतः कविता में इन सभी तत्त्वो एवं गुणों का समावेश पाया जाता है।

कविता-शिक्षण का महत्त्व है—रागात्मक भावों की तुष्टि, सौन्दर्यानुभव की शक्ति का विकास, चित्तवृत्तियों का परिष्कार। भावो के उद्रेक एवं उनके संवर्द्धन का साधन कविता है। कविता द्वारा हम सौन्दर्य के माध्यम से सत्य की अनुभूति करते हैं। कविता आनन्द की अनुभूति का साधन है।

कविता-शिक्षण के उद्देश्य है—सरस, प्रभावपूर्ण कविता-वाचन की योग्यता, काव्य के प्रति सामान्य अनुराग, कविता के भावों का रसास्वादन, रागात्मक शक्तियों का उदात्तीकरण, सात्विक भावों का उद्बोधन एवं उदात्त भावों का सवर्द्धन, काव्य सौदर्य तत्त्वों का बोध—नाद सौन्दर्य, भाव सौन्दर्य, विचार सौन्दर्य का बोध और अनुभूति।

शैक्षिक स्तरों की दृष्टि से कविता के प्रकार—(i) प्राथमिक अवस्था—बाल-गीत तथा छन्दोबद्ध लय वाले पद्य (ii) माध्यमिक अवस्था-वर्णन प्रधान काव्य साहित्य (iii) भावात्मक एवं साहित्यिक सौन्दर्य प्रधान कविताएँ।

हिन्दी कविता के सौन्दर्य तत्त्व—अभिव्यक्ति का सौन्दर्य, भाव सौन्दर्य, विचार प्रणाली, समीक्षा सौन्दर्य।

कविता-शिक्षण विधियाँ—गीत प्रणाली, नाट्य प्रणाली, शब्दार्थ कथन प्रणाली, प्रश्नोत्तर या खण्डान्वय प्रणाली, व्याख्या प्रणाली (व्यास प्रणाली, तुलना प्रणाली)।

कविता शिक्षण सोपान—विशिष्ट उद्देश्य, प्रस्तावना, आदर्श पाठ, केन्द्रीय भाव ग्रहण, व्याख्या एवं सौन्दर्यानुभूति, आदर्श पाठ, सस्वर पाठ, अनुमूल्यन अथवा अनुभूति-परीक्षा।

काव्यात्मक रुचि बढ़ाने के साधन—कविता कण्ठस्थ करना, कविता-सुपाठ, अन्त्याक्षरी, समस्यापूर्ति, कविता लिखने का अभ्यास, कवि सम्मेलन, कवि दरबार, कवि-जयन्ती आदि आयोजन।

प्रश्न

1. कविता-शिक्षण का क्या महत्त्व है ?

2. कविता के सौन्दर्य तत्त्व क्या हैं ? उनके बोध एवं अनुभूति के लिए शिक्षक को किन-किन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है ?

3. कक्षा 9 की दृष्टि से किसी कविता का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उसकी पाठ-योजना तैयार कीजिए।

4. गद्य-शिक्षण और कविता-शिक्षण में क्या आधारभूत अन्तर है ? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

5. कविता–शिक्षण द्वारा छात्रों में किन योग्यताओं का विकास अपेक्षित है ?

6. काव्य के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए आप अपने विद्यालय में किस प्रकार के साहित्यिक आयोजन करेंगे ?

7. कविता पढ़ाने की कौन सी विधियाँ प्रचलित हैं ? माध्यमिक स्तर के लिए आप किस विधि को उपयुक्त समझते हैं और क्यों ?

8. व्याख्या प्रणाली से क्या तात्पर्य है ? उच्चतर माध्यमिक स्तर पर इस प्रणाली द्वारा कविता शिक्षण में आप किन-किन काव्यात्मक तत्त्वों के ज्ञान और अनुभूति पर बल देंगे और किस प्रकार ?

18
व्याकरण-शिक्षण

[व्याकरण-शिक्षण की परम्परा, व्याकरण की परिभाषा, भाषा-शिक्षण में व्याकरण-शिक्षण का स्थान, व्याकरण-शिक्षण का महत्त्व और उसकी उपयोगिता, व्याकरण-शिक्षण के उद्देश्य, व्याकरण-शिक्षण किस स्तर पर प्रारम्भ किया जाय, व्याकरण-शिक्षण की विधियाँ, व्यावहारिक व्याकरण तथा उसकी शिक्षण विधि, शिक्षण-सोपान]

"भाषिक रूपों की सार्थक एवं क्रमयुक्त व्यवस्था ही उस भाषा का व्याकरण है।"[1]
—लेनार्ड ब्लूमफील्ड

हमारे देश में व्याकरण के अध्ययन की अति प्राचीन परम्परा रही है। प्राचीन भारत में भाषा-अध्ययन की दृष्टि से व्याकरण पर इतना बल दिया जाता था कि व्याकरण स्वतः एक स्वतंत्र शास्त्र बन गया और उसका पृथक् अध्ययन होने लगा। निरुक्तकार यास्क और अष्टाध्यायी के रचयिता पाणिनी विश्व के सर्वश्रेष्ठ वैयाकरणों में गिने जाते हैं। कात्यायन, पतंजलि, कय्यट आदि भी प्राचीन भारत के प्रसिद्ध वैयाकरण हैं। 12वीं शताब्दी में हेमचन्द्र द्वारा रचित प्राकृत भाषा का व्याकरण शब्दानुशासन प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ है।

यूरोपीय देशों में भी व्याकरण की शिक्षा की परम्परा प्राचीन काल से ही मिलती है। पुनरुत्थान काल में वहाँ व्याकरण की शिक्षा पर बल दिया गया। भारत में अंग्रेजी राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर अंग्रेजी-शिक्षा के साथ-साथ अंग्रेजी व्याकरण की शिक्षा भी प्रारम्भ हुई। संस्कृत व्याकरण की परम्परा तो हमारे देश में थी ही। अतः संस्कृत और अंग्रेजी व्याकरणों के आधार पर हिन्दी भाषा के व्याकरण ग्रन्थ भी रचे जाने लगे।

हिन्दी गद्य-साहित्य का विकास होने पर हिन्दी भाषा का व्याकरण लिखने की ओर विद्वानों का ध्यान विशेष रूप से गया। नागरी प्रचारिणी सभा ने इस

---

1. "The meaningful arrangements of forms in a language constitute its grammar." —लेनार्ड ब्लूमफील्ड–'लैंग्वेज' पृ० 163

दिशा में विशेष प्रयास किया। कामताप्रसाद गुरु द्वारा लिखा गया हिन्दी व्याकरण उसी प्रयास का फल है। डा० उदयनारायण तिवारी, डा० बाबूराम सक्सेना, रामचन्द्र वर्मा, डा० हरदेव बाहरी, डा० भोलानाथ तिवारी आदि प्रसिद्ध भाषा शास्त्रियों ने 'हिन्दी व्याकरण' के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया।

व्याकरण की परिभाषा

भाषाशास्त्रियों एवं विशेषज्ञों ने व्याकरण की परिभाषा को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

व्याकरण शब्द वि+आ+कृ धातु+ल्युट प्रत्यय के योग से बना है जिसका अर्थ 'व्याक्रियन्ते (व्युत्पाद्यन्ते) शब्दा येन' अर्थात् जिसके द्वारा अर्थ स्वरूप से शब्दों की सिद्धि होती है।

व्याकरण शब्दों के प्रयोग का अनुशासक है। तभी इसे 'शब्दानुशासन' कहा जा सकता है।

पाणिनी और पतंजलि ने व्याकरण को 'शब्दानुशासन' कहा है। हिन्दी वैयाकरण श्री किशोरीदास वाजपेयी ने भी 'शब्दानुशासन' शब्द का ही प्रयोग किया है। यह नाम इस बात का द्योतक है कि व्याकरण "शब्द की व्याख्या और वाक्य में उसका स्थान निर्धारित करता है।" ब्लूमफील्ड की परिभाषा का भी, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है, यही आशय है।

डा० स्वीट के अनुसार व्याकरण भाषा का व्यावहारिक विश्लेषण है।[2]

सानशिन के अनुसार "वाक्य में विभिन्न शब्द-समूहों में क्या-क्या अन्तर है, व्याकरण इसकी व्याख्या करता है।"[3]

इंग्लैंड के बोर्ड आफ एजुकेशन द्वारा प्रस्तुत परिभाषा है—"व्याकरण केवल संरचना का वर्णन है।"[4]

भाषा-शिक्षण में व्याकरण-शिक्षण का स्थान

भाषा-शिक्षण में व्याकरण की शिक्षा का क्या स्थान हो, इसे लेकर बहुत विवाद है। कुछ विद्वानों का कहना है कि व्याकरण की शिक्षा भाषा की शिक्षा के लिए अनावश्यक है। जिस प्रकार रोगी के लिए चिकित्साशास्त्र जानना आवश्यक नहीं, उसी प्रकार भाषा लिखने वाले बालक के लिए व्याकरण की शिक्षा आवश्यक

---

2. "Grammar is the practical analysis of a language." स्वीट—'न्यू इंगलिश ग्रामर'
3. "Grammar deals merely with differences in the grouping of words in a sentence".
4. "Grammar is a description of structure nothing more." —दि टीचिंग आफ इंगलिश, पृ० 284

नहीं। दूसरे पक्ष का कथन है कि व्याकरण की शिक्षा के अभाव में भाषा का ज्ञान हो ही नही सकता और भाषा के प्रयोग में निरंकुशता और स्वच्छंदता आती जायेगी। तीसरे पक्ष का कहना है कि व्याकरण के सिद्धान्तों पर बहुत बल न देकर भाषा के गठन एवं रचना का व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करने के लिए व्याकरण की उपयोगिता निर्विवाद है। इन तीनों मतों के आधार पर भाषा-शिक्षण में व्याकरण शिक्षण के स्थान या महत्त्व को लेकर तीन सिद्धांत बन जाते है —

1–व्याकरणातिरेक का सिद्धान्त

2–अव्याकृत सिद्धान्त

3–सहयोग सिद्धान्त

1. व्याकरणातिरेक का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों का कहना है कि व्याकरण की शिक्षा अति आवश्यक है क्योंकि—

(i), यह मानसिक अनु शासन (मेंटल डिसिप्लिन) का उत्तम साधन है।

(ii) प्रशिक्षण का स्थानांतरण एक विषय से दूसरे विषय में हो सकता है। व्याकरण द्वारा तर्क-वितर्क, शुद्धता आदि वृत्तियों एवं आदतों की शिक्षा प्राप्त होती है जिसका प्रयोग जीवन के अन्य कार्यक्षेत्रो मे भी किया जा सकता है।

(iii) बिना व्याकरण पढ़ाए भाषा की शिक्षा नहीं हो सकती।

वस्तुतः ये तर्क सुसंगत नहीं है क्योंकि स्थानांतरण का सिद्धान्त भी निर्मूल सिद्ध हो गया है। जहाँ तक मानसिक अनुशासन का सम्बन्ध है, उसके लिए अनेक अन्य विषयों की शिक्षा भी सहायक सिद्ध होती है, फिर व्याकरण को ही उसका साधन क्यों बनाया जाय। यदि व्याकरण-शिक्षण द्वारा बालकों मे भाषा का प्रयोग और व्यवहार की कुशलता नही आती तो फिर व्याकरण की शिक्षा क्यों दी जाय ?

2. अव्याकृत सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों का कहना है कि व्याकरण की शिक्षा अनावश्यक है, क्योंकि—

(i) व्याकरण भाषा का अनुगामी है। भाषा के बाद व्याकरण का जन्म हुआ। भाषा अभ्यास और व्यवहार से आती है, व्याकरण पढ़ने से नही। व्याकरण के ज्ञान से रहित अनेक व्यक्ति अच्छे साहित्यकार, लेखक, वक्ता और कवि हो जाते हैं। भाषा के कलात्मक प्रयोग में तो व्याकरण से और भी सहायता नहीं मिलती।

(ii) यदि शुद्ध भाषा के प्रयोग की दृष्टि से व्याकरण शिक्षण आवश्यक माना जाता है, तो और भी निराधार है क्योंकि सतत् प्रयोग और अभ्यास से भाषा की शुद्धता का ज्ञान होता है।

(iii) व्याकरण भाषा के नियमों, उपनियमों का संग्रह मात्र है और उसका शिक्षण नीरस और शुष्क है। बालक प्रारम्भिक अवस्था मे जो भाषा सीखता है, वह श्रवण, अनुकरण और अभ्यास से सीखता है, व्याकरण द्वारा नहीं।

3. सहयोग सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों का कहना है कि व्याकरण के सिद्धान्तों पर विशेष बल देने की आवश्यकता नहीं है, पर व्याकरण का सर्वथा बहिष्कार नहीं किया जा सकता। भाषा के गठन एवं रचना का व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करने की दृष्टि से व्याकरण की उपयोगिता निर्विवाद है।

व्याकरणातिरेक सिद्धान्त और अव्याकृत सिद्धान्त दोनों ही अतिवादी सिद्धान्त है। व्याकरण का सर्वथा बहिष्कार हानिकारक है पर व्याकरण को केवल परिभाषाओं एवं नियमों का संग्रह मात्र मान कर पढ़ाना भी हानिकारक है। सहयोग सिद्धान्त व्याकरण के ठीक उपयोग पर बल देता है। भाषा की शिक्षा में उसका उचित प्रयोग आवश्यक है, जैसा कि करुणापति त्रिपाठी ने लिखा है—

"व्याकरण ग्रंथ का निर्माण करता हुआ भाषाविज्ञ यह नहीं कहता कि हमारे नियमों के अनुसार भाषा का व्यवहार करो, बस उसका कथन यह है कि अमुक-अमुक रूप और प्रवृत्तियाँ भाषा में अधिक प्रचलित हैं। अधिक प्रचलित होने से उनके द्वारा अर्थबोध भी शीघ्र और पूर्ण होता है। इनकी सहायता से भाषा के प्रयोग में और उसे समझने मे सुविधा होती है। अतः एक सीमा तक भाषा-शिक्षण में व्याकरण की शिक्षा सहायक होती है। पर व्याकरण इस ढंग से पढाना चाहिए कि वह पढ़ाने वालो का सहायक मात्र हो, उनका सेवक हो, नियामक या शासक नही।

व्याकरण-शिक्षण का महत्त्व एवं उसकी उपयोगिता

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि भाषा की शिक्षा में व्याकरण की शिक्षा की उपयोगिता और महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आवश्यकता केवल इस बात की है कि व्याकरण के परंपरागत रूप को अर्थात् केवल नियमों और परिभाषाओं को रटाने की परंपरा को हटाना पड़ेगा। व्याकरण नियमो का संग्रह मात्र नहीं, वह भाषा के मानक रूप को बनाए रखने का आवश्यक साधन है।

भाषा-प्रयोग का अध्ययन करते हुए भाषा की प्रवृत्तियों से परिचित कराना ही व्याकरण-शिक्षण का प्रयोजन है। व्याकरण भाषा का अनुसरण करता है, भाषा व्याकरण का अनुसरण नही करती। व्याकरण को इसी कारण शास्त्र कहा गया है और लक्षण शास्त्र लक्ष्य शास्त्र का अनुसारी होता है। व्याकरण भी भाषा के प्रचलित और मान्य रूपों को ही नियमों के रूप के सामने रखता है जिससे भाषा का परिनिष्ठित रूप चलता रहे। इससे भाषा की प्रेषणीयता और अर्थबोध में भी सरलता और सुलभता होती है।

व्याकरण भाषा का नियामक या शासक नही, उसका काम केवल अनुशासन है जिससे भाषा के प्रयोग में स्वच्छन्दता न आने पाए। अतः व्याकरण की शिक्षा द्वारा बालक उन प्रयोगों एवं शुद्ध रूपों से परिचित होकर अपनी भाषा का संस्कार करता है और शुद्ध परिनिष्ठित भाषा का ही प्रयोग करता है।

व्याकरण-शिक्षण की उपयोगिता संक्षेप में निम्नांकित है—

(i) भाषित तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना—ध्वनियों (उच्चारण और वर्तनी), शब्दों (शब्द-प्रयोग, शब्द-रचना, वाक्य में शब्दों का स्थान आदि) और संरचनाओं (पदबन्धों, उपवाक्यों एवं वाक्यों के स्तर पर) का सही-सही ज्ञान और प्रयोग।"[5]

(ii) भाषा की प्रकृति की पहिचान—पहले यह लिखा जा चुका है कि प्रत्येक भाषा की प्रकृति दूसरी भाषा की प्रकृति से भिन्न है। यह भिन्नता ध्वनि-विज्ञान, रूप विज्ञान, शब्द विज्ञान, अर्थ विज्ञान, वाक्य विज्ञान आदि सभी दृष्टियो से पायी जाती है। व्याकरण द्वारा भाषा की प्रकृति एवं गठन का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है और भाषा-शिक्षण मे इस व्यावहारिक ज्ञान से बहुत सहायता मिलती है।

हिन्दी एक बहुत बड़े क्षेत्र की भाषा है जिसमें अनेक जनपदीय भाषाओ का प्रयोग और प्रचलन है। इन जनपदीय भाषाओ के उच्चारण और संरचनाओ का प्रभाव वहाँ के निवासियो द्वारा प्रयुक्त हिन्दी में स्पष्टतः परिलक्षित होता है। यह प्रभाव या प्रक्षेप मानक हिन्दी भाषा की दृष्टि से अशुद्ध है। व्याकरण की शिक्षा से बालक इन अशुद्धियो को समझ लेता है और शुद्ध हिन्दी का प्रयोग करने लगता है। नियम निकालने और नूतन ज्ञानोपलब्धि से बालक को आनन्द भी प्राप्त होता है और भाषा-विश्लेषण मे उसकी रुचि बढ़ती है।

(iii) अन्य भाषा सीखने में भी व्याकरण सहायक सिद्ध होता है। अपनी भाषा के व्याकरणिक रूपों का ज्ञान रहने से दूसरी भाषा के व्याकरणिक रूपो से तुलना करते हुए उस भाषा की ध्वनियों, शब्द-प्रयोगो और संरचनाओ को सीखने में यथेष्ट सहायता मिलती है।

(iv) शिक्षक के लिए तो व्याकरण का सम्यक् ज्ञान अति आवश्यक है, जिससे वह यथा अवसर बालकों द्वारा की गई अशुद्धियो का संशोधन कर सके, अशुद्ध प्रयोगों का विश्लेषण कर सके और समझा सके कि वह अशुद्ध प्रयोग क्यो है तथा उसका शुद्ध रूप क्या होना चाहिए।

शिक्षक द्वारा प्रस्तुत भाषा प्रयोग संबंधी आदर्श सर्वथा शुद्ध और निर्दोष तभी संभव है जब उसे भाषा के व्याकरणिक रूप का सम्यक् ज्ञान हो।

व्याकरण-शिक्षण का उद्देश्य

व्याकरण-शिक्षण की उपयोगिता के आधार पर ही हम व्याकरण-शिक्षण के उद्देश्यो का भी निर्धारण कर सकते हैं—

1. भाषिक तत्त्वो का ज्ञान प्राप्त करना और उनका सही प्रयोग करना।

---

5. विस्तृत परिचय के लिए देखिए—अध्याय 5, भाषा-शिक्षण के उद्देश्यों के अन्तर्गत 'भाषिक तत्त्वो का ज्ञान प्राप्त करना'

2. भाषा की प्रकृति का परिचय प्राप्त करना। ध्वनि, रूप, अर्थ एवं वाक्य आदि अवयवों से परिचय प्राप्त कर उन्हें स्वाभाविक रूप से व्यवहृत करने की योग्यता प्राप्त करना।

3. शुद्ध, मानक भाषा के प्रयोग की आदत सुदृढ़ करना। स्थानीय भाषा के अशुद्ध प्रयोगों के प्रभाव से बचना।

4. भाषा-विश्लेषण की योग्यता प्राप्त करना और इस आधार पर शुद्ध एवं अशुद्ध भाषा की परख कर सकना।

5. अन्य भाषा के सीखने में अपनी भाषा के व्याकरणिक रूपों की सीखी जाने वाली भाषा के व्याकरणिक रूपों से तुलना कर सकना और समानता एवं असमानता की तुलना द्वारा शीघ्र भाषा सीखने की कुशलता प्राप्त करना।

व्याकरण की शिक्षा प्राथमिक नहीं, माध्यमिक स्तर से प्रारम्भ होनी चाहिए

भाषा एक क्रियात्मक विषय है। शुद्ध आदर्श, निरन्तर प्रयोग और अभ्यास ही भाषा सीखने के आधार हैं। अतः प्रारम्भिक अवस्था में बालकों के सामने शुद्ध भाषा का उदाहरण रखना और बालकों द्वारा उसका अनुकरण और प्रयोग करना ही उपयुक्त विधि है। इस कारण प्राइमरी कक्षाओं में व्याकरण का बोझ लादना और परिभाषाओं का रटाना उचित नहीं है। उनकी मानसिक परिपक्वता अभी ऐसी नहीं होती कि वे नियमों और परिभाषाओं की विवेचना कर सकें।

भाषा-शिक्षण में व्याकरण का लाभ उसी अवस्था में हो सकता है जब बालक अपने भावों को शुद्ध भाषा में व्यक्त कर सकने की योग्यता प्राप्त कर चुके हों। कक्षा 6 से इसी कारण व्याकरण की शिक्षा प्रारम्भ करने का विचार भाषा-शिक्षण के सभी विशेषज्ञों ने प्रकट किया है—

ई. ए. मेकनी—"प्राथमिक स्तर पर औपचारिक व्याकरण की शिक्षा आवश्यक नहीं है। बच्चों की रचनाओं एवं भाषा सम्बन्धी प्रयोगों और अभ्यासों में होने वाली त्रुटियों का संशोधन ही व्याकरण-शिक्षण का रूप होना चाहिए।"

राइबर्न—"प्राथमिक स्तर पर बालक निर्देशन और अनुकरण द्वारा भाषा सीखेंगे। व्याकरण सीखने की अपेक्षा उनके लिए अधिकाधिक पढ़ना और अच्छी तरह सुनना अधिक महत्त्वपूर्ण है।"

"औपचारिक व्याकरण को छोड़ देने का यह अर्थ नहीं है कि शिक्षक और बालक के लिए कम काम हो गया, बल्कि इसका अर्थ है अधिक रोचक और उपयोगी कार्य।"

अतः व्याकरण-शिक्षण का कार्य माध्यमिक स्तर से ही प्रारम्भ होना चाहिए। उसके पहले प्राथमिक स्तर पर भाषा का शुद्ध प्रयोग और अभ्यास कराना ही वांछित है। छठी कक्षा से सामान्यतः बालक शुद्ध भाषा का प्रयोग करने लगता है और भाषा-प्रयोग की वर्तमान-प्रचलित प्रवृत्तियों को समझने के योग्य हो जाता है।

वह व्याकरण-शिक्षण में शिक्षक द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों के विश्लेषण द्वारा नियम या निष्कर्ष निकालने में भी सक्षम हो जाता है। इस कारण व्याकरण की शिक्षा माध्यमिक स्तर पर नियमित रूप से होने की आवश्यकता है, केवल ध्यान यह रखना है कि (i) नियम, परिभाषा और पदव्याख्या सिखाने की अपेक्षा प्रयोग एवं व्यवहार की दृष्टि से आवश्यक बातें—उच्चारण, वर्तनी, शब्द रचना, वाक्य रचना, अनुच्छेद रचना, विराम चिह्न आदि-सिखायी जायं, (ii) व्याकरण-शिक्षण का सम्बन्ध रचना एवं पठन कार्य से सदा बना रहे, और (iii) समय-समय पर व्याकरणिक नियमों का जो छिट-पुट उल्लेख भाषा-शिक्षण में होता रहता है, उन्हें स्थायी बनाने के लिए अलग से भी व्यावहारिक व्याकरण की शिक्षा प्रदान की जाये।

व्याकरण-शिक्षण की विधियाँ

व्याकरण-शिक्षण की निम्नांकित विधियाँ प्रचलित हैं—

1–सिद्धान्त प्रणाली अथवा निगमन प्रणाली

(i) सूत्र प्रणाली

(ii) पाठ्य पुस्तक प्रणाली

2–आगमन प्रणाली

(i) प्रयोग प्रणाली

(ii) सहयोग प्रणाली

1. सिद्धान्त प्रणाली अथवा निगमन प्रणाली—परंपरागत व्याकरण-शिक्षण प्रणाली को सिद्धान्त अथवा निगमन प्रणाली कहा गया है। इस प्रणाली में नियम या परिभाषा बताकर उसके उदाहरण दे दिए जाते हैं। इस प्रणाली के दो रूप हैं—

(i) सूत्र प्रणाली—इसके अनुसार व्याकरण के नियम सूत्र रूप में रटा दिए जाते है और उनके लक्षण तथा उदाहरण बता दिए जाते हैं। यह प्रणाली अमनोवैज्ञानिक और परम्परागत संस्कृत व्याकरण-शिक्षण की ही नकल है जहाँ बालक सस्कृत भाषा में कुछ बोलने, लिखने और समझने का ज्ञान प्राप्त किए बिना ही लघुकौमुदी के सूत्रों को रटना प्रारम्भ कर देते हैं। इस प्रणाली से भाषा के प्रयोग का ज्ञान और अभ्यास नही हो पाता।

(ii) पाठ्य पुस्तक प्रणाली—इस प्रणाली में भी व्याकरण की पुस्तक में दी गई परिभाषाएँ और सिद्धान्त रटा दिये जाते हैं। संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण आदि की परिभाषा और भेद छात्रों को बता दिए जाते है। इस प्रणाली से भी भाषा के प्रयोग का अभ्यास नही होता और बालक केवल व्याकरणिक नामों को याद करके संतोष कर लेता है।

2. आगमन प्रणाली—निगमन या सिद्धान्त प्रणाली दोषपूर्ण प्रणाली है। अतः उसकी जगह आगमन प्रणाली का प्रयोग वैज्ञानिक और उपयोगी माना जाता है। आगमन प्रणाली के दो रूप है—

(i) **प्रयोग प्रणाली** के अनुसार व्याकरण पढ़ाते समय छात्रों के सम्मुख पहले उदाहरण रखे जाते हैं। अनेक उदाहरणों में समान लक्षण वाले अंशों के कार्य एवं गुण छात्रों से कहलाए जाते हैं, अंत में उन्हीं के द्वारा कही हुई बातों के आधार पर सिद्धान्त या नियम निकलवाए जाते हैं और फिर उन्हीं से उनका प्रयोग तथा अभ्यास कराया जाता है। अतः इस प्रणाली में निम्नांकित सोपानों अथवा पदों का अनुसरण करना पड़ता है—

1. उदाहरण—प्रस्तुत प्रकरण से सम्बन्धित अनेक उदाहरण बच्चो के सम्मुख प्रस्तुत करना।

2. तुलना एवं विश्लेषण—उन उदाहरणों की परस्पर तुलना करना, विश्लेषण करना और उनसे व्यक्त समान लक्षणों एवं विशेषताओं को समझना।

3. नियमीकरण या निष्कर्ष—लक्षणों एवं विशेषताओं के आधार पर नियम, निष्कर्ष या परिभाषा निकालना।

4. प्रयोग और अभ्यास—निकाले गए निष्कर्ष या नियम की पुष्टि के लिए अनेक प्रयोग करना और उसका अच्छी तरह अभ्यास करना।

इन सोपानों के अनुसरण से व्याकरण की शिक्षा द्वारा भाषा का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए यदि बालकों को संज्ञा का ज्ञान प्रदान करना होता है तो अनेक संज्ञा प्रयुक्त वाक्य छात्रों के सामने प्रस्तुत किए जायँगे और उनके आधार पर किसी वस्तु या व्यक्ति के नाम को संज्ञा बताने का प्रयत्न किया जायेगा। उदाहरणों की तुलना और विश्लेषण की दृष्टि से उपयुक्त प्रश्नों की रचना आवश्यक है। इसी प्रकार यदि शिक्षक व्याकरण का यह नियम बताना चाहता है कि 'वर्तमान काल में क्रिया का लिंग और वचन कर्त्ता के लिंग और वचन के अनुसार होता है' तो शिक्षक इस नियम को न बताकर उचित उदाहरण पहले रखेगा—

1. मोहन पानी पीता है।
2. श्यामा पानी पीती है।
3. लड़कियाँ पानी पीती हैं।
4. लड़के पानी पीते हैं।

इनके आधार पर प्रश्नों द्वारा शिक्षक छात्रों से यह निष्कर्ष निकलवा लेगा कि प्रति वाक्य में कर्त्ता का जो लिंग और वचन है, वही क्रिया का भी है। इस प्रकार इसका नियमीकरण छात्र स्वयं ही कर लेंगे। फिर शिक्षक छात्रों को इस आधार पर अनेक प्रयोग लिखने को कहेगा, जिससे वे इस प्रकार के प्रयोगो के अभ्यस्त हो जायँ और कभी भी भूल न कर पाएँ।

(ii) **सहयोग प्रणाली**—आगमन प्रणाली का ही एक रूप सहयोग प्रणाली है। इसके अनुसार व्याकरण की शिक्षा अलग से देने की आवश्यकता नही है, बल्कि

रचना-शिक्षण एवं गद्य-शिक्षण के साथ ही यथा प्रसंग होती चलती है। इसके उदाहरण हमें शब्द-शिक्षण, वर्तनी-शिक्षण, उच्चारण-शिक्षण, वाक्य-रचना-शिक्षण, अनुच्छेद रचना-शिक्षण के प्रसंग में दिए जा चुके है। गद्य-शिक्षण में अनेक प्रसंग आते है जिनका लाभ उठाकर शिक्षक व्याकरणिक रूपों और नियमों का ज्ञान प्रदान कर सकता है।

सहयोग प्रणाली की सीमा यह है कि व्याकरण की विधिवत् शिक्षा नहीं हो पाती। यथा प्रसंग आवश्यक नियम और प्रयोग बता दिए जाते हैं। इसमें प्रयोग प्रणाली की भाँति उदाहरण, तुलना-विश्लेषण, नियम और अभ्यास का यथेष्ट अवकाश नही रहता और व्याकरण की शिक्षा गौण बन जाती है। व्याकरण का छिट-पुट ज्ञान या बिखरा हुआ ज्ञान इससे प्राप्त होता है, यद्यपि इसकी विशेषता यह अवश्य है कि व्याकरण पृथक् विषय न होकर भाषा-शिक्षण के ही सन्दर्भ में पढ़ा दिया जाता है।

आगमन प्रणाली में वाक्य व्याकरण-शिक्षण का पहला आधार है, फिर उपवाक्य, सहवाक्य तथा शब्दों तक पहुँचना स्वाभाविक पद्धति है। वाक्यों में ही विविध शब्द-भेदों के कार्य और उपयोग आसानी से समझे जा सकते हैं। इससे व्याकरण-शिक्षण सरल और व्यावहारिक हो जाता है।

व्यावहारिक व्याकरण

भाषा-शिक्षण में व्याकरण के स्थान और महत्त्व के प्रति जो विरोध उत्पन्न हुआ था, उसका मूल कारण व्याकरण की सैद्धान्तिक शिक्षा का प्रचलन था। सूत्र प्रणाला में हम इसके सम्बन्ध में विचार कर चुके हैं। पर यह लिखा जा चुका है कि व्याकरण भाषा के ज्ञान और शुद्ध प्रयोग के लिए आवश्यक और उपयोगी विषय है। अतः व्याकरण के सैद्धान्तिक रूप की जगह हमें व्याकरण के व्यावहारिक एवं प्रयोगात्मक रूप की शिक्षा देनी चाहिए।

व्यावहारिक व्याकरण में इस बात पर बल दिया जाता है कि "संरचनाओं का वर्णन ही व्याकरण है।" व्याकरण, विशेषतः, विद्यालयों की दृष्टि से, प्रचलित भाषा की संरचनाओं के प्रमुख नियमों का विवरण है। इस प्रकार व्याकरण अब शब्द-क्रम की अर्थवत्ता और भाव-स्पष्टता के आधार पर क्रमायोजित रूप को स्पष्ट करता है।

व्यावहारिक व्याकरण में शुष्क नियमों को कण्ठाग्र करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। भाषा-प्रयोग और अभ्यास पर ही बल दिया जाता है और प्रयोग के ही आधार पर आवश्यक नियम भी बता दिए जाते हैं। व्यावहारिक व्याकरण में प्रचुर अभ्यास (ड्रिलिंग) शिक्षण का आधार है। यह अभ्यास 'रोचक एवं आकर्षक विधि द्वारा बालको से कराया जाता है जिससे बालक स्वयं ही तत्सम्बन्धित विषय भी सीख लेते हैं और उसे स्थायी भी बना लेते हैं।

हिन्दी व्याकरण की शिक्षा देते समय उसके व्यावहारिक रूप क्या हो सकते है, यह विचारणीय है। सैद्धान्तिक रूप जिसमें हिन्दी शब्दों के संज्ञा, सर्वनाम आदि भेद और पदव्याख्या पर बल दिया जाता था, अब मान्य नहीं है। उसकी जगह हिन्दी व्याकरण को प्रयोग और व्यवहार की दृष्टि से विभिन्न प्रकरणों में विभक्त करने की आवश्यकता है। इस दृष्टि से व्यावहारिक व्याकरण के आवश्यक रूप निम्नांकित है—

(i) **ध्वनि विचार**—इसके अन्तर्गत शब्दों एवं वाक्यों के उदाहरणों द्वारा हिन्दी ध्वनियो के शुद्ध उच्चारण का अभ्यास कराया जाता है। विशेषतः श, ष, स, क्ष, छ, च्छ, ड़, ढ़, ङ, भ, ण, ज्ञ, अनुस्वार, सानुनासिक, संयुक्त व्यंजन, ह्रस्व एवं दीर्घ स्वरों, ए, ऐ, ओ, औ, आदि के शुद्ध उच्चारण का अभ्यास आवश्यक है।[6]

(ii) **वर्तनी**—शुद्ध वर्तनी के लिए शुद्ध लिपि का ज्ञान और उसका लेखन अभ्यास आवश्यक है। अक्षरों की सुन्दर, सुडौल रचना का भी अभ्यास अपेक्षित है।[7]

(iii) **शब्द-शिक्षण**—हिन्दी शब्दों के प्रयोग सम्बन्धी अभ्यास। शब्दार्थ, शब्द प्रयोग और शब्द-रचना संबंधी अभ्यास।[8]

(iv) **वचन विकार**—बहुवचन का ज्ञान। वचन के अनुसार क्रिया में होने वाले परिवर्तन। एकवचन से बहुवचन और बहुवचन से एकवचन बनाने के प्रचुर अभ्यास। वचन विकार के कारण मूल शब्द में होने वाले परिवर्तन और उसका वर्तनी पर प्रभाव, जैसे स्त्री से स्त्रियाँ, लड़की से लड़कियाँ, नदी से नदियाँ। कहने की आवश्यकता नही कि इस प्रकार का अभ्यास न होने से वर्तनी एवं संरचना संबंधी त्रुटियाँ बालक करते हैं।

(v) **लिंग विकार**—स्त्रीलिंग एवं पुलिंग का सम्यक् ज्ञान। लिंग के अनुसार क्रिया में होने वाले परिवर्तन। लिंग-विकार के कारण भी वर्तनी एवं संरचना पर प्रभाव। स्वामी से स्वामिनी, कवि से कवयित्री आदि शब्दों के प्रयोग में बालक त्रुटियाँ करते हैं। अतः इसका अभ्यास आवश्यक है।

(vi) **कारकों एवं विभक्तियों का परिचय और उनके प्रयोग सम्बन्धी अभ्यास**—ने, को आदि के कारण क्रिया के रूपों में परिवर्तन।

(vii) **हिन्दी शब्दों की रचना**—उपसर्ग, प्रत्यय, संधि, समास आदि द्वारा हिन्दी शब्दों की रचना और उनका प्रयोगात्मक अभ्यास।[9]

---

6. 'उच्चारण-शिक्षण' अध्याय का अध्ययन इस दृष्टि से विशेष उपयोगी होगा।
7. वर्तनी-शिक्षण ,, ,, ,, ,,
8. विस्तृत परिचय के लिए देखिए 'शब्द–शिक्षण' का अध्याय।
9. देखिए 'शब्द-शिक्षण' अध्याय में शब्द रचना का प्रसंग।

विशेषणों का प्रयोग—व्यावहारिक व्याकरण में विशेषणों के भेदों का ज्ञान कराने की जगह उप क्त विशेषणो के प्रयोग पर बल दिया जाता है। किस विशेष्य के साथ कौन विशेषण लगाया जाय, इसका अभ्यास छात्रों को कराना चाहिए, जैसे घनघोर घटा, प्रचंड पवन, प्रकांड पंडित, तीक्ष्ण धार, तीव्र गति, सूचीभेद्य अंधकार आदि।

विशेषणों की रचना भी बालकों को सिखानी चाहिए—संज्ञा से विशेषण, विशेषण से भाव वाचक संज्ञा, उपसर्ग एवं प्रत्यय लगाकर विभिन्न विशेषणों की रचना।

(ix) **सर्वनामों का प्रयोग**—प्रयोग द्वारा सर्वनाम के विविध रूपों का अभ्यास।

(x) **क्रिया विशेषणों का प्रयोग**—हिन्दी वाक्यों में क्रिया विशेषण कभी वाक्य में ठीक क्रिया के पूर्व, कभी वाक्य के प्रारंभ में और कभी बीच में प्रयुक्त होता है। इससे छात्रों में भ्रम पैदा हो जाता है। अतः इनके शुद्ध प्रयोग का अभ्यास अपेक्षित है।

(xi) **काल**—क्रियाओं के कालों में छात्र बहुत त्रुटियाँ करते है। वर्तमान, भूत और भविष्यत् कालों के प्रचुर अभ्यास देने चाहिए।

(xii) **संयुक्त क्रियाएँ**—हिन्दी में मुख्य क्रिया, सहायक क्रिया बालकों के लिए समझना कठिन हो जाता है। संयुक्त क्रियाओं में एक साथ तीन-तीन, चार-चार क्रियाएँ प्रयुक्त हो जाती हैं और उनका सही रूप जानना कठिन हो जाता है। अतः संयुक्त क्रियाओं के प्रयोग संबंधी प्रचुर अभ्यास अवश्य दिए जायँ।

(xiii) **पर्यायवाची** अथवा समानार्थी शब्दों के उचित प्रयोग संबंधी अभ्यास।

(xiv) **एकार्थक** प्रयुक्त होने वाले अभ्यास जैसे अन्न-जल, अस्त्र-शस्त्र आदि।

(xv) **युग्म शब्दों के प्रयोग**। 'शब्द-शिक्षण' अध्याय में विस्तार से लिखा गया है।

(xvi) **अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग**।

(xvii) **समुच्चारित शब्दों के प्रयोग**।

(xviii) **वाक्य विचार**—शब्द-क्रम, अर्थाभिव्यक्ति की दृष्टि से शब्द-क्रम में परिवर्तन, सरल, संयुक्त एवं मिश्रित वाक्यों की रचना, एक प्रकार के वाक्य से दूसरे प्रकार के वाक्यों में रूपान्तर आदि अभ्यास।[10]

(xix) **विराम चिह्न**—सभी विराम चिह्नों के प्रयोग संबंधी अभ्यास।

---

10. विस्तृत परिचय के लिए पढ़िए 'वाक्य-शिक्षण' अध्याय।

(xx) **मुहावरों, लोकोक्तियों के प्रयोग**—प्रचलित मुहावरों एवं लोकोक्तियों के अर्थ और प्रयोग संबंधी अभ्यास।

(xxi) **अलंकारों के प्रयोग संबंधी अभ्यास।**

व्यावहारिक व्याकरण की दृष्टि से इन प्रकरणों का उल्लेख एक सुझाव या संकेत भर के लिए है। इन्हें पुनः कई प्रकरणों में विभक्त किया जा सकता है। उपसर्ग, प्रत्यय, संधि, समास आदि के व्यावहारिक पक्ष पर अनेक पाठ पढ़ाए जा सकते है। अतः मुख्य वात यह है कि हिन्दी व्याकरण का व्यावहारिक एवं प्रयोगात्मक रूप क्या है, इसे जानकर विविध प्रकरणों की शिक्षा देना और प्रयोग संबंधी प्रचुर अभ्यास कराना।

व्यावहारिक व्याकरण की शिक्षण विधि

व्यावहारिक व्याकरण की शिक्षण विधि 'प्रयोग विधि' एवं 'सहयोग विधि' है जिनका उल्लेख आगमन प्रणाली के अन्तर्गत किया जा चुका है। वस्तुतः व्यावहारिक व्याकरण की शिक्षा का पर्याप्त अवसर गद्य-शिक्षण या रचना-शिक्षण के समय मिल जाता है। अतः ऐसे अवसरों पर सहयोग प्रणाली सहायक सिद्ध होती है। अलग से व्यावहारिक व्याकरण के प्रकरण को पढ़ाने के लिए प्रयोग प्रणाली की भी आवश्यकता पड़ती है। अतः दोनो का ही यथोचित उपयोग आवश्यक है।

उच्चारण संबंधी त्रुटियों का संशोधन मौखिक रूप से बोलचाल के समय या गद्य-शिक्षण के समय किया जा सकता है। अक्षर विन्यास या लिपि का सुधार श्रुत लेख द्वारा या लिखित रचना के समय किया जा सकता है। गद्य-शिक्षण के समय शब्द-रचना—उपसर्ग, प्रत्यय, संधि, समास आदि को भी प्रचुर अभ्यास का अवसर मिलता है। विशेषण, सर्वनाम, क्रिया विशेषण आदि के अभ्यास का भी अवसर गद्य-शिक्षण में, लिखित रचना मे और मौखिक रचना में मिलता है।

लिखित रचना का संशोधन करते समय भी अशुद्धियों की शुद्धि का शिक्षण होना चाहिए और उनका प्रचुर अभ्यास करना चाहिए। नई शब्दावली, मुहावरों, लोकोक्तियों का प्रयोग आदि भी लिखित रचना के विषय हो सकते हैं। उच्च कक्षाओं के छात्र भी वाक्य गठन संबंधी, वर्तनी संबंधी त्रुटियाँ करते है। अतः इनका अलग से अभ्यास कराना आवश्यक है। ये अभ्यास कुछ इस प्रकार के हो सकते है—

सरल वाक्य को जोड़कर संयुक्त वाक्य बनाना, खण्डशः उपवाक्यों को मिलाकर मिश्रित वाक्यों की रचना कराना, वाक्यों में शब्दों का क्रम ठीक कराना आदि।

व्यावहारिक व्याकरण की दृष्टि से छात्रों को अपठित गद्यांशों एवं अनुच्छेदों का सारांश लिखने के लिए देना चाहिए। इससे भाषा पर अधिकार प्राप्त होता है। बालक अपनी वाक्य-रचना की तुलना जब लेखक की वाक्य रचना से करते हैं तो उन्हें अपनी भूलों का पता सहज ही लग जाता है और वे भी सुगठित चुस्त वाक्य लिखने का प्रयास करते हैं।

मौखिक एवं लिखित रचना तथा गद्य-शिक्षण के समय यथा अवसर व्याकरण के उपर्युक्त अंगों-उपांगों की उचित व्यावहारिक शिक्षा तो देनी ही चाहिए, पर यदाकदा आवश्यकतानुसार व्याकरण के विविध प्रकरणों का स्वतन्त्र रूप से भी शिक्षण आयोजित करना चाहिए। यह शिक्षण निस्सन्देह ही 'प्रयोग प्रणाली' द्वारा ही होना चाहिए। इससे समय-समय पर व्याकरणिक नियमों एवं प्रयोगों का जो स्फुट ज्ञान मिला रहता है, उन्हें समवेत रूप से जानने का अवसर छात्रो को मिल जाता है। इस स्वतन्त्र रूप से व्याकरण के पाठ-शिक्षण में भी शिक्षक प्रायोगिक आधार ही अपनाता है।

शिक्षण-सोपान

यह लिखा जा चुका है कि व्याकरण शिक्षण की वैज्ञानिक विधि आगमन प्रणाली है, जिसमें उदाहरणो एवं प्रयोगो द्वारा नियमीकरण एवं अभ्यास द्वारा उन नियमों की पुष्टि का प्रयास किया जाता है। कक्ष में इस दृष्टि से निम्नांकित सोपान अपनाए जाते हैं—

विशिष्ट उद्देश्य—प्रकरण के अनुसार उद्देश्यो का निर्धारण और उल्लेख।

प्रस्तावना—उपयुक्त उदाहरणों तथा उन पर आधारित प्रश्नों का उल्लेख।

प्रस्तुतीकरण—प्रस्तुत पाठ का उल्लेख।

उदाहरण—पाठ सम्बन्धी उपयुक्त उदाहरण।

तुलना एवं व्याख्या—उदाहरणों पर आधारित ऐसे प्रश्न जिनसे समान लक्षणों एवं विशेषताओं को प्रकट किया जा सके।

नियमीकरण अथवा निष्कर्ष—उपयुक्त तुलना एवं व्याख्या द्वारा छात्रों से नियम या परिभाषा निकलवायी जायेगी।

प्रयोग एवं अभ्यास—नियम या परिभाषा के आधार पर विविध प्रयोग एवं अभ्यास दिए जायँगे। ये प्रयोग एवं अभ्यास विद्यार्थियों द्वारा प्राप्त ज्ञान के परीक्षण के भी साधन होंगे।

सारांश

आधुनिक भाषाशास्त्रियों की दृष्टि से 'व्याकरण केवल भाषिक संरचनाओं का विवरण है।' अतः व्याकरण के सैद्धान्तिक रूपों–नियमों, परिभाषाओं आदि–की जगह उसके व्यावहारिक रूप की शिक्षा देनी चाहिए।

व्याकरण–शिक्षण के सम्बन्ध में तीन मत है–एक उसे बिल्कुल अनावश्यक मानता है, दूसरा उसके अभाव में भाषा का ज्ञान ही असंभव मानता है और तीसरा मत है कि सैद्धान्तिक व्याकरण की बजाय व्यावहारिक व्याकरण पढ़ाना चाहिए क्योंकि व्याकरण की उपयोगिता तो निर्विवाद है। इन तीनों मतों को क्रमशः अव्याकृत सिद्धान्त, व्याकरणातिरेक का सिद्धान्त और सहयोग सिद्धान्त का नाम दिया गया है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि व्याकरण भाषा के ज्ञान में सहायक होता है पर उसका प्रयोगात्मक रूप ही उपयोगी है, सैद्धान्तिक नहीं।

व्याकरण-शिक्षण की विधियाँ निम्नांकित हैं—

1–सिद्धान्त प्रणाली अथवा निगमन प्रणाली–(i) सूत्र प्रणाली (ii) पाठ्य पुस्तक प्रणाली।

2–आगमन प्रणाली–(i) प्रयोग प्रणाली (ii) सहयोग प्रणाली।

आगमन प्रणाली में शिक्षण सोपान हैं–(i) उदाहरण, (ii) तुलना एवं विश्लेषण (iii) नियमीकरण एवं (iv) प्रयोग और अभ्यास।

आधुनिक भाषा-विशेषज्ञ व्यावहारिक व्याकरण के शिक्षण पर बल देते हैं। व्यावहारिक व्याकरण से तात्पर्य है भाषा-प्रयोग एवं अभ्यास की दृष्टि से व्याकरण का उपयोग। शब्दभेद और पदव्याख्या की जगह ध्वनियों का ज्ञान, उच्चारण, वर्तनी, शब्द रचना, शब्द प्रयोग, वाक्य रचना, वाक्य के विविध रूपों का प्रयोग, विराम चिह्न आदि की शिक्षा अधिक उपयोगी है।

प्रश्न

1. भाषा-शिक्षण में व्याकरण का क्या स्थान और महत्त्व है?
2. व्याकरण की शिक्षा का विरोध भाषा-शिक्षण में क्यों किया जाता है?
3. भाषा के व्यावहारिक ज्ञान में व्याकरण किस प्रकार सहायक हो सकता है?
4. व्याकरण-शिक्षण की कौनसी विधियाँ प्रचलित है? आपकी दृष्टि से कौन विधि सर्वोपयुक्त है और क्यों?
5. व्यावहारिक व्याकरण से क्या तात्पर्य है? हिन्दी व्याकरण के कतिपय प्रकरणों का उदाहरण देकर उसकी उपयोगिता सिद्ध कीजिए।
6. 'प्रयोग प्रणाली' पर आधारित किसी व्याकरणिक प्रकरण पर पाठ-योजना तैयार कीजिए।

19

द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी शिक्षण

[मातृभाषा एवं द्वितीय भाषा, द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी-शिक्षण के उद्देश्य, अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी का पाठ्यक्रम, द्वितीय भाषा–शिक्षण विधि-व्याकरण एवं अनुवाद विधि, प्रत्यक्ष विधि, संघटना परक विधि, संरचनात्मक अथवा गठन पद्धति, आधुनिक भाषा विज्ञान एवं भाषा-शिक्षण, आधुनिक भाषा-विज्ञान की कतिपय मान्यताएँ—व्यवस्था, उच्चरित रूप, गठन, वाक्य इकाई है, भाषा की विकासशीलता, सामाजिक व्यवहार, द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी की कतिपय समस्याएँ एवं उनके समाधान की आवश्यकता]

"प्रत्येक भाषा संरचनात्मक दृष्टि से संप्रेपणीयता की एक भिन्न व्यवस्था है। विविध भाषाओं में अनेक समान लक्षणों एवं ज्वलन्त समरूपताओं के बावजूद प्रत्येक भाषा भावाभिव्यक्ति की एक अनोखी भिन्न व्यवस्था है, वह अपनी संरचना में स्वतः पूर्ण है, और उस संरचना तथा व्यवस्था के अन्तर्गत ही उसकी ध्वनियाँ, शब्द और वाक्य सार्थक होते हैं।"[1]

—रॉबर्ट लेडो

हिन्दी उत्तर भारत के विशाल क्षेत्र (बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश एवं हरियाणा) की मातृभाषा है और विधानतः राष्ट्रभाषा स्वीकृत होने के कारण अन्य राज्यों की शिक्षा में भी उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस दृष्टि से एक ओर वह मातृभाषा के रूप में इतने बड़े क्षेत्र के निवासियों की बौद्धिक, भावात्मक एवं सामाजिक रचना तथा उनके जीवन के विविध क्रिया-कलापों की भाषा है तो

---

1. "Each language is a structurally different system of communication—within the common characteristics and striking correspondences among languages, each language is a unique system of communication, self-contained within its own structure, sounds, words, sentences are meaningful within this frame of each language structure and system."

Robert Lado–Language testing, p. 8–9.

दूसरी ओर अहिन्दी भाषा-भाषियों के लिए द्वितीय भाषा के रूप में सम्पूर्ण भारत के साथ सम्बन्ध स्थापन की भाषा है। पर यह वैधानिक स्थति मात्र हमारे देश की भाषा-समस्या का कोई फलदायक समाधान नहीं है। यदि हिन्दी को हम वास्तविक रूप में राजभाषा के पद पर आसीन करना चाहते हैं और उसे केन्द्रीय तथा अन्तर्राज्यीय स्तर पर प्रशासन, राजनय, उद्योग-व्यापार, न्याय आदि विविध क्रिया-कलापों की भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित करना चाहते हैं तो अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी की समुचित शिक्षण-व्यवस्था एवं तज्जनित समस्याओं के समाधान पर विचार करना आवश्यक है।

मातृभाषा एवं द्वितीय भाषा

शिक्षण की दृष्टि से प्रत्येक भाषा की दो स्थितियाँ हैं—मातृभाषा एवं द्वितीय भाषा। द्वितीय भाषा के रूप में उसके शिक्षण की समस्याएँ मातृभाषा से सर्वथा भिन्न होती हैं। यह भिन्नता शिक्षार्थी, शिक्षण के उद्देश्य एवं पाठ्यक्रम तीनों के आधार पर समझी जा सकती है।

शिक्षार्थी की दृष्टि से विचार करें तो मातृभाषा-शिक्षण एवं द्वितीय भाषा-शिक्षण में बहुत अन्तर है। विद्यालय में प्रविष्ट होने के पूर्व ही बालक मातृभाषा का प्रयोग करने लगता है। वह सहज रूप में परिवार एवं पास-पड़ोस के प्रभाव से श्रवण, अनुकरण, प्रयोग एवं सतत अभ्यास द्वारा मातृभाषा की ध्वनियों, शब्दो एवं वाक्य-संरचनाओं से परिचित हो चुका रहता है और भावाभिव्यक्ति के लिए उनका प्रयोग करने लगता है। मातृभाषा के शिक्षक का कार्य इस पूर्वार्जित भाषा-शक्ति एवं कौशलों को अधिक सुसंस्कृत और संवर्द्धित करना होता है। पर द्वितीय भाषा सीखने में शिक्षार्थी को बिल्कुल ही नई ध्वनि, नई शब्दावली और नई वाक्य-रचना का सामना करना पड़ता है। अतः उसे इन्हे ग्रहण एवं आत्मसात् करने में विशेष कठिनाई का अनुभव होता है।

मातृभाषा के प्रयोग सम्बन्धी कुछ कौशल बालक बिना किसी बाह्य चेष्टा के स्वतः एक स्वाभाविक प्रक्रिया द्वारा परिवार एवं समाज के सम्पर्क से प्राप्त कर चुका होता है। भाषा के चार प्रारम्भिक कौशलों—सुनना, बोलना, पढ़ना और लिखना—में से प्रथम दो कौशल (सुनकर समझना और बोलना) उसे अनायास ही कुछ सीमा तक उपलब्ध हो चुके रहते हैं। पर द्वितीय भाषा के कौशल शिक्षार्थी को सचेत प्रयास द्वारा सीखने पड़ते हैं। इसी कारण कहा जाता है कि मातृभाषा सीखना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है और द्वितीय भाषा सीखना प्रयत्न साध्य प्रक्रिया है।

स्वभाव सिद्ध होने के कारण मातृभाषा सीखते समय शिक्षार्थी उसके भाषिक तत्त्वों को बिना किसी बाधा के ग्रहण करता जाता है, पर द्वितीय भाषा सीखने के समय मातृभाषा का ज्ञान बाधक बन जाता है। मातृभाषा के पूर्वार्जित अनुभव मातृभाषा शिक्षण में तो सहायक होते है पर द्वितीय भाषा शिक्षण मे

अवरोधक होते है, क्योंकि मातृभाषा के प्रति सहज झुकाव होने के कारण बालक मातृभाषा के गठन (ध्वन्यात्मक, व्याकरणिक, अर्थ सम्बन्धी आदि) का प्रयोग द्वितीय भाषा में भी कर बैठता है और इससे अशुद्धियाँ हो जाती हैं। इसे मातृभाषा का प्रक्षेप कहा जाता है। अतः यह ध्यान रखना पड़ता है कि मातृभाषा के गठन द्वितीय भाषा के सीखने में बाधक न बन जायँ।

द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी शिक्षण के उद्देश्य

मातृभाषा और द्वितीय भाषा के शिक्षण के उद्देश्यों में भी भिन्नता है। मातृभाषा शिक्षण के उद्देश्य बहुत व्यापक होते है। मातृभाषा बालक की मानसिक एवं भावात्मक रचना का आधार और साधन है। भाषा के प्रमुख चार कौशलों की उपलब्धि ही मातृभाषा शिक्षण का उद्देश्य नहीं है, अपितु साहित्यिक सौन्दर्य तत्त्वों का बोध, उनकी अनुभूति, नैतिक मूल्यों का उत्कर्ष एवं सम्पूर्ण व्यक्तित्व का गठन उसका उद्देश्य होता है, पर द्वितीय भाषा शिक्षण का उद्देश्य सामान्यतः भाषा के प्रमुख चार कौशलों तक ही सीमित रहता है। यह बात दूसरी है कि कोई विद्यार्थी द्वितीय भाषा के साहित्यिक अध्ययन में भी रुचि लेने लगे और उसका विशिष्ट अध्येता बन जाय।

उदाहरणतः अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी जीवन की मौलिक आवश्यकताओं के रूप में नहीं सीखी जाती। मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति तो उनकी अपनी मातृभाषा द्वारा ही होती है। पारिवारिक जीवन से लेकर सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक जीवन के ऊँचे से ऊँचे विचारो को व्यक्त करने की भाषा तो मातृभाषा ही है। पर जीवन के कुछ चुने हुए क्षेत्रों में अपने देश के अन्य राज्यों से संपर्क स्थापन के लिए और उनके साथ व्यावहारिक आदान-प्रदान के साधन के रूप में अहिन्दी भाषी हिन्दी सीखते हैं। अतः हिन्दी सीखने का उद्देश्य उनके लिए केवल यह है कि—

(1) हिन्दी में मौखिक रूप से व्यक्त विचारों को वे समझ सकें। (सुनकर समझना)
(2) हिन्दी में लिखित रूप से व्यक्त विचारों को समझ सकें। (पढना)
(3) हिन्दी माध्यम से अपने विचारों को मौखिक रूप से प्रकट कर सकें। (बोलना)
(4) हिन्दी माध्यम से अपने विचारों को लिखित रूप में प्रकट कर सकें। (लिखना)

प्रमुख भाषायी कौशलों के सापेक्षिक महत्त्व की दृष्टि से भी मातृभाषा एवं द्वितीय भाषा शिक्षण मे अन्तर हो जाता है। मातृभाषा शिक्षण में 1–सुनना, 2–बोलना, 3–पढ़ना और 4–लिखना एक स्वाभाविक एवं क्रमयुक्त प्रक्रिया है पर द्वितीय भाषा शिक्षण में यह क्रम कुछ परिवर्तित हो जाता है। कुछ विचारको का

मत है कि सुनने और लिखने का क्रम तो प्रथम एवं चतुर्थ ही है पर बोलने और पढ़ने का क्रम बदल जाता है। द्वितीय भाषा में पढ़ने का अभ्यास होने पर ही बोलने का अभ्यास निर्भर है। अथवा दोनों क्रियाएँ एक साथ होनी चाहिए।

द्वितीय भाषा शिक्षण में पठन-कौशल पर विशेष बल देने की आवश्यकता इसलिए भी है कि शिक्षार्थी स्वयं भी पढकर भाषा-योग्यताएँ अर्जित कर सके।

अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी का पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रम की दृष्टि से भी मातृभाषा एवं द्वितीय भाषा की सीमाएँ अलग-अलग हैं। मातृभाषा के शिक्षण में प्रारम्भिक स्तर के बाद साहित्य का शिक्षण प्रारम्भ हो जाता है और भाषा एवं साहित्य के इतिहास तथा समीक्षा का भी ज्ञान कराया जाता है। पर द्वितीय भाषा का पाठ्यक्रम इतना विस्तृत नहीं हो सकता। शिक्षक को भाषायी कौशलों एवं भाषा के गठन पर ही अधिक ध्यान देना पड़ता है। यही कारण है कि अहिन्दी भाषी क्षेत्रों की हिन्दी पाठ्यपुस्तकों में कविता का स्थान गौण माना जाता है। इस दृष्टि से निम्नांकित बातें ध्यातव्य हैं—

(1) हिन्दी साहित्य की अपेक्षा हिन्दी भाषा के ज्ञान और प्रयोग पर बल एवं तदनुरूप भाषिक तत्त्वों का पाठ्यक्रम में समावेश।

(2) खड़ी बोली के ही अधिकाधिक पाठों का समावेश।

(3) प्राचीन हिन्दी तथा ब्रज और अवधी के साहित्य को पाठ्य चर्चा में स्थान देने की आवश्यकता नहीं है।

द्वितीय भाषा-शिक्षण विधि

मातृभाषा एवं द्वितीय भाषा-शिक्षण की उपर्युक्त भिन्नताओं के कारण ही द्वितीय भाषा-शिक्षण की विधि अलग हो जाती है। इस दृष्टि से कुछ विशिष्ट विधियों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

1. व्याकरण एवं अनुवाद विधि :—द्वितीय भाषा शिक्षण की यह सर्वाधिक प्रचलित एवं प्राचीनतम पद्धति है। प्राचीन भाषाओं—संस्कृत, अरबी, ग्रीक, लैटिन आदि का शिक्षण इसी प्रणाली से होता आया है। द्वितीय भाषाओं की "स्वयं शिक्षण मालाएँ" इस विधि पर आधारित होती है। इस प्रणाली में द्वितीय भाषा का व्याकरण पहले पढ़ाया जाता है। उदाहरणतः संस्कृत भाषा पढ़ाने के लिए यह आवश्यक माना जाता है कि बालक 'अष्टाध्यायी' या 'सिद्धान्त कौमुदी' को कण्ठस्थ कर ले। 'द्वादशैः वर्षैः व्याकरणं श्रूयते' अर्थात् प्रारंभिक बारह वर्षों तक व्याकरण की शिक्षा चलनी चाहिए। आज भी अंग्रेजी सिखाते समय हम उसका व्याकरण और उसके नियम बताकर भाषा की शिक्षा प्रदान करते है।

इस प्रणाली में बोलने की अपेक्षा लिखने और पढ़ने पर तथा भाषा की अपेक्षा भाषा के तत्त्वों के ज्ञान पर अधिक बल दिया जाता है। यही इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष भी है कि भाषा-शिक्षण का अधिकांश समय व्याकरण-ज्ञान मे समाप्त हो जाता है। वस्तुतः उस समय का उपयोग हमें भाषा-शिक्षण के लिए करना चाहिए। भाषा सिखाना हमारा उद्देश्य है, भाषाशास्त्र सिखाना नहीं।

भाषा-कौशलों की दक्षता प्रदान करना हमारा उद्देश्य होना चाहिए न कि भाषा के नियमों का ज्ञान कराना। बालक को द्वितीय भाषा के ढाँचों (ध्वनियों, शब्दों, पदों एवं वाक्यो के ढाँचे) का प्रयोग आना चाहिए न कि इन ढाँचों का नियम। पर व्याकरण पद्धति का दोष यह है कि भाषा-शिक्षण की जगह भाषाशास्त्र (व्याकरण) का शिक्षण साध्य बन जाता है। इससे भाषा का सैद्धान्तिक ज्ञान भले ही हो जाये, व्यावहारिक ज्ञान एवं कौशल नहीं प्राप्त होता। इस पद्धति में मौखिक अभ्यास की तो बहुत ही उपेक्षा होती है।

अनुवाद इस प्रणाली का अनिवार्य अंग है। मातृभाषा के अवतरणों का द्वितीय भाषा में अनुवाद कराया जाता है और इसके अभ्याम द्वारा द्वितीय भाषा के शब्दों एवं वाक्य रचनाओं का ज्ञान प्रदान किया जाता है। अनुवाद को इतना महत्त्व देना और द्वितीय भाषा सीखने के लिए उसे आधार बना देना भी इस पद्धति का दोष है। अनुवाद करना एक जटिल कार्य है। अनुवाद करते समय शिक्षार्थी मातृभाषा के शब्दों के आधार पर द्वितीय भाषा के शब्दों के रखने का प्रयत्न करता है। पर सत्य तो यह है कि किन्ही दो भाषाओं के दो शब्द पूर्ण रूप से पर्यायवाची नहीं होते। प्रत्येक भाषा की अपनी सांस्कृतिक परम्परा होती है और इस कारण उस भाषा के शब्दों का अपना विशिष्ट अर्थ होता है। अतः शब्दानुवाद से भावों का ठीक-ठीक द्योतन नहीं हो पाता।

अनुवाद में समानार्थी शब्दों के ढूँढ़ने की समस्या के अतिरिक्त भाषा के गठन की भी समस्या बड़ी भारी है। दो भाषाओं के गठन समान नही होते। अतः एक भाषा के गठन को दूसरी भाषा के गठन में परिवर्तित करना एक दुष्कर कार्य है, जिसे द्वितीय भाषा सीखने वाला विद्यार्थी पूरा नहीं कर सकता। सही अनुवाद तो वही व्यक्ति कर सकता है जिसका दोनों भाषाओं पर पूर्ण अधिकार होता है। अतः व्याकरण एवं अनुवाद पद्धति द्वितीय भाषा शिक्षण की वैज्ञानिक पद्धति नहीं हो सकती।

उपर्युक्त दोषों के कारण व्याकरण एवं अनुवाद पद्धति के स्थान पर द्वितीय भाषा शिक्षण की किसी वैज्ञानिक पद्धति के लिए प्रयत्न आरम्भ हुआ। सत्रहवी शताब्दी में प्रसद्धि शिक्षाविद् जान कमेनियस ने इस दिशा में कुछ कार्य भी किया। 18वी सदी में जान वेसडो ने व्याकरण पद्धति का विरोध किया और कहा कि भाषा-शिक्षण में पहले बोलने और पढने पर बल देना चाहिए, व्याकरण पर बाद में। आगे चलकर इसी विचार ने प्रत्यक्ष पद्धति का आधार तैयार किया जिसमें मौखिक बातचीत पर विशेष बल दिया गया। यस्पर्सन और पामर जैसे भाषा शिक्षाशास्त्रियों ने इसका समर्थन किया।

2. प्रत्यक्ष विधि—इस पद्धति का मुख्य सिद्धान्त यह है कि जिस प्रकार बालक श्रवण एवं अनुकरण द्वारा मातृभाषा सीख लेता है, उसी प्रकार वह दूसरी भाषा भी सीख सकता है अर्थात् बातचीत और मौखिक अभ्यास द्वारा दूसरी

भाषा सिखानी चाहिए। व्याकरण के नियम पर विना वल दिये वास्तविक परिस्थितियों में भाषा के व्यावहारिक रूपों को सहज रूप से सिखाना प्रत्यक्ष विधि की विशेषता है।

इस पद्धति से व्याकरण-अनुवाद प्रणाली के दोष अपने-आप दूर हो जाते हैं। व्याकरण की सहायता इस पद्धति में नहीं ली जाती है, जहाँ उसकी आवश्यकता पड़ती है और वहाँ भी उसके व्यावहारिक रूप पर ही वल दिया जाता है। अनुवाद का आश्रय भी इस पद्धति में नहीं लिया जाता। दूसरी भाषा सिखाने में उसी भाषा का माध्यम अपनाया जाता है, अतः अनुवाद की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। इस पद्धति में चित्रों एवं शैक्षणिक सहायक सामग्रियों का प्रयोग विशेष रूप से किया जाता है। शब्दार्थ भी प्रयोग के माध्यम से ही वालकों को वता दिया जाता है। मातृभाषा का प्रयोग नही के बरावर होता है। पाठ भी वास्तविक जीवन की परिस्थितियों जैसे परिवार, वेश-भूषा, भोजन, व्यवसाय, त्योहार, उत्सव, यात्रा, आदि से सम्वन्धित होते हैं। वातचीत और मौखिक अभ्यासों द्वारा शिक्षा प्रदान करने से उस भाषा के दो आधारभूत कौशलों-सुनने और बोलने को सीखने का पर्याप्त अवसर मिलता है तथा उस भाषा की ध्वनियों एवं उच्चारणों से वालक सहज ही परिचित हो जाता है।

प्रत्यक्ष विधि के प्रतिपादकों का कहना है कि अनुभूति और अभिव्यक्ति में सीधा सम्वन्ध होना चाहिए, वीच में कोई वाधा नही होनी चाहिए। अतः शब्द का अर्थ उस शब्द के द्योतक वस्तु को प्रत्यक्ष दिखाकर ही समझाया जाता है। पर इस विधि में कठिनाई यह है कि कुछ संज्ञा शब्दों—पुस्तक, कलम, गेंद, कागज, कुर्सी, मेज, लड़का, लड़की आदि का ज्ञान तो करा दिया जाता है पर भाववाचक शब्दों एवं विशेषणों एवं संरचनात्मक शब्दों के ज्ञान में वड़ी कठिनाई होती है।

इस विधि में दूसरी कठिनाई यह है कि वाक्य-संरचनाओं का भी पर्याप्त ज्ञान नही कराया जा सकता। प्रश्नोत्तर विधि द्वारा कुछ इने-गिने वाक्यो की संरचना तो वता दी जाती है पर सभी प्रकार की वाक्य-संरचनाओं का ज्ञान कराना वहुत कठिन है।

3. **संघटना परक विधि**—उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण प्रत्यक्ष विधि द्वितीय भाषा शिक्षण की दोष रहित एवं वैज्ञानिक विधि नहीं हो सकी।

प्रत्यक्ष विधि के दोषों का निवारण वहुत कुछ संघटनात्मक विधि द्वारा किया गया है। शब्दावली पर वहुत वल देने की जगह भाषा-संघटना पर वल देना और स्वाभाविक संवादों द्वारा तथा मौखिक कथनों द्वारा अभ्यास इस विधि की विशेषता है। आरम्भ में इसे **सेना विधि** (आर्मी मेथड) कहा जाता था क्योंकि द्वितीय महायुद्ध के समय अमेरिकन सैनिकों को द्वितीय भाषा सिखाने के लिए इस विधि का प्रयोग किया गया। मौखिक अभ्यास पर वल देने से इसे **श्रव्य भाष्य-विधि**

(ऑडो लिंगुअल मेथड या ऑडो-ओरल मेथड) भी कहते हैं। भाषा विज्ञान का आधार लेने के कारण इसे भाषा वैज्ञानिक विधि (लिंगविस्टिक मेथड) भी कहते हैं।

इस विधि में विद्यार्थी को शिक्षक या आदर्श वक्ता स्वयं अथवा टेप द्वारा पूरा संवाद या पाठ सुनाता है और विद्यार्थी उच्चारण एवं अनुतान का पूरा-पूरा अनुकरण करते हुए उसे कंठस्थ कर लेता है। इस कारण इसे अनुकरण-परिस्मरण विधि (मिमिक्री-मेमोराइजेशन) भी कहते हैं।

यह विधि अभी प्रयोगात्मक रूप में है और इसे अधिकाधिक वैज्ञानिक बनाने के लिए निरन्तर संशोधन एवं परिवर्द्धन हो रहे हैं। इस विधि में भाषा के सैद्धांतिक ज्ञान की जगह भाषिक कौशलों का अभ्यास कराया जाता है। बालक के सम्मुख शिक्षक स्वयं या टेपरेकार्डर द्वारा वास्तविक सामाजिक परिस्थिति के सन्दर्भ में कोई संक्षिप्त संवाद प्रस्तुत करता है, जिसे सुन-सुन कर बालक इतनी अच्छी तरह याद कर लेता है कि अर्थ न जानते हुए भी वह शुद्ध उच्चारण के साथ उस संवाद को सुना देता है। इसके बाद सम्वाद के वाक्यों का अर्थ समझाया जाता है, फिर व्याकरणिक सूचना प्रदान की जाती है और अभ्यास कराए जाते है। भाषा सीखने की दृष्टि से इन अभ्यासों का विशेष स्थान है। इससे बालकों में भाषा के प्रयोग की क्षमता विकसित होती है। अभ्यासों में संवाद का ही एक वाक्य आधार-वाक्य बना लिया जाता है और उसकी सहायता से विशेष वाक्य गठन एवं शब्दावली का अभ्यास कराया जाता है। अन्त में इन्हीं सम्वादों से मिलते-जुलते सम्वाद दिए जाते है और विद्यार्थियों से भी बनवाए जाते है। इन अभ्यासों का उद्देश्य बालको को वास्तविक परिस्थिति में भाषा प्रयोग कर सकने की योग्यता प्रदान करना है।

4. संरचनात्मक अथवा गठन पद्धति—संघटना परक पद्धति का सर्वोपयुक्त वैज्ञानिक विकास द्वितीय भाषा शिक्षण की दृष्टि से हम संरचनात्मक अथवा गठन पद्धति (स्ट्रक्चरल अप्रोच) के रूप में पाते है। द्वितीय भाषा के रूप में अंग्रेजी शिक्षण की यह सर्वोपयुक्त अधुनातन पद्धति मानी जाती है। यह पद्धति लंदन विश्वविद्यालय शिक्षा संस्थान में ब्रिटिश कौंसिल के भाषा विशेषज्ञो द्वारा भाषा शिक्षण सम्बन्धी अनेक शोध, प्रयोग, एवं अनुभव का परिणाम है। इस पद्धति में प्रत्यक्ष एवं संघटनात्मक पद्धतियों के सिद्धान्त एव युक्तियों का वैज्ञानिक आधार स्वीकार करते हुए भाषा विषयक अनेक शोधों के आधार पर कुछ विशेष सुधार और परिवर्तन किए गए हैं।

यह पद्धति इस मान्यता पर आधारित है कि द्वितीय भाषा के सीखने में शब्द ज्ञान की अपेक्षा संरचना का ज्ञान और उस पर अधिकार प्राप्त करना अधिक महत्त्वपूर्ण है। अतः भाषा के संरचनात्मक रूपों का अधिकाधिक अभ्यास करना इस पद्धति की विशेषता है। भाषा की संरचना के अन्तर्गत ध्वनि, शब्द, वाक्यांश एवं

वाक्य गठन के सभी रूप शामिल हैं और उनके वर्गीकृत एवं आयोजित पाठ्यक्रम के आधार पर ही उनकी शिक्षा प्रदान की जाती है। उदाहरणतः अंग्रेजी की शिक्षा में वर्गीकृत लगभग 275 संरचनाओं तथा 3,000 मूल शब्दावली को आधार बनाया जाता है।

हिन्दी को द्वितीय भाषा के रूप में पढ़ाने के लिए अभी तक संरचनाओं एवं मूल शब्दावली का वर्गीकरण एवं क्रमायोजन नहीं किया गया है। अतः संरचना पद्धति की दृष्टि से इस दिशा में प्रयत्न करना अति आवश्यक है। इस पद्धति में मौखिक अभ्यास पर बल दिया जाता है और कक्षा में द्वितीय भाषा का ही यथा-सम्भव प्रयोग किया जाता है। उच्चारण, शब्द भंडार, व्याकरण सम्बन्धी आदि को ध्यानपूर्वक वर्गीकृत एवं क्रमायोजित करके कक्षा में एक वैज्ञानिक क्रम से प्रस्तुत किया जाता है। भाषा शिक्षण में तथ्यों या सूचनाओं की जगह कौशल प्रदान करने पर विशेष बल दिया जाता है। शब्दों का अर्थ एवं संरचनाओं का ज्ञान और अभ्यास उपयुक्त परिस्थिति और सन्दर्भ में ही कराया जाता है। प्रयुक्त की जाने वाली परिस्थितियाँ जितनी ही वास्तविक एवं छात्रों के ज्ञान और अनुभव पर आधारित होंगी, नवीन संरचना एवं शब्दावली का शिक्षण उतना ही सार्थक और सफल होगा। नवीन शब्दावली के प्रयोग के उदाहरण कक्षा, स्कूल, खेल का मैदान, घर, बाजार आदि जीवन से सम्बन्धित परिस्थितियों में प्रस्तुत किए जाते हैं जिनसे छात्र भली-भाँति परिचित होते हैं। इससे वे नई शब्दावली को सरलता से ग्रहण कर लेते हैं। इसके बाद बालकों को स्वयं उनके प्रयोग का अवसर प्रदान किया जाता है। शिक्षण एवं शिक्षार्थी दोनों पक्षों का कार्य एक सुनियोजित और संयुक्त प्रयास के रूप में सम्पन्न होता है। इस विधि में यह विशेष ध्यान रखने की बात है कि एक संरचना अच्छी तरह सुदृढ़ हो जाने पर ही दूसरी संरचना का प्रयोग और अभ्यास कराया जाता है। इस प्रकार भाषा सीखने की उपयुक्त स्थिति का निर्माण इस विधि की प्रमुख विशेषता है।

आधुनिक भाषा विज्ञान एवं भाषा शिक्षण

उपर्युक्त चारों विधियों को परस्पर विरोधी न मानकर उन्हें भाषा सिखाने की प्रक्रिया को अधिकाधिक वैज्ञानिक बनाने का प्रयास समझना अधिक उपयुक्त होगा। प्रायः इन विधियों को हम एक दूसरे का विरोधी मानकर उनका खंडन-मंडन करने लगते हैं और किसी एक विधि का अनावश्यक पक्ष लेने लगते है। इससे भाषा-शिक्षक का कार्य सरल होने की जगह और दुष्कर हो उठता है। वस्तुतः भाषा सिखाते समय प्रस्तुत होने वाली व्यावहारिक कठिनाइयों का समाधान जिस प्रणाली से होसके, उस समय वही विधि अधिक उपयुक्त होती है। अतः विधियों के विवेचन में अथवा किसी प्रकार के पूर्वाग्रह के चक्कर मे न पड़कर हमें देखना चाहिए, कि

भाषा की प्रकृति क्या है, भाषा के मूल अवयव क्या हैं, उन्हें सिखाने में व्यावहारिक कठिनाइयाँ क्या है और उनका सरल समाधान किस प्रकार हो सकता है ? इस दिशा में आधुनिक भाषा विज्ञान की खोजों और प्रयोगों से हमें विशेष सहायता मिल सकती है। भाषा के सम्बन्ध में आधुनिक भाषा विज्ञान की कुछ मान्यताएँ और उपलब्धियाँ है जिनसे द्वितीय भाषा शिक्षण की दृष्टि से हमें उपयोगी सूत्र मिल सकते है। उनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

1. व्यवस्था—आधुनिक भाषा विज्ञान की यह मान्यता है कि भाषा एक व्यवस्था है, अतः भाषा का संश्लिष्टात्मक ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। भाषा के किसी एक अवयव का ज्ञान होने से भाषा का सही रूप ज्ञात नही होता। यदि किसी भाषा की ध्वनियो का ही ज्ञान हम कर लें और उसके व्याकरणिक ढाँचों का ज्ञान न करें तो उस भाषा का प्रयोग हम नही कर सकते। भाषा अपने अवयवों की एक सुव्यवस्थित संघटना है। उदाहरणतः यदि भाषा वाक्यात्मक है तो वाक्य शब्दा-है और फिर शब्द ध्वनियों अथवा ध्वनि-संकेतो से बनता है। अतः अनेक व्यवस्थाओं से सुसम्बद्ध होकर भाषा का समग्र या संश्लिष्ट रूप सामने आता है। हम कह सकते हैं भाषा एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत अनेक उप व्यवस्थाएँ है। अतः पहले भाषा के इस संश्लिष्ट रूप का शिक्षण होना चाहिए, फिर एकाकी अवयवो का। पुरानी पद्धति में भाषा के एकाकी अवयवो के शिक्षण पर अत्यधिक बल दिया जाता था, पर अब भाषा के संश्लिष्ट रूप पर बल दिया जाता है।

2. उच्चरित रूप—उच्चरित रूप ही भाषा का प्राथमिक रूप है और लिखित रूप द्वितीय रूप है। अतः शिक्षण में भाषा के उच्चरित रूप का महत्त्व अधिक है। लिखित रूप की अपेक्षा भाषा का उच्चरित रूप स्वाराघात, बलाघात, लय, अनुतान, विवृति, गति, आरोह, अवरोह, मुद्रा आदि के कारण अधिक प्रभाव-पूर्ण और शक्तिशाली भी है।

इस मान्यता के कारण द्वितीय भाषा-शिक्षण में लिखित रूप की अपेक्षा उच्चरित रूप पर अधिक बल दिया जाता है। परंपरागत विधियो में पढने और लिखने के कौशल पर अधिक बल दिया जाता था, पर अब सुनने और बोलने पर अधिक बल दिया जाने लगा है। अब भाषा का उच्चरित रूप अर्थात् मौखिक अभ्यास द्वितीय भाषा-शिक्षण का आधार है। उच्चरित रूप में शुद्ध उच्चारण का विशेष महत्त्व है। अतः शिक्षक को उस भाषा का आदर्श वक्ता होना चाहिए। सही उच्चारण का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए पूर्वांकित टेप की सहायता भी ली जाती है। सुनने और बोलने की शिक्षा पर इसलिए भी बल दिया जाता है कि इन दोनो कौशलों पर अधिकार होने से पढ़ने और लिखने का कौशल सीखना सहज और सरल हो जाता है, पर प्रारम्भ से ही पढ़ने और लिखने पर बल देने से बोलना नही आ पाता।

3. गठन—आधुनिक भाषा विज्ञान की दूसरी मान्यता यह है कि प्रत्येक भाषा अपने में स्वतन्त्र है। उसका अपना विशेष गठन होता है जो दूसरी भाषा के गठन से भिन्न है। अतः द्वितीय भाषा की शिक्षा उसी के गठन के परिप्रेक्ष्य में होनी चाहिए, अपनी भाषा के गठन के अनुसार नहीं। व्याकरण एवं अनुवाद प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यही है कि मातृभाषा के गठन के अनुसार द्वितीय भाषा को भी समझने का प्रयत्न किया जाता है। द्वितीय भाषा शिक्षण की सफलता इस बात पर निर्भर है कि मातृभाषा तथा द्वितीय भाषा का ऐसा वर्णनात्मक व्याकरण (डिस्क्रिप्टिव्ह ग्रामर) बनना चाहिए जो उन दोनों के सही रूप को प्रकट कर सके। इस दृष्टि से भाषा विज्ञान की अधुनातन उपलब्धि **'व्यतिरेकी विश्लेषण'** (कन्ट्रास्टिव्ह अनेलिसिस) है जिसके द्वारा किन्हीं दो भाषाओं का सही तुलनात्मक रूप प्रस्तुत किया जाता है।

'व्यतिरेकी विश्लेषण' में मातृभाषा और सीखी जाने वाली द्वितीय भाषा दोनों का भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है। ध्वन्यात्मक संरचना, रूप रचना, वाक्य गठन, मुहावरे, शब्द-समूह आदि के क्षेत्र में मातृभाषा और द्वितीय भाषा का अन्तर–समानता, असमानता–स्पष्ट रूप से जान लेने से बालक नई भाषा के यथार्थ स्वरूप को ठीक प्रकार से पहचानता और ग्रहण करता है। उदाहरणतः यदि दोनों भाषाओं की ध्वन्यात्मक संरचना का अन्तर बालक स्पष्ट रूप से समझ लेता है तो द्वितीय भाषा के शुद्ध उच्चारण का अभ्यास वह सरलता से कर सकता है। यही बात वाक्य-गठन आदि पर भी लागू होती है।

व्यतिरेकी विश्लेषण द्वितीय भाषा शिक्षण की दृष्टि से बहुत ही उपयोगी साधन है। इस पद्धति द्वारा शिक्षण में निम्नांकित बातें उल्लेखनीय है—

(i) प्रारम्भिक कक्षा से लेकर उच्चतम कक्षा तक के लिए विभिन्न स्तरों के अनुसार पाठ्यपुस्तकें लिखी जायँ। इस दृष्टि से हिन्दी पाठ्यपुस्तकों की रचना अभी तक पूर्ण नहीं हुई है। किस स्तर पर कितने और कौन-कौन से शब्द, रूप, वाक्य, मुहावरे आदि पाठ्यपुस्तक में दिए जायँ और क्रमोत्तर उन्हें किस रूप में रखा जाय, इनका स्तरीकरण आवश्यक है। स्तरीकरण के लिए भाषायी तत्त्वों के प्रयोग का सांख्यिकी अध्ययन करके आवृत्ति एवं उनके परस्पर सम्बन्ध के आधार पर उन तत्त्वों का वर्गीकरण होना चाहिए।

(ii) शिक्षार्थी की मातृभाषा को ध्यान में रखते हुए द्वितीय भाषा की पाठ्यपुस्तकें लिखी जायँ। जैसे यदि बंगला भाषी विद्यार्थी को हिन्दी पढ़ानी है तो हिन्दी पाठ्यपुस्तक उसके अनुसार होगी और तेलुगु भाषी को पढ़ानी है तो उसके अनुसार। एक ही हिन्दी पाठ्यपुस्तक सभी अहिंदी भाषियों के लिए ठीक नहीं होगी, क्योंकि व्यतिरेकी विश्लेषण के आधार पर प्रत्येक भाषा की तुलना-समानता-असमानता–का रूप भिन्न होगा।

(iii) व्यतिरेकी विश्लेषण का सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि द्वितीय भाषा की जो ध्वनि, रूप, वाक्य गठन आदि स्पष्ट हो चुके हो उन्ही पर आधारित बातचीत, संवाद, वितरण आदि के अभ्यास कराए जायँ। अपरिचित ध्वनि, रूप या वाक्य गठन बिना स्पष्ट किये शिक्षार्थियों के सम्मुख न लाये जायँ। यह ध्यान रखने की बात है कि बातचीत में उस भाषा का शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चरित रूप ही सामने आना चाहिए। टेपरेकार्डर और ग्रामोफोन आदि की सहायता इस दृष्टि से विशेष उपयोगी होती है। इससे सही उच्चारण-अभ्यास का अवसर मिलता है।

(iv) दोनो भाषाओं की तुलना द्वारा ज्ञात समान एवं असमान संरचनाओ में असमान संरचनाओ के अभ्यास पर विशेष बल देने की आवश्यकता होती है क्योकि उन्ही के प्रयोग में त्रुटियाँ अधिक होती है।

(v) व्याकरणिक नियमों को कंठस्थ करने की जगह भाषायी कौशलों का अर्जन और अभ्यास अधिक उपयोगी माना जाता है। द्वितीय भाषा शिक्षण की दृष्टि से 'व्यतिरेकी विश्लेषण' द्वारा प्रदत्त उपर्युक्त सूत्र बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए है।

(4) **वाक्य इकाई है**—भाषा की प्रमुख इकाई वाक्य है। शब्दों का सही अर्थ वाक्य में अन्य शब्दों के साथ प्रयोग होने पर ही प्रकट होता है। इसी प्रकार ध्वनियो का भी अकेले कोई महत्त्व नही, उसका उच्चारण शब्द-स्तर पर ही सार्थक होता है। इस मान्यता के कारण द्वितीय भाषा शिक्षण मे शब्दो की अपेक्षा वाक्यों पर बल दिया जाता है। शब्द भंडार वृद्धि के लिए भी शब्द को एकाकी स्तर पर अर्थ न बताकर वाक्य में ही उसका अर्थ बताया जाता है। इसी प्रकार उच्चारण में एकाकी ध्वनियो के अभ्यास की जगह पूरे वाक्य को उच्चरित किया जाता है, फिर यथावश्यक अभ्यास विशेष के लिए पूरे शब्द को।

(5) **भाषा की विकासशीलता एवं विविध स्तर**— अब स्पष्ट हो चुका है कि एक ही भाषा के विभिन्न रूप होते है। विभिन्न स्तरो—सामाजिक, धार्मिक, व्यावसायिक, राजनैतिक, शैक्षणिक आदि के अनुसार प्रयुक्त भाषा में अंतर पाया जाता है। इस दृष्टि से भाषा कोई आदर्श, एकसम स्वरूप नही है। अतः द्वितीय भाषा सीखने वाला व्यक्ति किस परिस्थिति में, किन लोगो के बीच, किस स्तर की भाषा का प्रयोग करना चाहता है, उसी दृष्टि से उसे भाषा सिखानी चाहिए। इसी कारण अब बोलचाल की भाषा सिखाने पर विशेष बल दिया जाता है।

(6) **सामाजिक व्यवहार**—आधुनिक भाषा विज्ञान की यह मान्यता है कि भाषा एक सामाजिक क्रिया या व्यवहार है। बालक समाज से भाषा सीखता है। भाषा व्यवहार की वस्तु है। वह एक कौशल है, अतः अभ्यासगम्य है। भाषा के

अवयवों एवं तत्त्वों को बौद्धिक रूप से समझ लेने मात्र से भाषा नहीं आती, वह तो बार-बार प्रयोग और अभ्यास से ही आती है। प्राचीन शिक्षण-पद्धति का एक दोष यह था कि भाषायी अवयवों एवं तत्त्वों का ज्ञान व्याकरण द्वारा प्रदान किया जाता था। पर आधुनिक विधि में भाषा के प्रयोग और अभ्यास को विशेष महत्त्व प्रदान किया जाता है। अब यह स्पष्ट है कि शब्द-ज्ञान एवं व्याकरण-ज्ञान मात्र से हम भाषा के प्रयोग में कुशल नहीं हो सकते अपितु निरन्तर प्रयोग एवं अभ्यास से ही भाषा पर अधिकार प्राप्त कर सकते है।

द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी की कतिपय समस्याएँ एवं उनके समाधान की आवश्यकता

द्वितीय भाषा शिक्षण सम्बन्धी विशिष्ट परिस्थितियों, विधियों एवं आधुनिक भाषा विज्ञान सम्बन्धी मान्यताओं को समझ लेने पर हम द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी शिक्षण की कतिपय कठिनाइयों एवं समस्याओ पर भी विचार कर सकते है जिनका अनुभव अहिन्दी भाषी शिक्षार्थी एवं उनको पढ़ाने वाले हिन्दी शिक्षक करते हैं। यदि इन समस्याओ का समाधान ढूँढ़ लें तो उन प्रदेशों में हिन्दी शिक्षण का कार्य सरल हो जाएगा।

कोई भी भाषा सिखाते समय उसके तीन पक्ष सामने आते हैं—

(i) **पठन**—उस भाषा विशेष की ध्वनियाँ क्या है? उस भाषा का उच्चरित रूप क्या है? उच्चरित रूप का अर्थ है—वर्णमाला की प्रत्येक ध्वनियों का उच्चारण, संयुक्त ध्वनियो का उच्चारण, शब्दों का उच्चारण, पूरे वाक्य का उच्चारण और वाक्य समूह अर्थात् अनुच्छेद का उच्चारण। लिखित भाषा का यह उच्चरित रूप ही पठन है।

(ii) **लेखन**—उस भाषा को लिपिबद्ध करने की क्या पद्धति है? मूल स्वर एवं व्यंजन क्या हैं? स्वरों एवं व्यंजनों का संयोग किस प्रकार होता है, और कैसे लिखे जाते हैं? अर्थात् संयुक्त ध्वनियों एवं मात्राओं का लिखित रूप क्या है?

(iii) **व्याकरण**—उस भाषा का गठन या संरचना क्या है? शब्द, पद और वाक्य किस प्रकार बनते है? उनके नियम क्या है और उनका प्रयोग किस प्रकार होता है?

इन पक्षों की दृष्टि से हिन्दी भाषा-शिक्षण सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया जा सकता है—

(1) पठन या ध्वनि-उच्चारण—पढ़ना सिखाने मे ध्वनि-उच्चारण की समस्या सबसे मुख्य रहती है। हिन्दी की अनेक ध्वनियाँ ऐसी हैं जिनका उच्चारण अहिन्दी भाषियो एवं विदेशियों के लिए बहुत कठिन है। जो ध्वनि उसकी मातृभाषा

में नहीं है, उसका उच्चारण उसके लिए कठिन होता है। ऐसी स्थिति में हिन्दी शिक्षक को विद्यार्थी की मातृभाषा की ध्वनियों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए जिससे वह समानता या असमानता के आधार पर हिन्दी ध्वनियों का उच्चारण सिखा सके। तमिल भाषा में ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ, भ ध्वनियों की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः तमिल भाषी विद्यार्थी को हिन्दी की ये ध्वनियाँ सिखाते समय इनके उच्चारण पर विशेष बल देना होता है और अधिकाधिक अभ्यास कराना पड़ता है। तमिल भाषा में ग, ज, ड, द, ब अक्षर भी नहीं होते और उनका काम क्रम से क, च, ट, त, प से लिया जाता है। स्थान और सन्दर्भ के अनुसार क, च, ट, त, प का उच्चारण क्रमानुसार ग, ज, ड, द, ब हो जाता है। अतः हिन्दी शिक्षकों को इस पर विशेष रूप से ध्यान देना पड़ता है क्योंकि हिन्दी में इन सभी के लिए अक्षर हैं। तमिल में न के लिए दो प्रकार के अक्षर है पर दोनों के उच्चारण में कोई कठिनाई नही होती। तमिल में एक विशिष्ट अक्षर है जिसका उच्चारण ल और ड़ के बीच है, पर हिन्दी में ल की ध्वनि ही पर्याप्त मानी जाती है।

हिन्दी बहुत कुछ ध्वन्यात्मक भाषा है अर्थात् जैसा लिखते है वैसा ही पढ़ते हैं। पर इसके अनेक अपवाद है जिसके कारण अहिन्दी भाषियों को अनेक कठिनाइयाँ पड़ती है। ऐसे अपवाद युक्त स्थलों का उच्चारण विशेष रूप से बताना चाहिए। हिन्दी में शब्द के अन्तिम स्वर 'अ' का लोप हो जाता है पर तेलुगु में स्वर के लिखे जाने पर उसका उच्चारण अवश्य होता है। हिन्दी में हम लिखते है—राम, श्याम, भवन, कमल आदि, पर उच्चरित रूप है—राम्, श्याम्, भवन्, कमल्। तेलुगु भाषी विद्यार्थी को यह बताना आवश्यक है कि अब हिन्दी का प्रकृत उच्चारण ऐसा ही है। शब्द के मध्य स्वर लोप का विधान तो तेलुगु भाषी समझ भी नही पाता। लिखना, चलना, उठना, करना आदि के उच्चरित रूप है—लिख्ना, चल्ना, उठ्ना, कर्ना आदि। पर तेलुगु भाषी तो इनमें ख, ल, ठ, र, का भी उच्चारण पूरा करता है।

संयुक्त ध्वनियों का उच्चारण पंजाब के बालकों के लिए बहुत कठिन होता है। उनकी भाषा में संयुक्त ध्वनियों के अभाव के कारण ही यह कठिनाई होती है। अतः इन ध्वनियो के विशेष अभ्यास की आवश्यकता होती है।

ऋ का उच्चारण मराठी और तेलुगु में 'रु' के समान होता है; जबकि हिन्दी मे 'रि' के समान। वे गृह को 'ग्रुह', प्रकृति को 'प्रक्रुति' जैसा बोलते है। 'ऐ' और 'औ' हिन्दी मे संयुक्त एवं दीर्घ स्वर हैं पर तेलुगु में ये दोनों स्वतन्त्र स्वर हैं और उनके ह्रस्व रूप भी हैं। 'ज्ञ' का उच्चारण हिन्दी में अब 'ग्य' या 'ग्यँ' जैसा होता है पर मराठी और तेलुगु में ज + ञ के समान होता है। ड़, ढ, क़, ग़, ज़, फ़ का उच्चारण तेलुगु भाषी नहीं कर पाता क्योंकि इन ध्वनियों का उनकी

भाषा में अभाव है। हिन्दी में श और ष के उच्चारण मे कोई अन्तर नहीं रह गया है जबकि तेलुगु में स्पष्ट अन्तर है। हिन्दी की 'च' ध्वनि मराठी की 'च' ध्वनि से भिन्न है। मराठी मे वैदिक 'ल' अब भी विद्यमान है। मराठी भाषी हिन्दी 'ल' का उच्चारण वैदिक 'ल' की भाँति करता है जो कुछ-कुछ 'ड' के समान प्रतीत होता है, बंगला में 'क्ष' नही है, वे उसे 'ख' बोलते है। बंगला में किसी व्यंजन के साथ 'य' ध्वनि नही है। अतः 'य' युक्त संयुक्त ध्वनियों के उच्चारण में वे पूर्व व्यंजन को ही संयुक्त कर देते हैं जैसे धन्य को धन्न, अन्य को अन्न।

यहाँ ध्वनियों के उच्चारण सम्बन्धी कुछ भेदों के दिखाने का अभिप्राय इतना ही है कि अहिन्दी भाषी विद्यार्थियों को हिन्दी ध्वनियों का उच्चारण सिखाने के लिए हमें उनकी मातृभाषा की ध्वनियों का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए और जहाँ आवश्यकता हो, उसे तुलना करके हिन्दी ध्वनियो का शुद्ध उच्चारण सिखाना चाहिए। इस तुलना के लिए व्यतिरेकी विश्लेषण की आधुनिक पद्धति का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

उच्चारण सम्बन्धी कठिनाइयो को दूर करने के लिए आजकल लिंगुआफोन, एयरफोन, टेपरेकार्डर आदि यन्त्रो की सहायता बडी उपयोगी सिद्ध हुई है। इनके द्वारा विद्यार्थी अपेक्षित ध्वनियो को बार-बार सुनकर कानो को अभ्यस्त कर लेता है और अनुकरण द्वारा शुद्ध उच्चारण करने लगता है। स्वरों और व्यंजनों का चार्ट बनाकर, उच्चारण स्थान और प्रयत्न का सही रूप प्रदर्शित करके उच्चारण सम्बन्धी कठिनाई बहुत कुछ दूर की जा सकती है। हिन्दी की ध्वनियों का उच्चारण सिखाने की दृष्टि से तत्काल ही ये प्रयोग और प्रयत्न आवश्यक है।

(2) लेखन—हिन्दी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। यह एक प्राचीन लिपि है और अपनी सुन्दरता, सुडौलता एवं सरलता के लिए प्रसिद्ध है। उच्चारण और लेखन की यथेष्ट समरूपता के कारण अब भी उसे उत्तम लिपियों मे स्थान प्राप्त है। यह गुण होते हुए भी अहिन्दी भाषियों की दृष्टि से इस लिपि में अनेक असुविधाएँ और कठिनाइयाँ सामने आती है। कुछ कठिनाइयाँ इस प्रकार है—

नागरी लिपि एक ऐसी लिपि है जिसमें अक्षर के बायें (कि), दायें (की), ऊपर (के, को, कै, कौ), नीचे (कु, कू), चारो ओर कोई न कोई मात्रा चिह्न लगाया जाता है। मात्रा चिह्नो के इन रूपों के कारण मुद्रण और टंकण में भी असुविधा होती है। इस वैज्ञानिक युग में जबकि लेखन में अधिकाधिक क्षिप्रता की आवश्यकता है तथा लेखन कार्य अधिकाधिक टंकण और मुद्रण द्वारा सम्पन्न होने लगा है, हिन्दी की मात्राएँ लगाने की पद्धति असुविधाजनक है। इस दृष्टि से रोमन लिपि अधिक सुविधाजनक है क्योंकि उसमें स्वरों के प्रतीक रूप कोई अलग मात्रा चिह्न नही होते, बल्कि स्वर अपने मूल रूप में ही व्यंजन के साथ संयुक्त होते है। इससे मुद्रण और टंकण में बड़ी सुविधा रहती है।

इस कठिनाई का निवारण एक समस्या है। हम मात्रा चिह्नों को तो नहीं बदल सकते, पर अक्षर लिखने की एक सुनिश्चित प्रणाली अपना कर इसे कम अवश्य कर सकते है। अक्षर सिखाते समय बालकों को यह बताना चाहिए कि कौन अक्षर कहाँ से प्रारम्भ करे और किस प्रकार मोड़ देते हुए कैसे समाप्त करें और मात्रा कैसे लगाएँ। यदि अक्षर लिखने और मात्रा लगाने में हम किसी प्रकार एक-रूपता ला सकें तो कठिनाई कुछ कम अवश्य हो जाएगी। अभी तो हम मननाने रूप में अक्षर लिखते है और मात्रा लगाते हैं। जैसे 'क' लिखने में कोई पहले गोला बनाता है और कोई पहले खड़ी पाई लिखकर उसमें गोला बनाता है, फिर मात्रा लगाता है। किसी-किसी अक्षर में तो दो-तीन बार कलम उठानी पड़ती है। अतः हिन्दी के शिक्षकों को इस बात पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योंकि मात्राओं के कारण लिखने की विभिन्नता और बढ जाती है। अतः एक सुगम, सुनिश्चित और वैज्ञानिक तरीका ही अपनाना चाहिए।

अहिन्दी भाषी विद्यार्थी को हिन्दी लिपि सिखाने में यदि उसकी मातृभाषा की लिपि भी सामने रखें और तुलना करते हुए हिन्दी लिपि सिखाएँ तो सरलता होगी। शिक्षार्थी अपनी मातृभाषा की ध्वनियो एवं उनके प्रतीक अक्षरों से तुलना कर आसानी से यह जान जाता है कि हिन्दी में कौन ध्वनियाँ है और उनके प्रतीक अक्षर कितने हैं। यदि दोनों भाषाओ के लिपि-प्रतीकों का चार्ट प्रस्तुत करके हिन्दी अक्षर सिखाए जायँ तो अच्छा रहेगा।

हिन्दी लेखन में शिरोरेखा लगाने की भी एक समस्या है। देवनागरी लिपि की यह एक विशेषता है और इससे निस्सन्देह ही लेखन की सुन्दरता बढ़ भी जाती है। पर इससे समय तो अधिक लगता ही है। अतः इस दृष्टि से भी एक मानक लेखन विधि अपनाने की आवश्यकता है और उसी का प्रचलन होना चाहिए। इससे देव-नागरी लिपि के लिखने में सहजता आयेगी। वस्तुतः नागरी लिपि रोमन लिपि की अपेक्षा सीखने में सरल होनी चाहिए क्योंकि अंग्रेजी सीखने के लिए तो लिखाई और छपाई के बड़े और छोटे अक्षरों को मिलाकर 104 अक्षर सीखने पड़ते हैं। हिन्दी वर्णमाला में कुल 48 अक्षर हैं, और इनमें भी यदि समान रूपी अक्षरों (अ, आ, ओ, औ, अं, अः, प, फ, ग, म, भ, र, ख, स, व, ब, ड, ङ, ड़, घ, ध आदि) को छाँट लें और इस आधार पर सिखाएँ तो इन्हें सीखना और भी सरल हो जाय।

वर्णमाला सिखाने में समानरूपी अक्षरों को एक साथ सिखाना भी चाहिए। शिक्षक को स्वयं पहले अक्षरों की बनावट का सही ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। अक्षरों की बनावट और उनकी लेखन-विधि सिखाने के लिए प्रयोगात्मक रूप में अमेरिका में फिल्म बनाने का प्रयत्न हो रहा है। हमें भी कुछ इसी प्रकार का प्रयोग करना चाहिए, जिससे हिन्दी लेखन सिखाने की कोई सुनिश्चित प्रणाली विकसित हो सके। अंग्रेजी लिखना सिखाने के लिए जैसे चार पंक्तियों वाली कापियों का प्रयोग

किया जाता है, नागरी लिपि सिखाने के लिए भी कोई ऐसा तरीका ढूँढ़ना चाहिए, जिससे उसे सही और सुन्दर ढंग से लिखा जा सके।

पठन और उच्चारण की ही भाँति लेखन में भी अहिन्दी भाषी शिक्षार्थी की मातृभाषा की लेखन विधि का पूरा परिचय शिक्षक को होना चाहिए जिससे वह यथा समय तुलना करके बता सके। उदाहरणतः हिन्दी संयुक्ताक्षरो के लिखने में अहिन्दी भाषी अनेक भ्रम में पड़ जाते हैं। तेलुगु में प्रथम व्यंजन को पूरा लिखकर दूसरे व्यंजन का मात्रा चिह्न लगाया जाता है, पर हिन्दी में प्रथम व्यंजन आधा लिखा जाता है और वह आधा भी विभिन्न व्यंजनों में विभिन्न रूप धारण कर लेते हैं। इसके अपवाद भी हैं, जैसे 'चक्र' में (क) पूरा लिखा जाता है पर 'क' स्वरहीन और 'र' पूरा है। अतः इनका स्पष्ट रूप समझाने की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार अनुस्वार चिह्नो के प्रयोग में भी भ्रम है। कंकाल, कङ्काल; चंचल, चञ्चल; दंड, दण्ड; हिंदी, हिन्दी; आरंभ, आरम्भ; आदि रूपों का भी एक मानक रूप स्थिर कर लेना चाहिए। इसी प्रकार गयी, गई; गये, गए; लिये, लिए; दायें, दाएँ; आदि का भी एक निश्चित रूप स्थिर करना चाहिए, जिससे द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी को पढ़ने वाले विद्यार्थी उलझन में न पड़ें और हिन्दी का लिखित रूप उनके लिए सुगम सिद्ध हो सके।

हिन्दी संरचना में लिंग और वचन विकार, विभक्तियाँ, कर्त्ता या कर्म के अनुसार क्रिया का रूप विकार, काल के अनुसार 'ने' लगाने का नियम आदि ऐसी कठिनाइयाँ हैं और इन नियमों में इतने अपवाद हैं कि अहिन्दी भाषी विद्यार्थी बहुत कठिनाई का अनुभव करते है। लिंग और वचन विकार के कारण अहिन्दी भाषी प्रायः भूलें करते हैं। हिन्दी व्याकरण में अनेक देशी-विदेशी शब्द ऐसे है जिनका लिंग भी निश्चित नहीं हो सका है और मनमाने ढंग से उनका प्रयोग कर लिया जाता है।

हिन्दी की द्वित्व एवं संयुक्त क्रियाएँ भी अहिन्दी भाषियों के लिए एक समस्या है। हिन्दी में अनेक क्रियाओं का संयोग होता है, यहाँ तक कि दो-दो, तीन-तीन मुख्य क्रियाएँ एक साथ प्रयुक्त होती है और अर्थ में परिवर्तन ला देती हैं। 'वह उठ बैठा' में उठना, बैठना, या 'उठ खड़ा हुआ', में उठना, खड़ा होना मुख्य क्रियाएँ हैं और एक साथ प्रयुक्त हुई हैं। डालना, बैठना, पाना, जाना, लेना, पड़ना, चुकना आदि क्रियाएँ प्रायः अन्य क्रियाओं के साथ प्रयुक्त होकर एक विशेष अर्थ देती हैं। ये संयुक्त क्रियाएँ हिन्दी की अपनी विशेषताएँ हैं, जो भाषा को विशेष मुहावरेदार बनाने और अर्थ में चमत्कार लाने की दृष्टि से बड़ी उपयोगी सिद्ध होती हैं। इनका प्रयोग हिन्दी भाषी के लिए तो सहज और स्वाभाविक लगता है पर अहिन्दी भाषी के लिए एक समस्या है। इन संयुक्त क्रियाओं का भी प्रयोग पूर्णतः

व्याकरण सम्मत नही हो सका है! हमें इसका भी पूर्ण परिनिष्ठित रूप स्थिर कर लेना चाहिए।

अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी पढ़ाते समय तत्सम शब्दों की अर्थ-भिन्नता भी एक कठिनाई उत्पन्न कर देती है। बंगला और मराठी तो हिन्दी परिवार की भाषाएँ है और उनमें समान तत्सम शब्दों की भरमार है, पर तेलुगु, कन्नड और मलयालम भाषाओं में भी संस्कृत शब्दों की संख्या बहुत है। इन तत्सम शब्दों का अर्थ हिन्दी शिक्षक हिन्दी के अनुसार बता देते है पर उन भाषाओं में उनका अर्थ भिन्न होता है। अतः अहिन्दी भाषी विद्यार्थी उलझन मे पड़ जाते है। हिन्दी में अनुमान शब्द का अर्थ अन्दाज है, तेलुगु में उसका अर्थ सन्देह है। तेलुगु में उद्योग का अर्थ नौकरी है, भाग्य का अर्थ सम्पत्ति है। अतः अहिन्दी भाषी विद्यार्थी को पढ़ाते समय हिन्दी के तत्सम शब्दों और उसकी मातृभाषा के तत्सम शब्दों की अर्थ-भिन्नता का ध्यान रखना चाहिए और ऐसे शब्दों की सूची बना कर अर्थ स्पष्ट कर देना चाहिए।

अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी पढ़ाने की दृष्टि से इस समय सर्वोपरि आवश्यकता है, हिन्दी की आधारभूत संरचनाओं एवं आधारभूत शब्दावली का संचयन, वर्गीकरण एवं क्रमायोजन। जिस प्रकार गठन या संरचना पद्धति द्वारा अंग्रेजी शिक्षण के लिए अंग्रेजी की मूल संरचना लगभग 275 और मूल शब्दावली लगभग 3000 का सचयन कर लिया गया है और उन्हें स्तरीकृत एवं क्रमायोजित करके द्वितीय भाषा के रूप में अंग्रेजी पढ़ाई जाती है, कुछ वैसा ही द्वितीय भाषा के रूप मे हिन्दी शिक्षण के लिए भी प्रयत्न अपेक्षित है। आधारभूत संरचनाओं एवं शब्दावली के अभाव में हिन्दी भाषा का शिक्षण सुव्यवस्थित नही हो पाता है और भाषायी तत्वों के क्रमिक शिक्षण मे बाधा पड़ती है।

उपर्युक्त समस्याओं को देखते हुए आज हिन्दी भाषा के गठन को सही रूप में प्रस्तुत करने वाला एक परिनिष्ठित व्याकरण अति आवश्यक है। अभी तक तो जो हिन्दी व्याकरण लिखे गए है, वे अंग्रेजी व्याकरण और संस्कृत व्याकरण के आधार पर लिखे गए है, जिनमे हिन्दी भाषा की प्रकृति का पूरा परिचय नही मिल पाता। हिन्दी एक जीवित और प्रवाहशील भाषा है, अतः उसके व्याकरण में स्थापित नियमो, अपवादों एवं परिवर्तनशील स्थितियों का उल्लेख भी आवश्यक है जिससे अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी का शिक्षण अधिक वैज्ञानिक और स्वाभाविक हो सके।

सारांश

उत्तर भारत के विशाल क्षेत्र में हिन्दी की शिक्षा मातृभाषा के रूप में प्रदान की जाती है और अहिन्दी भाषी प्रदेशों में द्वितीय भाषा के रूप में। अतः द्वितीय

भाषा के रूप में हिन्दी-शिक्षण विधि एवं तत्सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करना आवश्यक है।

मातृभाषा बालक सहज रूप से श्रवण, अनुकरण, प्रयोग और अभ्यास द्वारा सीख लेता है और विद्यालय में आने के पूर्व उस भाषा का प्रयोग करने लगता है, पर द्वितीय भाषा उसके लिए नई भाषा होती है। इसी कारण कहा जाता है कि मातृभाषा सीखना एक सहज क्रिया है पर द्वितीय भाषा सीखना कृत्रिम प्रक्रिया है। मातृभाषा के पूर्वार्जित अनुभव मातृभाषा शिक्षण में सहायक होते हैं पर द्वितीय भाषा सीखने में अवरोधक। द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी शिक्षण के उद्देश्य है—

(i) सुनकर समझना, (ii) पढ़ना (iii) बोलना (iv) लिखना।

द्वितीय भाषा-शिक्षण विधियाँ इस प्रकार हैं—

(1) व्याकरण एवं अनुवाद विधि (2) प्रत्यक्ष विधि (3) संघटनापरक विधि (4) संरचनात्मक विधि।

आधुनिक भाषा विज्ञान एवं भाषा-शिक्षण—द्वितीय भाषा शिक्षण में आधुनिक भाषा विज्ञान की कुछ उपलब्धियों एवं मान्यताओ से विशेष सहायता मिली है। ये मान्यताएँ है—

(i) भाषा एक व्यवस्था है।

(ii) भाषा के उच्चरित रूप की शिक्षा पहले देनी चाहिए।

(iii) गठन-प्रत्येक भाषा का अपना गठन है और वह अपने में स्वतन्त्र है। व्यतिरेकी विश्लेषण द्वारा द्वितीय भाषा-शिक्षण में विशेष सफलता मिलती है।

(iv) वाक्य को भाषा की इकाई मानकर पढ़ाना उचित है।

(v) भाषा विकासशील प्रक्रिया है।

(vi) भाषा एक सामाजिक क्रिया एवं व्यवहार है।

द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी की समस्याएँ है—

(i) पठन सम्बन्धी अवयवों की शिक्षा

(ii) लेखन सम्बन्धी समस्याएँ और

(iii) हिन्दी भाषा का व्याकरणिक रूप।

प्रश्न

1. सीखने की दृष्टि से मातृभाषा एवं द्वितीय भाषा की प्रकृति में क्या अन्तर है?

2. द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी-शिक्षण के क्या उद्देश्य है?

3. द्वितीय भाषा-शिक्षण की प्रमुख विधियों पर प्रकाश डालिए और बताइए कि आप किस विधि को उत्तम समझते है।

4. 'व्यतिरेकी विश्लेषण' से क्या तात्पर्य है ? द्वितीय भाषा-शिक्षण में इससे क्या सहायता मिलती है ?

5. आधुनिक भाषा विज्ञान की द्वितीय भाषा शिक्षण की दृष्टि से क्या मान्यताएँ एवं उपलब्धियाँ है ? उनका प्रयोग द्वितीय भाषा-शिक्षण में किस प्रकार करेंगे ?

6. हिन्दी को द्वितीय भाषा के रूप में पढ़ाते समय भाषा सम्बन्धी क्या समस्याएँ हैं और आप उनका निराकरण किस प्रकार करेंगे ?

7. हिन्दी ध्वन्यात्मक भाषा है ? इस कथन पर सम्यक् प्रकाश डालिए ।

8. अहिन्दी भाषा-भाषियों को हिन्दी पढ़ाते समय हिन्दी ध्वनियों एवं उच्चारण संबंधी क्या प्रमुख समस्याएँ सामने आती है ? आप इनकी शिक्षा किस प्रकार प्रदान करेंगे ?

20

भाषा-शिक्षण एवं शैक्षणिक उपकरण

[शैक्षणिक उपकरण—तात्पर्य एवं उपयोगिता, शैक्षणिक उपकरणों के विविध रूप—श्यामपट्ट, फेल्टबोर्ड, मौखिक या शाब्दिक उदाहरण, दृश्य-श्रव्य उदाहरण, दृश्य-श्रव्य उदाहरणों का चयन और प्रयोग, कतिपय दृश्य उदाहरण—वस्तुएँ, नमूने, चित्र, रेखाचित्र एवं डायग्राम, मानचित्र, चार्ट, पोस्टर, टाइम लाइन आदि, यांत्रिक दृश्य-श्रव्य सामग्री—चित्र दर्शक, चित्र विस्तारक, रेडियो, ग्रामोफोन, टेपरेकार्डर, भाषा-प्रयोगशाला, लिग्वाफोन, टेलिविजन, चलचित्र, अभिनय, परिभ्रमण]

"ज्ञानेन्द्रिय अनुभव द्वारा ही किसी भी वस्तु या क्रिया का मानसिक चित्र बनता है और इस मानसिक चित्र के आधार पर ही तत्सम्बन्धी प्रत्यय बनते हैं। अतः शिक्षण द्वारा ज्ञान के प्रत्यक्षीकरण एवं उसे मूर्त्तता प्रदान करने के लिए ऐसे-ऐसे शैक्षणिक उपकरणों की आवश्यकता एवं महत्ता स्वयंसिद्ध है जिनके माध्यम से वस्तु, क्रिया, भाव एवं विचार का बिम्बग्रहण संभव हो सके।"[1]

—थामस एम. रिस्क

शिक्षण क्रिया को सरल, सजीव, सुग्राह्य एवं प्रभावपूर्ण बनाने के लिए यह आवश्यक है कि नवीन ज्ञान, भाव एवं विचार इस प्रकार प्रस्तुत किए जायँ कि उनका स्वरूप प्रत्यक्ष, स्पष्ट एवं मूर्त्त हो उठे। इस कारण शैक्षणिक उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। इन उपकरणों की सहायता से अमूर्त्त, जटिल एवं सूक्ष्म बातों को मूर्त्त, सरल एवं स्वरूपगत बनाया जा सकता है और बालकों को उनका प्रत्यक्ष अध्ययन कराया जा सकता है। इनके प्रयोग से पाठों को क्रियात्मक एवं व्यावहारिक बनाने में सहायता मिलती है।

---

1. "Naturally, there cannot be adequate imagery without the sense experience necessary to the formation of that imagery, and hence the importance of supplying the means through which such imagery may be acquired."—थामस एम. रिस्क.

व्यापक दृष्टि से शैक्षणिक उपकरणों का तात्पर्य शिक्षण के लिए प्रयुक्त उन सभी साधनों से है जिनके द्वारा शिक्षण कार्य में सहायता मिलती है और पाठ को संप्रेषणीय बनाने में सुगमता प्राप्त होती है।

शैक्षणिक उपकरणों के अनेक रूप हो सकते हैं—

1. विषय सामग्री को सुव्यवस्थित रूप में उपस्थित करने वाली पाठ्यपुस्तकें।

2. कक्षा-शिक्षण का अनिवार्य साधन श्यामपट्ट।

3. विषय सामग्री को स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष करने के लिए उदाहरण। उदाहरण के भी दो रूप हैं—

(i) मौखिक अथवा शाब्दिक उदाहरण

(ii) दृश्य-श्रव्य उदाहरण

पाठ्यपुस्तक एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण शिक्षोपकरण है और उसके सम्बन्ध में अगले अध्याय में विस्तार से लिखा जायगा।

प्रस्तुत अध्याय में शेष उपकरणों का उल्लेख किया जा रहा है।

श्यामपट्ट और फेल्ट बोर्ड

श्यामपट्ट का प्रयोग शिक्षण का अभिन्न अंग है। भाषा ही नहीं, बल्कि कोई भी विषय श्यामपट्ट का प्रयोग किए बिना भलीभाँति नहीं पढ़ाया जा सकता। भाषा के पाठों में शब्दार्थ, व्याख्या एवं प्रयोग, शब्द-रचना के उदाहरण, उच्चारण, वर्तनी आदि बताते समय श्यामपट्ट पर उनका उल्लेख आवश्यक हो जाता है। इससे पाठ अधिक स्पष्ट और बोधगम्य हो जाता है। श्यामपट्ट पर उल्लिखित सामग्री को बालक अपनी रचना एवं अभ्यास पुस्तिका में लिख लेते है। बिना श्यामपट्ट के कक्षा अधूरी है। कक्षा की व्यवस्था एवं साजसज्जा में श्यामपट्ट की व्यवस्था अवश्य रहनी चाहिए।

श्यामपट्ट की आवश्यकता एवं उपयोगिता—

1. शिक्षक द्वारा प्रस्तुत मौखिक शिक्षण से बालक की श्रवणेन्द्रिय ही सक्रिय रहती है, पर मौखिक शिक्षण के साथ-साथ श्यामपट्ट के यथोचित प्रयोग से बालक की नेत्रेन्द्रिय भी सक्रिय हो जाती है जिससे बालक का ज्ञान सुदृढ और स्थायी होता है। श्रवण एवं निरीक्षण दोनों के योग से अवधान में एकाग्रता और प्रगाढ़ता आ जाती है।

2. श्यामपट्ट पर पाठ के महत्त्वपूर्ण अंशों, तथ्यों, शब्दार्थों आदि के उल्लेख से छात्रों का ध्यान अपने-आप उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है और उनका मानसिक बिम्ब बन जाता है।

3. पाठ के कठिन स्थलों को चित्र, डायग्राम, रेखाचित्र आदि द्वारा अथवा शब्दार्थ, व्याख्या, उदाहरण आदि के उल्लेख द्वारा सरल एवं सुबोधपूर्ण बनाया जा सकता है।

पाठ-सारांश एवं पुनरावृत्ति के उल्लेख की दृष्टि से श्यामपट्ट एक अपरिहार्य साधन है।

श्यामपट्ट सहज ही सुलभ शैक्षणिक उपकरण है और स्वल्प व्यय साध्य भी। भाषा-शिक्षण में इसका यथोचित प्रयोग होना आवश्यक है।

व्याकरण या लिखित रचना के पाठों में श्यामपट्ट लेख की सामग्री अधिक होती है। इन पाठों में शिक्षक पहले से लपेट फलक पर उदाहरण लिख कर ले जा सकता है और उनका यथा समय प्रयोग कर सकता है। कभी-कभी श्यामपट्ट के किसी भाग पर उदाहरण लिखकर या चार्ट बनाकर कागज से ढँक देते है और पढ़ते समय आवश्यकता पड़ने पर उसे अनावृत्त करते है। समय बचाने का यह अच्छा तरीका है। इसे 'हिडेन बोर्ड टेक्निक' अथवा 'स्ट्रिपटीज़ टेक्निक' कहते हैं।

फेल्ट बोर्ड—यह एक प्रकार का बोर्ड या तख्ता होता है जिस पर खुरदरा एवं रंगीन कपड़ा (फिनालेन) लगा देते हैं। इस बोर्ड पर शिक्षक गत्ते अथवा अन्य प्रकार की बनाई आकृतियाँ, चित्र आदि चिपका सकता है। इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि शिक्षक चित्र आदि शीघ्रता से चिपका या हटा सकता है। इस बोर्ड का प्रयोग भाषा-शिक्षण में अब बहुत होने लगा है और यह इसकी उपयोगिता का प्रमाण है।

उदाहरण[2]

उदाहरण के दो प्रकार हैं—(1) शाब्दिक अथवा मौखिक उदाहरण (2) दृश्य एवं श्रव्य उदाहरण।

शाब्दिक तथा मौखिक उदाहरण—

शाब्दिक उदाहरण के अंतर्गत वे शब्द-चित्र आते है जिनका प्रयोग किसी कठिन भाव या विचार को सरल बनाने और समझाने के लिए किया जाता है। हमारे भाव एवं विचार अमूर्त तत्त्व है। उन्हें हम भाषा का परिधान देकर मूर्त एवं संप्रेषणीय बनाते हैं, किन्तु कभी-कभी ये भाव एवं विचार सामान्य भाषा द्वारा स्पष्ट नहीं हो पाते। अतः भाषा के कुछ ऐसे मान्य एवं प्रचलित रूपों का प्रयोग करना पड़ता है जिनसे अस्पष्ट एवं अमूर्त विचार स्पष्ट एवं मूर्त हो जायँ। उपमा, रूपक, दृष्टांत आदि अलंकार, सूक्तियाँ, मुहावरे, जनश्रुतियाँ, प्रसिद्ध कथन, कहानी या चुटकुले, यात्राओं के विवरण, प्रसिद्ध पद्य या कविताएँ आदि भाषा के ऐसे ही मान्य एवं अर्थ व्यंजित करने वाले रूप है जिनके द्वारा कठिन से कठिन भावों को सरल, स्पष्ट एवं मूर्त बनाया जा सकता है।

शाब्दिक उदाहरणों के प्रयोग से बालकों का ध्यान पाठ की ओर बना रहत है; पाठ रुचिकर, सुबोधपूर्ण एवं सुग्राह्य बन जाता है। प्रेरणाप्रद कहानी, संत वचन,

---

2. इलस्ट्रेशन

प्रसिद्ध कथन एवं उद्धरण सुनकर बालक अवश्य ही उत्प्रेरित एवं अनुप्राणित होते है।

शाब्दिक उदाहरणों के उपयुक्त, समीचीन एवं प्रभावपूर्ण प्रयोग के लिए निम्नांकित बातों का ध्यान रखना चाहिए—

(i) उपयुक्त अवसर एवं प्रसंग आने पर ही उदाहरण दिए जायँ। अप्रासंगिक अथवा मूल विषय से ध्यान हटा लेने वाले उदाहरण नही देना चाहिए। विषयांतर हो जाने से बालक उलझन में पड़ जाते हैं।

(ii) उदाहरण बालकों की योग्यता एवं ग्रहण शक्ति के अनुकूल हों। उनकी भाषा सरल एवं स्पष्ट हो। सूक्तियाँ, मुहावरे और प्रसिद्ध कथन रूढ़ और परम्परागत होते हैं, उनकी भाषा में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए। वर्णन, कहानी, तुलना आदि में भाषा सरल बनाई जा सकती है।

(iii) उदाहरण भाव एवं विचार प्रेरक हों जिनसे शिक्षण में उचित वातावरण की सृष्टि हो सके। उदाहरणो की विविधता का भी ध्यान रखना चाहिए। सजीव, रोचक और ध्यान आकृष्ट करने वाले उदाहरणों का भंडार शिक्षक के पास होना चाहिए।

(iv) उदाहरणों के प्रयोग के सम्बन्ध में शिक्षक को पाठ-योजना तैयार करते समय ही विचार कर लेना चाहिए और उनका चयन, प्रयोग विधि, उपयुक्त अवसर एवं प्रसंग आदि बातें निश्चित कर लेनी चाहिए। पर इसका यह तात्पर्य नही कि कक्षा की परिस्थिति एवं आवश्यकता के अनुसार उदाहरणों के प्रयोग की योजना में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। शिक्षक कभी भी यथावश्यक परिवर्तन कर सकता है।

(v) शिक्षक अपने अनुभवों का भी उदाहरणों के रूप में प्रयोग कर सकता है पर अन्यपुरुष के रूप में ये उदाहरण अच्छे रहते हैं। शिक्षक यदि अपने अनुभवों को आत्मकथा के ही रूप में सुनाता है और ऐसे उदाहरणों की संख्या अधिक हो जाती है तो बालकों की रुचि नहीं रह जाती और कभी-कभी शिक्षक को उपहास का पात्र बनना पड़ता है।

दृश्य-श्रव्य उदाहरण—

शिक्षण को यथार्थ एवं ग्राह्य बनाने के लिए शाब्दिक उदाहरणो से ही सदा काम नहीं चल पाता। विशेषत: माध्यमिक कक्षाओ तक शब्दचित्र उतने सुबोधपूर्ण सिद्ध नहीं होते। भावों एवं विचारों की गूढ़ता उपमा, रूपक या सादृश्य से स्पष्ट नहीं हो पाती। ऐसे समय दृश्य एवं श्रव्य उदाहरणों की आवश्यकता पड़ती है। ये उदाहरण मूर्त्त एवं प्रत्यक्ष उदाहरण हैं और वे बालकों की दृष्टि एवं श्रव्य शक्ति को उत्तेजित कर उन्हें पाठ की ओर आकर्षित किए रहते हैं।

ज्ञान एवं अनुभव के लिए चक्षु एवं श्रवण प्रमुख ज्ञानेन्द्रियाँ है। शिक्षण के समय नई बातें सिखाने या नवीन अनुभव कराने के लिए ऐसे उदाहरणों की

आवश्यकता पड़ती है जो बालक की दृष्टि एवं श्रवण शक्ति को सक्रिय बना सके। इसी कारण महान् शिक्षाशास्त्रियों—रूसो, पेस्टालाजी आदि ने वस्तुओं के साक्षात् एवं प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर पढ़ाने की प्रणाली का प्रतिपादन किया।

इसमें कोई संदेह नहीं कि बालक मौखिक कथन की अपेक्षा क्रिया तथा प्रत्यक्ष वस्तु की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं, उपकरणों के प्रयोग से पाठ क्रियात्मक हो उठता है, कक्षा का वातावरण सजीव और आकर्षक हो जाता है, और मनोरंजक एवं सुखद परिस्थितियों में बालकों के लिए सीखना सरल हो जाता है।

दृश्य-श्रव्य उदाहरणों के प्रकार—कक्षा में प्रयुक्त होने वाले दृश्य-श्रव्य उदाहरणों के अनेक प्रकार हैं—

(1) दृश्य उदाहरण—

(i) वास्तविक पदार्थ, नमूने, सैण्ड टेबुल, माडल आदि।

(ii) चित्र, रेखाचित्र, डायग्राम, मानचित्र, ग्लोब, पोस्टर, चार्ट, टाइम लाइन आदि।

(iii) मैजिक लैण्टर्स, चित्र विस्तारक यंत्र (एपिडायस्कोप)।

(2) श्रव्य उदाहरण—रेडियो, ग्रामोफोन, टेपरेकार्डर आदि।

(3) दृश्य-श्रव्य उदाहरण—कुछ उदाहरण ऐसे हैं जो दृश्य एवं श्रव्य दोनों हैं जैसे चलचित्र, टेलीविजन आदि।

दृश्य-श्रव्य उदाहरणों का चयन एवं प्रयोग

(1) कक्षा की स्थिति, प्रसंग एवं अवसर के अनुसार दृश्य-श्रव्य साधनों का चयन और प्रयोग होना चाहिए। अनावश्यक अधिक सामग्री प्रयोग से कक्षा में अजायबघर जैसी स्थिति हो जाती है। अतः पाठ की दृष्टि से उपयुक्त सामग्री का ही चयन वांछित है।

(2) सामग्री व्यय साध्य न हो। सुगमतापूर्वक सुलभ हो।

(3) घटना एवं क्रियाप्रधान चित्र या अन्य दृश्य सामग्री अधिक उपयोगी होती है। अनेक भावों एवं तथ्यों वाले चित्रों का चयन नहीं होना चाहिए।

(4) आवश्यकता पड़ने पर ही इन उदाहरणों का प्रयोग किया जाये। यह सदा ध्यान में रहे कि भाषा शिक्षक का मुख्य कार्य भाषा एवं साहित्य का शिक्षण है और यदि भाषिक एवं साहित्यिक ज्ञान बिना दृश्य एवं श्रव्य साधनों के ही स्वाभाविक एवं प्रभावपूर्ण ढंग से प्रदान किया जा सकता है तो व्यर्थ ही उदाहरणों का समावेश कर पाठ का कलेवर न बढ़ाया जाये।

(5) कक्षा में सामग्री रखने की उचित व्यवस्था कर लेनी चाहिए। अस्त-व्यस्तता ठीक नहीं। उनके प्रयोग में यथासंभव छात्रों का अधिक से अधिक सहयोग लेना चाहिए। एक ही सामग्री, विशेषतः चित्र बार-बार नहीं दिखाना चाहिए। सामग्री केवल दिखा देना ही अभीष्ट नहीं है, उस पर पर्याप्त विचार-विमर्श होना

चाहिए। पाठ योजना के समय ही इन साधनों के प्रयोग की योजना भी बना लेनी चाहिए।

(6) दृश्य-श्रव्य साधनों का प्रयोग पाठ के प्रारम्भ, मध्य और अन्त तीनों अवस्थाओं में किया जा सकता है। आरम्भ में पाठ के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करने, मध्य में भावों की व्याख्या एवं तथ्यों को स्पष्ट करने, और अन्त में पुनरावृत्ति, अभ्यास अथवा सीखे हुए ज्ञान एवं कौशल को सुदृढ़ करने के लिए उदाहरण का प्रयोग किया जाता है।

भाषा-शिक्षण में उपयोगी कतिपय दृश्य उदाहरण

1. पदार्थ एवं वस्तुएँ—वास्तविक वस्तु के प्रदर्शन से वालक को स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव होता है। वालकों की कल्पना को यथार्थ और साकार बनाने के लिए पदार्थों अथवा वस्तुओं का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। फल, फूल, पत्तियाँ, पौधों आदि का ज्ञान जितना देखने से होता है उतना उनके बारे में सुनने से नहीं। जो वस्तुएँ विद्यालय के संग्रहालय में सुरक्षित रखी जा सकती हैं, उन्हें एकत्र किया जाय और शिक्षण के समय उनका यथा प्रसंग प्रयोग किया जाये। छात्रों को शिक्षणोपयोगी वस्तुओं के संग्रह के लिए प्रोत्साहित भी किया जाये, जैसे टिकट, झण्डों के चित्र, राजचिह्नों एवं सिक्कों के चित्र आदि। ऐतिहासिक स्मारकों से सम्बन्धित पाठों में वस्तुओं के देखने से बच्चों को यथार्थ ज्ञान होता है, जैसे ताजमहल, लाल किला आदि।

2. प्रतिमूर्ति या नमूने—पदार्थों अथवा वस्तुओं के अभाव में उनके नमूने उपयोगी सिद्ध होते हैं। वैज्ञानिक, भौगोलिक एवं ऐतिहासिक विषयों से संबंधित भाषा के पाठों में नमूनों का प्रयोग आवश्यक होता है। जैसे अशोक के स्तम्भ, स्तूप, ताजमहल, चितौड़ का दुर्ग आदि।

3. चित्र—चित्रों के प्रयोग से पाठ में रोचकता और स्पष्टता आती है। चित्रों का लाभ यह है कि वे सरलता से मिल जाते है, सुरक्षित रखे जा सकते हैं और छात्रों को उपयोगी चित्रों के संकलन में आनन्द भी आता है। पौराणिक कहानियों के शिक्षण में चित्रों का प्रयोग उपयोगी सिद्ध होता है। चित्र-रचना के पाठों में वालक बड़ी रुचि रखते हैं क्योंकि चित्रो के आधार पर ही कहानी या वर्णन का विकास कराया जाता है। 'जीवनी' के पाठों में महापुरुषों के चित्र वालकों के लिए प्रेरणाप्रद सिद्ध होते हैं। ऐतिहासिक चित्र–किले, भवन, युद्ध, सिक्के आदि, कलात्मक वस्तुओं के चित्र, प्राकृतिक दृश्यों के चित्र, वैज्ञानिक यंत्रों के चित्र आदि यथा प्रसंग प्रयुक्त होने से पाठ रोचक और सुग्राह्य हो जाता है।

कक्षा में उपयुक्त, शुद्ध एवं स्पष्ट चित्रों का ही प्रयोग वांछित है। चित्र ऐसे हों जिनमें अज्ञात या नवीन अनुभव की सामग्री समझने के लिए कुछ ज्ञात सामग्री अथवा पृष्ठभूमि भी रहे। इससे चित्रों की व्याख्या तथा अभीष्ट निष्कर्ष प्राप्त करने में सरलता हो जाती है। चित्रों का विश्लेषण छात्रों द्वारा करना चाहिए। चित्रों के

प्रयोग में छात्रों का अधिकाधिक सहयोग लेने से छात्र पाठ के प्रति आकर्षित बने रहते है।

4. रेखाचित्र एवं डायग्राम—रेखाचित्र या डायग्राम ऐसा शैक्षणिक उपकरण है जो सदा ही शिक्षक के हाथ में है। किसी भी उपकरण के अभाव में शिक्षक खड़िया द्वारा श्यामपट्ट पर रेखाचित्र या डायग्राम खींच सकता है। पर इसके लिए शिक्षक को ड्राइंग का थोड़ा अभ्यास करना पड़ता है। अच्छे शिक्षक के लिए यह कौशल आवश्यक है।

5. मानचित्र—भाषा की पाठ्यपुस्तक में संकलित ऐतिहासिक एवं भौगोलिक पाठों में मानचित्रों का प्रयोग उपयोगी होता है। शिक्षक को कक्षा में श्यामपट्ट पर मानचित्र खींच लेने की कुशलता प्राप्त कर लेनी चाहिए जिससे बने-बनाए मानचित्र के अभाव में आवश्यकता पड़ने पर वह स्वयं मानचित्र खींच सके।

6. चार्ट, पोस्टर, टाइम लाइन आदि—इतिहास, भूगोल, विज्ञान, कृषि आदि से संबंधित भाषा के पाठों में इनकी आवश्यकता पड़ती रहती है। शिक्षक को इनके प्रयोग में कुशल होना चाहिए। वह बालकों से चार्ट, पोस्टर या टाइम लाइन तैयार भी करा सकता है।

यांत्रिक दृश्य-श्रव्य सामग्री

1. चित्रदर्शक (प्रोजेक्टर)—इस यंत्र द्वारा चित्रों के बने हुए स्लाइड्स कक्षा के सम्मुख दिखाए जाते हैं। विविध दृश्य, स्थान, क्रियाएँ आदि के स्लाइड्स बने होते है और वे बड़े आकार में इस यंत्र की सहायता से कक्षा के सम्मुख दिखाए जाते हैं।

2. चित्र-विस्तारक यंत्र (एपिडायस्कोप)—इस यंत्र द्वारा छोटे चित्र, मानचित्र, डायग्राम आदि बड़े रूप में छात्रों को दिखाए जाते है। इस यंत्र का लाभ यह है कि इसमें स्लाइड्स की आवश्यकता नहीं पड़ती। मूल चित्र को ही दिखाया जा सकता है।

3. रेडियो—रेडियो द्वारा शिक्षण के कार्य में यथेष्ट सहायता ली जा सकती है। अब रेडियो का प्रचार बहुत हो गया है और अधिकतर विद्यालयों के पास यह साधन उपलब्ध है। रेडियो द्वारा भाषण, वार्तालाप, रूपक आदि की शैली से बालक परिचित होते हैं और उनकी भाषा की दक्षता बढ़ती है। भाषा एवं साहित्य सम्बन्धी पाठ भी अब रेडियो द्वारा नियमित कार्यक्रम के रूप में प्रस्तुत किए जाते है, इन पाठों को ध्यान से सुनने के लिए बालकों को प्रोत्साहित करना चाहिए। कक्षा में भी ऐसे पाठों को सुनने और उन पर परिचर्चा करने का आयोजन होते रहना चाहिए। प्रसारित पाठ की आवश्यक व्याख्या शिक्षक स्वयं भी कर सकता है। बालकों को प्रमुख बातें नोट कर लेने के लिए भी प्रोत्साहित करना चाहिए।

4. ग्रामोफोन—भाषा की शिक्षा में उच्चारण तथा भाषण देने की कला सिखाने में इसकी सहायता ली जाती है। ग्रामोफोन के प्रयोग मे यह सावधानी रखनी है कि शैक्षिक दृष्टि से उपयोगी रेकर्ड ही बालकों को सुनाए जायँ। कुशल वक्ताओ के भाषण, महान व्यक्तियों के कथन एवं प्रवचन सुनाना उपयोगी होता है।

5. टेपरेकर्डर—भाषा शिक्षण में इसका उपयोग अधिक होता है। पठन, उच्चारण, भाषण आदि के आदर्श रूप इसके द्वारा कक्षा में प्रस्तुत किये जाते है जिसे सुनकर बालक अनुकरण कर सकें। बालकों के भाषण भी रेकर्ड करके उन्हें सुनाया जा सकता है जिससे वे अपनी त्रुटियाँ स्वयं मालूम कर सकें।

6. भाषा प्रयोगशाला (लैंग्वेज लैब)—टेप रेकर्डर युक्ति का ही एक विकसित रूप भाषा प्रयोगशाला है जिसका प्रयोग अमेरिका में बहुत किया जाता है और अब अन्य देशों में उसका प्रचार बढ़ रहा है। इसमें अनेक 'बूथ' होते हैं और प्रत्येक बूथ में टेपरेकर्डर होता है जो एक मुख्य टेप से परिचालित होता है। द्वितीय भाषा-शिक्षण में इसका विशेष उपयोग होता है। बालक विदेशी भाषा की ध्वनि एवं संरचना का शुद्ध रूप टेप से सुनता है और दूसरे टेप पर उन्हें दोहराता है। दूसरे टेप को फिर बजाकर अपनी ध्वनियो की तुलना मूल ध्वनि (प्रथम टेप की ध्वनि) से करता है। इस प्रकार वह विविध संरचनाओं का अभ्यास करता है। वह अनुच्छेदों के बोध-प्रश्नों का उत्तर देता है। भाषा-प्रयोगशाला द्वारा सभी बालकों को अपनी गति से प्रगति करने का अवसर मिलता है।

7. लिंग्वाफोन—ग्रामोफोन की ही भाँति लिंग्वाफोन में रेकर्ड्स से काम लेते है। इसे सुनकर बालक उसका अनुकरण करते हैं और भाषा सम्बन्धी अभ्यास करते हैं। उच्चारण, शिक्षा, पढ़ने या बोलने की शिक्षा में इसका उपयोग अधिक है। यह एक व्यय साध्य यंत्र है और हमारे देश में सभी विद्यालयों में इसका प्रयोग संभव नही।

8. टेलिविजन—रेडियो, ग्रामोफोन, टेपरेकर्डर, लिंग्वाफोन आदि श्रव्य साधन हैं पर टेलिविजन श्रव्य और दृश्य दोनों होने के कारण अधिक उपयोगी है। इसके द्वारा हम वास्तविक क्रिया होते हुए देखते हैं और उसके संबंध में सुनते भी है। इसमें बालक की आँखें और कान दोनों क्रियाशील रहते हैं। चलचित्र के सभी गुण इस यंत्र में पाए जाते हैं। इसके द्वारा प्रसारित अनेक विषयो का शिक्षण-कार्यक्रम देखने-सुनने को मिल जाता है। भाषा के पाठ बालकों को अवश्य दिखाने चाहिए। अभी टेलिविजन की सुविधा सभी जगह नहीं हो पाई है, साथ ही यह व्यय साध्य साधन भी है।

9. चलचित्र—यद्यपि चलचित्र मनोरंजन के ही साधन समझे जाते थे पर अब शिक्षा के क्षेत्र में इनका प्रयोग बढ़ता जा रहा है। सम्पन्न एवं समुन्नत देशों में

इसका प्रयोग शिक्षा के लिए बहुत होने लगा है, पर चलचित्र की मशीन इतनी मँहगी होती है कि हमारे देश के सामान्य विद्यालय इन्हें नहीं रख सकते।

चलचित्र का प्रयोग रसानुभूति वाले पाठों--साहित्य, कथात्मक पाठ, नाटक आदि--में बहुत ही प्रभावपूर्ण ढंग से किया जा सकता है और बालकों की सौन्दर्य-बोधात्मक शक्ति विकसित की जा सकती है। महापुरुषों की जीवनगाथा अथवा अन्य सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों पर आधारित कथा या नाटक चलचित्र द्वारा दिखाए जा सकते हैं। शिक्षण साधन के रूप में चलचित्रों का प्रयोग करते समय ध्यान रखना चाहिए कि अच्छे शिक्षोपयोगी सामग्री प्रस्तुत करने वाले चलचित्र ही दिखाए जायँ, सस्ते मनोरंजन वाले चलचित्र नहीं। चलचित्र के प्रयोग के बाद शिक्षार्थियों से उस पर परिचर्चा अवश्य कर लेनी चाहिए।

उपर्युक्त शैक्षणिक उपकरणों के अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा विषय-वस्तु को यथार्थ, बोधगम्य एवं ग्राह्य बनाने मे सहायता मिलती है। इनमें **अभिनय और परिभ्रमण** का विशेष स्थान है।

अभिनय--भाषा-शिक्षण में अभिनय के महत्त्व पर पहले लिखा जा चुका है।[3] अतः यहाँ आवृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

परिभ्रमण--वस्तुओं एवं दृश्यों के सच्चे परिचय की दृष्टि से परिभ्रमण का विशेष महत्त्व है। परिभ्रमण का अधिक उपयोग प्रकृति-निरीक्षण एवं स्थानीय वातावरण के अध्ययन में है। ऐतिहासिक स्थानों का परिभ्रमण ऐतिहासिक पाठों के अध्ययन में सहायक होता है। परिभ्रमण मे निरीक्षण करते समय बालकों की विवेचन-शक्ति को उद्बुद्ध करना चाहिए। दर्शनीय वस्तुओ के संबंध मे विद्यार्थी स्वतन्त्र रूप से अपना मत प्रकट करें तथा अपनी धारणाओ एवं प्रतिक्रियाओ को मौखिक एवं लिखित रूप मे व्यक्त करें। शिक्षक के साथ वे इस सम्बन्ध में सामूहिक एवं व्यक्तिगत रूप से विचार-विमर्श भी कर सकते हैं।

सारांश

शैक्षणिक उपकरणों का तात्पर्य शिक्षण में प्रयुक्त उन साधनों से है जिनके द्वारा शिक्षण-क्रिया को सरल, सजीव, सुग्राह्य एवं प्रभावपूर्ण बनाने में सहायता मिलती है। शैक्षणिक उपकरणों के अनेक रूप हैं—पाठ्यपुस्तक, श्यामपट्ट, उदाहरण—

(i) मौखिक एवं शाब्दिक उदाहरण, (ii) दृश्य-श्रव्य उदाहरण।

यांत्रिक दृश्य-श्रव्य सामग्री के अन्तर्गत निम्नांकित मुख्य है--

चित्रदर्शक (प्रोजेक्टर), चित्रविस्तारक (एपिडायस्कोप), रेडियो, ग्रामोफोन, टेपरेकर्डर, भाषा-प्रयोगशाला (लैंग्वेज लैब), लिंग्वाफोन, टेलिविजन, चलचित्र आदि।

---

3. देखिए अध्याय 'नाटक-शिक्षण'

प्रश्न

1. शैक्षणिक उपकरणों से क्या तात्पर्य है ? भाषा-शिक्षण में उनकी उपयोगिता का उल्लेख कीजिए।

2. श्यामपट्ट शिक्षक का सर्वोत्तम मित्र है, इस कथन की सार्थकता सिद्ध करते हुए भाषा-शिक्षण में श्यामपट्ट के प्रयोग पर प्रकाश डालिए।

3. भाषा-शिक्षण में मौखिक उदाहरणों की क्या उपयोगिता है ? सोदाहरण समझाइए।

4. दृश्य-श्रव्य साधनों से क्या तात्पर्य है ? प्रमुख दृश्य-श्रव्य साधनों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

5. भाषा-शिक्षण में निम्नांकित के प्रयोग पर विचार प्रकट कीजिए— टेपरेकर्डर, लिंग्वाफोन, भाषा-प्रयोगशाला, चित्रदर्शक।



21
हिन्दी-पाठ्यचर्या एवं उसका आलोचनात्मक अध्ययन

[पाठ्यचर्या से तात्पर्य, हिन्दी पाठ्यचर्या निर्माण के सोपान, पाठ्यचर्या संगठन के सिद्धांत, पाठ्यचर्या का आलोचनात्मक अध्ययन]

"विषय से संबंधित शैक्षणिक इकाइयों एवं प्रकरणों का चयन एवं उनका सुसंबद्ध संगठन ही पाठ्यचर्या है।"

हिन्दी शिक्षण को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए आवश्यक है कि हिन्दी शिक्षक अपनी कक्षाओं के लिए निर्धारित पाठ्यचर्या से भलीभाँति अवगत हों और स्वयं शैक्षणिक प्रयोगों एवं परीक्षणों द्वारा उसकी उपयुक्तता एवं अनुपयुक्तता का अध्ययन करते रहें। शिक्षक ही पाठ्यचर्या का सही अध्येता और आकलनकर्त्ता हो सकता है क्योंकि उसकी प्रतिक्रियाएँ एवं उसके निष्कर्ष सैद्धांतिक न होकर वास्तविक शिक्षण-कार्यों, प्रयोगों एवं अनुभवों पर आधारित होते हैं।

प्रत्येक विषय के शैक्षणिक उद्देश्य होते हैं। शिक्षक को आलोचनात्मक एवं वस्तुनिष्ठ दृष्टि से इन उद्देश्यों पर विचार करना चाहिए और प्रयोगों द्वारा देखना चाहिए कि वर्तमान पाठ्यचर्या द्वारा इन उद्देश्यों की पूर्ति किस सीमा तक हो रही है। इसलिए उसे विषय-सामग्री के चयन एवं संगठन के सिद्धांतों को भी जानना चाहिए। हिन्दी भाषा और साहित्य की पाठ्यचर्या पर हिन्दी शिक्षक को इसी दृष्टि से विचार करना चाहिए जिससे वह उपयुक्त पाठ्यचर्या के निर्माण में सहायक हो सके।

पाठ्यचर्या से तात्पर्य

प्रायः पाठ्यक्रम एवं पाठ्यचर्या शब्दों को समानार्थी मान लिया जाता है। पर यह भ्रम है। पाठ्यक्रम एक व्यापक अर्थवाला शब्द है, जिसमें विद्यालय के समस्त शैक्षणिक एवं सह-शैक्षणिक कार्यों का समावेश रहता है। पाठ्यचर्या का प्रयोग एक सीमित अर्थ में होता है। इसमें केवल शैक्षणिक विषयों एवं तत्संबंधी विषय सामग्री का ही उल्लेख किया जाता है। वस्तुतः शिक्ष्य विषयों से संबंधित शैक्षणिक प्रकरणों

का चयन एवं उनका सुसंबद्ध क्रमायोजन ही पाठ्यचर्या है। इन विषयों के शैक्षणिक उद्देश्यों, पाठ्यपुस्तकों, शिक्षण-युक्तियों, मूल्यांकन विधियों का भी उल्लेख पाठ्यचर्या में आवश्यक होता है। प्रत्येक शैक्षिक स्तर—प्राथमिक, माध्यमिक, उच्चतर माध्यमिक–पाठ्यचर्या पृथक्-पृथक् होती है, पर उनके निर्माण में पूर्वापर संबंध एवं क्रमोत्तर विकास का ध्यान रखना आवश्यक होता है। हिन्दी पाठ्यचर्या का निर्माण भी इस आधार पर किया जाता है और फिर प्रत्येक कक्षा की दृष्टि से उसका वर्गीकरण और क्रमायोजन किया जाता है।

प्रत्येक कक्षा की पाठ्यचर्या में विषय सामग्री का चयन और क्रमायोजन दो रूपों में हो सकता है—

(i) संपूर्ण विषय सामग्री विविध प्रकरणों अथवा शीर्षकों में क्रमायोजित कर दी जाती है और कक्षा-शिक्षण की दृष्टि से उनकी रूपरेखा मात्र दे दी जाती है; जैसे, मौखिक रचना, लिखित रचना, व्याकरण, पठन-शिक्षण, पाठ्यपुस्तकों की सूची आदि।

(ii) पाठ्यचर्या का दूसरा रूप यह है कि प्रत्येक शीर्षक या प्रकरण के अंतर्गत पाठ्य सामग्री को अधिकाधिक उपशीर्षकों एवं भेदोपभेदों में विभक्त करते हुए विस्तार के साथ उन्हें क्रमायोजित किया जाता है। इस क्रमायोजन में संपूर्ण वर्ष अथवा सत्र (सेशन) के लिए शिक्षण-कार्यक्रम भी निर्धारित रहता है और फिर उसे विभिन्न उपसत्रों की दृष्टि से विभक्त किया जाता है। यह विभाजन सामान्यतः तीन उपसत्रों—प्रथम उपसत्र जुलाई से सितम्बर, द्वितीय उपसत्र अक्टूबर से दिसम्बर, तृतीय उपसत्र जनवरी से मार्च–की दृष्टि से किया जाता है। शिक्षक फिर प्रत्येक उपसत्र के शैक्षणिक कार्य को स्वयं मासिक एवं साप्ताहिक इकाइयों में बाँट लेता है।

विभिन्न राज्यों के माध्यमिक शिक्षा बोर्डों द्वारा निर्मित पाठ्यचर्याओं में उपर्युक्त दोनों प्रकार के उदाहरण मिलते है। हिन्दी शिक्षको को इनका अवलोकन अवश्य करना चाहिए।

माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं की दृष्टि से पाठ्यचर्या का यह दूसरा रूप–विषय सामग्री का विस्तृत क्रमायोजन एवं निश्चित उपसत्रो में शिक्षण की दृष्टि से उनका विभाजन—अधिक उपयोगी है। शिक्षकों के सम्मुख इनके आधार पर हिन्दी शिक्षण की एक स्पष्ट योजना बनी रहती है।

हिन्दी पाठ्यचर्या-निर्माण के सोपान

मातृभाषा हिन्दी पहली कक्षा से इण्टरमीडिएट तक अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाई जाती है। इन सभी कक्षाओं की पाठ्यचर्या को प्रस्तुत करना यहाँ हमारा अभीष्ट नहीं है। भाषिक तत्त्वों का ज्ञान, मौखिक रचना, पठन, लेखन, वैचारिक सामग्री, साहित्यिक सौन्दर्य बोध, अभिवृत्ति आदि सभी पक्षों से विषय

सामग्री का समावेश क्रमोत्तर विकास की दृष्टि से पाठ्यचर्या में किया जाता है। इन सभी पक्षों पर पहले विभिन्न अध्यायों में विचार किया जा चुका है। वर्तनी, उच्चारण, शब्द, वाक्य, मौखिक रचना, लिखित रचना पठन शिक्षण, गद्य, द्रुतपाठ, कहानी, नाटक, कविता और व्याकरण-शिक्षण के अध्यायों में तत्संबंधी विषय सामग्री का उल्लेख विस्तार स किया गया है और उनके आधार पर हिन्दी पाठ्यचर्या का निर्माण सरलता से किया जा सकता है।

अतः यहाँ केवल पाठ्यचर्या निर्माण के सोपान एवं सिद्धांत संक्षेप में लिखे जा रहे हैं।

पाठ्यचर्या निर्माण के सोपान निम्नांकित हैं—

(i) उद्देश्यों का निर्धारण

(ii) विषय सामग्री का चयन

(iii) विषय सामग्री-चयन के आधार या लक्षण

(i) उद्देश्यों का निर्धारण—किसी भी विषय की पाठ्यचर्या के निर्माण के लिए उस विषय के शैक्षणिक उद्देश्यों का निर्धारण आवश्यक है। अतः हिन्दी पाठ्यचर्या के संगठन के लिए भी हिन्दी शिक्षण के उद्देश्यों का निर्धारण कर लेना चाहिए। इन उद्देश्यों का विस्तृत उल्लेख अध्याय 5 में किया जा चुका है।

(ii) विषय-सामग्री का चयन—उद्देश्य निर्धारण हो जाने पर उनकी पूर्ति की दृष्टि से आवश्यक विषय सामग्री का चयन किया जाता है। विविध उद्देश्यों को ध्यान मे रखकर ही मौखिक रचना, लिखित रचना, व्याकरण, गहन अध्ययन की दृष्टि से विषय सामग्री एवं पाठ्यपुस्तकें, व्यापक एवं द्रुत पठन की दृष्टि से द्रुत पाठ्यपुस्तकें—उपन्यास, नाटक, जीवनी, कहानी संकलत आदि का चयन पाठ्य चर्या में किया जाता है। भाषा-शिक्षण की दृष्टि से किस प्रकार की पाठ्य सामग्री पाठ्यपुस्तकों में होनी चाहिए, इसका उल्लेख अगले अध्याय 'हिन्दी पाठ्यपुस्तक' मे किया जायेगा।

(iii) विषय सामग्री-चयन के आधार—विषय सामग्री का चयन उद्देश्यों की दृष्टि से उपयुक्त है या नहीं, इसकी जाँच के लिए लक्षणों या प्रमाणों का होना आवश्यक है अर्थात् वे कौनसी योग्यताएँ एवं अपेक्षित व्यवहार हैं जिनके आधार पर विषय सामग्री की उपयुक्तता एवं उद्देश्यों की पूर्ति सिद्ध हो सकती है। इस दृष्टि से पाठ्यचर्या में यह स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए कि किन योग्यताओं, कौशलों एक अभिवृत्तियों का विकास करना है।

विषय सामग्री चयन के और आधारों का उल्लेख पाठ्यचर्या संगठन के सिद्धांतों में किया गया है।

पाठ्यचर्या संगठन के सिद्धांत

पाठ्यचर्या संगठन मे निम्नांकित सिद्धांतों का आधार लिया जाता है—

(i) विषय सामग्री के चयन का सिद्धांत
(ii) विविधता एवं नमनीयता का सिद्धांत
(iii) समन्वय का सिद्धांत
(iv) क्रिया का सिद्धांत
(v) रुचि का सिद्धांत
(vi) जीवन से सम्बन्ध का सिद्धांत
(vii) पूर्वापर सम्बन्ध एवं क्रमोत्तर विकास का सिद्धांत

(i) **विषय सामग्री के चयन का सिद्धांत**—विषय सामग्री का चयन शैक्षणिक उद्देश्यों के अनुकूल होना चाहिए। यह लिखा जा चुका है कि मातृभाषा शिक्षण के उद्देश्य बहुत ही व्यापक है और उनकी पूर्ति के लिए पाठ्यचर्या में भाषा एवं साहित्य के सभी आवश्यक पक्षों का समावेश होना चाहिए। इन विविध पक्षों–भाषिक, वैचारिक, साहित्यिक, सौन्दर्यबोधात्मक, अभिवृत्ति-की दृष्टि से उनके सापेक्षिक महत्त्व पर भी विचार करना चाहिए अर्थात् किस पक्ष से सम्बन्धित विषय सामग्री किस स्तर पर किस अनुपात में रखनी चाहिए।

विषय सामग्री के चयन के सिद्धांतों का उल्लेख अगले अध्याय 'पाठ्यपुस्तक' में विस्तार से किया गया है।

(ii) **विविधता एवं नमनीयता का सिद्धांत**—जीवन एवं वातावरण के विविध पक्षों से सम्बन्धित विषयों तथा व्यक्तिगत भिन्नता, योग्यता, शक्ति एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए पाठ्यचर्या में विविधता एवं नमनीयता होनी चाहिए। अतः विषय सामग्री में साहित्यिक, वैज्ञानिक, औद्योगिक, कलात्मक, मनोरंजनात्मक आदि विषयों से सम्बन्धित पाठों का समावेश होना चाहिए। पाठ्यचर्या निर्माण कोई स्थिर या जड़ प्रक्रिया नहीं है, वह गतिशील एवं नमनीय है जिसमे आवश्यकतानुसार नवीन पाठ्य सामग्री का समावेश किया जा सकता है और पुरानी पाठ्य सामग्री को हटाया जा सकता है।

(iii) **समन्वय का सिद्धांत**—पाठ्यचर्या का संगठन इस रूप में होना चाहिए कि विविध ज्ञान एवं अनुभव के विभिन्न स्वरूपों का अनुबन्धित एवं एकीकृत रूप प्रस्तुत हो सके। एक दूसरे से असंबद्ध पाठ्यसामग्री का स्वतन्त्र निर्वाचन पाठ्यचर्या का दोष माना जाता है।

(iv) **रुचि का सिद्धांत**—पाठ्यचर्या की विषय सामग्री बालकों की रुचि के अनुकूल होनी चाहिए। माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक स्तर की पाठ्यचर्या का निर्माण करते समय 11 से 16 वर्ष तक के आयु वर्ग के बालकों की रुचियों, रुचिगत भिन्नताओं आदि का ध्यान रखते हुए पाठ्यचर्या मे विभिन्न प्रकरणों का चयन होना चाहिए।

(v) **क्रिया का सिद्धांत**—विषय सामग्री के निर्वाचन में बालकों की क्रियाशीलता का भी ध्यान रखा जाय। बालक प्रकृत्या ही क्रियाशील होते हैं। पाठ्य

सामग्री कोरी सैद्धांतिक न होकर बालकों को प्रयोग, व्यवहार एवं क्रिया के लिए अवसर प्रदान करे। भाषा की पाठ्यचर्या में अभिनय, बाल-सभाएँ, विचार-वमर्श, वाद-विवाद, साहित्यिक प्रतियोगिताएँ आदि के लिए स्थान रहना चाहिए।

(vi) **जीवन से सम्बन्ध का सिद्धांत**—पाठ्यचर्या का सम्बन्ध बालक के वास्तविक जीवन एवं वातावरण से बना रहना चाहिए। बालक अपने जीवन एवं चतुर्दिक वातावरण में जिन बातों को देखता है, उनसे पाठ्य सामग्री का सम्बन्ध यदि स्थापित कर दिया जाये तो शिक्षण का व्यावहारिक मूल्य बढ़ जाता है। अतः बालक के सामाजिक एवं प्राकृतिक वातावरण से पाठ्यचर्या का सम्बन्ध अवश्य रहना चाहिए।

(vii) **पूर्वापर सम्बन्ध एवं क्रमोत्तर विकास का ध्यान**—किसी भी शैक्षणिक स्तर की पाठ्यचर्या का निर्माण करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि उसका सम्बन्ध अपने पूर्व स्तर की पाठ्यचर्या से बना रहे और आगे की पाठ्यचर्या के लिए वह आधार का काम करे। उदाहरणतः माध्यमिक कक्षाओं की हिन्दी पाठ्यचर्या कक्षा 5 की हिन्दी पाठ्यचर्या के ही स्वाभाविक विकास के रूप में होनी चाहिए और उसे स्वयं उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के लिए आधार भी बनना चाहिए। इसी प्रकार प्रत्येक कक्षा की पाठ्यचर्या अपने पूर्व की कक्षा एवं अपने बाद की कक्षा की पाठ्यचर्या से स्वाभाविक रूप में जुड़ी रहे जिससे उत्तरोत्तर भाषा एवं साहित्य के ज्ञान की अभिवृद्धि होती चले। इस क्रमोत्तर विकास में 'सरल से कठिन' शिक्षण सूत्र का परिपालन आवश्यक है।

पाठ्यचर्या का आलोचनात्मक अध्ययन

यह पहले लिखा जा चुका है कि हिन्दी शिक्षक को अपनी कक्षाओं के लिए निर्धारित पाठ्यचर्या से अवगत ही नहीं अपितु उसका आलोचनात्मक अध्ययन भी करना चाहिए और उसमें निरन्तर सुधार करते रहने के लिए सुझाव भी देने चाहिए।

पाठ्यचर्या के आलोचनात्मक अध्ययन के लिए उपर्युक्त पाठ्यचर्या निर्माण के सोपान एवं सिद्धांत जानने के साथ-साथ निम्नांकित तीन बातें भी आवश्यक हैं—

1. **आलोच्य पाठ्यचर्या का पूर्ण परिचय**—शिक्षक को आलोच्य पाठ्यचर्या (शैक्षणिक उद्देश्य, विविध प्रकरण सूची, एवं तदन्तर्गत पाठ्य सामग्री, शिक्षण-युक्ति, पुस्तक सूची, मूल्यांकन विधि आदि सहित) का पूर्ण परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए और अपनी आलोचना में उसका पूर्ण उल्लेख करना चाहिए।

2. **पाठ्यचर्या का आलोचनात्मक परिचय**—आलोचनात्मक परिचय की दृष्टि से शिक्षक को निम्नांकित बिन्दुओं के आधार पर विचार करना चाहिए—

(i) शैक्षणिक उद्देश्यों की दृष्टि से पाठ्यचर्या कहाँ तक उपयुक्त है?

(ii) विषय सामग्री का संगठन कैसा है?

(iii) पाठ्यचर्या की व्यापकता
(iv) पाठ्यचर्या सैद्धान्तिक है या व्यावहारिक अथवा दोनों
(v) परीक्षा-केन्द्रित अथवा मूल्यांकन की दृष्टि से उसका स्वरूप
(vi) बाल-केन्द्रित है या नहीं
(vii) समुदाय-केन्द्रित है या नहीं
(viii) अन्य विषयों से सह-सम्बन्ध
(ix) विश्वविद्यालयीय शिक्षा के लिए तैयारी अथवा व्यावसायिक शिक्षा के लिए तैयारी की दृष्टि से पाठ्यचर्या की उपयुक्तता।

3. उपयुक्त संशोधित पाठ्यचर्या का सुझाव अथवा प्रारूप—पाठ्यचर्या के आलोचनात्मक परिचय के बाद उपयुक्त एवं संशोधित पाठ्यचर्या का प्रारूप प्रस्तुत करना चाहिए। इसके अन्तर्गत निम्नांकित बिन्दुओं का उल्लेख होना चाहिए—

(i) प्रस्तावित पाठ्यचर्या
(ii) उद्देश्य
(iii) विषय-सामग्री
(iv) शिक्षण विधियाँ, दृष्टिकोण एवं युक्तियाँ
(v) छात्र-क्रियाएँ
(vi) मूल्यांकन-क्रियाविधि
(vii) पुस्तक सूची

उपर्युक्त बिन्दु स्वतः स्पष्ट हैं। शिक्षक इनके आधार पर उपयुक्त पाठ्यचर्या का सुझाव या प्रारूप प्रस्तुत कर सकते है।

सारांश

किसी विषय से सम्बन्धित शैक्षणिक प्रकरणों का चयन एवं उनका सुसंबद्ध संगठन की पाठ्यचर्या है।

पाठ्यचर्या निर्माण के तीन सोपान है—उद्देश्यो का निर्धारण, विषय सामग्री का चयन, विषय सामग्री-चयन के आधार एवं लक्षण।

पाठ्यचर्या संगठन के सिद्धांत–विषय सामग्री का चयन, विविधता एवं नमनीयता, समन्वय, क्रिया, रुचि, जीवन से सम्बन्ध, पूर्वापर संबंध एवं क्रमोत्तर विकास।

पाठ्यचर्या का आलोचनात्मक अध्ययन—आलोच्य पाठ्यचर्या का पूर्ण परिचय, पाठ्यचर्या का आलोचनात्मक परिचय (चयन एवं संगठन, व्यापकता, सैद्धांतिक या व्यावहारिक, परीक्षा केन्द्रित समुदाय केन्द्रित, अन्य विषय के सह-सम्बन्ध, विश्वविद्यालयीय शिक्षा के लिए तैयारी अथवा व्यावसायिक शिक्षा के लिए तैयारी आदि की दृष्टि से), प्रस्तावित पाठ्यचर्या (उद्देश्य, विषय-सामग्री, शिक्षण-विधि, दृष्टिकोण एवं युक्तियाँ, छात्र क्रियाएँ, मूल्यांकन क्रिया विधि, पुस्तक सूची)।

प्रश्न

1. पाठ्यचर्या से क्या तात्पर्य है ?
2. पाठ्यचर्या संगठन के सोपान क्या हैं ? हिन्दी पाठ्यचर्या के निर्माण की दृष्टि से उन पर विचार कीजिए।
3. पाठ्यचर्या संगठन के सिद्धांतों का उल्लेख हिन्दी पाठ्यचर्या के संदर्भ में कीजिए।
4. पाठ्यचर्या के आलोचनात्मक अध्ययन की क्रिया विधि पर प्रकाश डालिए और किसी कक्षा की पाठ्यचर्या का उदाहरण लेकर उसकी आलोचना प्रस्तुत कीजिए।
5. प्रस्तावित पाठ्यचर्या में आप किन बिन्दुओं पर विचार करेंगे ? सोदाहरण उल्लेख कीजिए।

22

मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक

[पाठ्यपुस्तक की आवश्यकता एवं उपयोगिता, पाठ्यपुस्तक का दुरुपयोग, अन्य विषय की अपेक्षा मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक की विशेपताएँ, मातृभापा की पाठ्य पुस्तक रचना के सिद्धान्त—विभिन्न पक्ष, रचना के सोपान, विविध उपादान; विपय सामग्री का चयन-वैचारिक सामग्री, भाषिक सामग्री, साहित्यिक विधाएँ, विषय सामग्री की मात्रा, विपय सामग्री का वर्गीकरण-वैचारिक सामग्री, भापिक सामग्री, साहित्यिक विधाएँ, विषय सामग्री का प्रस्तुतीकरण-विभिन्न पाठ, अभ्यास, प्रारम्भिक आवश्यक वातें, शब्दकोष, व्याख्या, सन्दर्भ आदि; पाठ्यपुस्तक का वाह्य पक्ष]

"पाठ्यपुस्तक कक्षा-शिक्षण के प्रयोग के लिए प्ररचित वह पुस्तक है जो सावधानी के साथ उस विषय के विशेषज्ञ द्वारा तैयार की जाती है और जो सामान्य शि क्षण-युक्ति से भी सम्पन्न होती है।"[1]

—वेकन पाल

पाठ्यपुस्तक की आवश्यकता एवं उपयोगिता

"निस्संदेह पाठ्यपुस्तकें वालकों की शिक्षा की दृष्टि से सवसे महत्त्वपूर्ण एवं सर्वोपयोगी साधन है। विशेपतः भारत के लिए जहाँ अनेक माता-पिता अपने बच्चों के लिए पाठ्यपुस्तक के अतिरिक्त एक भी दूसरी पुस्तक खरीदने में असमर्थ है, यह वात और भी सत्य है। यद्यपि पाठ्यपुस्तक केवल साधन है, साध्य नहीं, तथापि उसका महत्त्व कम नहीं है। सुविचारित एवं सुनियोजित रूप में तैयार की गई अच्छी पाठ्य पुस्तकों का वालकों की शिक्षा तथा राष्ट्र एवं राष्ट्र-निवासियों के भाग्य निर्माण में निश्चित ही वहुत योगदान है।"[2]

---

1. "A text book is a book designed for class room use, carefully prepared by expert in the field and equipped with usual teaching device."

—Bacon Paul.

2. Preparation and Evaluation of Text books in Mother tongue,' NCERT. P.

पाठ्यपुस्तक सामान्य पुस्तकों से भिन्न होती है। पाठ्य विषय, शैक्षणिक उद्देश्य एवं कक्षा-शिक्षण की दृष्टि से उपयुक्त सामग्री का चयन और क्रमायोजन करते हुए जिस पुस्तक की रचना की जाती है, उसे पाठ्य पुस्तक कहते हैं। शिक्षा प्रदान करने की परम्परागत प्रणाली पाठ्यपुस्तकों पर ही आधारित रही है। इस कारण पाठ्यपुस्तक की आवश्यकता एवं उपयोगिता सभी स्वीकार करते हैं। इसके अनेक कारण हैं—

(i) किसी विषय की पाठ्यपुस्तक कक्षा-शिक्षण के लिए आधार का काम करती है। इसके द्वारा पाठ्य विषय का एक समग्र रूप सामने आ जाता है।

(ii) पाठ्यपुस्तक के आधार पर शिक्षक को संपूर्ण सत्र के लिए पाठ्य-सामग्री को विभिन्न इकाइयों एवं पाठों में विभाजित करने तथा पाठ्य सामग्री को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने में सहायता मिलती है।

(iii) पाठ्यपुस्तक शिक्षक एवं शिक्षार्थी दोनों के लिए प्रतिदिन की कार्य-प्रगति के प्रति सचेतक का कार्य करती है। दोनों उस विषय के सीमा-क्षेत्र एवं विस्तार से अवगत बने रहते हैं। वे इस बात से परिचित रहते है कि उन्होंने पाठ्य विषय का कितना अंश समाप्त कर लिया है, कितना अंश शेष है और इस आधार पर वे शिक्षण-प्रक्रिया एवं योजना में आवश्यक परिवर्तन, सुधार एवं प्रयत्न कर सकते हैं।

(iv) पाठ्यपुस्तक द्वारा बालकों को स्वाध्याय के लिए प्रोत्साहन मिलता है। उन्हें पाठ्य विषय सम्बन्धी आवश्यक सामग्री एक स्थान पर एकत्र मिल जाती है और वे उसे अध्ययन द्वारा भली-भाँति आत्मसात कर सकते हैं। विषय सामग्री की आवृत्ति के लिए पाठ्यपुस्तक और भी उपयोगी सिद्ध होती है।

(v) सामूहिक शिक्षण व्यवस्था में पाठ्यपुस्तक बहुत ही आवश्यक शैक्षणिक उपकरण है। भाषा और साहित्य जैसे विषय मे तो इसके बिना काम ही नहीं चल सकता क्योंकि पाठ्यपुस्तक के आधार पर किसी साहित्यकार एवं उसकी कृतियों का परिचय पूरी कक्षा को एक साथ प्रदान कर दिया जाता है।

वैयक्तिक शिक्षण में भी जैसे डाल्टन योजना में जहाँ बालक पृथक्-पृथक् व्यक्तिगत रूप से अध्ययन एवं कार्य करते हैं, पाठ्यपुस्तक एक आधार एवं सहायक शिक्षक का काम करती है।

(vi) हमारे देश में आधुनिक परीक्षा पद्धति ऐसी है कि पाठ्यपुस्तक और भी आवश्यक हो जाती है। वस्तुतः पाठ्यपुस्तक को बालकों के ज्ञानार्जन का आधार मानकर उनकी परीक्षा ली जाती है।

पाठ्यपुस्तक का दुरुपयोग

पाठ्यपुस्तक की उपर्युक्त उपयोगिता स्वीकार करते हुए भी उस पर अतिशय

निर्भरता पाठ्यपुस्तक का दुरुपयोग करना है। पाठ्यपुस्तक को ही शिक्षण का आधार और सर्वस्व मान लेने से शिक्षण मे अनेक दोष आ जाते है—

(i) शिक्षण में पाठ्यपुस्तक को इतना महत्त्व दे दिया जाता है कि वह शिक्षण का साधन न रहकर साध्य बन जाती है। बालक पाठ्यपुस्तक कण्ठस्थ करना ही अपना सर्वोपरि उद्देश्य मान लेता है। इससे विषय का ज्ञान सीमित और सकीर्ण हो जाता है। स्वतंत्र एवं व्यापक अध्ययन की रुचि समाप्त हो जाती है। स्वयं शिक्षा की प्रवृत्ति का विकास नही हो पाता। विषय के सम्यक् ज्ञान के लिए उससे सम्बन्धित अन्य पुस्तकें भी पढ़ना आवश्यक हे। उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में तो केवल पाठ्यपुस्तक पर ही निर्भर रहना और भी हानिप्रद है।

(ii) पाठ्यपुस्तक ज्ञानवर्द्धन की दृष्टि से तो संकीर्णता ला ही देती है, शिक्षण प्रक्रिया को भी निर्जीव बना देती है। शिक्षक का ध्यान पाठों की व्याख्या करने और परीक्षा के लिए छात्रों को तैयार करने की ओर ही लगा रहता है, फलतः छात्रों के स्वाध्याय, आत्मप्रकाशन, अन्वेषण, शिक्षण में सक्रिय सहयोग आदि के लिए उचित अवसर नही प्राप्त होता। इस कारण शिक्षण-कार्य भी यांत्रिक, नीरस और एकांगी हो जाता है।

उपर्युक्त दोषों के कारण अनेक शिक्षा-शास्त्री पाठ्यपुस्तक का ही विरोध करने लगते है। उनका विचार है कि पाठ्यचर्या एवं पाठ्य सामग्री का ही निर्धारण हो जाना चाहिए और उसे ही दृष्टि में रखकर शिक्षक को अपनी शिक्षण योजना और कार्यक्रम तैयार करना चाहिए। पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त दोष पाठ्यपुस्तक का नही है, बल्कि उसके अनुचित प्रयोग का है। पाठ्यपुस्तक तो आवश्यक है क्योंकि इसके द्वारा पाठ्य विषय की समुचित, व्यवस्थित ज्ञान-प्राप्ति में सहायता मिलती है। अतः आवश्यकता यह है कि पाठ्यपुस्तक की रचना एवं उसका प्रयोग उपयुक्त ढंग से हो और वह बालक की शैक्षिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक सिद्ध हो।

अन्य विषयों की पाठ्यपुस्तकों की अपेक्षा मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक की भिन्नता एवं विशेषता

अन्य विषयों की अपेक्षा मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक अनेक दृष्टियो से भिन्न है। निम्नांकित दृष्टियों से यह भिन्नता स्पष्ट परिलक्षित हो जाती है—

(i) मातृभाषा का प्रयोग और उसका क्षेत्र इतना व्यापक है कि वह मानव जीवन के सभी क्षेत्रों एवं पक्षों से सम्बन्धित है और इस कारण उसका पाठ्यपुस्तक में नाना प्रकार की विषय-सामग्री—साहित्य, संस्कृति, धर्म, कला, इतिहास, भूगोल, विज्ञान, उद्योग, वाणिज्य, खेल-कूद, मनोरंजन आदि अनेक विषयक सामग्री का

समावेश होता है जबकि दूसरे विषय की पाठ्यपुस्तक में केवल उसी विषय से सम्बन्धित सामग्री का।

अतः हम कह सकते हैं कि मातृभाषा की पाठ्य सामग्री अनेक स्रोतों से प्राप्त होती है जबकि दूसरे विषय की पाठ्य सामग्री का स्रोत सीमित है।

(ii) मातृभाषा एक विषय मात्र नहीं, सभी विषयों के सीखने का माध्यम है। अतः उसका सम्बन्ध अपने-आप अन्य विषयों की सामग्री से स्थापित हो जाता है। मातृभाषा का शब्द भण्डार केवल साहित्यिक विषयों से ही नहीं, अपितु उपर्युक्त सभी विषयों से बनता और संवर्द्धित होता है। इस कारण मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक में अन्य विषयों से सम्बन्धित पाठ अपनी वैचारिक एवं भाषिक सामग्री के साथ लिए जाते हैं। इस कारण मातृभाषा की पाठ्य सामग्री में अपने-आप विविधता एवं व्यापकता बनी रहती है।

(iii) मातृभाषा की विषय-सामग्री में भाषिक एवं वैचारिक दोनों पक्षों का ध्यान रखना पड़ता है। वैचारिक दृष्टि से साहित्यिक, सांस्कृतिक, पौराणिक, प्राकृतिक सौंदर्य आदि विषयों से सम्बन्धित सामग्री तो रहती ही है, सामाजिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक, प्राविधिक, औद्योगिक विषयों से भी यथेष्ट सामग्री ली जाती है। फिर इस सामग्री को इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है कि बालकों में ज्ञान, तथ्य और विचार के साथ-साथ भाषिक और साहित्यिक योग्यता की अभिवृद्धि हो।

अतः मातृभाषा के पाठों में सामग्री चाहे किसी भी विषय से क्यों न ली जाय, भाषिक तत्त्वों (शब्दावली—शब्द, पद, मुहावरे, कहावतें, विशिष्ट प्रयोग आदि, संरचना—पद, उपवाक्य, वाक्य स्तरों पर, अन्य व्याकरणिक अवयव) का ध्यान रखना ही पड़ता है। वैचारिक एवं भाषिक सामग्री के साथ-साथ विविध साहित्यिक रूपों एवं विधाओं का भी ध्यान रखना पड़ता है। मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक में विशेषतः कक्षा 5 से धीरे-धीरे छात्रों को विविध साहित्यिक विधाओं एवं शैलियों का भी परिचय देना आवश्यक हो जाता है। अतः भाषिक सामग्री एवं साहित्यिक विधाओं के समावेश के कारण मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक अन्य विषयों की पाठ्य-पुस्तक से भिन्न हो जाती है। अन्य विषयों की पाठ्यपुस्तकों में भाषिक सामग्री एवं साहित्यिक विधाओं के समावेश का प्रश्न ही नहीं, उनमें वैचारिक सामग्री पर ही सारा ध्यान रहता है।

पाठ्यसामग्री की इस व्यापकता, विविधता के कारण मातृभाषा की पाठ्य पुस्तक लिखने में भी अनेक समस्याएँ सामने आ जाती हैं; जैसे—

(i) विभिन्न शैक्षिक स्तरों पर भाषिक और वैचारिक सामग्री का अनुपात या सापेक्षिक महत्त्व क्या हो? सामान्यतः विद्वानों का कहना है कि प्राइमरी कक्षाओं में भाषिक सामग्री की प्रमुखता रहनी चाहिए। कक्षा 6 से 8 तक पाठ्यपुस्तक में

भाषिक एवं वैचारिक सामग्री को समान महत्त्व प्रदान करना चाहिए पर कक्षा 9 से वैचारिक सामग्री की प्रमुखता होनी चाहिए।

(ii) कौन सी विधाएँ किस स्तर पर उपयुक्त हैं ? इस सम्वन्ध में विद्वानों का विचार है कि कहानी, संवाद, जीवनी, वर्णन, क्रिया प्रधान गीत आदि प्राइमरी कक्षाओं के लिए अधिक उपयुक्त विधाएँ हैं, पर माध्यमिक कक्षाओं में कहानी वर्णन, निवन्ध, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, यात्रा, एकांकी, कविता आदि विधाएँ रखी जानी चाहिए।

(iii) प्रतिष्ठित साहित्यकारों की कृतियों को स्थान दिया जाय या कोई भी अच्छी रचना चाहे वह साधारण लेखक की ही क्यों न हो, रखी जाए ? यह प्रश्न वस्तुतः उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं की पाठ्यपुस्तकों की रचना में उठाया जाता है। प्राइमरी कक्षाओं की पाठ्यपुस्तकों के पाठ तो लिखे ही जाते हैं अतः प्रतिष्ठित साहित्यकारों की कृतियों के स्थान का प्रश्न ही नहीं उठता। माध्यमिक कक्षाओं का पाठ्यपुस्तकों में भी अधिकतर पाठ लिखाने पड़ते हैं। पर उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं की पाठ्यपुस्तकों में प्रतिनिधि साहित्यकारों की रचनाएँ संकलित होती हैं। अतः प्रश्न उठता है कि प्रतिष्ठित साहित्यकारों की कृतियों को ही स्थान दिया जाय या अच्छी रचना चाहे वह साधारण लेखक की ही हो, रखी जाय। इतना तो सर्वमान्य है कि उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं की मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक में प्रतिष्ठित साहित्यकारों का प्रतिनिधित्व अवश्य होना चाहिए। थोड़ी ऐसी रचनाएँ भी रखी जा सकती है जिनके लेखक प्रसिद्ध भले ही न हों, पर उनकी रचना उत्तम कोटि की हो। इनसे नये लेखक प्रकाश में आते है और नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का भी प्रतिनिधित्व हो जाता है।

(iv) पाठ्यपुस्तक के पाठ संकलित हों या लिखे जायँ या दोनों प्रकार के हों ? फिर यदि संकलित एवं लिखित दोनों प्रकार के हों तो उनका अनुपात क्या हो ? इस सम्वन्ध में लिखा जा चुका है कि कक्षा 8 तक अधिकतर पाठ लिखे ही जाते है, पर उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं की पाठ्यपुस्तको में प्रायः सभी पाठ संकलित होते है। किन्तु इनमें भी नये विषयों-तकनीकी, वैज्ञानिक, औद्योगिक आदि—पर साहित्यिक पाठ लिखाने पड़ते हैं। अतः संकलित एवं लिखित दोनों प्रकार के पाठ हो सकते है। संकलित पाठों में प्रसिद्ध साहित्यकारों की रचनाएँ होती है किन्तु आवश्यकतानुसार उन रचनाओं को संपादित किया जा सकता है जैसे कभी-कभी रचना का एक अंश ही दे दिया जाता है।

मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक-रचना के सिद्धांत

पाठ्यपुस्तक की रचना एक सामान्य पुस्तक की रचना से भिन्न है। पाठ्य-पुस्तक का एक निश्चित प्रयोजन होता है और निश्चित पाठक भी। अतः लेखक को

मातृभापा की पाठ्यपुस्तक लिखते समय अनेक बातों पर विचार करना पड़ता है जिन्हें हम निम्नांकित तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—

1–पाठ्यपुस्तक के विविध पक्ष[3]

2–पाठ्यपुस्तक रचना के सोपान

3–पाठ्यपुस्तक रचना के उपादान

1–पाठ्यपुस्तक के विविध पक्ष–पाठ्यपुस्तक के दो पक्ष हैं—

(i) **विषय सामग्री अथवा अध्ययनात्मक पक्ष**[4] जिसके अन्तर्गत संपूर्ण पाठ्यसामग्री, अभ्यास और प्रश्न, चित्र, पुस्तक के प्रारम्भ मे प्रस्तावना या प्राक्कथन; शिक्षकों, शिक्षार्थियों के प्रति कथन, सुझाव या निर्देश; पुस्तक के अन्त में शब्दकोश पारिभापिक शब्द, अन्तःकथाएँ, व्याख्या, टिप्पणी आदि आवश्यक बातें शामिल हैं।

(ii) रूपात्मक पक्ष[5] जिसके अन्तर्गत पुस्तक का आकार, प्रकार मुद्रण, टाइप, कागज, जिल्द आदि बातें आती है। पाठ्यपुस्तक रचयिता का इस पक्ष से वहीं तक सम्बन्ध है जहाँ तक इसका प्रभाव अध्ययनात्मक पक्ष पर पड़ता है।

अध्ययनात्मक पक्ष में विषय सामग्री का सबसे अधिक महत्त्व है। उसी पर अन्य बातें निर्भर करती है। वे पाठ्यसामग्री को प्रस्तुत करने में सहायक होती है। किन्तु प्रस्तुत करने के पूर्व विपय सामग्री के चयन और संगठन का प्रश्न आता है।

2–पाठ्यपुस्तक रचना के सोपान–मातृभाषा की विपय सामग्री इतनी व्यापक है कि उसकी पाठ्यपुस्तक मे सभी प्रकार की सामग्री का समावेश संभव नही, अतः पाठ्यपुस्तक-लेखक को विचार करना पडता है कि क्या और कितनी सामग्री वांछित है अर्थात् सामग्री के **चयन**[6] का प्रश्न सबसे पहले आता है फिर उसका **स्तरीकरण**[7] एवं **प्रस्तुतीकरण**[8] का प्रश्न आता है। इस प्रकार विपय सामग्री का चयन, स्तरीकरण एवं प्रस्तुतीकरण पाठ्यपुस्तक रचना के तीन प्रमुख सोपान हैं।

वस्तुतः पाठ्यपुस्तक लिखना विपय सामग्री के चयन, स्तरीकरण एवं प्रस्तुतीकरण की कला है। चयन एवं स्तरीकरण का सम्बन्ध विषय सामग्री से ही है, पर प्रस्तुतीकरण का सम्बन्ध एक ओर तो अध्ययनात्मक पक्ष—पाठ, अभ्यास, चित्र, प्रस्तावना, शब्दकोश, व्याख्या, टिप्पणी, संदर्भ आदि—और दूसरी ओर रूपात्मक पक्ष—पुस्तक के आकार-प्रकार, मुखपृष्ठ, मुद्रण, कागज, जिल्द आदि—से भी है। चयन और स्तरीकरण के बाद ही प्रस्तुतीकरण का प्रश्न आता है, किन्तु मातृभापा की पाठ्यपुस्तक तैयार करने मे इन तीनों सोपानों का ध्यान रखना पड़ता है।

3–पाठ्यपुस्तक रचना के विविध उपादान—पाठ्यपुस्तक रचना में निम्नांकित उपादानों का ध्यान रखना पड़ता है—

(i) **मातृभाषा की विपय सामग्री**—इसके अन्तर्गत विपय सामग्री की प्रकृति

---

3. Aspects 4. Academic aspects 5. Physical aspect 6. Selection 7. Gradation 8. Presentation

और विषय सामग्री की मात्रा दोनों बातें विचारणीय है। विषय सामग्री की प्रकृति के अन्तर्गत वैचारिक विषय सामग्री, भाषिक विषय सामग्री, और साहित्यिक रूप एवं विधाएँ ध्यातव्य है। विषय सामग्री की मात्रा के अन्तर्गत संपूर्ण कार्य-भार एवं विभिन्न कठिनाई-स्तर की दृष्टि से विषय सामग्री पर विचार करना पड़ता है।

(ii) **मातृभाषा के शैक्षणिक उद्देश्य**[9]—सामान्य उद्देश्य है—विषय सामग्री का ज्ञान, सुनकर समझने की योग्यता, पढकर समझने की योग्यता, मौखिक अभिव्यक्ति, लिखित अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति मे मौलिकता, साहित्यिक रसानुभूति, अनुवाद, मातृभाषा तथा उसके साहित्य में रुचि, वांछित अभिवृत्तियाँ।

(iii) **राष्ट्रीय लक्ष्य**—राष्ट्रीय एकता, जनतान्त्रिकता एवं समाजवाद, धर्म निरपेक्षता, साम्प्रदायिक एकता आदि लक्ष्यों का पाठ्यपुस्तक रचना में ध्यान रखना आवश्यक है।

(iv) **शिक्षार्थी**—पाठ्यपुस्तक रचना में शिक्षार्थी की आवश्यकताएँ, उसकी पठन-रुचियाँ, मानसिक परिपक्वता और एक वर्ग के शिक्षार्थियों के विभिन्न बौद्धिक स्तर आदि का ध्यान रखना पड़ता है।

(v) **शिक्षण युक्ति** (विशेषतः प्राथमिक कक्षाओं के लिए)—मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक रचना मे विभिन्न दृष्टिकोणो जैसे भाषिक, विषयवस्तु से सम्बन्धित, साहित्यिक आदि विभिन्न पठन-शिक्षण की पद्धतियाँ जैसे वर्ण पद्धति, शब्द पद्धति, वाक्य पद्धति आदि और अन्य भाषिक कौशलों से सम्बन्धित शिक्षण-पद्धतियो का विचार करना पड़ता है।

च—मातृभाषा-शिक्षण का सम्पूर्ण पाठ्यक्रम—पाठ्यपुस्तक रचना में यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि पाठ्यपुस्तक-शिक्षण के लिए कितना समय निर्धारित है तथा विषय-सामग्री एवं तद्निहित भाषिक योग्यताओं से सम्बन्धित शैक्षणिक सामग्री क्या है।

छ—मातृभाषा का शिक्षक—पाठ्यपुस्तक-शिक्षण की सफलता मुख्यतः शिक्षक पर निर्भर है। अतः शिक्षकों की योग्यता, प्रशिक्षण, अनुभव, साधन सम्पन्नता आदि का भी ध्यान पाठ्यपुस्तक रचना में रखना आवश्यक है।

ज—कक्षा तथा विद्यालय का सम्पूर्ण पाठ्यक्रम—विद्यालय के सम्पूर्ण पाठ्यक्रम में भाषा शिक्षण के लिए कितना समय निर्धारित है, पाठ्यक्रम मे कौन-कौन सी क्रियाएँ समाविष्ट हैं और उनमें भाषा का क्या स्थान है, आदि बातें भी ध्यान देने योग्य है।

झ—अन्य विषयों की पाठ्यचर्या एवं पाठ्यपस्तकें—मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक में अन्य विषयो से सम्बन्धित पाठ भी होते है। अतः अन्य विषयो की पाठ्यचर्या एवं पाठ्यपुस्तकों में वैचारिक एवं भाषिक सामग्री के अवलोकन से मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक में अनावश्यक आवृत्ति नही होती।

---

9. मातृभाषा के शैक्षणिक उद्देश्यो का विस्तृत वर्णन 'मातृभाषा-शिक्षण के उद्देश्य' अध्याय में किया गया है।

ञ–माता-पिता—पाठ्यपुस्तक के साथ माता-पिता का सम्बन्ध आर्थिक दृष्टि से है, अर्थात् वे चाहते हैं कि पुस्तक टिकाऊ हो और उसका मूल्य यथा सम्भव कम हो।

मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक के विभिन्न पक्ष, लक्षण एवं तदन्तर्गत विचारणीय सामग्री

यह लिखा जा चुका है कि पाठ्यपुस्तक के दो पक्ष हैं—

अध्ययनात्मक पक्ष और वाह्य पक्ष

अध्ययनात्मक पक्ष का सम्बन्ध मातृभाषा की विषय सामग्री से है जिसमें विषय सामग्री का चयन, स्तरीकरण एवं प्रस्तुतीकरण की क्रिया विधि निहित है। चयन के अन्तर्गत विषय सामग्री की प्रकृति और विषय सामग्री की मात्रा दोनों ही विचारणीय हैं। विषय सामग्री की प्रकृति में वैचारिक सामग्री, भाषिक सामग्री एवं साहित्यिक रूप एवं विधाएँ विचारणीय हैं।

स्तरीकरण में भी वैचारिक सामग्री, भाषिक सामग्री एवं साहित्यिक रूप एवं विधाओं पर विचार करना आवश्यक होता है।

प्रस्तुतीकरण में अध्ययनात्मक दृष्टि से विविध पाठ, अभ्यास, चित्र, प्रस्तावना, शब्दकोश, व्याख्या, संदर्भ आदि का और वाह्य पक्ष की दृष्टि से पुस्तक के आकार-प्रकार, प्ररचना, जिल्द, मुखपृष्ठ, कागज, मुद्रण आदि का विचार किया जाता है।

पाठ्यपुस्तक के इन विभिन्न पक्षों एवं तदन्तर्गत विचारणीय सामग्री का संकेत अगले पृष्ठ पर प्रदत्त चार्ट द्वारा प्राप्त हो सकता है। इनका संक्षिप्त विवरण भी आगे लिखा जा रहा है :—

मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक के विभिन्न पक्ष एवं तदन्तर्गत विचारणीय सामग्री

- अध्ययनात्मक पक्ष (विषय सामग्री)
  - चयन
    - विषय सामग्री की प्रकृति
      - वैचारिक सामग्री
        - (i) मूल विषय
        - (ii) प्रत्यय (मूल्य, जीवन-अनुभव, भाव एवं विचार संबंधी प्रत्यय)
      - भाषिक सामग्री
        - (i) शब्दावली (शब्द, पद, मुहावरे, अन्य प्रयोग)
        - (ii) संरचनाएँ (पद, उपवाक्य, वाक्य)
        - (iii) अन्य व्याकरणिक अवयव
      - साहित्यिक रूप एवं विधाएँ
        - (i) (कहानी, वर्णन, निबंध, नाटक, एकांकी, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र, उपन्यास, कविता एवं उसके विविध रूप)
        - (ii) विविध शैलियाँ
    - विषय सामग्री की मात्रा
      - (i) संपूर्ण पाठ्यक्रम की मातृभाषा-शिक्षण के लिए निर्धारित समय के अनुसार
      - (ii) मातृभाषा शिक्षण में पाठ्यपुस्तक-शिक्षण के लिए निर्धारित समय
      - (iii) शैक्षणिक-उद्देश्यों की पूर्ति के अनुसार
  - स्तरीकरण
    - वैचारिक सामग्री
      - (i) मूल विषय
      - (ii) प्रत्यय
    - भाषिक सामग्री
      - (i) शब्दावली
      - (ii) संरचना
      - (iii) व्याकरण
    - साहित्यिक रूप एवं विधाएँ
      - (i) चयन के अन्तर्गत लिखित सभी विधाएँ
      - (ii) विविध शैलियाँ
  - प्रस्तुतीकरण
    1. संपूर्ण पाठ्यपुस्तक में पाठ्य सामग्री का प्रस्तुतीकरण
    2. प्रत्येक पाठ में पाठ्य-सामग्री का प्रस्तुतीकरण
    3. अन्य सहायक तत्त्व
       - (i) अभ्यास
       - (ii) चित्र, चार्ट आदि
       - (iii) प्रस्तावना या भूमिका आदि, शिक्षकों के प्रति, शिक्षार्थियों के प्रति, सुझाव या निर्देश आदि
       - (iv) शब्दकोश, व्याख्या, टिप्पणी, अन्तःकथाएँ, संदर्भ आदि
- रूपात्मक पक्ष
  1. पुस्तक का आकार
  2. प्ररचना (डिजाइन)
  3. चित्रों का संयोजन
  4. जिल्द
  5. मुखपृष्ठ
  6. कागज
  7. टाइप
  8. मुद्रण
  9. मूल्य

मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक की विषय सामग्री

मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक मे विषय सामग्री पर विचार करते समय उसके तीन पक्ष सामने आते हैं—

1. विषय सामग्री का चयन
2. विषय सामग्री का स्तरीकरण
3. विषय सामग्री का प्रस्तुतीकरण

1. विषय सामग्री का चयन—विषय सामग्री चयन में भी दो बातें विचारणीय हैं :—

(क) विषय सामग्री की प्रकृति अर्थात् विषय सामग्री क्या और किस प्रकार की हो।

(ख) विषय सामग्री की मात्रा अर्थात् कक्षा-शिक्षण की दृष्टि से कितनी विषय सामग्री पर्याप्त होगी।

(क) विषय सामग्री की प्रकृति—विषय सामग्री के चयन में विविध पाठों की प्रकृति, मातृभाषा शिक्षण के उद्देश्य, राष्ट्रीय लक्ष्य, शिक्षार्थी, शिक्षण पद्धति, मातृभाषा-शिक्षण की सम्पूर्ण पाठ्यचर्या, अन्य विषयों की पाठ्यचर्या एवं पाठ्यपुस्तकें आदि बातें विचारणीय हैं। इनका संक्षिप्त उल्लेख किया जा चुका है। मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक में वर्ग विशेष की दृष्टि से उपयुक्त अनेक प्रकार के पाठों का चयन करना पड़ता है।

विषय सामग्री की प्रकृति की दृष्टि से निम्नांकित तीन पक्ष विचारणीय हैं—

वैचारिक सामग्री, भाषिक सामग्री, साहित्यिक रूप एवं विधाएँ।

वैचारिक सामग्री के अन्तर्गत मूल पाठ्य विषयों पर विचार किया जाता है और जीवन के विभिन्न पक्षों एवं कार्यक्षेत्रों—सामाजिक, सांस्कृतिक, कलात्मक, वैज्ञानिक, औद्योगिक, वाणिज्यिक, खेल-कूद, मनोरंजन, यात्रा, अनुसंधान आदि—से सम्बन्धित उपयुक्त पाठों का चयन किया जाता है जिससे बालकों को उनका ज्ञान और अनुभव हो सके और उनके द्वारा मानवीय मूल्यों, सद्भावो एवं सद्विचारो के प्रत्यय-निर्माण मे भी सहायता मिल सके। वैचारिक सामग्री के चयन में निम्नांकित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

(i) विषय वस्तु शैक्षणिक उद्देश्यों के अनुरूप हो।

(ii) पाठों की विविधिता अर्थात जीवन के विभिन्न कार्य क्षेत्रों से सम्बन्धित पाठ।

(iii) विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित पाठों के चयन में उचित अनुपात।

(iv) राष्ट्रीय लक्ष्यों–राष्ट्रीय एकता, जनतांत्रिकता, समाजवाद, धर्म निरपेक्षता की दृष्टि से विषय-सामग्री का औचित्य। कोई ऐसी सामग्री न हो जो साम्प्रदायिक विद्वेष का कारण बने।

(v) बालकों की मानसिक परिपक्वता एवं विभिन्न बौद्धिक स्तरों का

ध्यान रखते हुए विषय वस्तु का चयन। अति कठिन या अति सरल पाठ्य सामग्री नहीं होनी चाहिए।

(vi) विषय वस्तु शुद्ध, सत्य और प्रामाणिक हो।

(vii) मातृभाषा शिक्षण सम्बन्धी अन्य शैक्षणिक सामग्री की दृष्टि से सहायक और पूरक हो।

(viii) सम्पूर्ण पाठ्यक्रम में मातृभाषा-शिक्षण का स्थान।

(ix) अन्य विषयों की पाठ्यपुस्तकों में समाविष्ट सामग्री का ध्यान जिससे अनावश्यक आवृत्ति न हो।

(x) पूर्व कक्षा की पाठ्यचर्या।

(xi) बालकों की रुचि और आवश्यकता के अनुकूल सामग्री का चयन।

(xii) विषय वस्तु उस भाषा-समुदाय की संस्कृति का परिचायक हो।

(xiii) विषय वस्तु स्वस्थ एवं वांछित अभिवृत्तियों के विकास में सहायक एवं प्रेरणादायक हो।

भाषिक सामग्री के अन्तर्गत विविध भाषा-योग्यताओं एवं कौशलों के विकास की दृष्टि से अपेक्षित भाषिक तत्वों के समावेश पर विचार किया जाता है। भाषिक सामग्री में शब्दावली (शब्द, पद, मुहावरा, विविध प्रयोग आदि), संरचना (पद, उपवाक्य, वाक्य स्तर पर) तथा अन्य व्याकरणिक रूपों का इस दृष्टि से चयन किया जाता है कि बालकों का भाषा-ज्ञान उत्तरोत्तर संवर्द्धित हो और भाषा के व्यवहार मे उन्हें दक्षता प्राप्त हो।

भाषिक सामग्री के चयन में निम्नांकित बातें ध्यातव्य हैं—

(i) शैक्षणिक उद्देश्य के अनुरूप

(ii) विषयवस्तु के अनुरूप

(iii) बालकों के विभिन्न बौद्धिक स्तर के अनुरूप

(iv) प्रारम्भिक कक्षाओं (कक्षा 1, 2) में नियन्त्रित भाषा-सामग्री पर उत्तरोत्तर ऊँची कक्षाओं में संपन्न एव संवर्द्धित भाषा-सामग्री

(v) ऐसे स्थानीय भाषा-प्रयोगों का समावेश जो मानक साहित्यिक भाषा के संवर्द्धन में सहायक हों। प्रचलित विदेशी शब्दों का भी यथोचित समावेश।

साहित्यिक रूप एवं विधाएँ—मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक में ऐसे पाठों का चयन होना चाहिए जिनके द्वारा बालकों को विविध साहित्यिक विधाओं एवं उनकी शैलियों का परिचय मिल जाय। कहानी, निबन्ध, नाटक, एकांकी, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, कविता तथा उसके विविध रूपों का परिचय देने के लिए उस प्रकार के पाठों का चयन आवश्यक हो जाता है।

कक्षा 8 तक की पाठ्यपुस्तक में विधाओं की समस्या विशेष रूप में रहती है क्योंकि एक पाठ्यपुस्तक में ही इन विधाओं से सम्बन्धित पाठों का समावेश होता है। कक्षा 9 से गद्य और पद्य की पाठ्यपुस्तकें अलग-अलग होती हैं। इनके अतिरिक्त नाटक या एकांकी, कहानी संग्रह, उपन्यास, खण्ड काव्य आदि अलग से भी पढ़ने होते हैं। अतः साहित्यिक विधाओं का परिचय इनके द्वारा अपने-आप प्राप्त हो जाता है। गद्य की पुस्तक में गद्य की विविध विधाओं का समावेश अवश्य किया जाता है।

साहित्यिक विधाओं के चयन में निम्नांकित वातें ध्यातव्य है—

(i) शैक्षणिक उद्देश्यों के अनुरूप
(ii) विविध साहित्यिक विधाओं का प्रतिनिधित्व
(iii) विविध विधाओं का उचित अनुपात
(iv) वालकों के वौद्धिक स्तर के अनुरूप
(v) मातृभापा की अन्य शैक्षणिक सामग्री में सहायक एवं पूरक

(ख) विषय सामग्री की मात्रा—मातृभापा की पाठ्यपुस्तक में विषय सामग्री की मात्रा इस वात पर निर्भर है कि कक्षा के सम्पूर्ण पाठ्यक्रम में मातृभापा-शिक्षण के लिए कितना समय निर्धारित है और फिर सम्पूर्ण मातृभापा-पाठ्यचर्या में पाठ्यपुस्तक-शिक्षण के लिए कितना समय प्रदान किया जाता है। मातृभापा शिक्षण के उद्देश्यों की पूर्ति की दृष्टि से किस प्रकार की कितनी विषय सामग्री अपेक्षित है, विषय सामग्री के विविध रूप क्या हैं, जीवन के किन-किन क्षेत्रों एवं कार्यों से सम्वन्धित विषय सामग्री का समावेश होना चाहिए और उनका परस्पर क्या अनुपात होना चाहिए आदि वातें भी भापा की दृष्टि से विचारणीय हैं।

2. विषय सामग्री का स्तरीकरण—स्तरीकरण की दृष्टि से भी विषय सामग्री के तीनों पक्षों—वैचारिक सामग्री, भाषिक सामग्री एवं साहित्यिक विधाएँ—पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

शैक्षणिक उद्देश्य एवं तद्निहित अपेक्षित व्यवहार, शिक्षार्थियों की रुचि एवं मानसिक परिपक्वता, पठन एवं भापिक कौशलों के शिक्षण की विविध पद्धतियाँ आदि लक्षण ही विषय सामग्री के वर्गीकरण के आधार हैं।

वैचारिक सामग्री में मूल विषय वस्तु एवं प्रत्ययों (मानवीय मूल्यों, जीवन के अनुभवों एवं अन्य भाव एवं विचार सम्वन्धी प्रत्यय) पर विचार किया जाता है और उनका वर्गीकरण अपरिचित पाठो की मात्रा, जटिलता, सूक्ष्मता आदि के आधार पर किया जाता है। वैचारिक सामग्री के वर्गीकरण में निम्नांकित वातों का ध्यान रखा जाता है—

(i) ज्ञात से अज्ञात की ओर
(ii) सरल से जटिल की ओर
(iii) स्थूल से सूक्ष्म की ओर
(iv) निरीक्षण से तर्क की ओर
(v) यथार्थ से आदर्श की ओर
(vi) पाठों का पूर्वापर सम्बन्ध
(vii) शिक्षार्थियों की मानसिक परिपक्वता
(viii) शिक्षार्थियों की रुचि की परिवर्तनशीलता

भाषिक सामग्री में शब्दावली, संरचना, व्याकरणिक अवयवों एवं शैली पर विचार किया जाता है। इनके वर्गीकरण में भी ज्ञात से अज्ञात, सरल से जटिल, स्थूल से सूक्ष्म की ओर, शिक्षार्थियों की रुचि एवं मानसिक परिपक्वता आदि का आधार लिया जाता है। शैली के अन्तर्गत शैली की प्रकृति (वर्णनात्मक, कथात्मक, भावात्मक, विचारात्मक आदि) और भाषा (शब्दावली, संरचना, अलंकार आदि) दोनों का ध्यान रखा जाता है। इसके वर्गीकरण में भी उपयुक्त सूत्रों को आधार माना जाता है।

विविध साहित्यिक विधाओं का वर्गीकरण भी जटिलता, नवीनता, शिक्षार्थियों की मानसिक परिपक्वता और रुचि के अनुसार किया जाता है।

पाठों का क्रमायोजन भी वर्गीकृत रूप में ही होना चाहिए। छोटे और कम शिक्षण-बिन्दु (वैचारिक एवं भाषिक दोनों) वाले पाठ पहले तथा लंबे और अधिक शिक्षण-बिन्दु वाले पाठ बाद में रखने चाहिए।

3. विषय सामग्री का प्रस्तुतीकरण—प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से निम्नांकित बातें विचारणीय हैं—

(क) पाठ्यसामग्री अर्थात् विविध पाठ
(ख) अभ्यास
(ग) चित्र
(घ) प्रस्तावना अथवा भूमिका, शिक्षकों के प्रति, शिक्षार्थियों के प्रति
(ङ) शब्दकोश, व्याख्या, अंतःकथाएँ, टिप्पणी, संदर्भ आदि

(क) पाठ्यसामग्री अथवा विविध पाठ—पाठ्यपुस्तक में पाठों के प्रस्तुतीकरण पर दो दृष्टियों से विचार किया जाता है—

(i) संपूर्ण पुस्तक में पाठों का प्रस्तुतीकरण
(ii) एक पाठ में प्रस्तुतीकरण

(i) संपूर्ण पुस्तक में पाठों का प्रस्तुतीकरण—सम्पूर्ण पुस्तक में पाठों के प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से विभिन्न साहित्यिक विधाओं, उपविधाओं, शैलियों एवं

संगठनात्मक रूपों का ध्यान रखना पड़ता है। कक्षा 8 तक की पाठ्यपुस्तकों में अधिकतर पाठ लिखे जाते हैं, अतः लेखक को ध्यान रखना पड़ता है कि कक्षा की दृष्टि से उपयुक्त, विधाओं, शैलियों आदि का उचित प्रतिनिधित्व पाठों द्वारा हो जाय। कक्षा 9 तथा आगे की पाठ्यपुस्तकों में अधिकतर पाठों का संकलन किया जाता है और प्रतिष्ठित साहित्यकारों की कृतियाँ ही पाठ के रूप में (कभी-कभी मूल रूप में और कभी-कभी संपादित) संचयित हो जाती हैं। अतः इनमें ध्यान रखना पड़ता है कि विविध विधाओं, शैलियों आदि का उचित प्रतिनिधित्व अवश्य हो।

प्रस्तुतीकरण में यह ध्यातव्य है कि माध्यमिक कक्षाओं में बालक प्रमुख साहित्यिक विधाओं—निबन्ध, कहानी, जीवनी, आत्मकथा, नाटक, एकांकी, प्रबंधात्मक कविता, मुक्तक गीत आदि—से परिचित हो जायँ। उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं तक सभी साहित्यिक विधाओं एवं शैलियों से उन्हें परिचित हो जाना चाहिए।

प्राइमरी कक्षा की पाठ्यपुस्तक में पाठों की इकाइयाँ भाषिक सामग्री के आधार पर और माध्यमिक कक्षाओं की पाठ्पुस्तक में वैचारिक सामग्री या विधा के आधार पर बनाई जा सकती हैं। दो क्रमोत्तर कक्षाओं जैसे 3–4, 5–6, 7–8, 9–10 आदि की पाठ्यपुस्तक के प्रस्तुतीकरण के रूप में बहुत अन्तर नही होना चाहिए।

(ii) **एक पाठ में प्रस्तुतीकरण** – एक पाठ के प्रस्तुतीकरण में भी विधा, शैली एवं पाठ की लम्बाई आदि का ध्यान रखना पड़ता है। भावों, विचारों की अभिव्यक्ति (क्रमबद्धता, एकता, सुसबद्धता, विषय की भूमिका, वर्णन, उपसंहार आदि) का भी ध्यान प्रस्तुतीकरण में आवश्यक है।

(ख) **अभ्यास**—मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक में अभ्यास का विशेष महत्त्व है। प्रत्येक पाठ के अन्त में भाषिक एवं वैचारिक सामग्री पर विविध अभ्यास आवश्यक हैं। अभ्यासों की रचना करते समय विषय सामग्री की प्रकृति, शैक्षणिक उद्देश्य, शिक्षार्थी, शिक्षण-पद्धति, परीक्षण-पद्धति, मातृभाषा-शिक्षण का संपूर्ण कार्यक्रम, मातृभाषा के शिक्षक आदि बातों का ध्यान रखना पड़ता है। इनके अतिरिक्त अभ्यासों की रचना में निम्नांकित बातें भी विचारणीय हैं—

(i) **यथासम्भव संपूर्ण विषय सामग्री पर अभ्यासों की रचना**—यद्यपि पाठ की सम्पूर्ण विषय सामग्री और उसके प्रत्येक शिक्षण-बिन्दु पर अभ्यास देना सम्भव नहीं है, तथापि प्रमुख वैचारिक एवं भाषिक सामग्री का तो ध्यान रखना ही चाहिए जिससे प्रमुख शिक्षण-बिन्दुओं का पर्याप्त प्रतिनिधित्व हो जाय। पाठान्तर्गत शिक्षण-बिन्दु से सम्बन्धित इतर ज्ञान एवं योग्यता पर भी अभ्यास दिए जा सकते हैं। राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्, दिल्ली द्वारा प्रकाशित माध्यमिक कक्षाओं की हिन्दी पाठ्यपुस्तकों में 'योग्यता विस्तार' के अन्तर्गत ऐसे

अभ्यासों के नमूने देखे जा सकते हैं। ये अभ्यास बालकों के सामान्य भाषिक एवं साहित्यिक ज्ञानवर्द्धन में विशेष सहायक सिद्ध होते हैं।

(ii) **शैक्षणिक उद्देश्यों की दृष्टि से अभ्यासों की रचना**—अभ्यासों की रचना करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उस वर्ग के शैक्षणिक उद्देश्यों—ज्ञान, बोध, अभिव्यक्ति आदि—की पूर्ति में वे सहायक हों। उद्देश्यों के अन्तर्गत जो विशिष्ट अपेक्षित व्यवहार हैं, उन सभी की दृष्टि से अभ्यासों की रचना करनी चाहिए जिससे ज्ञान, कौशल, समीक्षा, रसास्वादन आदि कोई अंग छूट न जाय। उद्देश्यों के कठिनाई स्तर को देखते हुए अभ्यासों की मात्रा निर्धारित होनी चाहिए।

(iii) **अभ्यासों में सभी प्रकार के प्रश्नों का समावेश**—अभ्यासों में निबन्धात्मक, लघूत्तरात्मक, वस्तुनिष्ठ आदि सभी प्रकार के प्रश्नों का समावेश आवश्यक है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि प्रत्येक पाठ में इन तीनों ही प्रकारों के प्रश्न आवश्यक हैं। पाठ की प्रकृति एवं शैक्षणिक उद्देश्यों पर यह बहुत कुछ निर्भर है कि किस प्रकार के प्रश्न अभ्यास में दिए जायँ। यदि किसी पाठ में मौखिक एवं लिखित अभिव्यक्ति के लिए अधिक सामग्री और अवसर है तो उस पाठ में निबन्धात्मक प्रश्न अधिक उपयुक्त होंगे। सूचना अथवा तथ्य ग्रहण, पहचान एवं प्रत्यास्मरण की दृष्टि से वस्तुनिष्ठ प्रश्न अधिक उपयुक्त होंगे। यदि किसी पाठ में तीनों प्रकार के प्रश्नों के लिए उपयुक्त सामग्री है तो तीनों प्रकार के प्रश्न देने चाहिए। पाठ्य सामग्री एवं शिक्षण बिन्दुओं के आधार पर इन तीनों प्रकार के प्रश्नों का अनुपात भी निश्चित किया जा सकता है।

(iv) **अभ्यासों की प्रकृति एवं उसके रूप**—प्रकृति की दृष्टि से अभ्यासों के अनेक रूप हो सकते हैं—आवृत्यात्मक (पठित सामग्री की पहचान, प्रत्यास्मरण, अभिव्यक्ति आदि के लिए), विकासात्मक (पठित सामग्री से संवर्द्धित योग्यता, विस्तार, तुलनात्मक विश्लेषण आदि के लिए), निष्कर्षात्मक (पठित सामग्री पर आधारित आशय, विचार, प्रेरणा, मूल्य, संदेश आदि), निदानात्मक (बालक क्या जानता है और क्या नहीं जानता है तथा उसकी शक्ति और कमजोरी परखने के लिए) आदि। प्रथम तीनों प्रकार के अभ्यास शैक्षणिक उद्देश्यों के अन्तर्गत विशिष्ट व्यवहारों पर आधारित हैं जैसे ज्ञान, बोध, अभिव्यक्ति आदि जबकि अन्तिम प्रकार का अभ्यास (निदानात्मक) इसलिए दिया जाता है कि बालक की न्यूनता का निदान हो सके और उसके सुधार के लिए उपचारात्मक शिक्षण-योजना बनाई जा सके। ऐसे अभ्यासों का सम्बन्ध विशेषतः शिक्षण-पद्धति से है।

विकासात्मक एवं निष्कर्षात्मक अभ्यासों की रचना, बालकों की मानसिक परिपक्वता एवं ग्राह्यता की दृष्टि से होनी चाहिए क्योंकि इन अभ्यासों में बालक को पठित सामग्री के अतिरिक्त और बातों पर भी विचार करना पड़ता है। इस

प्रकार के अभ्यास जहाँ आवश्यक हों, वहीं देने चाहिए। इनकी संख्या आवृत्यात्मक एवं निदानात्मक अभ्यासों की अपेक्षा कम होती है।

(v) **प्रश्न-युक्तियों के अनुसार अभ्यासों की योजना**—मौखिक, लिखित एवं क्रियात्मक उत्तरों की दृष्टि से भी अभ्यासों की रचना होनी चाहिए। कुछ अभ्यास ऐसे होंगे जिनका उद्देश्य वालकों से मौखिक उत्तर प्राप्त करना होता है, कुछ ऐसे होंगे जिनका उद्देश्य लिखित उत्तर प्राप्त करना होगा और कुछ ऐसे होंगे जिनका उद्देश्य वालकों को किसी क्रिया में प्रवृत्त करना होगा। पाठ्य सामग्री की प्रकृति, शैक्षणिक उद्देश्य एवं शिक्षण-युक्ति आदि के आधार पर ही इन तीनों प्रकार के अभ्यासों की रचना होगी। इन्ही आधारों पर प्रश्न के प्रकार भी निर्धारित होते हैं; जैसे, मौखिक उत्तर की दृष्टि से लघूत्तरात्मक प्रश्न आधिक उपयोगी सिद्ध होते है। लिखित अभिव्यक्ति की दृष्टि से निवन्धात्मक प्रश्न अच्छे सिद्ध होते हैं।

मौखिक, लिखित एवं क्रियात्मक रूपों के अभ्यास विभिन्न वर्गों के अनुसार विभिन्न मात्रा या अनुपात में हो सकते हैं। प्रारम्भिक एवं माध्यमिक कक्षाओं मे मौलिक एवं क्रियात्मक अभ्यास अधिक उपयुक्त होते हैं। उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में लिखित उत्तर वाले अभ्यास अधिक हो सकते है।

(vi) **शिक्षार्थी का ध्यान**—प्रश्न एवं अभ्यास की रचना में शिक्षार्थी की मानसिक परिपक्वता, भापा-योग्यता आदि का ध्यान रखना आवश्यक है। यह आवश्यक है कि प्रश्न एवं अभ्यास विचारप्रेरक हों और उनकी भापा कक्षा-स्तर के अनुकूल हो।

संपूर्ण पुस्तक में अभ्यासों की मात्रा संपूर्ण पाठ्यक्रम के कार्य-भार के अनुसार, पूरी पुस्तक की पाठ्य सामग्री के अनुसार तथा शिक्षार्थी के अन्य कार्यों के अनुसार निर्धारित होनी चाहिए।

प्रत्येक पाठ के अन्त में अभ्यास देने के साथ-साथ यदि आवश्यक हो तो पुस्तकों के अन्त में सम्पूर्ण पाठ्य सामग्री पर आधारित अभ्यास भी दिए जा सकते है।

(ii) चित्र—पाठ्य पुस्तक में चित्रों की उपयोगिता सर्वमान्य है, पर यह प्रश्न अवश्य विवादास्पद वना रहता है कि चित्रों को कहाँ और कितना स्थान प्रदान किया जाय। प्रारम्भिक कक्षाओं में चित्रों की संख्या अधिक होती है और पाठ्य पुस्तक में उनके लिए अधिक स्थान प्रदान करना आवश्यक हो जाता है। ऊँची कक्षाओं में यह संख्या कम होती जाती है।

चित्रों की योजना पाठ्य सामग्री, शैक्षणिक उद्देश्य, शिक्षार्थी, शिक्षण-युक्ति, शिक्षक आदि पर निर्भर है। चित्र देना जव आवश्यक एवं उपयोगी हो तभी उसे दिया जाय। चित्र हर प्रकार से पाठ्य सामग्री से सम्वन्धित अवश्य हो। यह कथन

सही है कि 'जो बातें शब्दों से नहीं समझा जा सकते उन्हें चित्रों द्वारा सरलतापूर्वक समझा सकते हैं।'

शैक्षणिक उद्देश्य, शिक्षण-युक्ति, शिक्षक के सीमित साधन आदि की दृष्टि से चित्रों की अनेक उपयोगिताएँ हैं; जैसे—

शिक्षार्थी को पाठ के प्रति आकर्षित करना, सीखने के लिए अभिप्रेरित करना, उसकी रुचि और उत्सुकता को जागृत करना, सूक्ष्म तथ्यों एवं सूचनाओं को स्थूल एवं साकार रूप देना, पाठ्यसामग्री के शिक्षण विन्दुओं को स्पष्ट करना, पाठ्यसामग्री से सम्बन्धित अतिरिक्त ज्ञान प्रदान करना, बालकों में सौन्दर्यप्रियता की भावना को उद्‌बुद्ध और विकसित करना आदि।

चित्रों के आकार-प्रकार, रूप-रंग तथा घटना एवं संकेत-विवरण आदि का निर्धारण छात्रों की आयु, योग्यता एवं रुचि के अनुसार होना चाहिए। प्रारम्भिक कक्षाओं के चित्र रंगीन और आकर्षक होगे पर ऊँची कक्षाओं में सूचनात्मक एवं तथ्यात्मक अधिक होंगे। चित्र स्वच्छ, स्पष्ट, शुद्ध एवं उचित आकार-प्रकार के अवश्य होने चाहिए। मनोहर एवं प्रेरणादायी चित्र ही उपयोगी होते हैं।

पाठ्य पुस्तक में चित्रों का स्थान पाठ्य सामग्री, शिक्षार्थी तथा शिक्षण-युक्ति पर निर्भर है। यथा सम्भव चित्र तत्सम्बन्धी पाठ्य सामग्री के पास ही होना चाहिए। यदि किसी चित्र का प्रसंग केवल एक या दो बार आता है तो उसे पृष्ठ के एक या ओर कोने में दे सकते हैं, पर यदि अनेक बार उसका प्रसंग उठता है तो उसे पृष्ठ के वीच में दिया जा सकता है। वस्तुतः पाठ्य-सामग्री की दृष्टि से चित्र का कितना महत्त्व है, इसके अनुसार चित्र को प्रमुखता मिलती है।

4. पाठ्यपुस्तक के प्रारम्भ में आवश्यक बातें—पुस्तक के आरम्भ में प्राक्कथन, प्रस्तावना या भूमिका, शिक्षकों के प्रति, शिक्षार्थियों के प्रति आदि बातें दी जाती हैं और पुस्तक के अध्ययन में ये बातें सहायक एवं उपयोगी भी सिद्ध होती हैं। प्राक्कथन में पुस्तक लिखने का प्रयोजन, पाठ्यपुस्तक लिखाने वाले अभिकरण का नाम तथा पुस्तक की विशेषताओं आदि का उल्लेख किया जाता है।

प्रस्तावना या भूमिका में मातृभाषा की विषय सामग्री की प्रकृति एवं तद-नुसार पाठ्यपुस्तक में गृहीत विषय सामग्री की विशेषताएँ एवं उपयुक्तता, विषय सामग्री का सगठन आदि पर प्रकाश डाला जाता है। यह उल्लेख संक्षिप्त, विवेचनात्मक एवं रोचक होना चाहिए तथा लेखक या सम्पादक का विषय सामग्री के चयन, वर्गीकरण एवं प्रस्तुतीकरण से सम्बन्धित दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाना चाहिए।

शिक्षकों के प्रति वक्तव्य में शिक्षण की दृष्टि से पाठ्यपुस्तक की विषय सामग्री का स्पष्टीकरण, शैक्षणिक उद्देश्यों की पूर्ति की दृष्टि से विषय सामग्री की उपयुक्तता एवं उपयोगिता, शिक्षण-युक्ति तथा शिक्षक के लिए आवश्यक सुझाव एवं उचित निर्देश का उल्लेख होना चाहिए। पाठ्यपुस्तक की विषय सामग्री का दो दृष्टियों से विश्लेषण किया जा सकता है—(*i*) विषय सामग्री के अन्तर्गत विभिन्न

पाठों का सम्बन्ध और प्रस्तुतीकरण तथा (ii) शैक्षणिक उद्देश्यों की पूर्ति की दृष्टि से विषय सामग्री की सार्थकता। सामान्य शिक्षकों को ध्यान में रखते हुए पुस्तक पढ़ाने के लिए कुछ सामान्य निर्देश, विभिन्न पाठो के शिक्षण में ध्यान देने योग्य विशेष बातें, प्रश्न और अभ्यास के समुचित प्रयोग की आवश्यकता एवं सुझाव आदि का भी उल्लेख होना चाहिए। ये सुझाव एवं निर्देश ऐसी भाषा और शैली में हों कि सभी शिक्षक सफलतापूर्वक समझ सकें।

इस प्रकार शिक्षार्थियो के प्रति भी आवश्यक सुझावों एवं निर्देशों का उल्लेख होना चाहिए जिसमें पाठ्यपुस्तक के अध्ययन एवं अनुशीलन की विधियों पर प्रकाश पड़ सके। विद्यार्थियो को दिए गए निर्देश बहुत ही स्पष्ट, व्यावहारिक एवं निश्चित प्रकार के होने चाहिए जिसे वे सरलता एवं सुगमता से कार्यान्वित कर सकें।

वस्तुतः पुस्तक के आरम्भ में दी जाने वाली उपर्युक्त बातों की उपयोगिता पाठ्यसामग्री के अध्ययन-अध्यापन को प्रभावपूर्ण बनाने में ही निहित है।

5. पाठ्यपुस्तक के अन्त में आवश्यक बातें—पाठ्यपुस्तक के अन्त में आवश्यक शब्दकोश, पुस्तक की भाषिक सामग्री पर आधारित भाषा सम्बन्धी अभ्यास, व्याख्या, टिप्पणियाँ, अन्तःकथाएँ, संदर्भ आदि भी दिये जाते है।

शब्दकोष दे देने से विद्यार्थियों को शब्दकोष देखने का प्रशिक्षण भी प्राप्त हो जाता है। शब्दकोष देने में शब्दों की संख्या, पाठों से उपयुक्त शब्दों का चयन, शब्दों का क्रम, शब्दार्थ आदि बाते विचारणीय हैं। शब्दों की संख्या पाठों में आए हुए अपरिचित शब्दो की संख्या पर निर्भर है। शब्दार्थ बिल्कुल सही देने चाहिए। यदि शब्द के अनेक अर्थ है तो प्रसंगानुकूल एक ही अर्थ का उल्लेख वांछित है। शब्दक्रम हिन्दी वर्णक्रम के अनुसार होना चाहिए।

सम्पूर्ण पुस्तक की भाषिक सामग्री पर आधारित भाषा सम्बन्धी अभ्यास भी आवश्यक है क्योंकि प्रत्येक पाठ के साथ दिए गए भाषिक अभ्यास केवल इस पाठ पर आधारित होते हैं और भाषिक तत्वों से सम्बन्धित अनेक व्याकरणिक अवयव छूट जाते है। अन्त के भाषिक अभ्यासों द्वारा यह अपूर्णता पूरी हो जाती है। ये भाषिक अभ्यास शब्दावली (शब्द रचना एवं प्रयोग), संरचना (वाक्य रचना एवं प्रयोग) तथा अन्य व्याकरणिक अवयवों से सम्बन्धित होने चाहिए। भाषा के सैद्धान्तिक, व्यावहारिक दोनों ही पक्षों का अधार इन अभ्यासों में होना चाहिए। ये अभ्यास केवल आवृत्यात्मक नही होंगे बल्कि संवर्द्धनात्मक भी होगे।

वैचारिक सामग्री सम्बन्धी अभ्यास भी प्रत्येक पाठ के अन्त में दिए जाते है और वे उस पाठ से सम्बन्धित होने के कारण अपने में भी पूर्ण होते है, पर भाषिक सामग्री के अभ्यासों में यह बात नही हो पाती क्योंकि एक पाठ से सम्बन्धित भाषिक अभ्यासों द्वारा भाषा का समग्र रूप सामने नहीं आ पाता और उसके अनेक पक्ष छूट जाते हैं।

पुस्तक के अन्त में भाषिक अभ्यासों का स्थान कक्षा 8 तक विशेष उपयोगी सिद्ध होता है। उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में इनकी आवश्यकता नहीं रह जाती।

वैचारिक सामग्री की दृष्टि से पाठ्यपुस्तक के अन्त में कुछ महत्त्वपूर्ण स्थलों की आवश्यक व्याख्या, आवश्यक सन्दर्भ, अन्तःकथाएँ आदि का उल्लेख समीचीन प्रतीत होते है क्योंकि इनके अभाव में पाठ्यपुस्तक के अनेक स्थल एवं प्रसग स्पष्ट नही हो पाते। इसी प्रकार विशिष्ट प्रयोगों, रूढ़ियों, कवि-प्रसिद्धियों, सूक्तियों आदि के स्पष्टीकरण की आवश्यकता पड़ती है। वैज्ञानिक एवं प्राविधिक विषयो से सम्बन्धित पाठों में आए हुए पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या या टिप्पणियाँ भी आवश्यक होती है। ये टिप्पणियाँ पाठों के क्रमानुसार दी जायँ।

पाठ्यपुस्तक का रूपात्मक पक्ष

पाठ्यपुस्तक के रूपात्मक पक्ष की दृष्टि से निम्नांकित बातें विचारणीय हैं—

(i) पुस्तक का आकार

(ii) पुस्तक की प्ररचना (डिजाइन)

(iii) जिल्द

(iv) मुखपृष्ठ

(v) कागज

(vi) टाइप, उसके विभिन्न रूप और आकार

(vii) मुद्रण

(viii) पुस्तक की कीमत

पुस्तक का आकार, प्ररचना, टाइप आदि का चुनाव विषय सामग्री, शिक्षार्थी तथा शिक्षण-युक्ति के अनुसार किया जाता है। पुस्तक की पूरी प्ररचना आकर्षक होनी चाहिए। विषय सामग्री की प्रकृति एव मात्रा के अनुसार ही प्ररचना का निर्धारण होना चाहिए।

शिक्षार्थी की सुविधा के अनुसार ही पुस्तक का आकार भी होना चाहिए। सामान्यतः प्राथमिक कक्षाओं के लिए पाठ्यपुस्तक का आकार $9\frac{1}{2}'' \times 7''$, माध्यमिक कक्षाओं के लिए $8'' \times 6''$ तथा उच्चतर माध्यमिक कक्षाओ के लिए $8'' \times 5'$ चुना जाता है। टाइप का आकार भी विषय सामग्री एवं शिक्षार्थी के अनुसार तय किया जाता है। प्राइमर तथा कक्षा 1 के लिए 36 प्वाइन्ट, कक्षा 2 के लिए 24 प्वाइन्ट, कक्षा 3 के लिए 18 प्वाइन्ट, कक्षा 4 के लिए 14 प्वाइन्ट ब्लैक तथा पाँचवीं से 11वी कक्षा तक के लिए 14 व्हाइट ठीक माना जाता है। कक्षा 6 से 11 की पाठ्यपुस्तको में अभ्यासों के लिए टाइप 12 प्वाइन्ट ठीक मानते है। प्राइमर तथा छोटी कक्षा के लिए पंक्ति की लम्बाई 4 इंच ठीक मानी जाती है, पर ऊँची कक्षाओं में यह अधिक होती जाती है।

पुस्तक की जिल्द टिकाऊ होनी चाहिए। प्राइमरी कक्षाओं में जिल्द ऐसी हो कि वह पूरी तरह खुल सके। मुखपृष्ठ आकर्षक और मनोहर हो। कागज अच्छा,

मजबूत और टिकाऊ हो। मुद्रण शुद्ध, स्पष्ट और सुन्दर हो। पन्ने की दूसरी ओर मुद्रण नहीं झलकना चाहिए। पुस्तक की कीमत अधिक नहीं होनी चाहिए।

सारांश

पाठ्यपुस्तक कक्षा-शिक्षण का प्रमुखतम साधन है। शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों के लिए आधार सामग्री का काम करती है। किन्तु पाठ्यपुस्तक शिक्षण का साधन ही है, साध्य नही। वह शिक्षक का स्थान कभी भी ग्रहण नहीं कर सकती

मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक अन्य विषयों की पाठ्यपुस्तकों से भिन्न है क्योकि उसका क्षेत्र व्यापक है। उसमें वैचारिक सामग्री के साथ-साथ शिक्षणोपयोगी भाषिक सामग्री का समावेश आवश्यक है, यही नहीं साहित्यिक रूपों, विधाओ के परिचय के लिए भी उचित शैलियो का समावेश करना पड़ता है।

मातृभाषा की पाठ्यपुस्तक रचना के सिद्धान्तों की दृष्टि से तीन प्रमुख पक्ष सामने आते हैं---पाठ्यपुस्तक के विभिन्न पक्ष, पाठ्यपुस्तक रचना के सोपान, पाठ्य पुस्तक रचना के उपादान। विभिन्न पक्ष की दृष्टि से अध्ययनात्मक पक्ष और रूपात्मक पक्ष मुख्य हैं। अध्ययनात्मक पक्ष मे विषय सामग्री की प्रकृति एवं मात्रा दोनो पर विचार किया जाता है। विषय सामग्री की प्रकृति के अन्तर्गत विषय सामग्री का चयन, स्तरीकरण एवं प्रस्तुतीकरण का प्रश्न आता है। पाठ्यपुस्तक रचना के सोपान में भी विषय सामग्री के चयन, स्तरीकरण, प्रस्तुतीकरण का ही प्रश्न मुख्य है। पाठ्यपुस्तक रचना के उपादानों में मातृभाषा की विषय सामग्री, राष्ट्रीय लक्ष्य, शिक्षार्थी, शिक्षण युक्ति, मातृभाषा शिक्षण का सम्पूर्ण पाठ्यक्रम, मातृभाषा का शिक्षक, कक्षा तथा विद्यालय का सम्पूर्ण पाठयक्रम, अन्य विषयों की पाठ्यचर्चा तथा पाठ्यपुस्तकें, माता-पिता आदि विचारणीय प्रश्न हैं।

मातृभाषा की विषय सामग्री में वैचारिक सामग्री (मूल विषय एवं प्रत्यय), भाषिक सामग्री (शब्दावली, संरचना, व्याकरणिक अवयव) तथा साहित्यिक रूप एवं विधाओं का चयन, स्तरीकरण एवं प्रस्तुतीकरण का प्रश्न विचारणीय होता है। प्रस्तुतीकरण में पाठो के प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ अभ्यास, चित्र, प्रस्तावना, या भूमिका, शिक्षकों के प्रति, शिक्षार्थियों के प्रति सुझाव, शब्दकोष, व्याख्या, टिप्पणी, अन्तःकथाएँ, सन्दर्भ आदि का विचार किया जाता है।

पाठ्यपुस्तक के वाह्यपक्ष में पुस्तक के आकार-प्राकार, प्ररचना, चित्रो का संयोजन, जिल्द, मुखपृष्ठ, कागज, टाइप, मुद्रण, मूल्य आदि वातें विचारणीय है।

प्रश्न

1. बालक की शिक्षा की दृष्टि से पाठ्यपुस्तक के महत्त्व और उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

2. मातृभाषा को पाठ्यपुस्तक अन्य विषयो की पाठ्यपुस्तकों से किन अर्थों में भिन्न है ?

परीक्षा द्वारा ही बालकों को स्वयं अपनी उपलब्धियों का पता चलता है। आगे की शिक्षा प्राप्ति के लिए उन्हें प्रेरणा मिलती है। वर्तमान शिक्षा पद्धति में बालकों की कक्षोन्नति का आधार परीक्षा ही है। परीक्षा ही बालक की शैक्षणिक प्रगति का मापदण्ड है। सामान्यत: त्रैमासिक, अर्द्ध वार्षिक और वार्षिक परीक्षाएँ इसी दृष्टि से होती हैं। अधिकतर ये परीक्षाएँ विद्यालय द्वारा ही ली जाती हैं, पर एक निश्चित स्तर पर सार्वजनिक परीक्षायें भी होती हैं जैसे प्राथमिक शिक्षा की अन्तिम परीक्षा, माध्यमिक शिक्षा की अंतिम परीक्षा, उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की अन्तिम परीक्षा, स्नातक एवं स्नातकोत्तर परीक्षाएँ आदि। इन परीक्षाफलों के आधार पर ही बालक एक शैक्षिक स्तर से उत्तीर्ण होकर उससे उच्च शैक्षिक स्तर में प्रवेश करता है।

परीक्षा का महत्त्व एवं उसकी उपयोगिता केवल शिक्षार्थी ही की दृष्टि से नहीं अपितु शिक्षक की भी दृष्टि से है। वह परीक्षाफल के विश्लेपण द्वारा अपने शिक्षण कार्य की सफलता-असफलता को समझ सकता है और अपनी शिक्षण विधि एवं शिक्षा प्रक्रिया में वांछित सुधार कर सकता है। इस दृष्टि से डा० वेस्ट का यह कथन सर्वथा सत्य है कि शिक्षक और परीक्षक के अन्तिम लक्ष्य में कोई अन्तर नही। शिक्षक स्वयं विना परीक्षक हुए अपना कार्य समुचित रूप से नहीं कर सकता। व्यवहारत: शिक्षक प्रतिदिन ही पाठ-शिक्षण के समय, पाठ प्रारम्भ करते समय, पाठ के अन्त में बालक की योग्यता की परीक्षा लेता रहता है और इस आधार पर शिक्षण प्रक्रिया चलती रहती है। अत: परीक्षण शिक्षण का ही एक अंग है।

परीक्षा का परम्परागत रूप तथा हिन्दी भाषा-परीक्षण

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि परीक्षा हमारी शिक्षण प्रक्रिया एवं योजना का अभिन्न अंग है, पर वह साधन मात्र है, साध्य नहीं। परम्परागत शिक्षा-योजना में परीक्षा साधन न रहकर साध्य बन गई। विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाना ही शिक्षा का लक्ष्य मानने लगा। अधिकतर शिक्षक भी यही मानते है और परीक्षा की ही दृष्टि से अपना शिक्षण-कार्य आयोजित करते है और बालकों को उसी दृष्टि से तैयार करते हैं। इस कारण शिक्षण-कार्य एवं शिक्षा-क्रम में भी अनेक दोष बने हुए हैं।

परीक्षा वही उपयोगी मानी जाती है जिससे हमें निम्नांकित बातों को जानने में सहायता मिलती है—

(i) बालक द्वारा अर्जित योग्यता, ज्ञान, कौशल एवं अभिरुचि का सही-सही परीक्षण।

(ii) हमारी शिक्षण-विधि उचित है या नहीं? उसमें क्या परिवर्तन अपेक्षित हैं।

23
परीक्षा

[परीक्षा का महत्त्व, परीक्षा का परंपरागत रूप और हिन्दी भाषा परीक्षण, परीक्षा सम्बन्धी नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मूल्यांकन का अर्थ और महत्त्व, मूल्यांकन की विधियाँ, उत्तम परीक्षा के गुण, भाषा-परीक्षा एवं निबन्धात्मक प्रश्न, लघूत्तरात्मक प्रश्न, वस्तुनिष्ठ प्रश्न, वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के विविध रूप, भाषा में तीनों प्रकार के प्रश्नों की आवश्यकता, भाषा-परीक्षा सम्बन्धी विचारणीय बातें, मौखिक परीक्षा का समावेश]

"शैक्षिक मूल्यांकन का अर्थ है—पाठ्यचर्या के उद्देश्यों और मूल्यों की ओर छात्रों की प्रवृत्ति और प्रगति का आकलन। मूल्यांकन का प्रयोजन है पाठ्यचर्या के उद्देश्यों की ओर छात्रों की प्रगति के मापन के लिए प्रमाण का संग्रह और अध्यापकों और परिवीक्षकों को पाठ्यचर्या सम्बन्धी अनुभवों, क्रियाकलापों और शैक्षिक विधियों की प्रभाविता के मूल्यांकन की क्षमता देना।"[1]

परीक्षा का महत्त्व

परीक्षा हमारी शिक्षण योजना एवं प्रक्रिया का अपरिहार्य अंग है। परीक्षा वह साधन है जिससे पता चलता है कि शिक्षण से बालक ने कहाँ तक लाभ उठाया, उसने कितनी योग्यता अर्जित की; ज्ञान, कौशल, अभिरुचि एवं अभिवृत्ति की दृष्टि से उसकी क्या प्रगति हुई है, भावी शिक्षा के लिए क्या आधारभूमि तैयार हुई है और इन सबके फलस्वरूप उसमें क्या व्यावहारिक परिवर्तन परिलक्षित होते हैं।

परीक्षा के द्वारा ही बालकों की विषयगत कठिनाइयों का भी पता चलता है। वे किस विषय मे, अथवा किसी विषय के किस अंश में पिछड़े हुए है और उनके इस पिछड़ेपन का क्या कारण है, यह पता **निदानात्मक परीक्षाओं** द्वारा चलता है और इस आधार पर उनके सुधार के लिए उपचारात्मक शिक्षण का आयोजन किया जाता है।

बालकों की बुद्धि, अभिरुचि, रुझान, विशिष्ट प्रतिभा आदि का भी पता लगाने के लिए परीक्षाएँ ही साधन हैं। इन परीक्षणों के आधार पर बालको को उचित शैक्षणिक एवं व्यावसायिक निर्देशन दिया जाता है।

---

1. 'आधुनिक शिक्षा में मूल्यांकन', पृ० 17, अनुवादक—कृष्णचंद: मूल लेखक जे० वेन राइटस्टोन, जोसेफ जेस्टमैन, इरविंग रॉबिन्स।

परीक्षा द्वारा ही बालकों को स्वयं अपनी उपलब्धियों का पता चलता है। आगे की शिक्षा प्राप्ति के लिए उन्हें प्रेरणा मिलती है। वर्तमान शिक्षा पद्धति में बालकों की कक्षोन्नति का आधार परीक्षा ही है। परीक्षा ही बालक की शैक्षणिक प्रगति का मापदण्ड है। सामान्यतः त्रैमासिक, अर्द्ध वार्षिक और वार्षिक परीक्षाएँ इसी दृष्टि से होती हैं। अधिकतर ये परीक्षाएँ विद्यालय द्वारा ही ली जाती हैं, पर एक निश्चित स्तर पर सार्वजनिक परीक्षायें भी होती हैं जैसे प्राथमिक शिक्षा की अन्तिम परीक्षा, माध्यमिक शिक्षा की अंतिम परीक्षा, उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की अन्तिम परीक्षा, स्नातक एवं स्नातकोत्तर परीक्षाएँ आदि। इन परीक्षाफलों के आधार पर ही बालक एक शैक्षिक स्तर से उत्तीर्ण होकर उससे उच्च शैक्षिक स्तर में प्रवेश करता है।

परीक्षा का महत्त्व एवं उसकी उपयोगिता केवल शिक्षार्थी ही की दृष्टि से नहीं अपितु शिक्षक की भी दृष्टि से है। वह परीक्षाफल के विश्लेषण द्वारा अपने शिक्षण कार्य की सफलता-असफलता को समझ सकता है और अपनी शिक्षण विधि एवं शिक्षा प्रक्रिया में वांछित सुधार कर सकता है। इस दृष्टि से डा० वेस्ट का यह कथन सर्वथा सत्य है कि शिक्षक और परीक्षक के अन्तिम लक्ष्य में कोई अन्तर नहीं। शिक्षक स्वयं बिना परीक्षक हुए अपना कार्य समुचित रूप से नहीं कर सकता। व्यवहारतः शिक्षक प्रतिदिन ही पाठ-शिक्षण के समय, पाठ प्रारम्भ करते समय, पाठ के अन्त में बालक की योग्यता की परीक्षा लेता रहता है और इस आधार पर शिक्षण प्रक्रिया चलती रहती है। अतः परीक्षण शिक्षण का ही एक अंग है।

परीक्षा का परम्परागत रूप तथा हिन्दी भाषा-परीक्षण

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि परीक्षा हमारी शिक्षण प्रक्रिया एवं योजना का अभिन्न अंग है, पर वह साधन मात्र है, साध्य नहीं। परम्परागत शिक्षा-योजना में परीक्षा साधन न रहकर साध्य बन गई। विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाना ही शिक्षा का लक्ष्य मानने लगा। अधिकतर शिक्षक भी यही मानते है और परीक्षा की ही दृष्टि से अपना शिक्षण-कार्य आयोजित करते हैं और बालकों को उसी दृष्टि से तैयार करते हैं। इस कारण शिक्षण-कार्य एवं शिक्षा-क्रम में भी अनेक दोष बने हुए हैं।

परीक्षा वही उपयोगी मानी जाती है जिससे हमें निम्नांकित बातों को जानने में सहायता मिलती है—

(i) बालक द्वारा अर्जित योग्यता, ज्ञान, कौशल एवं अभिरुचि का सही-सही परीक्षण।

(ii) हमारी शिक्षण-विधि उचित है या नहीं? उसमें क्या परिवर्तन अपेक्षित हैं।

(iii) हमारी पाठ्यचर्या ठीक है या नहीं, अथवा उसमें कोई परिवर्तन अपेक्षित है।

हमारी परम्परागत परीक्षा इन तीनों दृष्टियों से दोषपूर्ण है। उससे बालक की वास्तविक योग्यता एवं ज्ञान की जाँच नहीं हो पाती। केवल उसकी स्मरणशक्ति की जाँच होती है। इस परीक्षा में 'संयोग' का हाथ अधिक रहता है। यदि बालक द्वारा कण्ठस्थ तथ्यों पर प्रश्न आ गए तो वह सफल हो जाता है।

इस परीक्षा प्रणाली में संपूर्ण विषय के अध्ययन की आवश्यकता नहीं रहती। प्रश्नपत्र ऐसे नहीं हो पाते जो पूरे पाठ्य विषय को समावृत्त कर लें। परिणामतः उसके अनेक अंश छूट जाते हैं अथवा उपेक्षित रह जाते है।

इस परीक्षा में प्रश्नों का रूप बहुत ही दोषपूर्ण है। उनका कोई निश्चित रूप नहीं है और न उनके अंकन का ही कोई सुनिश्चित मापदण्ड है। जिस प्रकार के निबंधात्मक प्रश्नपत्र आते हैं वे बालक की योग्यता के सही परीक्षण के आधार नहीं बन पाते। उनका अंकन परीक्षकों की स्वेच्छा पर ही बहुत कुछ निर्भर रहता है। जिस विशिष्ट योग्यता की परीक्षा लेना चाहते हैं उस योग्यता का सही-सही परीक्षण नहीं हो पाता, अनेक योग्यताओं का मिश्रण हो जाता है। भाषा, सुलेख तथा शैली आदि का भी प्रभाव पड़ता है। समग्र रूप में यह परीक्षा प्रणाली ही व्यक्तिनिष्ठ है, वस्तुनिष्ठ नहीं।

इस परीक्षा का शिक्षण प्रक्रिया या शिक्षण विधि पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसके कारण शिक्षण विधि में सुधार की बात तो दूर रही, वह स्वतः परीक्षा की ही दृष्टि से परिचालित होने लगती है। पाठ्यचर्या पर भी इस परीक्षा का कोई प्रभाव नही है। पाठ्यचर्या में आवश्यकतानुसार वांछित सुधार लाने की जगह पूर्व निश्चित पाठ्यचर्या के अनुसार विषय सामग्री कंठस्थ कर लेना ही इस परीक्षा का उद्देश्य है और इस कारण वही शिक्षण का उद्देश्य बन जाता है।

उपर्युक्त दोषों के रहते हुए भी परीक्षा हमारी शिक्षा सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रक्रिया तथा योजना पर पूरी तरह हावी है। वह साधन न होकर साध्य बन गई है क्योंकि शिक्षार्थी, शिक्षक और शिक्षा संस्था का मूल्य इस परीक्षा से ही आंका जाता है। पुस्तक रचयिताओं के सामने भी मुख्य बात परीक्षा ही रहती है।

परम्परागत परीक्षा प्रणाली के उपर्युक्त दोष सभी शैक्षिक विषयों के संबंध में चरितार्थ होते हैं। पर हिन्दी भाषा और साहित्य की परीक्षा में इस दृष्टि से निम्नांकित दोष उल्लेखनीय है—

(i) अनेक भाषिक तत्वों के परीक्षण की उपेक्षा—परम्परागत परीक्षा में अनेक भाषिक तत्त्वों के ज्ञान का सही परीक्षण नही हो पाता। हिन्दी ध्वनियों (वर्तनी, उच्चारण), शब्द भंडार (अर्थ, प्रयोग, रचना आदि) और वाक्य रचना आदि का परीक्षण नही हो पाता। क्योंकि प्रश्नों का रूप निबंधात्मक होता है।

(ii) अनेक भाषा-कौशलों के परीक्षण की उपेक्षा—भाषा-शिक्षण के उद्देश्यों में जिन चार प्रमुख कौशलों (सुनना, बोलना, पढ़ना, लिखना) एवं तदन्तर्गत जिन अपेक्षित व्यवहार परिवर्तनों का उल्लेख किया गया है, उनका भी सही परीक्षण परम्परागत परीक्षा प्रणाली में नहीं हो पाता। लिखित अभिव्यक्ति की परीक्षा तो थोड़ी बहुत हो जाती है पर सुनकर समझने की योग्यता, मौखिक अभिव्यक्ति की परीक्षा बिल्कुल नहीं होती। पठन-योग्यता सम्बन्धी अनेक पक्ष भी अछूते रह जाते हैं।

(iii) साहित्यिक सौन्दर्य तत्वों के बोध, अनुभूति एवं अभिरुचि के परीक्षण की उपेक्षा—परम्परागत परीक्षा में कविता की परीक्षा भी संतोषजनक नहीं हो पाती। क्योंकि उसके प्रश्नपत्र मुख्यतः संदर्भ सहित व्याख्या, तथ्य प्रतिपादन एवं वर्ण्य विषय पर ही आधारित होते है। यह तो सही है कि रसानुभूति सम्बन्धी परीक्षण बहुत कठिन है, पर लघूत्तरात्मक प्रश्नों द्वारा साहित्यिक सौदर्य तत्वो के परिचय एवं विश्लेषण की परीक्षा ली जा सकती है।

(iv) विषय वस्तु पर अत्यधिक महत्त्व—परम्परागत परीक्षा में केवल विषय वस्तु के ज्ञान के परीक्षण पर अत्यधिक बल दिया जाता है, जैसे सन्दर्भ सहित व्याख्या, लेखकों या कवियों की जीवनी या परिचय पाठ का सारांश आदि। फलतः बालक पाठ्यसामग्री को कंठस्थ कर लेते है, पर उन्हें भाषिक एवं साहित्यिक तत्त्वों का समुचित ज्ञान नहीं हो पाता। भाषा के साहित्यिक प्रयोग से वे अनभिज्ञ बने रहते है और भाषा एवं साहित्य के विविध पक्षों की दृष्टि से उनमें कुशलता नहीं आ पाती।

(v) अनेक भाषिक एवं साहित्यिक योग्यताओं का अनुचित सम्मिश्रण—परम्परागत परीक्षा में प्रश्नों की रचना दोषपूर्ण होती है। विषय सामग्री के ज्ञान की परीक्षा में अभिव्यक्ति-योग्यता की परीक्षा और अभिव्यक्ति की परीक्षा में विषय-सामग्री के ज्ञान की परीक्षा मिश्रित हो जाती है और किसी एक योग्यता का स्वतन्त्र एवं शुद्ध परीक्षण सभव नही हो पाता। इन प्रश्नपत्रों में भाषा एवं साहित्य की विविध योग्यताओं के अनुपात का भी उचित ध्यान नही रह पाता।

(vi) व्यक्तिनिष्ठ परीक्षण—परम्परागत परीक्षा का यह एक सामान्य दोष है और सभी विषयो के परीक्षण में यह देखा जाता है, पर भाषा एवं साहित्य की परीक्षा मे यह और भी अधिक मात्रा में दीख पड़ता है क्योंकि अन्य विषय बहुत कुछ तथ्यात्मक होते हैं जब कि भाषा और साहित्य के परीक्षण में प्रभावपूर्ण भावाभिव्यंजन शैली का विशेष प्रभाव पड़ता है। प्रश्नो की रचना ऐसी (प्रायः निबंधात्मक) होती है कि उनके सुनिश्चित एवं सुनिर्दिष्ट उत्तर नही होते और परीक्षक स्वेच्छापूर्वक अंक दे सकता है।

परीक्षा सम्बन्धी नवीन वैचारिक दृष्टिकोण

परीक्षा सम्बन्धी उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिए शिक्षा विचारकों एवं विशेषज्ञों ने परीक्षा सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया और उसका शिक्षण-योजना एवं पाठ्यपुस्तक से अधिक स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित किया। परम्परागत प्रणाली में परीक्षा का जो एक संकीर्ण एवं सीमित अर्थ बन गया था, उसकी जगह उसे एक व्यापक अर्थ देकर 'मूल्यांकन'[2] शब्द का प्रचलन हुआ और शिक्षा के क्षेत्र में उसे व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया।

मूल्यांकन का अर्थ और महत्त्व—मूल्यांकन मापन[3] का समानार्थी नहीं है। मूल्यांकन का सम्बन्ध शिक्षा के व्यापक उद्देश्यों एवं व्यक्तित्व के परिवर्तनों से है। इसका सम्बन्ध विषय वस्तु की ज्ञानोपलब्धि मात्र से नहीं है, जैसा कि परम्परागत परीक्षा में पाया जाता है। इसका सम्बन्ध तो विषय वस्तु के ज्ञान के साथ-साथ अभिरुचि, व्यक्तित्व के गुण, रुचि, अभिवृत्ति आदि के विकास और परिवर्तन से भी है।

शिक्षण में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है स्पष्ट रूप में उद्देश्य-निर्धारण। यह किसी भी विषय के शिक्षण का आधार है। शिक्षण परिस्थितियाँ और मूल्यांकन इसके सहायक तत्त्व है। वस्तुतः **शिक्षण-उद्देश्य, शिक्षण-परिस्थिति एवं मूल्यांकन** में सह-सम्बन्ध है। परम्परागत शिक्षण-विधि में उद्देश्य की अवहेलना कर दी जाती थी। मूल्यांकन में पाठ्यपुस्तकीय उद्देश्य ही शिक्षक के सामने रहते हैं और उनके अनुरूप ही शिक्षानुभव (शिक्षण परिस्थितियाँ) उपस्थित किए जाते हैं ताकि शिक्षार्थी उन उद्देश्यों को सफलतापूर्वक प्राप्त कर सकें और उपलब्धि आशानुरूप हो। मूल्यांकन से पता चलता है कि उद्देश्य के लिए जो शिक्षण परिस्थितियाँ प्रस्तुत की गई, उनसे छात्रों में अपेक्षित व्यवहार परिवर्तन हो रहे है या नहीं। यदि नही प्राप्त हो रहे हैं तो इनके कारणों का विश्लेषण कर संशोधन प्रस्तुत किए जाते हैं। शिक्षक का यह कार्य है कि वह जाँच करता चले कि किस सीमा तक और किस अनुपात में उद्देश्य की प्राप्ति और अपेक्षित व्यवहार परिवर्तन हो सके हैं।

वस्तुतः अपेक्षित व्यवहार परिवर्तन ही उद्देश्यपूर्ति के लक्षण या प्रमाण हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हमारे पास ये अपेक्षित व्यवहार वे कसौटियाँ हैं जिनसे हम जान सकते हैं कि अमुक उद्देश्य की पूर्ति शिक्षण द्वारा हो सकी है या नही। ये अपेक्षित व्यवहार बालक की भाषिक एवं वैचारिक योग्यताओं के क्रियात्मक रूप हैं जो उसके चिंतन में, भावों में और कार्यो में परिवर्तन ला देते हैं। अतः परीक्षा द्वारा हम योग्यताओं की जाँच करते हैं। इससे परीक्षा साधन रहेगी, साध्य नही और उससे यह भी पता चलेगा कि पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियाँ कहाँ तक

---

2. इवैलुएशन 3.मेज़रमेण्ट।

उपयुक्त हैं। इस प्रकार की परीक्षा से हमारी सम्पूर्ण शिक्षण प्रक्रिया में सुधार हो सकेगा।

इन उद्देश्यों एवं अपेक्षित व्यवहारों के निर्धारण में यह ध्यान रखना पड़ता है कि बालक की आयु और मानसिक परिपक्वता क्या है? पाठ्यचर्या क्या है? उद्देश्य प्राप्तव्य हैं या कोरे आदर्श मात्र? उद्देश्यों की भाषा तो स्पष्ट है? बालक का सामाजिक जीवन, संस्कृति, दर्शन और सामाजिक परिस्थितियाँ क्या हैं? भाषा सीखने का मनोविज्ञान क्या है? सीखने की दृष्टि से वर्ग विशेष के छात्रों की शक्ति और क्षमता क्या है? विशेषज्ञों के अनुभव क्या हैं? इन तत्त्वों को ध्यान में रखकर ही भाषा-शिक्षण के उद्देश्यों एवं अपेक्षित व्यवहारों का निर्धारण होना चाहिए।

अतः मूल्यांकन परीक्षा में ज्ञानार्जन का मापन मात्र नहीं, यह तो एक प्रक्रिया है जिससे जाना जा सके कि—

(i) किस सीमा तक शैक्षणिक उद्देश्यों की प्राप्ति हो सकी है?
(ii) शिक्षण परिस्थिति कितनी प्रभावपूर्ण सिद्ध हुई है?
(iii) बालक का व्यक्तित्व-विकास कितनी सफलता के साथ हो सका और किस अनुपात में?

इस दृष्टि से मूल्यांकन का निम्नांकित महत्त्व है—

(i) मूल्यांकन से शिक्षा के उद्देश्यों के स्पष्टीकरण में सहायता मिलती है।
(ii) मूल्यांकन से शिक्षण विधि और स्वरूप में वांछित परिवर्तन के लिए भी सहायता मिलती है।
(iii) मूल्यांकन पाठ्यक्रम में यथोचित संशोधन और परिवर्तन का आधार प्रस्तुत करता है।
(iv) मूल्यांकन सीखने की क्रिया में सहायक सिद्ध होता है।
(v) छात्रों के निर्देशन के लिए आधार का काम करता है।

मूल्यांकन की विधियाँ—मूल्यांकन की सबसे अच्छी विधि यह है कि अपेक्षित व्यवहार-परिवर्तनों[4] का सही साक्ष्य प्राप्त हो सके। इस कारण प्रत्येक व्यवहार परिवर्तन के लिए विभिन्न प्रकार के मूल्यांकन के तरीकों की आवश्यकता पड़ती है; जैसे,

लिखित परीक्षा, मौखिक परीक्षा, व्यावहारिक परीक्षा, निरीक्षण, साक्षात्कार, छात्र-रचना, अभिलेख (रिकार्ड), डायरी, श्रेणी-निर्धारण क्रियाविधि (Rating procedure), जाँच सूची (Check list)।

---

4. भाषा शिक्षण में अपेक्षित व्यवहार परिवर्तनों का उल्लेख 'भाषा-शिक्षण के उद्देश्य' अध्याय में किया गया है।

भाषा परीक्षा में लिखित एवं मौखिक परीक्षा ही मुख्य विधियाँ हैं। व्यावहारिक परीक्षा भी इन्हीं दो के अन्तर्गत आ जाती है।

उत्तम परीक्षा के गुण—एक अच्छे परीक्षण में निम्नांकित गुणों का होना आवश्यक है—

(i) **विषयनिष्ठता**[5]—प्रश्न की रचना ऐसी हो जिनके मूल्यांकन में विभिन्न परीक्षकों द्वारा देखे जाने पर भी एक ही फल प्राप्त हो और व्यक्तिनिष्ठता[6] न आने पाए। निबन्धात्मक परीक्षाओं मे इस गुण का अभाव पाया जाता है। अतः ऐसे प्रश्न होने चाहिए कि सभी विद्यार्थी उसका एक ही अर्थ निकालें और एक ही उत्तर भी उनसे अपेक्षित हो। इस स्थिति में सभी परीक्षक एक ही अंक देंगे।[7]

(ii) **वैधता**[8]—ऐसे प्रश्न हों कि जिस योग्यता या ज्ञान की परीक्षा लेना हमारा अभीष्ट हो, उसी की परीक्षा हो।[9] जिन उद्देश्यों की पूर्ति को ध्यान में रख कर हम परीक्षा का आयोजन करते है, उनकी पूर्ति का ठीक-ठीक मूल्यांकन हो जाय तभी परीक्षा प्रामाणिक कही जायगी। उदाहरणतः यदि हम किसी भाषा-कौशल की जाँच करना चाहते हैं तो प्रश्न ऐसे हों जो उस भाषा-कौशल की जांच करें, न कि ज्ञान या अभिरुचि की। वैधता का आधार स्पष्ट एवं सुनिर्दिष्ट उद्देश्य पर आधारित प्रश्न है।

(iii) **विश्वसनीयता**[10]—विश्वसनीयता का अर्थ है कि एक जाँचपत्र कई बार दिए जाने पर भी फल में एकरूपता बनी रहे।[11] जिस परीक्षा में जिस हद तक मापन सम्बन्धी एकरूपता बनी रहती है, वह परीक्षा उस हद तक विश्वसनीय है। विश्वसनीयता के लिए आवश्यक है कि—

प्रश्नोत्तर की जाँच में वस्तुनिष्ठता रहे, व्यक्तिपरकता के लिए गुंजायश न रहे। निबन्धात्मक प्रश्नो में यह वस्तुनिष्ठता संभव नही क्योंकि वे प्रश्न सुनिर्दिष्ट नही होते और उद्देश्य विशेष पर आधारित नहीं होते, अतः भिन्न-भिन्न परीक्षक भिन्न-भिन्न अंक देते हैं।

---

5. Objectivity 6. Subjectivity
7. A perfectly objective measuring instrument must yield the same measurement or scores in the hands of all competent peopls—Rinsland. 8. Validity
9. "By validity of a test we mean the effectiveness with which a test measures what it intends to measure." —Ross
10. Reliability, 11. Reliability of a test means the consistency with which it measures what it intends to measure."—Ross.

जिस प्रश्नपत्र में प्रश्नों की संख्या जितनी ही अधिक होगी, वे उतने ही अधिक विश्वसनीय होगे। निबन्धात्मक प्रश्न परीक्षा के सीमित समय के कारण अधिक नही हो सकते। अतः वस्तुनिष्ठ प्रश्नों की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि उतने ही समय में अनेक वस्तुनिष्ठ प्रश्न दिए जा सकते हैं।

(iv) विभेदकारिता[12]–परीक्षा के आधार पर तेज, कमजोर और साधारण प्रकार के छात्रों का वर्गीकरण संभव हो। परीक्षण का एक मुख्य कार्य बालकों की व्यक्तिगत विभिन्नताओं का मापन करना है।

(v) व्यावहारिकता[13]–प्रश्नपत्र ऐसे हों जो स्कूल के वातावरण, समय सारिणी और परीक्षा की कालावधि आदि के अनुरूप व्यावहारिक सिद्ध हों और कोई कठिनाई न हो। समय, शक्ति, श्रम, व्यय, व्यवस्था आदि की दृष्टि से परीक्षा लेना सुगम और सुलभ हो। प्रश्न की भाषा ऐसी हो जिन्हें छात्र आसानी से समझ लें और प्रश्नकर्त्ता के वास्तविक उद्देश्य को समझ जायँ।

भाषा परीक्षा एवं निबन्धात्मक प्रश्न

मूल्यांकन सम्बन्धी उपर्युक्त सिद्धान्तों एवं लक्षणों को देखते हुए परम्परागत परीक्षा प्रणाली में प्रयुक्त निबन्धात्मक प्रश्नों के दोष हम सहज ही समझ सकते हैं। निबन्धात्मक प्रश्नों में उपर्युक्त गुणों का अभाव पाया जाता है। संक्षेप में ये दोष निम्नांकित हैं—

(i) प्रश्नकर्त्ता का उद्देश्य स्पष्ट नहीं हो पाता कि वह ठीक-ठीक क्या जाँचना चाहता है। इससे परीक्षण की वैधता नष्ट हो जाती है।

(ii) निबन्धात्मक प्रश्नो के कारण बालकों में अधिकाधिक कण्ठस्थ करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है।

(iii) इन प्रश्नों द्वारा सम्पूर्ण पाठ्यविषय को समावृत्त नहीं कर पाते, फलतः विद्यार्थी संपूर्ण पाठ्यविषय का अध्ययन न करके कुछ चुने हुए अंशों का ही अध्ययन करते है और परीक्षा में यथेष्ट सफलता भी प्राप्त कर लेते हैं। इसी कारण परीक्षा के पहले प्रश्नपत्रों के सम्बन्ध में नाना प्रकार के अनुमान या अटकल लगाए जाने लगते हैं।

(iv) इन प्रश्नों के उत्तर की कोई सीमा नहीं होती। जो विद्यार्थी जितना जानता है उतना लिखता है अतः विश्वसनीयता का अभाव पाया जाता है।

(v) प्रश्नों की भाषा इस ढंग की होती है कि विभिन्न परीक्षक उनके उत्तर की जाँच विभिन्न दृष्टिकोण से करते हैं। परीक्षकों के सामने प्रश्नोत्तरों के नमूने भी नही होते है, अतः अंक देने में मनमानापन चलता रहता है।

---

12. Discriminallon 13. Practicability

उदाहरण के लिए कतिपय निम्नांकित निवन्धात्मक प्रश्नों को देखिए :—

1–'साहित्य की महत्ता' निवन्ध के आधार पर वताइए कि मानव जीवन में साहित्य का महत्त्व क्या है ?

2–प्रेमचन्द की कहानी कला की विशेषताएँ लिखिए।

3–"वाल्य स्वभाव का जैसा सजीव एवं स्वाभाविक वर्णन सूरदास ने किया है वैसा और किसी कवि ने नहीं।" इन कथन की सार्थकता सोदाहरण सिद्ध कीजिए।

इन प्रश्नों पर विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि इनका कोई सुनिर्दिष्ट उद्देश्य स्पष्ट नही है। यह पता नहीं चलता कि प्रश्नकर्त्ता किस योग्यता या किन योग्यताओं की चाँच करना चाहता है। अपेक्षित उत्तर की भी कोई सीमा नहीं। परीक्षक अपने-अपने दृष्टिकोण एवं मतानुसार इनकी जांच करने के लिए स्वतन्त्र हैं और निश्चित ही उनके अंशो में विभिन्नता होगी। अतः इन प्रश्नों में वस्तुनिष्ठता, वैधता, प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयता का अभाव है।

निवन्धात्मक प्रश्नों के ये दोष रहते हुए भी भाषा की परीक्षा में हम उनका सर्वथा वहिष्कार नहीं कर सकते क्योंकि इनकी कुछ विशेषताएँ भी हैं। वालकों की भाषा-शक्ति, अभिव्यक्ति-क्षमता, मौखिक विचार एवं समीक्षात्मक शक्ति, विषय वस्तु को अपने ढंग से संगठित करके प्रस्तुत करने की कला आदि की परीक्षा इन प्रश्नों द्वारा ही हो पाती है जो अन्य प्रकार के प्रश्नों (वस्तुनिष्ठ अथवा लघूत्तरात्मक) द्वारा संभव नहीं।

अतः निवन्धात्मक प्रश्नों को पूर्णतः हटाने की जगह उनकी रचना में सुधार करने की आवश्यकता है। इस दृष्टि से विशेषज्ञों का सुझाव है कि उत्तम परीक्षा को ध्यान में रखकर दो प्रकार के प्रश्न वनाए जा सकते हैं—

(i) विस्तृत उत्तर वाले निवन्धात्मक प्रश्न[14]–ऐसे प्रश्नों में स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के लिए कुछ छूट अवश्य रहती है, पर प्रश्नों के उद्देश्य स्पष्ट रहते हैं और उत्तर की सीमा भी वहुत अंशों तक निर्धारित रहती है जिससे मूल्यांकन करने में भी कुछ वस्तुनिष्ठता आ जाती है; जैसे 'साहित्य की महत्ता' पाठ पर ही आधारित प्रश्न—

"उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए कि साहित्य सामाजिक कुरीतियों, निरंकुश शासन सत्ता और विकृत धार्मिक प्रथाओ के विरुद्ध विद्रोह का भाव जगाने का वहुत वड़ा साधन रहा है।"

इस प्रश्न में साहित्य के व्यापक महत्त्व के विस्तृत वर्णन की छूट है, पर उद्देश्य सुनिर्दिष्ट हैं, उत्तर की सीमा भी वहुत कुछ निर्धारित है और मूल्यांकन में वहुत हद तक वस्तुनिष्ठता आ सकती है।

---

14. Long answered Essay type questions

(ii) लघूत्तरात्मक अथवा संक्षिप्त उत्तर वाले प्रश्न[15]—निवन्धात्मक प्रश्नों के दोषों का निवारण संक्षिप्त उत्तर वाले प्रश्नों से भी वहुत कुछ हो जाता है। इन लघूत्तरात्मक प्रश्नों की सबसे वड़ी उपयोगिता यह है कि सम्पूर्ण पाठ्यविषय पर आधारित प्रश्न दिए जा सकते हैं, उनके उत्तर लिखने में वहुत कम समय लगता है, उत्तर निश्चित से हैं और वहुत हद तक वस्तुनिष्ठता और विश्वसनीयता भी है क्योंकि विभिन्न परीक्षकों द्वारा जाँचने पर अंकों में अन्तर होने की गुंजायश वहुत ही कम है।

उदाहरण के लिए 'साहित्य की महत्ता' पाठ पर ही आधारित लघूत्तरात्मक प्रश्न इस प्रकार पूछे जा सकते हैं—

1–लेखक ने साहित्य की क्या परिभाषा दी है ?

2–अपनी भाषा एवं साहित्य के विकास के पक्ष में लेखक द्वारा प्रस्तुत किन्हीं दो तर्कों का उल्लेख कीजिए।

3–साहित्य को किन वातों का निर्णायक कहा गया है ?

4–किस प्रकार की जाति को असभ्य एवं अपूर्ण कहा गया है ?

5–किस भाषा को रूपवती भिखारिन की संज्ञा दी गई है ?

6–साहित्यिक ग्रन्थों में किन परिस्थितियों का प्रतिविम्व दिखाई पड़ता है ? केवल तीन का उल्लेख कीजिए।

इन प्रश्नों के उत्तर वहुत ही संक्षिप्त हैं, निश्चित से हैं और जाँचने में वस्तुनिष्ठता वनी रहेगी।

भाषा-परीक्षा एवं वस्तुनिष्ठ प्रश्न[16]

केवल निवन्धात्मक एवं लघूत्तरात्मक प्रश्नों से ही भाषा एवं साहित्य की परीक्षा उपर्युक्त मूल्यांकन सिद्धांतों की दृष्टि से पूर्णतः वैध एवं विश्वसनीय नहीं हो सकती और न सम्पूर्ण पाठ्यविषय को वह समावृत्त ही कर सकती है। अतः शिक्षा विशेषज्ञों ने वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के समावेश पर वल दिया है। नवीन मूल्यांकन प्राविधि में इन प्रश्नों को विशेष महत्त्व दिया जाता है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर में स्वतन्त्र भाव या विचार प्रकाशन की छूट नहीं रहती। प्रश्नोत्तरों के विकल्प दिए रहते हैं, उनमें से सही उत्तरों को चिह्नित करना होता है। अतः उत्तर देने में अत्यल्प समय लगता है।

इन प्रश्नोत्तरों की जाँच में भी वहुत कम समय लगता है। प्रश्नोत्तरों की कुंजी वनी रहती है, उसके अनुसार जाँचना पड़ता है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों का विशेष लाभ यह है कि पाठ्यविषय को अधिक से अधिक समावृत्त कर सकते है। जिस योग्यता की परीक्षा लेना चाहते हैं उसी से सम्वन्धित प्रश्न की रचना हो सकती है, दूसरी योग्यताओं का मिश्रण नहीं होता।

---

15. Short answer type questions 16. Objective type tests

भाषा और साहित्य के मूल्यांकन में ऐसे प्रश्नों का प्रयोग सफलता के साथ किया जा सकता है, यद्यपि अभिव्यक्ति सम्बन्धी योग्यता की जांच के लिए निबन्धात्मक प्रश्न भी बने रहेंगे। भाषिक तत्त्वों का ज्ञान, वर्तनी, शब्दार्थ, शब्द रचना, शब्द प्रयोग, वाक्य रचना, वाक्य प्रयोग आदि तथा वैचारिक सामग्री में तथ्य एवं सूचना आदि के ज्ञान की परीक्षा के लिए वस्तुनिष्ठ प्रश्न बहुत उपयोगी हैं।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के विविध रूप—वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के दो रूप मुख्य हैं :—

(क) अभिज्ञानात्मक पद[17]

(ख) प्रत्यास्मरणात्मक पद[18]

(क) अभिज्ञानात्मक प्रश्नों की रचना कई रूपों में हो सकती है—

1—बहुविकल्प पद[19]—ये प्रश्न कथन के रूप में पूछे जाते हैं। प्रश्न के चार-पाँच उत्तर दिये रहते हैं जिनमें से सही उत्तर को चुनना या चिह्नित करना होता है। उत्तर का चुनाव भी दो ढंग का होता है— (i) ऐसा प्रश्न जिसके दिए हुए अनेक उत्तरों मे से एक ही सही उत्तर रहता है और (ii) ऐसा प्रश्न जिसके दिए हुए अनेक उत्तरों में से सर्वोपयुक्त उत्तर चुनना होता है।

(i) अनेक उत्तरों में एक ही सही उत्तर वाला प्रश्न——

प्रश्न— रामचरितमानस किस भाषा में लिखा गया है। सही उत्तर के वर्णक्रमांक को चिह्नित कीजिए—

(क) ब्रज (ख) अवधी (ग) खड़ी बोली (घ) राजस्थानी

(ii) अनेक उत्तरो में से सर्वोपयुक्त उत्तर वाला प्रश्न—

प्रश्न— लक्ष्मण-परशुराम संवाद के आधार पर लक्ष्मण की जिस चारित्रिक विशेषता को आप सर्वोपयुक्त समझते हो; उसे ✓ चिह्नित कीजिए—

(क) लक्ष्मण बड़े चिड़चिड़े और क्रोधी थे।

(ख) उनमें अपनी शक्ति पर बड़ा गर्व था।

(ग) उनमें बाल्यावस्था की चंचलता और विनोदप्रियता भरी हुई थी।

(घ) वे बड़े दुस्साहसी और उद्धत स्वभाव के थे।

(ङ) उनमे अपना जातीय अभिमान कूट-कूट कर भरा हुआ था।

2—सत्यासत्य या विकल्प प्रत्युत्तर पद[20]—ऐसे प्रश्नोत्तर लिखे रहते हैं जिनका उत्तर सत्य/असत्य अथवा हाँ/नहीं के रूप में देना होता है।

प्रश्न— तुलसीदास के सम्बन्ध में नीचे कुछ कथन दिए गए है और उनके सामने सत्य-असत्य लिखा हुआ है। यदि कथन सही है तो असत्य को काट दीजिए और यदि कथन गलत है तो सत्य को काट दीजिए।

---

17. Recognition items 18. Recall items

19. Multiple choice items

20. True-False or Alternative Response

(क) उनकी उपासना माधुर्यभाव की थी। सत्य/असत्य
(ख) उन्होंने राम के लोकरक्षक रूप को अधिक महत्त्व दिया। सत्य/असत्य
(ग) उनके पद साहित्य लहरी में संकलित हैं। सत्य/असत्य
(घ) उनकी रचनाएँ केवल व्रज भाषा में हैं। सत्य/असत्य
(ङ) उनकी भक्ति दास्य भाव की थी। सत्य/असत्य
(च) उन्होंने अपनी रचनाओं में सामाजिक मर्यादा का सदा ध्यान रखा। सत्य/असत्य
(छ) उन्होंने वर्णाश्रम धर्म का घोर विरोध किया। सत्य/असत्य

3–मिलान पद[21]–ऐसे प्रश्नों में दो स्तम्भों में दिए गए बिना क्रम के कथनों या शब्दों का सही मिलान करना पड़ता है।

प्रश्न— नीचे पहले स्तम्भ में कुछ विशेषण और दूसरे स्तम्भ मे विशेष्य बिना क्रम के लिख गए हैं। विशेष्य के पहले उपयुक्त विशेषण का क्रमांक लिखिए—

विशेषण	विशेष्य
1–घमासान	पंडित
2–घनघोर	पवन
3–सूचीभेद्य	युद्ध
4–तीक्ष्ण	घटा
5–प्रकाण्ड	धार
6–प्रचण्ड	अंधकार

4–वर्गीकरण अथवा विभेदीकरण पद[22]–इसमें भी दो प्रकार के प्रश्न होते है।

(i) दिए गए अनेक शब्दों या वाक्यों में विजातीय को चिह्नित करना (ii) दिए गए उत्तरो को अपेक्षित वर्गो में लिखना।

(i) नीचे प्रत्येक पंक्ति में पाँच शब्द लिखे हैं जिनमें चार एक वर्ग के है। जो उस वर्ग का नही है, उसे रेखाकित करो—

1–ने, को, से, तुम, पर
2–यश-अपयश, सुख-दुःख, आचार-विचार, हर्ष-विषाद, ऊँच-नीच
3–वसुधा, अचला, वसुन्धरा, भूधर, धरा
4–सूरसागर, साकेत, पद्मावत, जायसी, रामचरितमानस
5–उपमा, रूपक, शृंगार, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत

(ii) नीचे कबीर, सूर और तुलसी से सम्बन्धित कुछ कथन दिए गए हैं। प्रत्येक कथन के सामने कोष्ठक में उस कथन से सम्बन्धित कवि का नाम लिखिए—

---

21. Matching items 22. Discriminatory items

1. उन्होंने श्रीकृष्ण के लोकरंजक रूप को ही अपनी कविता का विषय बनाया । [ ]
2. वे निर्गुण ब्रह्म के उपासक कवि थे । [ ]
3. उनकी भक्ति मुख्यतः दास्य भाव की थी । [ ]
4. शृंगार और वात्सल्य की दृष्टि से वे अप्रतिम कवि थे । [ ]
5. उनका व्रज और अवधी पर समान अधिकार था । [ ]
6. उन्होंने मूर्तिपूजा तथा कर्मकाण्ड का घोर विरोध किया । [ ]
7. उन्होने अपने आराध्य के लोकरक्षक एवं लोकरंजक दोनों रूपो का वर्णन किया । [ ]
8. उनकी उपासना माधुर्य भाव की थी । [ ]
9. उनकी भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् खिचड़ी भाषा थी । [ ]

(ख) प्रत्यास्मरण पद[23]—इस प्रकार के प्रश्नों के भी दो रूप हैं—

1–सरल प्रत्यास्मरण पद[24]—एक छोटी सा प्रश्न पूछा जाता है जिसका उत्तर भी संक्षिप्त (प्रायः एक या आधे वाक्य में या एक शब्द में) होता है ।

प्रश्न—नीचे कुछ ग्रन्थो के नाम लिखे गए हैं । प्रत्येक के सामने उसके रचयिता के नाम लिखिए—

1. पद्मावत ——————
2. गोदान ——————
3. साकेत ——————
4. अजातशत्रु ——————
5. चितामणि ——————
6. कामायनी ——————

2–पूर्तिपद[25]—इस प्रकार के प्रश्नों में ऐसे कथन दिए जाते हैं जिनमें एक या दो शब्दों के स्थान रिक्त रहते है और छात्र उपयुक्त शब्दो द्वारा (यदि शब्द दिए गए हैं तो उनमें से उपयुक्त शब्द चुनकर और यदि नहीं दिए गए हैं तो स्वयं सोचकर) उनकी पूर्ति करते है ।

1. हिन्दी गद्य साहित्य के प्रवर्त्तकों में......................का नाम अग्रणी बना रहेगा ।
2. हिन्दी उपन्यास जगत में प्रेमचन्द को...............के नाम से विभूपित किया जाता है ।
3. सुमित्रानन्दन पंत को उनकी रचना................पर ज्ञानपीठ का एक लाख का पुरस्कार मिला ।

23-Recall items 24-Simple recall items 25-Completion items

4. छायावाद के सर्वप्रमुख कवियों में..............के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

5. रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ..............थे।

भाषा में तीनों प्रकार के प्रश्नों की आवश्यकता

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के और भी रूप हो सकते हैं। किन्तु इन्हीं प्रश्नों से भाषा की सभी योग्यताओं की जाँच संभव नहीं। इन प्रश्नों में सबसे बड़ी कमी यह है कि बालकों की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति, भाषा-प्रयोग, समीक्षात्मक शक्ति आदि का परीक्षण नहीं हो पाता। अतः हमें भाषा सम्बन्धी सभी प्रकार की योग्यताओं के लिए उपर्युक्त तीनों प्रकार के प्रश्नों—निबन्धात्मक, लघूत्तरात्मक एवं वस्तुनिष्ठ—को रखना होगा। केवल एक ही प्रकार के प्रश्नों का आग्रह उचित नहीं। प्रश्नों का रूप मुख्य बात नहीं है, मुख्य बात तो यह है कि वे प्रश्न उन लक्षणों एवं व्यवहारों की जांच करने की दृष्टि से उपयुक्त हैं या नहीं, जो भाषा-शिक्षण द्वारा बालकों में प्रकट होने चाहिए। अतः तीनों प्रकार के प्रश्नों से समन्वित प्रश्नपत्र की रचना हो सकती है जिससे परीक्षा की निश्चित अवधि में भाषा-योग्यता के अधिक से अधिक अंगों और प्रत्यंगों का परीक्षण हो सके और वह परीक्षण निष्पक्ष, शुद्ध और विश्वसनीय हों।

भाषा-परीक्षा सम्बन्धी विचारणीय बातें

परीक्षा सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन एवं मूल्यांकन सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोणों के आधार पर भाषा की सम्यक् परीक्षा की दृष्टि से निम्नांकित बातें विचारणीय है—

1–भाषा शिक्षण के उद्देश्यों एवं अपेक्षित व्यवहार परिवर्तनों का स्पष्ट एवं सुनिर्दिष्ट निरूपण—मूल्यांकन के अर्थ और महत्त्व पर विचार करते समय इसकी विवेचना की जा चुकी है कि मूल्यांकन प्रक्रिया का सबसे पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण आधार है–उस विषय के शैक्षणिक उद्देश्यों एवं अपेक्षित व्यवहारों का निर्धारण।

भाषा-शिक्षण के उद्देश्यों एवं अपेक्षित व्यवहारों का भी विस्तृत उल्लेख 'भाषा-शिक्षण के उद्देश्य' अध्याय में हो चुका है। यहाँ केवल यही संकेत यथेष्ट है कि स्पष्ट उद्देश्यों एवं अपेक्षित व्यवहारों के निरूपण पर ही विश्वसनीय एवं वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन निर्भर है।

2–अभीष्ट उद्देश्यों एवं अपेक्षित व्यवहारों को दृष्टि में रखकर प्रश्नपत्रों की रचना—जिन योग्यताओं की जाँच करना हमारा अभीष्ट हो, उन्हीं की दृष्टि से प्रश्नपत्र बनाने चाहिए। भाषा-शिक्षण के अनेक एवं बड़े व्यापक उद्देश्य है जैसे भाषिक तत्त्वों का ज्ञान, विविध भाषिक कौशल, विषय वस्तु का बोध, अभिव्यक्ति, समीक्षा आदि। इनसे सम्बन्धित जिन योग्यताओं की जाँच करना हमारा लक्ष्य है, उन्हीं पर आधारित प्रश्न होने चाहिए।

3–जाँच की दृष्टि से विविध योग्यताओं के उचित अनुपात का निर्धारण—प्रश्नपत्र रचयिता को यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि किन योग्यताओं को कितना महत्त्व देना है। भाषिक तत्त्वों पर प्राइमरी कक्षाओं में विशेष बल रहता है। माध्यमिक कक्षाओं में इनके साथ वैचारिक तत्त्वों–बोध, अभिव्यक्ति आदि पर भी बल दिया जाता है। उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में स्वतंत्र अभिव्यक्ति एवं समीक्षा का भी महत्त्व बढ़ जाता है। अतः प्रत्येक स्तर पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इन्हें किस अनुपात में रखा जाय। वस्तुतः विविध उद्देश्यों के सापेक्षिक महत्त्व को समझकर ही यह अनुपात निर्धारित करना चाहिए।

4–पाठ्यचर्या के अधिकाधिक अंशों पर आधारित प्रश्नों की रचना—जहाँ तक सम्भव हो, पाठ्यचर्या के अधिक से अधिक भाग पर प्रश्न बनाए जायँ, पर प्रश्न इतने भी न हों कि बालक परीक्षा की अवधि (प्रायः 3 घण्टे) में उन्हे कर ही न सके।

5–विविध योग्यताओं की दृष्टि से प्रश्नों के रूप-निर्धारण—यह लिखा जा चुका है कि भाषा परीक्षण में तीनों प्रकार के प्रश्नों—निबंधात्मक, लघूत्तरात्मक एवं वस्तुनिष्ठ–का महत्त्व है। अतः यह निश्चय कर लेना आवश्यक होता है कि किस योग्यता की परीक्षा के लिए निबंधात्मक प्रश्न उपयुक्त होगे और किस योग्यता की परीक्षा के लिए लघूत्तरात्मक या वस्तुनिष्ठ। सामान्यतः स्वतन्त्र अभिव्यक्ति एवं समीक्षा की दृष्टि से निबंधात्मक प्रश्न, तथा भाषिक तत्त्वों एवं तथ्यात्मक ज्ञान के परीक्षण के लिए वस्तुनिष्ठ प्रश्न। बोध सम्बन्धी परीक्षण के लिए लघूत्तरात्मक प्रश्न अधिक उपयुक्त होते हैं। पूरा प्रश्नपत्र तीन भागों में बाँट देना अच्छा होता है—(क) वस्तुनिष्ठ प्रश्न (ख) लघूत्तरात्मक (ग) निबंधात्मक।

6–अंकों का निर्धारण–(i) विविध योग्यताओं की दृष्टि से
(ii) तीनों प्रकार के प्रश्नों की दृष्टि से

(i) विविध योग्यताओं की दृष्टि से—यह आवश्यक होता है कि विविध योग्यताओं के सापेक्षिक महत्त्व की दृष्टि से उन पर अंक निर्धारित कर लिये जायँ। विषय वस्तु का बोध, अभिव्यक्ति, भाषिक तत्त्वों का ज्ञान, प्रयोग आदि पर अंक सुनिर्धारित कर लेने से परीक्षण एकांगी नहीं हो पाता।

(ii) तीनों प्रकार के प्रश्नों की दृष्टि से—यह विचार करना भी आवश्यक होता है कि किस प्रकार के प्रश्नों पर कितने अंक रखे जायँ। सामान्यतः 40 प्रतिशत निबंधात्मक, 30 प्रतिशत लघूत्तरात्मक और 30 प्रतिशत वस्तुनिष्ठ प्रश्नों का विभाजन समीचीन माना जाता है। राजस्थान उच्चतर माध्यमिक परीक्षा के 50 अंकों के प्रश्नपत्र में 15 अंक वस्तुनिष्ठ प्रश्नों पर, 20 अंक लघूत्तरात्मक और 15 अंक निबंधात्मक प्रश्नों पर रखे जाते हैं।

लघूत्तरात्मक एवं निबंधात्मक प्रश्नों की रचना भी प्रतिबंधित कर दी जाती है, कभी शब्दों की सीमा, पंक्तियों की सीमा, विचार-बिन्दुओं की सीमा बांधकर

इसका उद्देश्य भी मूल्यांकन को अधिकाधिक शुद्ध, विश्वसनीय और वस्तुनिष्ठ बनाना होता है।

7–प्रश्नों की भाषा–सरल, स्पष्ट एवं बोधगम्य हो। प्रश्न से एक ही अर्थ या आशय प्रकट होता है जिससे सभी बालक अपेक्षित अभीष्ट उत्तर ही लिखें।

8–प्रश्नों में कठिनाई-क्रम का ध्यान—कठिन, सामान्य दोनों प्रकार के प्रश्न हों जिससे प्रतिभाशाली, सामान्य, मन्द छात्रों का वर्गीकरण हो सके।

9–विकल्प— प्रायः प्रश्नपत्रों मे विकल्प देने की प्रथा है। इसे हटाना चाहिए और यदि देना ही है तो एक ही विषय अथवा योग्यता पर विकल्प दिया जाय। विभिन्न योग्यता सम्बन्धी विकल्प देने से बालक सम्पूर्ण पाठ्यचर्या का अध्ययन न कर चुने हुए अंशों का ही अध्ययन करने लगते हैं।

10–मौखिक परीक्षा का समावेश—भाषा की परीक्षा सामान्यतः लिखित रूप में ही प्रचलित है, पर भाषा शिक्षण के उद्देश्यों एवं अपेक्षित व्यवहारों को देखते हुए **मौखिक परीक्षा** भी आवश्यक प्रतीत होती है।

मौखिक परीक्षा का प्रचलन न होने से भाषा सम्बन्धी अनेक योग्यताओं की परीक्षा नहीं हो पाती, जैसे मौखिक रूप से व्यक्त भावों एवं विचारों को सुनकर समझना, मौखिक भाव प्रकाशन, उच्चारण आदि। इनके परीक्षण के लिए यह आवश्यक है कि कम से कम माध्यमिक कक्षाओं में मौखिक परीक्षा की व्यवस्था अवश्य की जाय।

सुनकर समझने की योग्यता की परीक्षा के लिए पाठ्यपुस्तक से अथवा समान स्तर की अन्य सहायक पुस्तकों से चुने हुए अंश पढ़कर सुनाना अथवा कोई संक्षिप्त वक्तव्य प्रस्तुत करना और फिर इनके आधार पर छात्रों से प्रश्नों के उत्तर पूछना, सारांश पूछना। ये उत्तर मौखिक या लिखित रूप दोनों रूपों में हो सकते है। छठी, सातवी कक्षा तक श्रुतलेख का भी आश्रय लिया जा सकता है।

मौखिक भाव प्रकाशन की योग्यता की परीक्षा के लिए छात्रों को किसी विषय पर एक निश्चित समय तक भाषण देने के लिए कहा जा सकता है। भाषण के लिए उपयुक्त विषयों का चुनाव आवश्यक है जो उनकी रुचि एवं कक्षा के ज्ञान स्तर के अनुकूल हो। ऐसे विषयों का उल्लेख मौखिक रचना के अध्याय में किया जा चुका है।

पठित विषयों के सम्बन्ध में भी वार्तालाप, विचार-विमर्श आदि द्वारा मौखिक भावाभिव्यक्ति की परीक्षा हो सकती है। बोलने में स्वाभाविकता, ध्वनिस्पष्टता, आरोह-अवरोह, उच्चारण की शुद्धता, स्वराघात, विषय प्रतिपादन का ढंग, क्रमबद्धता, प्रवाह, शुद्ध एवं प्रांजल भाषा आदि अनेक बातें देखनी चाहिए।

सारांश

परीक्षा हमारी शिक्षा-योजना एवं प्रक्रिया का अपरिहार्य अंग है। शिक्षार्थी, शिक्षक एवं शिक्षा संस्था तीनों के प्रति हम अपनी धारणा का निर्धारण परीक्षा के

आधार पर करते है। पर परम्परागत परीक्षा प्रणाली में परीक्षा साधन न रहकर साध्य बन गई है। अतः उसमें सुधार लाने की आवश्यकता पड़ी। भाषा की परीक्षा की दृष्टि से उस परीक्षा प्रणाली में अनेक दोष हैं—अनेक भाषिक तत्त्वों के परीक्षण की उपेक्षा, अनेक भाषा कौशलों के परीक्षण की उपेक्षा, साहित्यिक सौंदर्य तत्त्वों के बोध, अनुभूति एवं अभिरुचि के परीक्षण की उपेक्षा, विषय वस्तु पर अत्यधिक महत्त्व, अनेक भाषिक एवं साहित्यिक योग्यताओं का अनुचित सम्मिश्रण, व्यक्तिनिष्ठ परीक्षण।

परम्परागत परीक्षा के दोष निवारण के लिए शिक्षा विशेषज्ञों ने नवीन मूल्यांकन प्रक्रिया का प्रवर्तन किया और मूल्यांकन को व्यापक अर्थ प्रदान किया, उसका सम्बन्ध शिक्षण के उद्देश्यों, परिस्थितियों एवं अपेक्षित व्यवहारों से जोड़ा।

मूल्यांकन में निम्नांकित गुणों का होना आवश्यक है—

विषयनिष्ठता, वैधता, विश्वसनीयता, विभेदकारिता, व्यावहारिकता। इनकी दृष्टि से प्रश्नों की रचना में भी परिवर्तन हुए और लघूत्तरात्मक एवं विषयनिष्ठ प्रश्नों की रचना पर बल दिया गया।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के रूप–(1) **अभिज्ञानात्मक पद**—(i) बहुविकल्प पद, (ii) सत्यासत्य या विकल्प प्रत्युत्तर पद, (iii) मिलान पद, (iv) वर्गीकरण अथवा विभेदीकरण पद। (2) **प्रत्यास्मरणात्मक पद**–(i) सरल प्रत्यास्मरण पद (ii) पूर्ति पद।

भाषा के प्रश्नपत्र में निम्नांकित बातें विचारणीय हैं—(i) उद्देश्यों एवं अपेक्षित व्यवहार परिवर्तनों का निर्धारण (ii) अभीष्ट उद्देश्यों की दृष्टि से प्रश्न पत्र की रचना (iii) विविध योग्यताओं का उचित अनुपात (iv) पाठ्यचर्या के अधिकतम अंश पर आधारित प्रश्नों की रचना (v) विविध योग्यताओं की दृष्टि से प्रश्नों के रूप निर्धारण (vi) अंकों का निर्धारण (vii) प्रश्नों की भाषा (viii) प्रश्नों में कठिनाई क्रम का ध्यान (ix) विकल्प (x) मौखिक परीक्षा का समावेश।

प्रश्न

1. शिक्षा-व्यवस्था में परीक्षा का स्थान और महत्त्व निर्धारित कीजिए।
2. परम्परागत परीक्षा प्रणाली के दोषों का उल्लेख कीजिए।
3. नवीन मूल्यांकन प्रक्रिया के अर्थ और महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
4. निबन्धात्मक प्रश्नो के क्या दोष है? उनका निवारण किस प्रकार संभव है?
5. लघूत्तरात्मक एवं वस्तुनिष्ठ प्रश्नों द्वारा परीक्षा में किन दृष्टियों से सुधार हुआ है?

6. मूल्यांकन का शिक्षण और पाठ्यचर्या से क्या सम्बन्ध है ?

7. उचित मूल्यांकन के लिए शिक्षण के उद्देश्यों एवं अपेक्षित व्यवहार परिवर्तनों का स्पष्ट निर्धारण क्यों आवश्यक है ?

8. मूल्यांकन में किन गुणों का होना आवश्यक है ?

9. निम्नांकित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

(i) परीक्षण में विश्वसनीयता और वैधता

(ii) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(iii) लघूत्तरात्मक प्रश्न

10. वस्तुनिष्ठ प्रश्नों की रचना किन-किन रूपों में हो सकती है ? सोदाहरण उत्तर लिखिए।

11. भाषा-परीक्षा में प्रश्नपत्र रचना की दृष्टि से किन-किन बातों का विचार करना आवश्यक है ?

12. भाषा-परीक्षा में आप मौखिक परीक्षा का समावेश क्यों चाहते हैं ?

24

आधुनिक शिक्षण प्रणालियाँ और भाषा-शिक्षण

[भाषा-शिक्षण एवं किंडर गार्टन प्रणाली, भाषा-शिक्षण एवं माण्टेसरी प्रणाली, भाषा-शिक्षण एवं प्रोजेक्ट प्रणाली, भाषा-शिक्षण एवं डाल्टन योजना, भाषा-शिक्षण एवं निर्दिष्ट कार्य विधि, भाषा-शिक्षण एवं निरीक्षित स्वाध्याय विधि, भाषा-शिक्षण एवं खेल प्रणाली, भाषा-शिक्षण और बेसिक शिक्षा]

"शिक्षकों द्वारा बालक को अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास का अवसर प्रदान करना चाहिए। शिक्षा का कार्य प्रतिबंध नहीं, वरन् पथ-प्रदर्शन है। शिक्षा द्वारा बालक के दैवी गुणों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।"

—फ्रोबेल

बालकों के लिए सर्वोत्तम शिक्षा प्रणाली वही मानी जाती है जिसमें उन्हें क्रिया एवं खेल के माध्यम से स्वतन्त्रतापूर्वक आत्म शिक्षा, आत्म प्रकाशन एवं आत्म विकास का और स्वतंत्र एवं स्वाभाविक व्यक्तित्व के निर्माण का अवसर मिले। इस प्रकार की शिक्षा द्वारा बालकों में सीखने के प्रति रुचि, लगन एवं निष्ठा बनी रहती है और उनमें किसी प्रकार का प्रतिरोध या कुण्ठा नहीं उत्पन्न होने पाती। इस प्रकार की शिक्षा में शिक्षक का स्थान एक पथ-प्रदर्शक का होता है, शासक या नियंत्रणकर्त्ता का नहीं। वह प्रेम और सहानुभूति से काम लेता है और शिक्षण प्रक्रिया में शिक्षार्थियों को सक्रिय रूप से भाग लेने और आत्म-प्रकाशन का पूरा अवसर प्रदान करता है। वह शिक्षण-क्रिया को बालकों के लिए अधिकाधिक रोचक, प्रिय और सुग्राह्य बनाने का प्रयत्न करता है। शिक्षा मनोविज्ञान ने इस शिक्षण प्रक्रिया का विशेष दिशा-निर्देशन किया है और इन सिद्धान्तों के आधार पर अनेक आधुनिक शिक्षण प्रणालियों का प्रवर्त्तन हुआ है। यहाँ उन प्रणालियों का वर्णन करना उद्देश्य न होकर भाषा-शिक्षण के क्षेत्र में उनके योग-दान का संक्षिप्त उल्लेख करना ही हमारा प्रतिपाद्य विषय है।

भाषा शिक्षण और किंडर गार्टन प्रणाली

किंडर गार्टन प्रणाली एक शिशु शिक्षण-प्रणाली है जिसका प्रवर्त्तन फ्रेडरिक विल्हम ऑगस्त फ्रोबेल ने किया था। उसने 'एजुकेशन आफ मैन' नामक पुस्तक में अपने शिक्षण-सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। अनेक शैक्षणिक प्रयोगों एवं

अनुभवों के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि शिशुओं के सम्मुख व्यवस्थित रूप से ऐसी शिक्षण-सामग्री प्रस्तुत करनी चाहिए जो उनकी मानसिक शक्तियों को प्रकाशित कर सके, उनकी क्रिया शक्ति को अनुप्राणित और उत्प्रेरित कर सके एवं आंतरिक संगठन तथा एकता का निर्माण कर सके। इस दृष्टि से उसने अनेक शैक्षणिक उपकरणों–खिलौनों, खेलोपहारों, खेलों एवं गीतों की रचना की। इनके कारण उसे शिक्षा जगत में बड़ी ख्याति मिली। उसने 1837 में जर्मनी में अति रमणीक स्थान ब्लैंकेनबर्ग में एक शिशु विद्यालय खोला जिसका नाम बालोद्यान (किंडर गार्टन) रखा। उसका कहना था कि विद्यालय एक उपवन के सदृश है जहाँ शिक्षक रूपी माली बालक रूपी पौधों का सिंचन और विकास करते हैं।

किंडर गार्टन प्रणाली के प्रमुख सिद्धांत है—

(i) स्वयं क्रिया एवं आत्म प्रकाशन की स्वतन्त्रता

(ii) स्वतन्त्र एवं स्वाभाविक विकास

(iii) खेल द्वारा शिक्षा

भाषा-शिक्षण

भाषा-शिक्षण में भी उपर्युक्त सिद्धान्तों का अनुसरण किया जाता है। फ्रोबेल ने आत्मक्रिया, आत्म प्रकाशन, स्वतंत्रता एवं खेल की दृष्टि से अनेक उपहारों (गिफ्ट्स), व्यापारों (ऑकुपेशन), शिशुगीतों अथवा खेल गीतों (प्ले सांग्स) की सृष्टि की और भाषा-शिक्षण में इन शिक्षोपकरणों का प्रयोग किया, जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

1. गीत, गति, रचना—इस प्रणाली में ऐसे गीतों का प्रयोग किया जाता है जो बालकों की ज्ञानेन्द्रियों एवं मांसपेशियों को गति देते है और बालक अनायास ही अनेक वस्तुओं का परिचय प्राप्त करते हैं। इन्हें शिशु गीत या खेल गीत (प्ले सांग्स) कहते है। इन्हें मातृ खेल (मदर्स प्ले) भी कहते हैं क्योंकि पहले ये गीत केवल माताओं (शिक्षिकाओं) द्वारा प्रयोग करने के लिए रचे गए थे। फ्रोबेल ने स्वयं अनेक गीतों की रचना की थी जो लय, नाद और संगीत की दृष्टि से उत्तम न होते हुए भी बड़े रोचक और लोकप्रिय थे। अब इनमें पर्याप्त सुधार कर लिया गया है और अनेक नये गीत भी रचे गए हैं जो बड़े ही लययुक्त हैं और इनकी भाषा बड़ी सरल है।

शिक्षिका इन गीतों को बालकों की दृष्टि से क्रमायोजित करती है और आदर्श पाठ प्रस्तुत करती है। बालक उसका अनुकरण करते हैं और गाते समय विभिन्न मुद्राओं (गेस्चर्स) द्वारा अभिनय भी करते हैं। अतः गीत के साथ गति का मेल आनन्द की सृष्टि कर देता है। बालक इन गीतों पर आधारित रचना (चित्र खींचना) भी करते है। इन गीतों का भाषा सीखने की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। ये गीत खेलों और कार्यों का सम्बन्ध जोड़ने के अच्छे साधन हैं।

इन गीतों के द्वारा बालकों को वर्णमाला का ज्ञान कराया जाता है। गीत की प्रत्येक पंक्ति जिस वर्ण से प्रारम्भ होती है उस ओर बालक का ध्यान स्वतः चला जाता है। वर्णों का लिखित रूप और आकार याद करने के लिए अन्य उपकरणों का भी प्रयोग किया जाता है। पढ़ना सिखाने के लिए चित्रों की सहायता ली जाती है। नये शब्दों को श्यामपट्ट पर लिखकर शिक्षिका उसका उच्चारण करती है और बालक अनुकरण करते हैं। सामूहिक गीतों द्वारा भी पठन योग्यता का विकास होता है। गीतों के साथ अभिनय का भी योग रखा जाता है। लिखना सीखने के लिए बालक कलमों से पहले रेखाएँ बनाना सीखते हैं और अंगुलियों के संचालन में प्रशिक्षित हो जाने पर वे लिखना आरम्भ करते हैं। पठन और लेखन दोनों का साथ-साथ अभ्यास कराया जाता है।

2. खेल, विशेषतः गेंद का खेल—स्वतन्त्रता, क्रिया और खेल इस प्रणाली के आधारभूत सिद्धान्त है। फ्रोबेल गेंद के खेल को अत्यधिक महत्त्व देता था। गेंद के खेल से ही बालक को भाषा का पहला पाठ पढ़ाया जाता है। गेंद का खेल खेल-गीतों के साथ ही शुरू होता है। गेंद ज्यों-ज्यो आगे-पीछे भागता है, शिक्षिका गाती है "टिक-टिक, टिक-टिक यहाँ, वहाँ।" फिर गेंद को ऊपर-नीचे घुमाती हुई कहती है—"ऊपर—नीचे, ऊपर-नीचे।" फिर गेद को मेज से टकराकर लौटने पर और उछलने पर कहती है—"उछलो गेंद, उछलो; देखो गेंद उछलता है।" बालक शिक्षिका का अनुकरण करते हैं और खेल-खेल में ही ऊपर, नीचे, अन्दर, बाहर, यहाँ, वहाँ, चारो ओर, आदि शब्द सीख जाते है। बाद में जब बालक जीव-जन्तुओ को पहचानने लगता है तब घूमता हुआ गेंद फ्रोबेल के अनुसार जीवन का प्रतीक बन जाता है। गेंद जब इस ओर से उस ओर घूमता है तब शिक्षिका गाती है "देखो चिड़िया कैसे उड़ती" या मेज पर गेंद रखकर कहती है—"कुत्ता झाड़ी पर झपटता है" आदि-आदि। इस प्रकार गेंद के साथ अनेक शिक्षोपयोगी खेल बालक खेलते है और अनायास ही उनकी शब्दावली और भावाभिव्यक्ति की योग्यता बढ़ती जाती है।

यह लिखा जा चुका है कि यह प्रणाली शिशु-शिक्षा से ही सम्बन्धित है और माध्यमिक स्तर से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका महत्त्व केवल इस दृष्टि से है कि किसी भी स्तर पर हमे भाषा-शिक्षण को क्रिया एवं खेल के द्वारा रोचक और सजीव बनाने का प्रयास अवश्य करना चाहिए। आज भी जब हम किसी किंडर गार्टन में बच्चों को गोलाई में खड़े होकर, किसी पुष्प के बारे में गीत गाते हुए, झूम-झूम कर अभिनय करते हुए, पौधे लगाते हुए, सिंचाई और निराई करते हुए पुष्प-सुरभित वातावरण में हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण भाव-विभोर देखते है तो शिशु-गीतों के चमत्कार पर विस्मय-विमुग्ध हुए बिना नही रह सकते।

भाषा-शिक्षण और मांटेसरी प्रणाली

"बालकों की निसर्गसिद्ध अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता ही मेरी शिक्षण प्रणाली का मूल आधार है।" —मेरिया मांटेसरी

मांटेसरी शिक्षा प्रणाली का प्रवर्त्तन इटली की प्रसिद्ध शिक्षिका डा. मेरिया मांटेसरी ने किया। उनके नाम पर ही इस प्रणाली को मांटेसरी शिक्षा प्रणाली कहते हैं। यह प्रणाली भी शिशु-शिक्षण-प्रणाली है।

मांटेसरी के अनुसार शिक्षा द्वारा बालक को स्वतन्त्र वातावरण में स्वयं विकास का पूरा अवसर देना चाहिए जिससे वे रुचिपूर्वक अपनी गति के अनुसार कार्य करते रहें और अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें। बालक को विवश करके शिक्षा देने से कोई लाभ नहीं। स्वयं विकास के लिए मांटेसरी ने खेल और क्रिया को सर्वोत्तम साधन माना और अनेक शिक्षोपकरणों एवं खेलों का प्रवर्त्तन भी किया। प्रत्येक बालक की रुचि, शक्ति एवं मानसिक प्रवृत्ति भिन्न होती है, अतः उसकी वैयक्तिक विशेषताओं को ही मांटेसरी ने शिक्षा का आधार माना। मांटेसरी ने ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर विशेष बल दिया क्योंकि वस्तु का परिचय और ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही होता है।

भाषा-शिक्षण

मांटेसरी ने ज्ञानेन्द्रियों—आँख, नाक, कान, जिह्वा आदि के प्रशिक्षण पर विशेष बल दिया और इसके लिए अनेक शिक्षोपकरणों की व्यवस्था की। ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा केवल विकास का ही साधन नहीं है बल्कि इसके द्वारा लिखने-पढ़ने की प्रारम्भिक शिक्षा का आधार भी तैयार हो जाता है।

पहले मांटेसरी का विचार यह नहीं था कि इतने छोटे बच्चों को लिखने की शिक्षा दी जाय किन्तु उन्होंने देखा कि शैक्षिक उपकरणों से खेलने एवं काम करने में बच्चे स्वतः पढ़ने-लिखने की ओर अभिमुख हो उठते हैं। अतः उन्होंने इस प्रकार के कुछ अभ्यास एवं कार्य जोड़ दिए जिनसे बालक इन विषयों की शिक्षा की ओर प्रवृत्त हो सकें।

लिखना—इस प्रणाली में लिखने की शिक्षा पढ़ने की शिक्षा से पहले दी जाती है। लिखने की शिक्षा इस प्रणाली की प्रशंसनीय विशेषता है। लगभग 4 वर्ष की अवस्था तक शिशु अंगुलियों के संचालन में कुछ नियंत्रण प्राप्त कर लेता है। इसी समय कुछ खेलों एवं क्रियाओं के माध्यम से वह लिखना सीखता है। लिखने की शिक्षा में तीन क्रियाएँ आवश्यक हैं—

(i) कलम, पेंसिल आदि पकड़ने का अभ्यास—कागज या पाटी पर विभिन्न आकृतियाँ अथवा चित्र खिंचे रहते हैं और बालकों से उनकी रेखाओं पर पेंसिल चलाने या घुमाने का अभ्यास कराया जाता है। बार-बार चलाने या घुमाने से बालक पेंसिल पकड़ने और उसे इच्छानुसार घुमाने का अभ्यास कर लेता है।

(ii) अक्षरों का स्वरूप समझने का अभ्यास—किसी चिकने सादे कागज या दफ्ती पर सैण्ड पेपर से बने हुए अक्षरों के कार्ड चिपकाकर बच्चों को दिए जाते हैं। एक कार्ड पर एक अक्षर रहता है। बालक उस पर बार-बार अंगुली फेरता है और यह अभ्यास इतना कर लेता है कि आँखें बंद करके भी उस अक्षर पर शीघ्रता से अंगुली फेर लेता है। इस प्रकार प्रत्येक अक्षर की आकृति और बनावट की पहिचान हो जाती है और उसकी आकृति बनाने मे अंगुलियाँ अभ्यस्त हो जाती हैं।

(iii) उच्चारण द्वारा अक्षरों का ज्ञान—जब बालक उपर्युक्त विधि द्वारा अक्षर के स्वरूप से परिचित हो जाता है तब शिक्षिका की सहायता से अक्षर पर अंगुली फेरते समय उस अक्षर का उच्चारण भी करता जाता है और बार-बार अभ्यास द्वारा ध्वनि तथा अक्षर की आकृति में पूर्ण साहचर्य स्थापित कर लेता है। यह साहचर्य स्थापन ध्वन्यात्मक भाषाओं जैसे हिन्दी में अधिक सहज है। इटैलियन भाषा भी ऐसी ही भाषा है, इसलिए माण्टेसरी का यह प्रयोग सफल रहा। अंग्रेजी में यह प्रक्रिया सम्भव नही क्योंकि उसमें एक ध्वनि के लिए विभिन्न प्रतीक और एक प्रतीक से विभिन्न ध्वनियों का सूचन होता है। इस साहचर्य स्थापन के पश्चात् बालक स्वयं उच्चरित अक्षर लिखने लगता है। बालक डेढ़ महीने में ही इस अभ्यास से अक्षर लिखना जान जाता है।

पढ़ना—बच्चे लिखना सीखते समय ही अक्षरों तथा अनेक शब्दों के उच्चारण से परिचित हो चुके रहते हैं। अब उन्हें एक डिब्बा दिया जाता है जिसमें कार्डबोर्ड के कटे हुए अक्षर रहते हैं। प्रत्येक डिब्बे में तीन-तीन या चार-चार की संख्या में अक्षर रहते हैं और वे निश्चित खानों में लगे रहते है। शिक्षिका शब्द के प्रत्येक अक्षर का सावधानी से स्पष्ट उच्चारण करते हुए उस शब्द को बोलती है। बालक अपने डिब्बे के अक्षरों में से शिक्षिका के उच्चारण के अनुसार अपेक्षित अक्षरों को छाँटता है और उन्हें क्रम से रखकर उस शब्द की रचना करता है। इस प्रकार बारी-बारी से जब वह अनेक शब्द बना चुकता है, तब उन्हें वह शिक्षिका के सम्मुख पढता है। इस प्रकार पढने का अभ्यास हो जाता है और उसके पास ऐसा शब्द भंडार हो जाता है जिनसे लिखने और पढ़ने दोनों का ज्ञान हो जाता है।

इसमें सन्देह नही कि लिखना-पढ़ना सिखाने की दृष्टि से मान्टेसरी प्रणाली एक उत्तम प्रणाली है। चार वर्ष के बच्चे केवल डेढ़-दो महीने में इतना अभ्यास कर लेते है कि वे साधारण स्कूलों के सात-आठ वर्ष के बच्चों की अपेक्षा अधिक सुन्दर अक्षर लिखने लगते हैं। मान्टेसरी प्रणाली में पढ़ने की क्रिया लिखने के बाद आती है। बालक जब अपने लिखे शब्दो को पढ़ने लगता है तब शिक्षिका कुछ कार्डों का पैकेट उसे देती है। प्रत्येक कार्ड पर कक्षा-भवन की किसी वस्तु का नाम लिखा होता है। बालक कमरे में दौड़-दौड़कर कार्ड को उस वस्तु पर रखता है जिसका नाम उस कार्ड पर लिखा होता है। इस क्रिया में बालक बड़ा आनन्द लेता है। इस

अभ्यास के बाद बच्चों को वाक्यांश या वाक्य लिखे कार्ड दिए जाते है–जैसे खड़े हो, दरवाजा खोलो, तीन बार कूदो, आदि । बालक उन्हें पढ़ता है और उन पर लिखे हुए निर्देशों का पालन करके अपने समझने की योग्यता प्रकट करता है ।

भाषा-शिक्षण और प्रोजेक्ट प्रणाली

प्रोजेक्ट प्रणाली का विचार दर्शन प्रस्तुत करने का श्रेय प्रसिद्ध शिक्षा-विचारक प्रो० जान ड्यूवी को है । ड्यूवी का कहना था कि व्यावहारिक ज्ञान के लिए क्रियात्मक शिक्षा ही एक मात्र साधन है । सामाजिक एवं व्यावसायिक दक्षता आज की शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य है । अतः किसी कार्य अथवा व्यवसाय को आधार बनाकर विविध विषयों की शिक्षा प्रदान करनी चाहिए । अपने शैक्षिक विचारों को साकार रूप देने के लिए ड्यूवी ने सन् 1896 में यूनिवर्सिटी लेबोरेटरी स्कूल की स्थापना की और एक नई क्रियात्मक शिक्षा प्रणाली को जन्म दिया । इन्ही विचारों के आधार पर कोलम्बिया विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री विलियम हर्ड किलपैट्रिक ने प्रोजेक्ट प्रणाली का प्रवर्त्तन किया ।

इस प्रणाली की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि बालक स्वयं किसी प्रोजेक्ट (समस्यात्मक कार्य) को चुनते हैं, क्रिया द्वारा समस्या का समाधान ढूँढ़ते हैं, तदनुरूप कार्य में संलग्न होते है और शिक्षक के संरक्षण, पथ-प्रदर्शन में उस कार्य को पूरा करते है। ये प्रोजेक्ट बालकों के अनुभव, अवस्था एवं रुचि के अनुसार चुने जाते हैं, जिन्हें सम्पन्न करने की प्रक्रिया मे बालकों को अनेक विषयो का ज्ञान प्राप्त हो जाता है ।

प्रोजेक्ट का अर्थ सुनियोजित सोद्देश्य शैक्षिक क्रिया है । अनेक विद्वानों ने इसकी भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं, पर यहाँ उन सभी का उल्लेख आवश्यक नहीं । किलपैट्रिक के अनुसार "प्रोजेक्ट वह प्रयोजनपूर्ण क्रिया है जिसे पूर्ण मनोयोग के साथ सामाजिक वातावरण में सम्पन्न किया जाता है ।" डा० स्टीवेन्सन के अनुसार "प्रोजेक्ट वह समस्यामूलक कार्य है जो स्वाभाविक वातावरण में पूर्ण रूप से संपन्न किया जाता है ।"

"प्रोजेक्ट को पूरा करने के लिए निम्नांकित क्रमों या पदों का अनुसरण करना पड़ता है—

1. उद्देश्य निर्धारण—जिसमे उचित परिस्थिति का निर्माण और प्रोजेक्ट चुनना दोनों कार्य शामिल है ।
2. प्रोजेक्ट की कार्य-योजना ।
3. प्रोजेक्ट क्रियान्वित करना ।
4. कार्य का मूल्यांकन ।
5. कार्य का विवरण या लेखा रखना ।

ये क्रम स्वतः स्पष्ट है और इनका अनुसरण करते हुए प्रोजेक्ट को पूरा करने की प्रक्रिया में विविध विषयों की शिक्षा प्रदान की जाती है। इस प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रोजेक्ट में पृथक्-पृथक समस्याओं के रूप में अलग-अलग विषयों का अध्ययन नहीं होता, बल्कि प्रोजेक्ट के विकास एवं पूर्ति में जिन-जिन विषयों की समस्या उठती जाती है उनका ज्ञान बालक प्राप्त करते जाते हैं। उदाहरणतः दूकान का प्रोजेक्ट लें। दूकान के स्थान की योजना, लम्बाई-चौड़ाई, क्षेत्रफल आदि का ज्ञान, वस्तुओं का क्रय-विक्रय, हिसाब रखना, लाभ-हानि आदि की शिक्षा **गणित एवं वाणिज्य** की शिक्षा होगी। दूकान सम्बन्धी व्यापार का इतिहास, आर्थिक स्थिति का वर्णन, सामाजिक दशा एवं प्रथा, आयात-निर्यात आदि समस्याओं का परिचय **अर्थशास्त्र और सामाजिक विषय** से सम्बन्धित होगा। दूकान की सामग्री का उत्पादन-स्थान, प्राकृतिक दशा एवं आवश्यकताएँ आदि **भौगोलिक ज्ञान** से सम्बन्धित होगा। दूकान सजाने, पोस्टर लिखने, डिजाइनें तैयार करने की समस्या द्वारा **कला और शिल्प** का ज्ञान, दूकान के लिए सामान मँगाने के लिए पत्र व्यवहार से **भाषा (रचना)** का ज्ञान होगा। दूकान की स्वच्छता, वायु और प्रकाश का महत्त्व आदि **सामान्य ज्ञान-विज्ञान** के अन्तर्गत आएगा।

इस प्रकार प्रोजेक्ट प्रणाली में विविध विषयों का सह-सम्बन्ध बड़े ही स्वाभाविक रूप में स्थापित हो जाता है। विविध विषयों का सह-सम्बन्ध एवं एकीकरण प्रोजेक्ट प्रणाली की बहुत बड़ी विशेषता है।

प्रोजेक्ट के प्रकार एवं भाषा-शिक्षण—विशेषज्ञों ने प्रोजेक्ट के अनेक रूपों का वर्णन किया है जिनमें अनेक समस्याओं के माध्यम से भाषा एवं साहित्य की शिक्षा दी जा सकती है। किलपैट्रिक महोदय ने प्रोजेक्ट के चार प्रकार बताए हैं—

(i) सृजनात्मक, (ii) रसास्वादन अथवा अनुरंजनात्मक, (iii) समस्यात्मक एवं (iv) अभ्यासात्मक अथवा कौशलात्मक। इन सभी प्रकारों में भाषा एवं साहित्य-शिक्षण के लिए अवसर मिलता है। सृजनात्मक के अन्तर्गत पत्र लिखना, अभिनय करना आदि समस्याओं के अन्तर्गत भाषा और साहित्य का शिक्षण हो सकता है। रसास्वादन एवं मनोरंजनात्मक प्रोजेक्ट में कहानी कहना और सुनना, कविता पाठ, एकांकी और नाटक पढ़ना आदि का अवसर मिलता है। अभ्यासात्मक एवं कौशलात्मक में भाषा सम्बन्धी विविध अभ्यास के अवसर मिलते हैं।

एलिसवर्थ कालिंस ने भी प्रोजेक्ट के चार प्रकार बताए हैं—खेल प्रोजेक्ट, परिभ्रमण प्रोजेक्ट, कहानी प्रोजेक्ट और नैतिक प्रोजेक्ट। इनमें कहानी प्रोजेक्ट से तो भाषा और साहित्य का सीधा सम्बन्ध है ही, शेष तीनों में भी उसका अवसर मिलता है।

अमेरिकन शिक्षाशास्त्री चार्ल्स ए० मक्मेरी ने प्रोजेक्ट के ये प्रकार बताए है—हस्तकला सम्बन्धी, औद्योगिक या व्यापारिक, विज्ञान सम्बन्धी, ऐतिहासिक

और साहित्यिक। इनमें अन्तिम तो भाषा और साहित्य का ही प्रोजेक्ट है पर ऐतिहासिक प्रोजेक्ट में भी साहित्य-शिक्षण के लिए प्रचुर अवसर मिलता है। ऐतिहासिक प्रोजेक्ट में राम का वन गमन, बुद्ध का गृह त्याग, अशोक का शस्त्र त्याग, हर्ष का संगम स्नान और दान, ताजमहल का निरीक्षण, विदेशी यात्रियों का आगमन आदि प्रोजेक्ट लिए जा सकते है जिनमें भाषा एवं साहित्य सम्बन्धी अनेक प्रसंग उठते हैं और उनकी शिक्षा भी दी जा सकती है।

विशुद्ध साहित्यिक प्रोजेक्ट्स में रामायण, महाभारत, सूरसागर जैसे महाकाव्यों पर आधारित प्रोजेक्ट, विद्यालय की दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, वार्षिक पत्रिका निकालने के प्रोजेक्ट, किसी सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय पर्व मनाने के प्रोजेक्ट लिए जा सकते हैं। इन प्रोजेक्ट्स में बालकों को स्वयं अनेक पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन करना पड़ता है।

उदाहरण के लिए 'रक्षाबंधन' नामक नाटक का *अभिनय (कक्षा 10)* प्रोजेक्ट लें। इसे पूरा करने के लिए निम्नांकित भाषा-कौशलों एवं साहित्यिक सौंदर्य बोध सम्बन्धी शिक्षण कार्य सम्पन्न हो सकता है—

रक्षाबन्धन का वाचन, हरिकृष्ण प्रेमी के अन्य ऐतिहासिक नाटकों का अध्ययन, उनसे रक्षाबन्धन की तुलना। अन्य हिन्दी नाटककारों के ऐतिहासिक नाटकों का अध्ययन। समीक्षात्मक दृष्टि से नाटक के तत्वों एवं नाट्य शैली का अध्ययन। अतिरिक्त वाचन जैसे मेवाड़ का इतिहास, मेवाड़ के शौर्य सम्बन्धी अन्य काव्यों एवं ग्रन्थों का अध्ययन, राजपूतों की वीरता एवं युद्ध-परम्परा, राजपूत वीरांगनाओं की वीरता एवं बलिदान की उज्ज्वल परम्परा, जौहर की गाथाएँ आदि। मौखिक अभिव्यक्ति-नाटक पर चर्चा, श्लाघा और समीक्षा, किस पात्र ने सबसे अधिक प्रभावित किया और क्यों?

अभिनय—कक्षा के छात्रों द्वारा।

अभिनय के बाद सिंहावलोकन एवं समीक्षा। किस विद्यार्थी का सर्वोत्तम अभिनय था, किसका साधारण। इसे और प्रभावपूर्ण कैसे बनाया जा सकता था। प्रत्येक विद्यार्थी द्वारा नाटक सम्बन्धी अपना विचार प्रकट करना। नाटक के गीतों का पाठ।

लिखित रचना–पाठ्य-सामग्री पर संक्षिप्त नोट, नाटक के देश, काल, परिस्थिति का वर्णन, तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक स्थिति का वर्णन। कथानक, संवाद, चरित्र-चित्रण, शैली की विवेचना। नाटक देखने के लिए अतिथियों एवं दर्शकों को आमंत्रण पत्र लिखना, प्रधानाध्यापक को पत्र, साज-सज्जा के लिए कक्षा-शिक्षक को, संगीत व्यवस्था के लिए संगीत शिक्षक को, रंगमंच व्यवस्था के लिए प्रधानाध्यापक को। नाटक के सम्बन्ध में विज्ञापन पत्र। समाचारपत्रों में सूचना भेजना। पोस्टर लिखना।

भाषा ज्ञान—नये शब्दों का ज्ञान, नवीन प्रयोग, भावात्मक अभिव्यक्ति।

सृजनात्मक कार्य—नाटक से सम्बन्धित प्रसंगों पर कहानी, एकांकी, निबन्ध लिखना, विभिन्न पात्रों द्वारा आत्मकहानी लिखना।

इसमें संदेह नहीं कि प्रोजेक्ट के माध्यम से भाषा-शिक्षण एक रोचक प्रक्रिया बन जाती है और बालक स्वयं मनोयोग पूर्वक स्वाभाविक एवं वास्तविक परिस्थितियों में उसे पूरा करते हैं। किन्तु इस प्रणाली में सामान्यतः मौखिक शिक्षण का तो पर्याप्त अवसर मिलता है और बालकों को मौखिक अभिव्यक्ति एवं रचना का अभ्यास हो जाता है पर अन्य भाषिक अवयवों की शिक्षा आंशिक हो जाती है।

इस प्रणाली का यह भी दोष है कि इसके द्वारा पाठ्य विषय का क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित ज्ञान नहीं होता क्योंकि प्रोजेक्ट के अन्तर्गत समस्यात्मक रूप में सभी वांछित प्रकरण नहीं आ पाते और इस कारण भाषा एवं साहित्य की सांगोपांग शिक्षा नहीं हो पाती। लिखित कार्य के लिए इसमें यथेष्ट अवसर नहीं मिलता।

कविता और व्याकरण की शिक्षा भी प्रोजेक्ट के संदर्भ में उचित प्रकार से नहीं हो पाती। अतः भाषा एव साहित्य की पूरी शिक्षा के लिए हम प्रोजेक्ट प्रणाली पर निर्भर नहीं रह सकते और उसकी जितनी शिक्षा वास्तविक एवं स्वाभाविक परिस्थितियों मे सम्पन्न हो सकती है, उसी का लाभ उठा लेना ठीक है।

भाषा-शिक्षण और डाल्टन योजना

शिक्षा की आधुनिक मनोवैज्ञानिक विचारधाराओं के फलस्वरूप बालक को केन्द्र मानकर उसकी व्यक्तिगत शिक्षा पर बल देने के लिए जिन शिक्षण-प्रणालियों अथवा योजनाओं का सूत्रपात हुआ उनमें डाल्टन योजना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस योजना का प्रवर्त्तन सन् 1913 में मिस हेलेन पार्कहर्स्ट ने किया जिन्हे डा. मेरिया माण्टेसरी के साथ कार्य करने का भी अवसर मिला था। इस योजना का प्रथम प्रयोग अमेरिका के मेसाचुसेट्स प्रांत के डाल्टन नगर के हाईस्कूल मे किया गया था, इस कारण इस योजना का नाम डाल्टन योजना पड़ा। किंडर गार्टन एवं माण्टेसरी प्रणालियाँ शिशु शिक्षण प्रणालियाँ है पर डाल्टन योजना का प्रयोग 8 वर्ष से अधिक आयु वाले बालकों के लिए किया गया है।

इस प्रणाली के प्रमुख सिद्धांत हैं—बालकेन्द्रित शिक्षा, व्यक्तिगत शिक्षा एवं स्वाध्याय पर बल, अध्ययन एवं शैक्षिक प्रगति की स्वतन्त्रता, शिक्षक द्वारा उचित पथ-प्रदर्शन। इन विशेषताओं के कारण इसे 'स्वाध्याय विधि' भी कहते हैं।

इस प्रणाली की क्रिया विधि इस प्रकार है—

1. पाठ का ठेका—वर्ष भर के लिए पाठ्यसामग्री के शिक्षण की रूपरेखा तैयार कर ली जाती है। पूरे वर्ष का कार्य मासिक दृष्टि से 10 भागों में विभक्त कर लिया जाता है क्योंकि वार्षिक सत्र 10 माह का होता है। बालक इस कार्य

को पूरा करने का उत्तरदायित्व ठेके के रूप में लेता है, इसलिए इसे ठेका प्रणाली (कान्ट्रैक्ट सिस्टम) कहते हैं।

2. निर्दिष्ट पाठ (एसाइनमेण्ट)—महीने भर के कार्य को साप्ताहिक दृष्टि से चार भागों में बाँट दिया जाता है। एक सप्ताह के लिए निर्धारित कार्य को निर्दिष्ट पाठ कहते हैं।

3. इकाई (यूनिट)—प्रत्येक सप्ताह के लिए निर्धारित निर्दिष्ट पाठ को फिर पाँच भागों में बाँटकर दैनिक कार्य योजना बनाई जाती है। एक दिन के लिए निर्धारित कार्य को इकाई कहते हैं। पर बालक को विवश नहीं किया जाता कि वह एक इकाई को एक दिन में पूरा ही कर ले, वह अपनी योग्यता, शक्ति एवं क्षमता के अनुसार प्रगति करता है।

4. कक्षा के स्थान पर प्रयोगशाला—इस योजना में कक्षा संगठन की जगह विविध विषयों; जैसे, इतिहास, भूगोल, भाषा, विज्ञान आदि की प्रयोगशालाएँ होती हैं जहाँ अध्ययन संबंधी पुस्तकें, उपकरण, चार्ट, चित्र, पत्रिकाएँ आदि होती हैं। बालक यहाँ अलग-अलग अपनी रुचि के अनुसार अपने निर्दिष्ट पाठ पर जब तक चाहें, कार्य करते रहें। शिक्षक (विषय-विशेषज्ञ) वहाँ मौजूद रहता है और आवश्यकता पड़ने पर वह बालक का उचित निर्देशन करता है।

5. विचार-विमर्श सभाएँ या सम्मेलन (असेम्बली)—प्रतिदिन अपने कार्य में संलग्न होने के पहले बालक एवं शिक्षक एकत्र होते हैं और उस दिन के कार्यों के संबंध में विचार-विमर्श करते हैं। सामान्य निर्देश, स्पष्टीकरण एवं आवश्यक सूचनाएँ इसी समय दे दी जाती हैं और बालक अपने प्रयोगशालाओं में कार्य करने चले जाते हैं। सायंकाल स्कूल बन्द होने के कुछ पहले वे फिर एकत्र होते हैं और अपने किए गए कार्यों के संबंध में विचार-विमर्श करते हैं। इस समय वे अपनी कार्य-प्रणाली की आलोचना में भी भाग लेते हैं और परस्पर विचारों के आदान-प्रदान से लाभ उठाते हैं।

6 प्रगतिसूचक रेखाचित्र—इस योजना में प्रत्येक बालक के कार्य की प्रगति का लेखा रखना आवश्यक है, क्योंकि प्रत्येक बालक को अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता रहती है। अतः एक अवधि में सब बालकों की प्रगति एक समान नहीं होती। इसके लिए 3 प्रकार के ग्राफ चार्ट्स होते हैं—एक बालक स्वयं भरता है, दूसरा शिक्षक भरता है और तीसरे में बालक के समस्त विषयों की प्रगति का उल्लेख होता है।

इस योजना में बालक अपना कार्य प्रयोगशालाओं में पूरा करता है। शिक्षक पथ-प्रदर्शन करता है। ठेका देते समय ही शिक्षक अध्ययन संबंधी कार्यों एवं कार्य विधियों को स्पष्ट कर देता है जैसे, महीने भर का निर्दिष्ट पाठ, भाषा के अध्येतव्य

अंग, लिखित कार्य, कण्ठस्थ करने की सामग्री, पाठ्यपुस्तकों एवं उनके विशिष्ट प्रकरणों तथा स्थलों का उल्लेख, विचार-विमर्श का समय, प्रगति रेखाचित्र भरने की विधि आदि।

वस्तुतः डाल्टन योजना कक्षा-प्रणाली की जगह स्वाध्याय प्रणाली पर बल देती है। कक्षा प्रणाली में बालक के वैयक्तिक विकास की उपेक्षा होती है। अतः भाषा की शिक्षा में भी बालक की वैयक्तिक विभिन्नता को ध्यान में रखना आवश्यक है। उच्चारण, शब्द भण्डार, अभिव्यक्ति (मौखिक एवं लिखित) आदि की दृष्टि से छात्रों में बड़ी विभिन्नता पाई जाती है। अतः भाषा शिक्षण में डाल्टन योजना की उपयोगिता स्वतः सिद्ध है क्योंकि भाषा संबंधी ठेका दे देने पर बालक स्वाध्याय द्वारा उसे पूरा करने में लगे रहते हैं और अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार प्रगति करते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि डाल्टन योजना माध्यमिक कक्षाओं के लिए ही उपयुक्त है क्योंकि उसके पूर्व छोटे बालक स्वाध्याय मे सक्षम नही होते। माध्यमिक स्तर पर भी भाषा की सपूर्ण शिक्षा इस योजना द्वारा पूरी नहीं हो सकती। व्याकरण, लिखित रचना, गद्यात्मक पाठ, उपन्यास, कहानी, निबंध, जीवनी, आत्मकथा आदि मे स्वाध्याय विधि का प्रयोग सफलता पूर्वक हो सकता है, अभिनय रहित नाटक भी पढ़ने के लिए दिया जा सकता है, पर भाषा के अन्य अगों की शिक्षा इस योजना द्वारा पूरी नही हो पाती जैसे कविता-शिक्षण, मौखिक रचना-शिक्षण। वस्तुतः रागात्मक पाठों के लिए योजना उपयुक्त नहीं और ऐसे पाठों के शिक्षण की पृथक् व्यवस्था आवश्यक है।

भाषा-शिक्षण एवं निर्दिष्ट कार्य-विधि[1]

इस विधि में शिक्षक पाठ पढ़ाने के पहले ही छात्रों को पाठ संबंधी कार्य दे देता है और उसे पूरा करने के लिए आवश्यक सकेत भी प्रदान कर देता है, जिसके आधार पर छात्र पुस्तकालय से सामग्री जुटाकर अथवा घर पर अपना कार्य पूरा कर लें। इससे छात्रों में स्वाध्याय, अध्यवसाय एवं साधन जुटाने की योग्यता आदि गुणों का विकास होता है।

भाषा-शिक्षण मे इस विधि का प्रयोग सफलतापूर्वक किया जा सकता है। जीवनी सम्बन्धी पाठ, कहानियाँ एवं सभी द्रुत पाठ कुछ प्रश्नों या संकेतों के आधार पर छात्रों को पढ़कर आने और प्रश्नों के उत्तर लिखकर लाने का निर्देश दिया जा सकता है और दूसरे दिन कक्षा में उस कार्य पर चर्चा की जा सकती है। कविता कण्ठस्थ करने के लिए दी जा सकती है। गहन अध्ययननिष्ठ पाठ भी पढ़कर आने तथा कठिन शब्दों के अर्थ कोष से देखकर आने का निर्दिष्ट कार्य दिया जा

1. Assignment method

सकता है। वस्तुतः निर्दिष्ट कार्य विधि पाठ-योजना का ही एक रूप है। पाठ्य विषय का क्रमायोजन करते समय शिक्षक को निर्दिष्ट कार्य की भी योजना बना लेनी चाहिए जिससे निर्दिष्ट कार्य द्वारा पाठ-विकास में उचित सहायता मिलती चले। निर्दिष्ट कार्य विधि का महत्त्व इस दृष्टि से है कि (1) बालकों मे कार्य पूरा करने के प्रयत्न मे स्वयं विचार करने और सीखने की आदत पड़ती है, (2) अगले पाठ की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है जिससे पाठ सरल, रोचक और ग्राह्य बन जाता है। पर निर्दिष्ट कार्य विधि में निम्नांकित बातों का ध्यान रखना चाहिए—

1. निर्दिष्ट कार्य निश्चित और स्पष्ट हो, जिसे पूरा करने में विशेष कठिनाई न हो। जैसे "इस पाठ के पाँच पृष्ठ पढ़कर आना" निर्दिष्ट कार्य अनिश्चित और अस्पष्ट है। अतः 'इस दृष्टि से', 'इन प्रश्नो का उत्तर जानने के लिए' पढ़ कर आना है, ये बातें स्पष्ट कर देनी चाहिए।

2. निर्दिष्ट कार्य संक्षिप्त और बोधगम्य हो। यदि पाठ सम्बन्धी कोई अंश विशेष कठिन है तो उसे स्पष्ट कर दें।

3. बालकों के पूर्वज्ञान एवं नये पाठ दोनों का ध्यान रखकर निर्दिष्ट कार्य का चुनाव करना चाहिए।

4. निर्दिष्ट कार्य देते समय आवश्यक साधनों, सहायक पुस्तकों तथा कार्य-विधि का उल्लेख कर देना चाहिए, जैसे शब्दकोश, अन्तः कथाएँ ढूँढना, लेखक की और कोई अवलोकनार्थ पुस्तक आदि।

निर्दिष्ट कार्य विधि में एक सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि सभी बालकों को अध्ययन करने की सुविधाएँ घर पर नही होती और न आवश्यक साधन ही सुलभ होते हैं। कुछ छात्र घर पर अपने पढ़े-लिखे भाई-बहनों अथवा अभिभावकों से काम पूरा करा लेते है, इससे स्वाध्याय एवं स्वय कार्य करने का मूल उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। एक दोष यह भी है कि सभी विद्यार्थियो को एक ही प्रकार का कार्य देने से प्रतिभाशाली छात्र तो उसे बहुत सरल समझता है और मंद बुद्धि बालक उसे कठिन। अतः इन कठिनाइयो को समझकर ही निर्दिष्ट कार्य विधि का उचित प्रयोग अपेक्षित है।

भाषा-शिक्षण एवं निरीक्षित स्वाध्याय विधि[2]

उपर्युक्त निर्दिष्ट कार्य-विधि के दोषों का बहुत कुछ परिहार निरीक्षित स्वाध्याय विधि द्वारा हो जाता है क्योंकि इस विधि में शिक्षार्थियों को कक्षा में ही निर्दिष्ट कार्य दिया जाता है। शिक्षक बालको के पथ-प्रदर्शन एवं निर्देशन के लिए मौजूद रहता है। छात्रों को स्वयं ही कार्य पूरा करना पड़ता है। वह किसी से सहायता नही लेता और अपनी समस्या स्वयं सुलझाता है। इस विधि द्वारा बालक उचित

2. Supervised self study method.

अध्ययन की विधि समझ लेता है और कार्य पूरा करने में उस विधि का ठीक प्रयोग करने लगता है।

डाल्टन योजना निरीक्षित स्वाध्याय विधि का एक उत्तम नमूना है। उसके वर्णन में भाषा-शिक्षण सम्बन्धी प्रयोग लिखे जा चुके है।

सामान्य कक्षा-शिक्षण और निरीक्षित स्वाध्याय में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि कक्षा-शिक्षण मे शिक्षक अपनी विषय-सामग्री को समाप्त करने पर अधिक ध्यान देता है, बालक कितना ग्रहण कर रहे हैं, इस पर ध्यान नही रह पाता। पर निरीक्षित स्वाध्याय में बालक विषय-सामग्री ग्रहण करते हुए अपनी गति से आगे बढ़ता है।

निरीक्षित स्वाध्याय विधि में कार्य-प्रणाली की दृष्टि से चार सोपान हैं—

1. समस्या एवं प्रयोजन—अध्ययन सम्बन्धी किसी भी निर्दिष्ट कार्य को देते समय मुख्य समस्या एवं उस कार्य का प्रयोजन स्पष्ट हो जाना चाहिए।

2. सामान्य अवलोकन अथवा कार्य की रूपरेखा—बालक अध्ययन-कार्य को सामान्य रूप से आद्यन्त समझ लें। विशिष्ट कार्य सम्बन्धी प्रसंग एवं उसके क्रमिक खण्डों को समझ लेने पर पूरे कार्य की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है।

3. विभाग, विश्लेषण एवं कार्य सम्पादन—सामान्य रूपरेखा के बाद विस्तार से कार्य को समझना और शिक्षक के निर्देशन में अपने कार्य को कुछ इकाइयों अथवा आवश्यक खण्डों में विभाजित करना, आवश्यक तथ्यों का संग्रह करना और कार्य-सम्पादन के लिए उनका प्रयोग करना। यह सोपान वास्तविक कार्य-सम्पादन का होता है।

4. सार या संक्षिप्तीकरण—अंत में छात्र सम्पूर्ण कार्य को एक सूत्र में व्यवस्थित करता है और सारांश प्रस्तुत करता है।

भाषा-शिक्षण में इस विधि के अनुसरण में कुछ अधिक समय लगता है पर विद्यार्थियों में स्वयं अध्ययन करने की आदत पड़ती है। नियमित कक्षा-शिक्षण की सहायक विधि के रूप में इसका प्रयोग अधिक उपयोगी है।

भाषा-शिक्षण एवं खेल प्रणाली

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि बालक का स्वाभाविक विकास क्रियात्मक शिक्षा-पद्धति द्वारा ही सम्भव है, परन्तु क्रिया का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो बालकों की रुचि एवं अनुरंजन के अनुकूल हो। खेल एक ऐसी ही क्रिया है जिसके माध्यम से बालक सक्रिय एवं आनन्दपूर्ण स्थिति में रहते हुए शिक्षा प्राप्त करते हैं। इसी कारण आज की मनोवैज्ञानिक शिक्षा-प्रणालियों में 'खेल द्वारा शिक्षा' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

खेल द्वारा शिक्षा की एक निश्चित रूपरेखा प्रस्तुत करने का श्रेय काल्डवेल कुक महोदय को है जिनका कहना था कि केवल श्रवण और पठन मात्र से शिक्षा

पूरी नहीं होती, बल्कि इसके लिए रुचिपूर्वक स्वाध्याय एवं स्वानुभूति की आवश्यकता होती है। उनका मत था कि भाषा एवं साहित्य पढ़ाने के लिए यदि खेलों का माध्यम अपनाया जाय तो बालक शीघ्र ही अपेक्षित योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। अतः भाषा-शिक्षण सम्बन्धी कार्यों को खेलों का रूप प्रदान करना चाहिए।

कुक महोदय ने शिक्षा के क्रियात्मक एवं व्यावहारिक रूप पर बल दिया। अंग्रेजी भाषा की शिक्षा प्रदान करने के लिए पर्स स्कूल में इन्होंने सर्वप्रथम खेल द्वारा शिक्षा (प्ले वे इन एजुकेशन) का प्रयोग किया। उन्होंने 'दि प्ले वे' नामक पुस्तक में इस प्रणाली पर प्रकाश डाला है।

वस्तुतः खेल बालक की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है और उसकी क्रियात्मक शक्ति का परिचायक है।

इसी कारण यदि कठिन और नीरस कार्य को भी खेल के माध्यम से प्रस्तुत किया जाय तो वह सरल और सुग्राह्य हो जाता है क्योंकि बच्चे उसमें स्वतन्त्रता, रुचि और आनन्द का अनुभव करने लगते हैं। पर साथ ही खेलों के प्रयोग में यह सावधानी आवश्यक है कि खेल शैक्षणिक दृष्टि से अवश्य उपयोगी हों, वे सोद्देश्य हों, छात्रों की रुचि, आयु एवं मानसिक स्तर के अनुकूल हों, प्रत्येक विद्यार्थी को उसमें भाग लेने का अवसर मिले और उसकी उपलब्धियों से भी वे परिचित होते चलें।

आधुनिक शिक्षण-प्रणालियों—किंडरगार्टन, मांटेसरी, प्रोजेक्ट, डाल्टन, बेसिक आदि—में खेल को शिक्षा का आवश्यक साधन माना गया है। विद्यालयीय कार्यक्रमों में स्काउटिंग, अभिनय, प्रहसन, समस्यामूलक खेल, पर्यटन, सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम एवं आयोजन आदि शैक्षिक खेलों के ही विभिन्न रूप है।

भाषा-शिक्षण

भाषा-शिक्षण में अनेक खेलों का प्रयोग किया जा सकता है। अभिनय, प्रहसन, कविता-पाठ, अन्त्याक्षरी, कवि-दरबार, शब्द-रचना के खेल, वाक्य-रचना के खेल, समस्यापूर्ति आदि खेल के ही रूप में अपनाए जा सकते हैं।

कुक महोदय ने अपनी पुस्तक 'प्ले वे' मे तथा डब्ल्यू. एम. रायबर्न ने 'प्ले वे सजेसन्स' मे भाषा-शिक्षण सम्बन्धी खेलों के सुझाव दिए है; जैसे—

(i) अक्षरों, शब्दों, वाक्यांशों एवं वाक्यों की पहचान—विभिन्न चिटो पर लिखे हुए वर्ण, शब्द, वाक्यांश एवं वाक्यों को पहचान कर उन चिटों को फलक पर रिक्त स्थानों पर सही-सही लगाना। चिट दिखाकर ढेर में से उनकी प्रतिलिपि ढूँढना। फलक पर प्रश्न लिखे रहते है। प्रश्नों के उत्तर भी चिटों पर लिखे रहते है। प्रश्न पढ़कर उसकी उत्तर वाली चिट ढूँढ़कर प्रश्न के नीचे दिए हुए रिक्त स्थान पर लगाना आदि।

(ii) बालकों को दो समूहों में बाँट दिया जाय। प्रत्येक समूह के छात्रों के पास शब्दों या वाक्यों की चिटें देकर उन्हें एक दूसरे से बदलवा कर पढ़ाने की प्रतियोगिता कराई जाय।

(iii) छात्र दौड़ते हुए रास्ते में लिखे गए वाक्यों को रुककर पढते हैं और आगे बढ़ते जाते हैं। जो सभी वाक्य पढ़कर लक्ष्य स्थान पर पहुँच जाता है, वह विजयी घोषित होता है।

(iv) एक डिब्बे में शब्द-चिटें या वाक्य-चिटें भर दी जाती हैं। बालक वृत्ताकार बैठ जाते है। शिक्षक बाजा बजाता रहता है और डिब्बे को छात्र एक-दूसरे के सामने बढाते जाते है। जैसे ही बाजा बन्द होता है, डिब्बे का घूमना बन्द हो जाता है और जिस छात्र के पास वह रहता है वह उसे खोलता है और एक चिट निकालकर पढ़ता है। फिर वही क्रम चल पड़ता है।

(v) एक छात्र एक थैले में शब्दों एवं वाक्यों की चिटें भरकर कक्षा के सामने आता है। प्रत्येक छात्र के सामने आकर पूछता है 'लोगे मोल'। क्रेता छात्र सामान का मूल्य पूछते हैं। विक्रेता छात्र कहता है—इसका पढना ही इसका मूल्य है और एक चिट निकालकर दे देता है। यदि बालक पढ़ लेता है, तो अपने पास रख लेता है अन्यथा लौटा देता है।

(vi) इसी प्रकार शब्द-रचना के भी खेल खिलाए जाते हैं। किसी वर्ण से प्रारम्भ होने वाले शब्दो को छात्रों से कहलाना, दिये हुए कुछ वर्णों जैसे "ल, म, क, श, स, र, व" से अधिकाधिक शब्दों की रचना कराना, रिक्त स्थानों की पूर्ति कराना, विलोम पूछना, अन्त्याक्षरी कराना, विशृंखलित पदों में से समान पदों को मिलाकर बोलना या लिखना आदि। संधि, समास, उपसर्ग, प्रत्यय आदि के आधार पर शब्द रचना के विविध खेल।

(vii) रचना सम्बन्धी खेल—किसी शब्द के आधार पर चार-पाँच वाक्य लिखवाना, विशृंखलित वाक्यों को क्रमयुक्त वाक्यो में लिखाना, कहानी का प्रारम्भ देकर पूरी कहानी लिखाना, संज्ञाएँ देकर उनके उपयुक्त विशेषण लिखाना आदि।

(viii) अभिनय, पहेलियाँ बुझाना, मुहावरों के प्रयोग, सूक्तियाँ लिखवाना, जयन्ति समारोह, कवि-गोष्ठी, कवि-दरबार आदि के आयोजन।

भाषा-शिक्षण की दृष्टि से खेल प्रणाली की भी वही आलोचना की जाती है जो पूर्व वर्णित आधुनिक प्रणालियो की की जा चुकी है। अर्थात् इसके द्वारा भाषा एवं साहित्य का क्रमायोजित शिक्षण नही हो पाता। उपर्युक्त शब्द, वाक्य आदि के खेल प्रारम्भिक कक्षाओं के लिए ही उपयुक्त है, ऊँची कक्षाओं के लिए नही। शब्द रचना, वाक्य-रचना, कहानी तथा विविध साहित्यिक एवं सांस्कृतिक आयोजन माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक कक्षाओ के लिए ही उपयोगी हैं पर वे पाठ्य विषय की

विधिवत् शिक्षा के साथ सह-शैक्षणिक क्रिया या खेल के रूप में ही उपयोगी सिद्ध होते हैं ।

भाषा-शिक्षण और बेसिक शिक्षा

"गांधी जी के दर्शन का सार शारीरिक श्रम है जिसे उन्होंने हमारे समस्त कार्यों–सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षिक, आर्थिक और धार्मिक भी–की धुरी मानकर एक विशिष्ट गरिमा प्रदान की है।"[3] —एम. एस. पटेल

बेसिक शिक्षा प्रणाली के प्रवर्त्तन का श्रेय राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को है जिन्होंने ब्रिटिशकालीन शिक्षा के अनिष्टकारी प्रभावों से राष्ट्र को मुक्त करने तथा शिक्षा को भारतीय जीवन और आवश्यकताओं से सम्बन्धित करने के लिए इस प्रणाली के सिद्धान्तों का प्रवर्त्तन किया। 31 जुलाई, 1937 के 'हरिजन' अंक के एक लेख में उन्होंने लिखा था कि "शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक के सर्वोत्तम शारीरिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वों के विकास से है। साक्षरता शिक्षा नही है। शिक्षा का आरम्भ साक्षरता से नहीं, अपितु किसी उपयोगी उद्योग या शिल्प से होना चाहिए।" अक्टूबर 1937 को मारवाड़ी हाई स्कूल, वर्धा की रजत जयन्ती के अवसर पर शिक्षा विशेषज्ञों, नेताओं तथा कांग्रेस मंत्रिमण्डल वाले प्रान्तों के शिक्षामंत्रियों का सम्मेलन हुआ जिसे अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन या 'वर्धा सम्मेलन' भी कहते हैं। गांधी जी स्वयं ही इस सम्मेलन के सभापति थे। इस सम्मेलन ने निम्नांकित प्रस्ताव पारित किये—

1. सात वर्ष तक की प्राइमरी शिक्षा अनिवार्य एवं निःशुल्क हो।
2. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।
3. उद्योग अथवा हस्त शिल्प द्वारा शिक्षा प्रदान की जाय। शिल्प को शिक्षा की धुरी मानकर अन्य सभी विषय उससे सम्बन्धित करके पढ़ाए जायँ। हस्तशिल्प का चुनाव बालकों के वातावरण से किया जाय।

समवाय शिक्षा प्रणाली और भाषा-शिक्षण

बेसिक शिक्षा प्रणाली की सर्वप्रमुख विशेषता समवाय शिक्षण प्रणाली है जिसमें शिल्प को केन्द्रीय विषय मानकर उससे स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित करते हुए अन्य सभी विषयों की शिक्षा प्रदान की जाती है। इस दृष्टि से बेसिक शिक्षा प्रणाली में प्रोजेक्ट प्रणाली की सारी विशेषताएँ समाहित है; जैसे, उद्योग अथवा कार्य को आधार या केन्द्र मानकर अन्य विषयों की शिक्षा, विविध पाठ्य

---

3. "The core of Gandhiji's philosophy is manual labour to which he has imparted a special dignity by making it the pivot of all our activities—social, political, educational and economic and even religious." —M. S. Patel

विषयों में सह-सम्बन्ध एवं समन्वय, शिक्षा का वास्तविक जीवन-परिस्थितियों से घनिष्ठ सम्बन्ध, क्रिया द्वारा शिक्षा, आत्म-प्रयत्न द्वारा शिक्षा, स्वयं अनुसंधान एवं प्रयोग द्वारा ज्ञानार्जन, सामाजिक सहयोग एवं उत्तरदायित्व की भावना आदि।

बेसिक शिक्षा में स्थानीय उद्योग अथवा दस्तकारी ही शिक्षा की धुरी है। यह उद्योग या शिल्प यंत्रवत् नही, वल्कि वैज्ञानिक ढंग, 'क्यों और कैसे' का ज्ञान कराते हुए सिखाया जाय और इस क्रम में अन्य विषयों का ज्ञान प्रदान किया जाय। उदाहरणत: 'कताई' के सिलसिले में सामाजिक विषय, भाषा, गणित, सामान्य विज्ञान आदि विषयों की शिक्षा सरलता से दी जा सकती है। कताई का इतिहास, प्राचीन भारत में वस्त्र की स्थिति और विकास, कला, व्यापार, विदेशों से सम्बन्ध, सामाजिक रहन-सहन, वेश-भूषा आदि प्रकरण इतिहास और नागरिक शास्त्र से सम्बन्धित होंगे। कपास की पैदावार उसके लिए उपयुक्त जलवायु, मिट्टी, रूई का व्यापार, आयात-निर्यात, यातायात के साधन आदि पाठ भूगोल के अन्तर्गत आ जाते हैं। कताई-बुनाई की कला सम्बन्धी अनेक कहानियाँ, कविताएँ, निबन्ध आदि द्वारा भाषा की शिक्षा प्रदान की जाती है। शिल्प के सम्बन्ध में वार्तालाप द्वारा मौखिक रचना की शिक्षा होती है। इस प्रणाली में कहानी और वाक्य विधि एवं शब्द विधि द्वारा वर्ण ज्ञान बच्चों को कराया जाता है जो एक मनोवैज्ञानिक विधि है।

कृषि को केन्द्र मानकर विविध विषयों एवं विशेषत: भाषा की शिक्षा और भी व्यापक आधार पर दी जा सकती है क्योंकि कृषि इतना व्यापक विष है कि भाषा के पाठों के लिए अनेक प्रसंग प्रस्तुत हो जाते हैं। निबन्ध, कहानी, कविता, गद्यपाठ, द्रुतपाठ आदि सभी प्रकार के पाठों का अवसर कृषि के शिक्षण से संबंधित हो जाते हैं।

बेसिक शिक्षा से उद्योग के अतिरिक्त प्राकृतिक वातावरण, सामाजिक वातावरण से सम्बन्धित क्रियाओं के माध्यम से भी भाषा एवं साहित्य की शिक्षा प्रदान की जाती है।

प्राकृतिक परिवेश जैसे वर्षा, शरद, शीत, हेमंत, वसंत, ग्रीष्म आदि ऋतुओं से सम्बन्धित कविताएँ और निबन्ध, स्थानीय प्राकृतिक दृश्यों—नदी, पर्वत, वन आदि का वर्णन, प्राकृतिक सुषमा–उषा का आगमन, सूर्यास्त, चन्द्र ज्योत्सना, तारों भरी रात आदि का वर्णन। सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों से महापुरुषों की जयंतियाँ और उनसे सम्बन्धित साहित्य की शिक्षा, उनकी जीवनी; तिलक, गांधी, नेहरू आदि की जीवनी के साथ-साथ स्वाधीनता संग्राम से सम्बन्धित साहित्यिक पाठ। स्वाधीनता दिवस, गणतन्त्र दिवस। विविध उत्सव, पर्व एवं समारोह—रक्षा बन्धन, गणेश चतुर्थी, विजयदशमी, दीवाली, वसंत पंचम ईद, मुहर्रम,

बड़ा दिन आदि को आधार बनाकर भाषा एवं साहित्य की शिक्षा। विजयदशमी के अवसर पर रामचरित मानस से कुछ अंश तथा अन्य कवियों की रचनाएँ। इन अवसरों पर व्याख्यान माला और छात्रों द्वारा भाषण, अभिनय आदि। लिखित रचना सम्बन्धी अभ्यास।

बेसिक शिक्षा में क्रियात्मक एवं समवाय शिक्षण सम्बन्धी गुणों के रहते हुए भी हमें वही अभाव खटकता है जो प्रोजेक्ट या खेल प्रणाली मे है, अर्थात् भाषा एवं साहित्य की विधिवत् एवं उत्तरोत्तर विकास की दृष्टि से क्रमायोजित शिक्षा नहीं हो पाती। उद्योग, सामाजिक वातावरण, प्राकृतिक वातावरण, सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि से सम्बन्धित प्रकरण सीमित होते है। भाषिक तत्त्वों के ज्ञान के लिए भी प्रचुर अवसर नहीं मिलते। अतः भाषा एवं साहित्य के स्फुट एवं प्रासंगिक ज्ञान के लिए तो बेसिक शिक्षा की समवाय प्रणाली में अवसर मिलते हैं पर सांगोपांग, क्रमबद्ध भाषा-शिक्षण के लिए नही।

सारांश

इस अध्याय में वर्णित सभी प्रणालियाँ खेल और क्रिया पर आधारित हैं और निश्चित ही शिक्षण-प्रक्रिया को रोचक, सजीव और सुग्राह्य बनाने में उनका बहुत बड़ा योगदान है, पर माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक स्तर पर भाषा-शिक्षण की दृष्टि से उनका प्रयोग सीमित रूप में ही सम्भव है। किंडर गार्टन, माण्टेसरी प्रणालियाँ तो केवल शिशुओं के लिए है। खेल प्रणाली भी प्रारम्भिक कक्षाओं मे ही सफल हो सकती है। माध्यमिक कक्षाओ में शब्द रचना, वाक्य रचना सम्बन्धी कुछ खेल अवश्य आयोजित हो सकते है। बेसिक शिक्षा में समवाय प्रणाली प्राइमरी कक्षाओं में सफल हो सकती है, पर माध्यमिक स्तर पर शिल्प से सह-सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं हो पाता और बहुत थोड़े प्रकरण ऐसे होते है जिन्हें समवाय प्रणाली से पढ़ाया जा सकता है। प्रोजेक्ट प्रणाली में भी यही कठिनाई होती है। डाल्टन योजना या स्वाध्याय विधि का प्रयोग कुछ अधिक सीमा तक हो सकता है पर भाषा-शिक्षण का पूर्ण रूप उसके द्वारा भी सम्भव नही। अतः माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक स्तर पर इन प्रणालियों की भाषा-शिक्षण की दृष्टि से इतनी ही देन है कि हम भाषा-शिक्षण की प्रक्रिया को अधिक से अधिक क्रियात्मक, रोचक और सजीव बनाएँ, बालक उस प्रक्रिया में रुचि एवं आनन्द के साथ सक्रिय भाग लें और स्वयं-शिक्षा के पथ पर अग्रसर हों।

प्रश्न

किंडर गार्टन एवं मांटेसरी प्रणालियों में भाषा-शिक्षण की प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालिए।

2. माध्यमिक स्तर पर भाषा-शिक्षण में खेल प्रणाली का क्या योगदान संभव है ? सोदाहरण लिखिये।

3. भाषा-शिक्षण की दृष्टि से प्रोजेक्ट प्रणाली एवं बेसिक शिक्षा प्रणाली के योगदान पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार कीजिए।

4. "डाल्टन योजना में बालक की व्यक्तिगत शिक्षा पर बल दिया जाता है और उसे स्वाध्याय द्वारा-प्रगति करने का पूर्ण अवसर मिलता है।" डाल्टन योजना की विधि पर प्रकाश डालते हुए इस कथन की सार्थकता सिद्ध कीजिये और बताइये कि भाषा-शिक्षण में इसका क्या उपयोग है ?

5. निर्दिष्ट कार्य विधि एवं निरीक्षित स्वाध्याय विधि की भाषा-शिक्षण में क्या उपयोगिता है ?

25

पुस्तकालय, वाचनालय, भाषा-कक्ष

[पुस्तकालय की आवश्यकता एवं उपयोगिता, पुस्तकालय का संगठन, पुस्तकों का चयन, भाषा एवं साहित्य अनुभाग, पुस्तकों के प्रयोग सम्बन्धी आवश्यक बातें, कक्षा-पुस्तकालय, वाचनालय, हिन्दी भाषा-कक्ष]

"पुस्तकालय नवीन पुनर्गठित विद्यालय के बौद्धिक एवं साहित्यिक जीवन का केन्द्र है और समस्त विषयों की शिक्षा के लिए इसका वही स्थान है जो विज्ञान के अध्ययन के लिए प्रयोगशाला का और प्राविधिक अध्ययन के लिए वर्कशाप का।"

—माध्यमिक शिक्षा (मुदालियर) आयोग

पुस्तकालय की आवश्यकता एव उपयोगिता—

प्रसिद्ध शिक्षा-दार्शनिक जान ड्यूवी ने पुस्तकालय को शिक्षालय के हृदय की संज्ञा प्रदान की है क्योंकि इस केन्द्र में आकर बालक अपनी अनुभूतियों, समस्याओं एवं प्रश्नों के उचित समाधान एवं उत्तर प्राप्त करते है। पुस्तकालय मानव द्वारा अर्जित अनुभव एवं ज्ञान की सचित निधि है और छात्रों के अज्ञान-तिमिर को नष्ट कर नवीन ज्ञान-ज्योति विकीर्ण करने का अनुपम साधन है। मानव जीवन के बौद्धिक एवं सांस्कृतिक उत्कर्ष का वह सर्वश्रेष्ठ विधायक है। महान् विचारक सिसरो की दृष्टि से "पुस्तक रहित कक्ष वैसे ही है जैसे आत्मा रहित शरीर।" अतः विद्यालय के लिए पुस्तकालय की व्यवस्था बहुत ही आवश्यक है।

सक्षेप में पुस्तकालय की उपयोगिताएँ निम्नांकित हैं—

सर्वसामान्य उपयोगिताएँ—

1. **आत्म शिक्षा**[1]—पुस्तकालय बालक अथवा व्यक्ति की आत्म शिक्षा का बहुत बड़ा साधन है। कक्षा में शिक्षक द्वारा प्रदत्त शिक्षा रीतिबद्ध, औपचारिक एवं विषय-क्षेत्र से प्रतिबंधित होती है, बालक शिक्षक पर निर्भर रहता है, किन्तु पुस्तकालय में वह स्वयं-शिक्षा ग्रहण करता है और उसमें अध्ययन की दृष्टि से आत्म निर्भरता का भाव विकसित होता है।

2. **सतत शिक्षा**[2]—पुस्तकालय सतत एवं निरन्तर शिक्षा का साधन है।

1. Self education 2. Perpetual education

विद्यालय की शिक्षा निश्चित अवधि के बाद समाप्त हो जाती है, पर पुस्तकालय द्वारा अध्ययन का क्रम आजीवन चलता रहता है। शिक्षा विशेषज्ञों का कहना है कि जीवन की वास्तविक एवं व्यावहारिक शिक्षा तो विद्यालय छोड़ने के बाद ही प्रारम्भ होती है और इस समय ज्ञान-प्राप्ति का साधन पुस्तकालय ही रहता है।

3. सार्वजनीन शिक्षा[3]—पुस्तकालय सार्वजनीन रूप से शिक्षा का साधन है। केवल छात्र ही नहीं, बल्कि सभी उससे लाभ उठा सकते है।

4. सामाजिक सम्पर्क का साधन—आज का विद्यालय सामाजिक जीवन एवं क्रियाओं का केन्द्र माना जाता है और इस दृष्टि से विद्यालय को सामाजिक संपर्क बनाए रखने के लिए अनेक शैक्षिक एवं सांस्कृतिक क्रिया-कलापों का आयोजन करना पड़ता है। इन क्रियाओं में पुस्तकालय का महत्त्वपूर्ण योगदान है। विद्यालय का पुस्तकालय स्थानीय समुदाय के लिए एक प्रमुख आकर्षण का विषय बन सकता है। प्रतिदिन कुछ समय के लिए पुस्तकालय समुदाय के लिए खुला रहना चाहिए।

उपर्युक्त उपयोगिताओं के अतिरिक्त शिक्षालय, शैक्षिक कार्यक्रम एवं शिक्षार्थियों की दृष्टि से पुस्तकालय की उपयोगिताओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

5. कक्षा में प्राप्त ज्ञान का संवर्द्धन एवं योग्यता-विस्तार—पुस्तकालय के प्रयोग से बालक कक्षा में प्राप्त ज्ञान के संवर्द्धन में एवं योग्यता-विस्तार में समर्थ एवं सफल होता है और अपनी रुचि के विषयों में अधिक से अधिक गहन अध्ययन कर सकता है।

कक्षा में पाठ्यपुस्तकों द्वारा बालक का वास्तविक बौद्धिक विकास नहीं हो पाता, पर उसकी आधार शिला अवश्य पड़ जाती है। उसे विकसित करने के लिए पुस्तकालय एक अच्छा साधन है जहाँ विविध विषयों की पुस्तकें पढ़ने से बालक का सामान्य ज्ञान बढता है और उसे विचार करने की प्रेरणा मिलती है।

कक्षा मे बालक किसी निबन्धकार या कहानीकार की एक-दो रचनाएँ पढ़ता है, उसमें उस साहित्यकार की और रचनाएँ पढ़ने की जिज्ञासा प्रबल हो उठती है, इस जिज्ञासा की तृप्ति वह पुस्तकालय से कर सकता है। इसी प्रकार संदर्भ ग्रन्थों, कोशों, उपजीव्य अथवा आकर ग्रन्थों के अवलोकन के लिए भी पुस्तकालय ही साधन है।

6. स्वाध्याय की आदत—पुस्तकों के पढ़ते रहने से बालकों में स्वाध्याय की आदत पड़ जाती है, ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा जागरित हो जाती है और वे "अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्" की उक्ति चरितार्थ करने का प्रयत्न करते हैं।

---

3. Universal education.

पुस्तकालय द्वारा बालकों को ज्ञान की अगाध राशि का पता चलता है। "मनुष्य जितना ही ज्ञान प्राप्त करता जाता है, उतना ही अपनी अल्पज्ञता का अनुभव करता है," की उक्ति उसके सम्मुख सत्य सिद्ध होने लगती है और उसमें अधिकाधिक ज्ञान-प्राप्ति की उत्कण्ठा पैदा हो जाती है। पाठ्यपुस्तक अथवा कक्षा-शिक्षण मात्र से यह उत्कण्ठा नहीं जागरित हो पाती।

7. साहित्यिक, शैक्षिक एवं सहशैक्षिक क्रियाओं में सहायता—भाषण, वाद-विवाद, विचारगोष्ठी, कविता-संकलन, कविता-सुपाठ आदि कार्यक्रमों एवं प्रतियोगिताओं के लिए तैयारी एवं सामग्री चयन में पुस्तकालय से ही सहायता मिलती है।

8. विविध रुचियों का निर्माण तथा व्यक्तित्व का विकास—छात्रों में बहुमुखी रुचियों के निर्माण के लिए पुस्तकालय का प्रयोग एक अच्छा साधन है। यहाँ बालक अनेक विषयों की पुस्तकों का अवलोकन करते हैं और इससे उनके संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास में सहायता मिलती है।

विविध विषयों के अध्ययन से छात्र की विशेष रुचि का भी पता चल जाता है क्योंकि जिस विषय में उसकी विशेष रुचि होती है, उसका अध्ययन वह गहराई से करता है।

9. अवकाश का सदुपयोग—पुस्तकालय द्वारा छात्र अपने अवकाश का उपयोग रचनात्मक रूप से करना सीख जाता है और समय का अपव्यय नहीं करता। वह पढ़ने में आनन्द का अनुभव करने लगता है। यहाँ वह परीक्षा की दृष्टि से नहीं पढ़ता बल्कि ज्ञानवर्द्धन और आनन्द के लिए पढ़ता है।

10. वैयक्तिक विशेषताओं की समुन्नति एवं विकास—कक्षा के सामूहिक शिक्षण में प्रत्येक बालक की निजी विशेषताओं की ओर ध्यान देने का अवसर नहीं मिलता। शिक्षक छात्र की व्यक्तिगत रुचि, योग्यता और प्रवणता को ध्यान में रख कर यथावश्यक पुस्तकों के अध्ययन के लिए उसे पुस्तकालय में भेज सकता है और उसकी विशिष्ट प्रतिभा को समुचित दिशा में विकसित करने का अवसर प्रदान कर सकता है।

11. मौन पठन का अभ्यास—पुस्तकालय में मौन पठन का अभ्यास होता है और इसकी आदत सुदृढ हो जाती है, जो पठन का सर्वोत्तम रूप और भावी जीवन के लिए बहुत उपयोगी है।

12. निर्धन छात्रों की सहायता—उत्तरोत्तर ज्ञान-विज्ञान के विकास और विस्तार के कारण पुस्तकों की संख्या इतनी बढ़ती जा रही है कि सम्पन्न परिवार का बालक भी सभी पुस्तकें नहीं खरीद सकता और निर्धन परिवार के बालक तो पाठ्यपुस्तकें एवं सहायक पुस्तकें भी खरीदने में असमर्थ रहते है। अतः उनको पुस्तकालय से सहज ही आवश्यक पुस्तकें सुलभ हो जाती है। पुस्तकालय में एक ही पुस्तक से सैकड़ों पाठक लाभान्वित होते रहते है।

13. पुस्तकों के प्रति सावधानी एवं सम्मान—पुस्तकालय में बालकों में पुस्तक ठीक से उठाने, स्वच्छ रखने और उचित ढंग से पढ़ने की आदत पड़ती है और वे पुस्तकों का सम्मान करना सीख जाते है। पुस्तकालय के शांत, स्वच्छ एवं सुव्यवस्थित वातावरण का उनके अध्ययन पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

14. शिक्षकों के लिए उपयोगिता—शिक्षण की दृष्टि से आवश्यक ज्ञान के लिए ही नही अपितु स्वयं अपने विशेष ज्ञान-विस्तार के लिए भी पुस्तकालय का प्रयोग करता है। संदर्भ पुस्तकें, कोश आदि की आवश्यकता सदा पड़ती रहती है। शोध के लिए अध्ययन सामग्री पुस्तकालय से ही प्राप्त होती है।

पुस्तकालय का संगठन

पुस्तकालय से लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि उसका संगठन ठीक प्रकार से किया जाय और उसमें सभी आवश्यक एवं अच्छी पुस्तकें रखी जायँ। इस दृष्टि से निम्नांकित बातें आवश्यक हैं—

1. पुस्तकालय भवन—विद्यालय भवन में अथवा विद्यालय के घेरे में किसी सुन्दर एवं केन्द्रीय स्थान पर पुस्तकालय स्थित होना चाहिए। 'माध्यमिक शिक्षा आयोग' का मत है कि "पुस्तकालय ऐसे आकर्षक स्थान पर बनाया जाय कि बालक स्वभावतः उसकी ओर आकर्षित हों, एक खुले हुए, वायु-प्रकाश युक्त बड़े हाल या कमरे में इसकी व्यवस्था होनी चाहिए। दीवालें सुरुचिपूर्वक रँगी हों फूलों के वन्दनवारों से तथा कलात्मक ढंग से महान् पुरुषों के सुन्दर चित्रों से उसे सुसज्जित रखा जाय।" फर्श पर चटाई बिछी हो जिससे आते-जाते आवाज न हो। कमरे की छत ऊँची हो। इससे बालकों में सुरुचि एवं सौन्दर्य-भावना का विकास होता है और अध्ययन की प्रेरणा मिलती है।

2. पुस्तकाध्यक्ष—पुस्तकालय की व्यवस्था का उत्तरदायित्व किसी प्रशिक्षित पुस्तकाध्यक्ष पर होना चाहिए। यदि आर्थिक अभाव से प्रशिक्षित पुस्तकाध्यक्ष न रखा जा सके तो किसी कुशल अध्ययन-प्रेमी अध्यापक को इसका उत्तरदायित्व सौंपा जाय। उसे विद्यालय के कार्यों से थोड़ी मुक्ति भी प्रदान की जाय जिससे वह पुस्तकालय के कार्य में समय दे सके।

पुस्तकाध्यक्ष का व्यवहार शिष्ट और सहानुभूतिपूर्ण तथा छात्रों को अध्ययन के लिए प्रेरणादायी होना चाहिए। बालकों को पुस्तकें देने और अध्ययन सम्बन्धी उचित परामर्श और निर्देशन देने में उसे प्रसन्नता का अनुभव होना चाहिए, न कि झंझट का अनुभव।

3. फर्नीचर एवं साज-सज्जा—पुस्तकालय में पर्याप्त मेज, कुर्सी, आलमारी तथा अन्य आवश्यक सामान हों। एक ओर बड़ी 3-4 मेजें व्यवस्थित ढंग से रखी जायँ और उन पर दैनिक, साप्ताहिक, मासिक पत्र-पत्रिकाएँ रखी हों।

4. खुली आलमारियों की व्यवस्था—'माध्यमिक शिक्षा आयोग' का यह सुझाव सर्वमान्य सा है कि पुस्तकालय में खुली आलमारियों की व्यवस्था होनी चाहिए। इससे बालक अपनी रुचि के अनुसार पुस्तक निकालते है और वहीं पढ़ने के बाद फिर रख देते हैं। इससे वे उचित रीति से पुस्तकों का प्रयोग जान जाते हैं और पुस्तकों की व्यवस्था में अपने उत्तरदायित्व का भी अनुभव करते हैं।

5. पुस्तकों का चयन—'माध्यमिक शिक्षा आयोग' ने ठीक ही लिखा है कि पुस्तकालय की सफलता बहुत कुछ पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं के उपयुक्त चयन पर निर्भर है। इस सम्बन्ध में निम्नांकित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(i) सभी कक्षाओं के विद्यार्थियों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए विभिन्न विषयों की और विविध स्तरों के उपयुक्त पुस्तकें रखी जायँ।

(ii) पाठ्यपुस्तकों की संख्या पर्याप्त हो जिससे शिक्षकों के साथ-साथ छात्रों के लिए भी वे सुलभ हो सकें।

(iii) प्रामाणिक शब्द-कोशों (हिन्दी, अंग्रेजी आदि) एवं सन्दर्भ ग्रन्थों की भी कुछ अधिक प्रतियाँ होनी चाहिए।

(iv) शिक्षकों के प्रयोग वाली उच्च स्तर की पुस्तकें पृथक् अनुभाग में रखी जायँ।

(v) पुस्तकें शिक्षाप्रद हों। महान् व्यक्तियों, साहित्यकारों, देशभक्तों, समाज-सुधारकों, धर्मप्रवर्त्तकों आदि की जीवनी एवं उनके कृतित्व और व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाली पुस्तकें अवश्य रखी जायँ।

(vi) राष्ट्रीय एकता में बाधक, साम्प्रदायिक कट्टरता को उभारने वाली तथा जनतन्त्र विरोधी भावना वाली पुस्तकों को पुस्तकालय में कभी स्थान नहीं देना चाहिए। साम्प्रदायिक भावना वाले समाचारपत्र, पत्रिकाएँ भी नही रहें।

(vii) अश्लील साहित्य के लिए भी पुस्तकालय में स्थान नहीं होना चाहिए।

(viii) सामान्य ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकों की उचित व्यवस्था अलग से होनी चाहिए।

(ix) पुस्तकें खरीदते समय यह ध्यान रखा जाय कि वे अच्छे कागज पर मुद्रित हों, मुखपृष्ठ आकर्षक हों, मुद्रण ठीक हो और वे सजिल्द हों। बालोपयोगी पुस्तकों मे इन सभी बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। चित्रावली एवं सचित्र पुस्तकें बालको को विशेष प्रिय हैं।

(x) पुस्तकें खरीदने के लिए कुछ पुस्तक-प्रेमी शिक्षकों की एक समिति बना देनी चाहिए जो प्रतिवर्ष उपयुक्त पुस्तकों की सूची बनाए और पुस्तकाध्यक्ष को पुस्तकें खरीदने में सहायता प्रदान करे।

(xi) पुस्तकें खरीदने पर उनका पंजीकरण ठीक प्रकार से होना चाहिए। ऐक्सेशन रजिस्टर में पुस्तक का विषय और नाम, लेखक का नाम, प्रकाशक का नाम, पुस्तक का मूल्य, क्रय तिथि आदि विवरण अवश्य रहना चाहिए जिससे पुस्तक के सम्बन्ध में किसी भी समय पूरी जानकारी हाँसिल की जा सके।

भाषा एवं साहित्य-अनुभाग

पुस्तकालय में विभिन्न विषयों की पुस्तकों के पृथक्-पृथक् अनुभाग होने चाहिए जैसे भाषा एवं साहित्य, भूगोल, इतिहास, नागरिक शास्त्र, अर्थशास्त्र, विज्ञान, गणित, वाणिज्य, गृह विज्ञान आदि। हिन्दी भाषी प्रदेशों के माध्यमिक विद्यालयों में हिन्दी भाषा एवं साहित्य की पुस्तकों की संख्या ही अधिक होती है। इन पुस्तकों को भी विषयो एवं विधाओं के अनुसार सुव्यवस्थित रीति से पृथक-पृथक् रखना चाहिए जिससे वे सरलतापूर्वक प्राप्त हो सकें। ये विभाजन इस रूप में हो सकते हैं—कोश, संदर्भ पुस्तकें, व्याकरण एवं भाषा शास्त्र सम्बन्धी, पाठ्यपुस्तकें, सहायक पुस्तकें, बाल साहित्य, काव्य, निबंध, आलोचना, भाषा एवं साहित्य के इतिहास, उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र तथा अन्य सामान्य पुस्तकें।

भाषा एवं साहित्य की पुस्तकों के चयन में प्रसिद्ध साहित्यकारों की मूल रचनाएँ, हिन्दी साहित्य के प्रत्येक काल की प्रतिनिधि रचनाएँ, संस्कृत साहित्य के हिन्दी अनुवाद आदि का ध्यान रखा जाय। नये साहित्यकारों, लेखको और कवियों की रचनाएँ भी अवश्य रखा जायें जिससे नवीन हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों से भी शिक्षक एवं शिक्षार्थी अवगत बने रहें।

पुस्तकालय में पुस्तक-प्रयोग सम्बन्धी आवश्यक बातें—

पुस्तकालय संगठन में पुस्तकालय भवन, पुस्तकाध्यक्ष, साज-सज्जा एवं पुस्तकों का चयन ही सब कुछ नही है, बल्कि इस बात पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है कि उससे बालक अधिक से अधिक लाभ उठा सकें। इस सम्बन्ध में निम्नांकित सुझाव दिए जाते हैं—

(i) पुस्तकों की सूची इस प्रकार रखी जाय कि बालक सरलता से अपनी वांछित पुस्तक ढूँढ़ लें। पुस्तकों का वर्गीकरण विषयों एवं उपविषयों के अनुसार कर लेना चाहिए।

(ii) अति आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की सूची अलग से प्रदर्शित करनी चाहिए। नई पुस्तकें मँगाने के बाद ही उनमें से विशेष पुस्तकों की सूची बनाकर टाँक देनी चाहिए। यदि उन पर प्रकाशित समीक्षाएँ हों तो उन्हें भी प्रदर्शित करना चाहिए। ऐसी पुस्तकों की प्रदर्शनी भी आयोजित की जा सकती है।

(iii) समाचार-पत्रों से प्रमुख समाचार प्रतिदिन पुस्तकालय के सूचनापट्ट पर दिए जा सकते हैं। इनसे समाचार पत्र पढ़ने की प्रवृत्ति विकसित होती है। छात्रों पर ही इसका उत्तरदायित्व भी सौपना चाहिए।

(iv) कक्षा-शिक्षण के समय आए हुए प्रसंगों, अंतःकथाओं, महापुरुषों के जीवन चरित्र आदि के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिए शिक्षक को स्वयं उपयुक्त पुस्तकें पढ़ने के लिए कहना चाहिए और पुस्तकालय से उन पुस्तकों के ढूंढ़ने में सहायता भी करनी चाहिए। ऐसी पुस्तकों की सूची शिक्षक के पास रहनी चाहिए।

(v) योग्यता-विस्तार की दृष्टि से शिक्षक जिन पुस्तकों के पढ़ने का निर्देश देता है, उन पुस्तकों की अध्ययन-सामग्री के सम्बन्ध में छात्रों से पूछताछ भी करनी चाहिए और प्रोत्साहित करते रहना चाहिए। आवश्यकतानुसार इन पुस्तकों से संक्षिप्त नोट लेने के लिए भी छात्रों को प्रेरित करना चाहिए।

कक्षा-पुस्तकालय

विद्यालय में केन्द्रीय या सर्वसामान्य पुस्तकालय के अतिरिक्त कक्षा पुस्तकालय का भी होना आवश्यक है। केन्द्रीय पुस्तकालय सामान्य प्रयोग के लिए आवश्यक है किन्तु कक्षा-पुस्तकालय में कक्षा की आवश्यकताओ को देखकर पाठ्य विषय से सम्बन्धित पुस्तकें संकलित रहती हैं। कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या परिमित रहती है अतः छात्रों को कक्षा-पुस्तकालय का अधिक लाभ उठाने का अवसर मिलता है। कक्षा-पुस्तकालय से पुस्तकें लेने में शिक्षक छात्रों की सहायता कर देता है।

कक्षा-पुस्तकालय की व्यवस्था का उत्तरदायित्व कक्षा अध्यापक पर रहता है। अतः वह पाठ्यपुस्तकों, सहायक पुस्तकों, संदर्भ ग्रन्थो, कोषों, व्याकरण ग्रन्थों की पूरी जानकारी रखता है और बच्चों को उपयुक्त पुस्तकें पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करता रहता है।

कक्षा-पुस्तकालय में बालकों को पुस्तकें देने के लिए रजिस्टर रखना चाहिए और प्रत्येक छात्र के लिए एक पृष्ठ नामांकित रहना चाहिए। प्रत्येक बालक को एक डायरी भी रखनी चाहिए जिसमें दिनांक सहित वह पढ़ी हुई पुस्तकों के नाम लिखता चले और उस पुस्तक के सम्बन्ध में कुछ समीक्षा का भी उल्लेख करता रहे।

रजिस्टर और डायरी के अवलोकन से शिक्षक को यह भी मालूम हो जाता है कि कौन बालक कक्षा-पुस्तकालय का कितना प्रयोग कर रहा है। जो बालक इसका प्रयोग नहीं करते, उन्हें वह इनके अध्ययन की आवश्यकता बताकर पढ़ने के लिए प्रेरित कर सकता है।

वाचनालय

विद्यालय में पुस्तकालय के साथ ही वाचनालय की व्यवस्था भी आवश्यक है। पुस्तकालय के हॉल या कक्ष में ही एक ओर 3-4 बड़ी मेजें लगाकर बालकों के

पढ़ने की व्यवस्था होनी चाहिए। यदि पुस्तकालय से संलग्न पृथक् कोई कक्ष हो तो वाचनालय की व्यवस्था और सुन्दर हो सकती है। वाचनालय में बिल्कुल शांति रहनी चाहिए और बालकों को इस प्रकार प्रशिक्षित करना चाहिए कि वे शांत रह कर मन ही मन पढ़ें। आपस की बातचीत बिल्कुल बंद रहनी चाहिए।

वाचनालय का सर्वाधिक प्रयोग पत्र-पत्रिकाओं के पढ़ने के लिए होता है। दैनिक पत्रों के लिए तो एक इस प्रकार का स्टैण्ड रहना चाहिए जिस पर उस दिन का समाचार पत्र खोलकर लगाया जा सके जिससे दो-तीन छात्र खड़े-खड़े एक साथ भी पढ़ सकें।

साप्ताहिक पत्र, मासिक पत्र आदि को बैठकर पढ़ने के लिए उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

दैनिक, साप्ताहिक एवं मासिक पत्रों की सूची पुस्तकाध्यक्ष के पास रहनी चाहिए। हिन्दी में अब इन समाचार पत्रों, साप्ताहिक एवं मासिक पत्र-पत्रिकाओं की संख्या काफी बढ़ गई है। अतः उनमें से उपयुक्त पत्र-पत्रिकाएँ ही विद्यालय की आर्थिक सुविधा देखते हुए मँगानी चाहिए।

पुरानी पत्र-पत्रिकाओं की फाइल ठीक प्रकार से रखनी चाहिए जिससे समय पर आवश्यकतानुसार उनका प्रयोग किया जा सके।

हिन्दी भाषा-कक्ष

अच्छे विद्यालयों में प्रत्येक विषय का अलग-अलग कक्ष होता है। इससे उस विषय के अनुकूल साज-सज्जा, कक्षा-पुस्तकालय, चार्ट, चित्र, मॉडल आदि की व्यवस्था करने और उचित शैक्षणिक वातावरण का निर्माण करने में सहायता मिलती है। अतः प्रत्येक विद्यालय मे हिन्दी भाषा-कक्ष अवश्य होना चाहिए जिससे भाषा और साहित्य की शिक्षा की दृष्टि से उचित वातावरण बनाया जा सके।

हिन्दी भाषा कक्ष की साजसज्जा एवं आवश्यकताएँ--हिन्दी शिक्षण को प्रभावपूर्ण बनाने की दृष्टि से हिन्दी-कक्ष में निम्नांकित उपकरणों का होना आवश्यक है—

1. श्यामपट्ट—स्वच्छ एवं चौरस श्यामपट्ट हो और इतना लम्बा-चौड़ा अवश्य हो कि शिक्षण के समय आवश्यक भाषा कार्य एवं अन्य सामग्री का उल्लेख किया जा सके। पहले शिक्षणोपकरणों के संदर्भ में श्यामपट्ट के सम्बन्ध में आकार-प्रकार सम्बन्धी उल्लेख किया जा चुका है।

2. भाषा-शिक्षण सम्बन्धी उपकरणों की व्यवस्था—प्रसिद्ध साहित्यकारों के चित्र, प्रसिद्ध साहित्यिक संदर्भ वाले दृश्यों के चित्र, चार्ट, रेखाचित्र आदि सुन्दर ढंग से दीवालों पर सुसज्जित हों।

यदि विद्यालय की आर्थिक स्थिति अच्छी है तो अन्य उपकरण—रेडियो, टेपरेकार्डर, टेलिविजन, चित्र विस्तारक यंत्र, ग्रामोफोन आदि की भी व्यवस्था भाषा-कक्ष में रहनी चाहिए जिससे यथा अवसर उनका प्रयोग किया जा सके।

हिन्दी साहित्य के कालक्रमानुसार चार्ट, कवियों एवं साहित्यकारों के संक्षिप्त विवरण सहित, दीवालों पर टँगे होने चाहिए।

भाषा-सामग्री के चार्ट भी प्रदर्शित रहने चाहिए जैसे नौ रसों के उदाहरण, प्रमुख अलंकार, उच्चारण अवयवों का चार्ट, व्याकरणिक रूपों के चार्ट, प्रमुख विधाओं के चार्ट आदि।

भाषा-कक्ष में शीशे की ऐसी आलमारियों की भी व्यवस्था की जा सकती है जिसमें बालकों की हस्तलिखित पत्रिकाएँ, विद्यालय पत्रिका, छात्रों द्वारा रचित कहानियाँ, कविताएँ आदि रखी जा सकती हैं। इससे छात्रों में सृजनात्मक साहित्यिक रुचि का विकास होता है।

कक्षा-पुस्तकालय—कक्षा-पुस्तकालय का उल्लेख पहले किया जा चुका है। हिन्दी-कक्ष में ही इस पुस्तकालय की व्यवस्था होनी चाहिए। इससे छात्रों को तत्काल ही आवश्यक पुस्तकें सुलभ हो जाती है। शब्दकोषों की अनेक प्रतियाँ होनी चाहिए जिससे अनेक बालक एक ही समय पृथक्-पृथक् उनका प्रयोग कर सकें।

सारांश

पुस्तकालय विद्यालय के बौद्धिक एवं साहित्यिक जीवन का केन्द्र है। उसकी उपयोगिताएँ मुख्यतः ये हैं—आत्मशिक्षा, सतत् शिक्षा, सार्वजनीन शिक्षा, सामाजिक संपर्क का साधन, ज्ञान-संवर्द्धन एवं योग्यता विस्तार, स्वाध्याय की आदत, साहित्यिक क्रियाओं में सहायता, विविध रुचियों का निर्माण, अवकाश का सदुपयोग, वैयक्तिक विशेषताओं की समुन्नति, मौन पठन का अभ्यास, निर्धन छात्रों की सहायता, पुस्तकों के प्रति सावधानी एवं सम्मान, शिक्षकों के लिए उपयोगिता।

पुस्तकालय के संगठन में निम्नांकित बातें ध्यातव्य हैं—पुस्तकालय भवन, पुस्तकाध्यक्ष, फर्नीचर एवं साज-सज्जा, खुली आलमारियों की व्यवस्था, पुस्तकों का चयन एवं संकलन। भाषा एवं साहित्य अनुभाग—भाषा एवं साहित्य के विविध पक्षों से संबंधी पुस्तकें रखी जायँ—कोश, संदर्भ पुस्तकें, व्याकरण एवं भाषा-शास्त्र सम्बन्धी पुस्तकें, पाठ्यपुस्तकें, सहायक पुस्तकें, बालसाहित्य, काव्य, निबंध, आलोचना, भाषा एवं साहित्य के इतिहास, उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, जीवनी, आत्मकथा, रेखाचित्र, अन्य सामान्य पुस्तकें।

भाषा एवं साहित्य के शिक्षण को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए कक्षा पुस्तकालय एवं भाषा-कक्ष की भी आवश्यकता है जिनके द्वारा पुस्तकों के प्रयोग एवं उचित वातावरण-निर्माण में विशेष सहायता मिलती है।

प्रश्न

1. विद्यालय के लिए पुस्तकालय क्यों आवश्यक है ? उसकी उपयोगिताओं पर प्रकाश डालिए।

2. पुस्तकालय-संगठन में किन-किन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है ?

3. पुस्तकों के चयन में कौन-कौन सी बातें विचारणीय हैं ?

4. भाषा एवं साहित्य अनुभाग में किस प्रकार की पुस्तकें आवश्यक हैं ?

5. हिन्दी कक्षा-पुस्तकालय एवं हिन्दी-कक्ष के महत्त्व एवं उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

26

क्रियात्मक शोध तथा हिन्दी-शिक्षण

[क्रियात्मक शोध का तात्पर्य एवं उसकी उपयोगिता, मौलिक एवं क्रियात्मक शोध में अन्तर, क्रियात्मक शोध का क्षेत्र, क्रियात्मक शोध की क्रिया विधि, भाषा-शिक्षण में क्रियात्मक शोध, वर्तनी समस्या पर क्रियात्मक शोध की एक रूपरेखा]

"क्रियात्मक शोध एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा शोधकर्त्ता अपने कार्यों एवं निर्णयों के निर्देशन, संशोधन और मूल्यांकन की दृष्टि से अपनी समस्याओं का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने का प्रयास करता है।" —एस० एम० कोरे

क्रियात्मक शोध का तात्पर्य एवं उसकी उपयोगिता

शिक्षा के क्षेत्र में क्रियात्मक शोध एक नवीन प्रयोग है। विद्यालय के विविध शैक्षणिक एवं सह-शैक्षणिक क्रिया-कलापों में सुधार के लिए इसका उपयोग किया जा सकता है।

भाषा-शिक्षण के क्षेत्र में तो इसकी उपयोगिता और भी अधिक है क्योंकि भाषा का क्षेत्र अति व्यापक है और भाषा-शिक्षक को प्रायः भाषा-शिक्षण सम्बन्धी किसी न किसी समस्या (उच्चारण, वर्तनी, पठन, लेखन, शब्द रचना, शब्द प्रयोग, वाक्य रचना, व्याख्या आदि) का सामना करना ही पड़ता है और यदि उस समस्या का वैज्ञानिक अध्ययन करके उचित समाधान नहीं किया जाता तो बालकों की भाषा-योग्यताओं का समुचित विकास नहीं हो पाता। अतः प्रस्तुत समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन करना, समस्यागत कठिनाइयों के कारणों का पता लगाना, उचित संकल्पनाएँ करना, उनका प्रयोग करना, सफलता-असफलता के आधार पर सही प्रयोगों का प्रतिपादन करना, निष्कर्षों के आधार पर सामान्यीकरण करना और समस्या का सही समाधान प्राप्त कर शिक्षण-क्रिया में सुधार लाना ही क्रियात्मक शोध की उपयोगिता है।

---

1. "The process by which practitioners attempt to study their problems scientifically in order to guide, correct and evaluate their decisions and actions is what a number of people have called action research." —S. M. Corey

श्री एस० एम० कोरे और जे० के० शुक्ला के अनुसार क्रियात्मक शोध की परिभाषा इस प्रकार है—

"शिक्षक जो शोध करता है, जो अपने शिक्षण में सुधार के लिए प्रयोग करता है, वह प्रमाण का उपासक होता है। वह अपनी समस्याओं का वैज्ञानिक ढंग से समाधान करने का प्रयत्न करता है। वह शैक्षिक शोधकर्त्ता है। वह अपने कार्यों में सुधार करने के लिए शोध करता है।"[2]

अतः "शोधकर्त्ताओं द्वारा अपने व्यक्तिगत सुधार के लिए अपने कार्य-प्रयोगों में शोध करते रहना ही क्रियात्मक शोध है।"

मोली का कहना है कि "शिक्षा सम्बन्धी अनेक समस्याओं पर तत्काल ध्यान देने की आवश्यकता है और व्यापक मूल सिद्धांतों के निरूपण की अपेक्षा इन समस्याओं पर तत्काल और सीधे ध्यान देना अधिक आवश्यक और उपयोगी है। जिस क्षण समस्या प्रस्तुत हो, उसी समय उसके समाधान के लिए शोधकार्य में लग जाना सामान्यतः शिक्षा में क्रियात्मक शोध कहलाता है।"

मौलिक एवं क्रियात्मक शोध में अन्तर

मौलिक शोध एवं क्रियात्मक शोध की क्रियाविधि (प्रोसीजर) एक ही है जैसे समस्या की पहचान, विशिष्ट समस्या का सीमांकन, समस्या के कारणों का निदान, संकल्पनाओं (हाइपोथेसिस) का निर्माण, प्रयोग एवं परीक्षण, सामान्यीकरण एवं सिद्धांत-निरूपण आदि। ये प्रक्रियाएँ दोनों में ही अपनाई जाती हैं, पर उद्देश्य, क्षेत्र एवं परिणाम की दृष्टि से इनमें अन्तर है—

(i) मौलिक शोध में शोधकर्त्ता का उद्देश्य व्यापक सर्वमान्य नियमों (सत्यों) का अन्वेषण करना होता है, जबकि क्रियात्मक शोध में किसी विशिष्ट क्षेत्र के कार्यों में सुधार लाने के लिए ही समस्या का समाधान प्राप्त करना उद्देश्य होता है।

मौलिक शोध का उद्देश्य मुख्यतः नूतन ज्ञानोपलब्धि होता है जबकि क्रियात्मक शोध का उद्देश्य मुख्यतः क्षेत्र विशेष में उत्पन्न समस्या के समाधान द्वारा कार्य-विशेष में सुधार लाना होता है।

(ii) मौलिक शोध का कार्य-क्षेत्र भी व्यापक और विस्तृत होता है पर क्रियात्मक शोध का क्षेत्र उस कार्य-क्षेत्र से सम्बन्धित समस्या तक ही सीमित रहता है, जिसके समाधान द्वारा कार्य में सुधार लाना उद्देश्य होता है।

---

2. "The teacher who does research, who experiments to improve his teaching, is dedicated to evidence. He tries to solve his problems scientifically. He is an educational researcher. He conducts his research to improve his own practice." —S. M. Corey & J. K. Shukla

(iii) मौलिक शोध द्वारा प्राप्त निष्कर्ष या निर्णय सर्वमान्य एवं स्थायी से होते है जबकि क्रियात्मक शोध के निर्णय केवल सम्बन्धित विशिष्ट क्षेत्र में ही सार्थक सिद्ध होते हैं।

(iv) मौलिक शोध की एक निश्चित क्रियाविधि होती है और उसका विधिवत् पालन आवश्यक है जब कि क्रियात्मक शोध में शिक्षक आवश्यकता एवं परिस्थिति के अनुसार अपनी क्रियाविधि अपनाता है।

(v) मौलिक शोध में व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में शोधकार्य ले सकता है जब कि क्रियात्मक शोध में व्यक्ति अपने कार्य-क्षेत्र की समस्या पर शोध करता है। उदाहरणतः भाषा का शिक्षक भाषा-शिक्षण सम्बन्धी क्षेत्र में ही क्रियात्मक शोध करेगा, अन्य विषय पर नहीं।

क्रियात्मक शोध का क्षेत्र

शिक्षण क्रिया में सुधार लाने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक, प्रधानाचार्य, निरीक्षक एवं शिक्षार्थी अपने कार्यों का सतत् परीक्षण करते रहें। उन्हें अपनी कल्पना का प्रयोग सृजनात्मक एवं रचनात्मक ढंग से ही करना चाहिए। उन्हें अपने कार्यों एवं प्रयोगों में आधुनिक जीवन की आवश्यकताओं और माँगों की पूर्ति की दृष्टि से वांछित परिवर्तन करते रहना चाहिए। उत्साह पूर्वक अच्छे परिणाम देने वाले प्रयोगों की जाँच करते रहना चाहिए और विधिवत् एवं सुव्यवस्थित रूप से उनकी उपयोगिता के प्रमाण भी एकत्र करते रहना चाहिए। समस्या का वस्तुनिष्ठ एवं क्रमबद्ध रूप से अध्ययन ही क्रियात्मक शोध का आधार है।

सामान्यतः क्रियात्मक अनुसंधान का क्षेत्र निम्नांकित बिन्दुओं के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है—

1. बालकों की आवश्यकताओं का अध्ययन
2. रुचियों का अध्ययन
3. अनुशासन सम्बन्धी समस्याएं
4. सामाजिक समस्याएँ
5. सीखने एवं सिखाने का सामाजिक वातावरण
6. शिक्षकों की समस्याएं
7. पाठ्यक्रम निर्माण
8. अन्य सम्बन्धित समस्याएं

क्रियात्मक शोध की क्रियाविधि

क्रियात्मक शोध की क्रियाविधि में निम्नांकित सोपान मुख्य हैं—

1. समस्या क्षेत्र की पहिचान।
2. विशिष्ट समस्या का चुनाव।

3. समस्या के सम्भाव्य कारणों का निदान।

4. क्रियात्मक संकल्पनाओं का निर्माण।

5. प्रस्तावित कार्य द्वारा निश्चित परिणामों की अपेक्षा करना।

6. क्रियात्मक कार्यक्रम तैयार करना, यह पता लगाने के लिए कि किस सीता तक लक्ष्य-पूर्ति हुई है, तथ्यों एवं आँकड़ों को एकत्र करना। इसे संकल्पना को प्रमाणीकृत करना (Verification of hypothesis) कहते है।

7. सामान्यीकरण और सामान्य सिद्धांतों का परवर्ती क्रियात्मक स्थितियों द्वारा परीक्षण।

1. समस्या क्षेत्र की पहिचान—समस्या की पहिचान एवं उसका चयन क्रियात्मक शोध का पहला चरण है। समस्या की स्पष्ट पहिचान के विना उस समस्या के समाधान की आवश्यकता का तीव्र अनुभव शोधकर्त्ता को नहीं होगा। समस्या विद्यालय के आन्तरिक कार्यों से ही सम्वन्धित होनी चाहिए ताकि उसका अध्ययन विद्यालय के भीतर ही हो सके।

समस्या-क्षेत्र से शिक्षक का भली-भाँति अवगत होना और उसमें उसकी वास्तविक रुचि का होना भी आवश्यक है। समस्या-क्षेत्र से परिचित होना एवं उसके क्रिया-क्षेत्र में अनुभव होने के कारण शिक्षक उस समस्या की छान-वीन करने की आवश्यकता का अनुभव करता है। ऐसी समस्या का चुनना और भी अच्छा होगा जिसमें कुछ और शिक्षक भी रुचि रखते हों जिसके सम्मिलित रूप से शोधकार्य हो सके। उदाहरण के लिए भाषा-शिक्षक के सामने प्रायः उच्चारण, वर्तनी, शब्द प्रयोग, शब्द रचना, वाक्य रचना, पठन, लेखन सम्वन्धी विविध समस्याएँ उठती रहती हैं, वह इनमें से किसी भी प्रस्तुत ज्वलन्त समस्या को क्रियात्मक शोध की दृष्टि से चुन सकता है।

2. समस्या का सीमांकन एवं विशिष्ट समस्या[3]—समस्या के सीमांकन का अर्थ है—व्यापक समस्या-क्षेत्र को सीमांकित करके एक निश्चित विशिष्ट समस्या को चुनना। उदाहरणतः वर्तनी की समस्या एक वृहत् एवं व्यापक समस्या है और सभी कक्षा-स्तरों पर व्याप्त है अतः शिक्षक-शोधकर्त्ता किसी एक कक्षा अथवा उसके एक अनुभाग (सेक्शन) के छात्रों के लिए वर्तनी सम्बन्धी समस्याओं में से एक विशिष्ट समस्या; जैसे श, ष, स से सम्बन्धित वर्तनी-त्रुटियो की समस्या सीमांकित करता है और उसी पर क्रियात्मक शोध करता है। इस प्रकार एक निश्चित विशिष्ट समस्या चुनकर ही उसका वस्तुनिष्ठ एवं क्रमवद्ध रूप से अध्ययन किया जा सकता है।

---

3. Defining the problem area 4. Diagnosis of the difficulties

3. समस्या के कारणों अथवा कठिनाइयों का निदान[4]——समस्या चयन के बाद शोधकर्त्ता को प्रमाणों एवं साक्षियों के आधार पर समस्या के सभी कारणों का सही-सही पता लगाना चाहिए। कारणों के इस निदान पर ही क्रियात्मक शोध की सफलता निर्भर करती है। कारणों के विश्लेपण मे ध्यातव्य बातें है——(*i*) समस्या के साथ उस कारण का तर्कयुक्त सम्बन्ध हो, (*ii*) उस कारण का परीक्षण हो सके, (iii) समस्या के साथ उसकी विशिष्टता स्पष्ट हो, वे वास्तविक एवं प्रामाणिक हों और उनका स्रोत भी ज्ञात हो।

4. क्रियात्मक संकल्पनाओं का निर्माण[5]——समस्या के कारणों के विश्लेषण एवं निदान के बाद अगला चरण है क्रियात्मक संकल्पना का निर्माण। इसमें विशेप सावधानी की आवश्यकता है। इसका तात्पर्य है उन क्रियाओं के बारे में विचार करना जिससे समस्या का निराकरण संभव हो। ये क्रियात्मक सकल्पनाएँ आनुमानिक समाधान है। प्रयोग की कसौटी पर कसकर ही यह मालूम होगा कि वे कहाँ तक विश्वसनीय हैं।

5. कार्य-योजना का निर्माण और उसका प्रयोग[6]——क्रियात्मक संकल्पना के निर्माण के बाद शोधकर्त्ता कार्य-योजना तैयार करता है और संकल्पना के आधार पर प्रयोग करता है। वह उस कार्य-योजना को संपादित करने के लिए सारी स्थितियों पर विचार करता है जैसे, क्या तथ्यात्मक सामग्री आवश्यक है? उन्हें कैसे प्राप्त और एकत्र किया जाय? उन्हें एकत्र करने मे कितना समय लगेगा? उन्हे एकत्र करने में अन्य कौन से उपकरण आवश्यक हैं? आदि-आदि।

कार्य-योजना में शोधकर्त्ता को यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि उसके क्रियात्मक शोध से विद्यालय के शेष कार्यों में कोई बाधा नहीं पड़ेगी और वे पूर्ववत् संपन्न होते रहेंगे।

6. क्रियात्मक संकल्पनाओं का परीक्षण एवं प्रमाणीकरण—क्रियात्मक संकल्पना के आधार पर निश्चित कार्य-योजना के सम्पादन द्वारा यदि अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति होती है तो उसे स्वीकार कर लिया जाता है अन्यथा उसे छोड़ दिया जाता है। कार्य-संपादन करते समय आवश्यकतानुसार संकल्पना मे सुधार या परिवर्तन भी किया जा सकता है। शोधकर्त्ता का ध्यान सदा अपनी लक्ष्य प्राप्ति की ओर रहता है अतः वह संकल्पनाओं की सार्थकता एवं उपयोगिताओं का पता लगाने के लिए अनेक परीक्षण-विधियों का प्रयोग करता है; जैसे, निरीक्षण, प्रश्नावली का प्रयोग, साक्षात्कार, परीक्षा-पत्र, चेक-लिस्ट, रेटिंग स्केल, सांख्यिकी विधियाँ आदि।

भाषा-शिक्षण में क्रियात्मक शोध

भापा-शिक्षण के क्षेत्र में सुधार लाने की दृष्टि से क्रियात्मक शोध की विशेष उपयोगिता है। भापा के अनेक पक्ष हैं; ज्ञान, कौशल, ग्रहण, अभिव्यक्ति, सौन्दर्य-

---

5. Formulation of action hypothesis 6. Planning action

बोध एवं अनुभूति, साहित्यिक अभिरुचि एवं अभिवृत्ति आदि । शिक्षण में इन विविध पक्षों से सम्बन्धित अनेक समस्याएँ सामने आती रहती हैं, विशेष भाषिक पक्ष संबंधी समस्याएँ; जैसे, उच्चारण, वर्तनी, शब्द-रचना, वाक्य-रचना आदि । शिक्षक इनमें से किसी एक समस्या को क्रियात्मक शोध का विषय बना सकता है और उसके निराकरण का प्रयास कर सकता है । इस दृष्टि से **वर्तनी की समस्या पर क्रियात्मक शोध की एक सामान्य रूपरेखा** प्रस्तुत की जा रही है ।

शोधकर्त्ता—कक्षा 7 का भाषा-शिक्षक

कक्षा—7, डिमांस्ट्रेशन स्कूल, अजमेर

समस्या—छात्र वर्तनी की अशुद्धियाँ बहुत करते हैं ।

समस्या का सीमांकन एवं विशिष्टीकरण–श, ष, स वर्णों से सम्बन्धित वर्तनीगत अशुद्धियाँ ।

छात्र श, ष,[7] स, के उच्चारणगत अन्तर को स्पष्ट रूप से नहीं समझते और बोलने तथा पढ़ने में इन वर्णों वाले शब्दों का अशुद्ध उच्चारण करते है । इसका प्रभाव उनकी वर्तनी पर भी पड़ता है । लिखने में 'श' की जगह 'ष' या 'स' और 'स' की जगह 'श' या 'ष' तथा 'ष' की जगह 'श' या 'स' लिख देते है ।

3. निदान–समस्या के कारण

कारण	साक्षियाँ
1. छात्र श, ष, स का स्पष्ट अन्तर नहीं समझते हैं ।	मौखिक अभिव्यक्ति एवं पठन के समय देखा गया है ।
2. श, ष, स का अशुद्ध उच्चारण करते हैं ।	,, ,,
3. विसर्ग संधि सम्बन्धी उन नियमों से परिचित नहीं है जहाँ विसर्ग का 'श' या 'ष' या 'स' हो जाता है ।	विसर्ग संधि अथवा निः, दुः उपसर्ग लगाकर शुद्ध शब्द रचना नहीं कर पाते जैसे निः + कलुष = निष्कलुष निः + चल = निश्चल निः + फल = निष्फल निः + सार = निस्सार आदि-आदि

7. 'ष' का मूल उच्चारण अब भूल सा गया है और उसका उच्चारण 'श' के समान हो गया है । अतः उच्चारण में 'श' और 'स' का अन्तर ही स्पष्ट करना चाहिए । लिखने में श, ष, स, तीनो का ध्यान रखना है । 'ष' का प्रयोग केवल संस्कृत तत्सम शब्दों में ही होता है । बालकों को स्पष्ट बता दिया जाय कि श, ष में उच्चारण-साम्य रहते हुए भी लेखन में दोनों का पृथक्-पृथक् शुद्ध प्रयोग होना चाहिए ।

4. शिक्षक 'श', 'ष', 'स' सम्बन्धी त्रुटियों की उपेक्षा कर देते हैं और उनके उचित संशोधन की ओर ध्यान नहीं देते।	रचना पुस्तिका के अवलोकन से
5. श, ष, स वाले शब्दों के लिखित अभ्यास पर्याप्त मात्रा में नहीं कराये जाते।	” “
6. स्थानीय बोलियों का प्रभाव।	मौखिक अभिव्यक्ति में देखा गया है।

4. क्रियात्मक संकल्पनाएँ

1. यदि छात्रों को श, ष, स, वर्णों का स्थान एवं प्रयत्नगत अन्तर स्पष्ट करते हुए शुद्ध उच्चारण कराया जाय और तदनुसार उनका लिखित रूप भी ज्ञात करा दिया जाय तो वे त्रुटियाँ नहीं करेंगे।

2. शिक्षक श, ष, स वाले शब्दों के शुद्ध उच्चारण का आदर्श प्रस्तुत करे और छात्रों से उन शब्दों का शुद्ध उच्चारण कराते हुए श्यामपट्ट पर उनके लिखित रूप का अभ्यास कराए तो छात्रों से यह त्रुटियाँ नहीं होंगी।

3. यदि छात्रों को विसर्ग संधि के उन नियमों का ज्ञान करा दिया जाय कि विसर्ग का किस वर्ण से संयोग होने पर 'श' या 'ष' या 'स' हो जाता है तो वे ये त्रुटियाँ नहीं करेंगे।

4. श, ष, स वाले शब्दों के अधिकाधिक लिखित अभ्यास दिए जायँ तो बालक अशुद्धियाँ नहीं करेंगे। ये अभ्यास कई प्रकार के हो सकते हैं; जैसे,

(i) केवल 'स' का प्रयोग—ह्रास, विलास, उल्लास, विकास, आवास, उद्भास, उपन्यास, विन्यास, दास, त्रास, पास, पड़ोस, प्रयास, प्रवास, रस, नीरस, वत्स, नमस्कार, पुरस्कार आदि।

(ii) केवल 'श' का प्रयोग—अवकाश, अधिकांश, आशा, निराशा, आवेश, आदेश, निर्देश, कमलेश, गणेश, महेश, सुरेश, विदेश, वेश, केश, प्रदेश, संदेश, दिनेश, भुवनेश, प्रवेश, नाश, विनाश, पाश, आकाश, यश, अपयश, वश, विवश, वंश, कलश, क्लेश आदि।

(iii) केवल 'ष' का प्रयोग—कोष, घोष, रोष, दोष, कलुष, पुरुष, धनुष, विष, दुष्ट, पौरुष, परितोष, दृष्टि, उत्कर्ष, अपकर्ष, निष्ठा, निष्ठुर, हृष्ट, पुष्ट, पुष्टि, भूषण, निषाद, निषेध, निषिद्ध आदि।

(iv) ऐसे शब्द जिनमें श, ष, स में से किन्हीं दो का प्रयोग हुआ हो—शेष, विशेष, संतोष, शासन, शस्य, श्मशान, प्रशंसा, अवशेष, शुश्रूषा, शीर्षक, षष्ठ, वेश-

भूषा, शोषक, शोषण, विश्वास, निःश्वास, साहस, सहवास, संन्यास, सरस्वती, सरस, दुस्साहस आदि।

(v) निः एवं दुः उपसर्गयुक्त—निष्कंटक, निष्कंप, निष्कपट, निष्कर्ष, निष्कलुष, निष्कलंक, निष्काम, निष्कासन, निष्क्रिय, निष्पक्ष, निष्प्रभ, निष्फल, निष्प्रयोजन, निष्पाप, निश्चय, निश्चल, निश्चिन्त, निश्चेष्ट, निश्छल, निश्शंक, निस्तार, निस्तेज, निस्संग, निस्संकोच, निस्संदेह, निस्सार, दुष्कर्म, दुष्परिणाम, दुष्काल, दुस्सह, दुश्चरित्र आदि।

इसी प्रकार विसर्ग संधि के भी अनेक उदाहरण और अभ्यास दिए जाने चाहिए। बालकों को यदि यह अच्छी तरह ज्ञात करा दिया जाय कि विसर्ग का क, ट, ठ, प, फ, के साथ सदा 'ष्'; च, छ, श के साथ 'श्' और त, स के साथ 'स्' होता है तो वे श, ष, स की वर्तनी सम्बन्धी अशुद्धियाँ नहीं करेंगे।

5. यदि शिक्षक लिखित रचना में श, ष, स सम्बन्धी त्रुटियों के संशोधन पर विशेष ध्यान दे और ऐसी कोई त्रुटि बालकों के ध्यान से ओझल न होने पाए और वे शुद्ध रूप का अभ्यास करते रहें तो ये त्रुटियाँ नहीं होंगी।

6. यदि विद्यार्थियों को प्रतियोगिता के रूप में अथवा कक्षा-परीक्षण के रूप में ऐसे प्रश्न दिए जायँ—

(i) ऐसे शब्दों को लिखो जिनमें अन्त में 'श' का प्रयोग हो।
(ii) ,, ,, ,, 'ष' ,,
(iii) ,, ,, ,, 'स' ,,
(iv) ,, ,, ,, 'श' और 'ष' दोनों का प्रयोग हो।
(v) ,, ,, ,, 'श' और 'स' दोनों का प्रयोग हो।
(vi) ,, ,, ,, 'श' और 'श' दोनों का प्रयोग हो।
(vii) ,, ,, ,, 'स' और 'स' दोनों का प्रयोग हो।
(viii) निः और दुः लगाकर शब्द बनाओ।
(ix) विसर्ग संधि के कुछ उदाहरण लिखो।

5. क्रियात्मक संकल्पनाओं पर आधारित कार्य-योजना

क्रियात्मक संकल्पना संख्या	क्रियाएँ	विधि	अपेक्षित साधन	अपेक्षित समय
1.	(i) केवल 'श' युक्त शब्दों के उच्चारण और लेखन (ii) केवल 'स' युक्त शब्दों के उच्चारण और लेखन (iii) केवल 'ष' युक्त शब्दों के उच्चारण और लेखन	शिक्षक द्वारा शुद्ध उच्चारण आदर्श बालकों द्वारा अनुकरण एवं लेखन	'श' युक्त शब्दों की सूची 'स' युक्त शब्दों की सूची 'ष' युक्त शब्दों की सूची 'श' 'स' के उच्चारण स्थान का चार्ट	4 सप्ताह पठन एवं रचना के घण्टों में
2.	ऐसे शब्दों के उच्चारण एवं लेखन जिनमें श, ष, स में से किन्ही दो का प्रयोग हो	"	श, ष, स के शुद्ध उच्चारण का टेप	4 सप्ताह पठन एवं रचना के घण्टों में
3.	निः, दुः उपसर्ग युक्त शब्दों की रचना विसर्ग संधि के उदाहरण एवं अभ्यास	शिक्षक द्वारा व्याकरण के घण्टे में शिक्षण	ऐसे शब्दों की सूची एवं चार्ट	2 सप्ताह व्याकरण के घण्टे में
4.	श, ष, स, वाले शब्दों के लिखित अभ्यास	शिक्षक द्वारा श्रुत लेख एवं शब्द रचना के अभ्यास दिए जायँगे	रचना पुस्तिका, ऐसे चुने हुए अनुच्छेद जिनमे श, ष, स का प्रयोग हुआ हो	4 सप्ताह रचना के घण्टे में
5.	स्वतंत्र रचना में श, ष, स युक्त शब्दों के शुद्ध लेखन का अवसर	शिक्षक छात्रों के लेखादि रचना कार्यों को देखेगा और आवश्यक संशोधन करेगा	रचना पुस्तिका	4 सप्ताह रचना के घण्टे में
6.	श, ष, स वाले शब्दों के लिखने की प्रतियोगिता, सर्वोच्च अंक प्राप्त करने वाले छात्र को पारितोपिक, अधिक त्रुटियाँ करने वाले छात्रों को अतिरिक्त अभ्यास	शिक्षक परिवीक्षण एवं मूल्यांकन करेगा	उत्तर पुस्तिका एवं पारितोपिक-सामग्री	4 सप्ताह प्रति सप्ताह एक दिन

6. क्रियात्मक संकल्पनाओं का परीक्षण एवं प्रतिफल–परिवीक्षण एवं मूल्यांकन द्वारा उपर्युक्त संकल्पनाओं की व्यावहारिक सफलता सिद्ध होने पर शोध-कर्त्ता इन्हें प्रयोग में लायेगा।

भाषा-शिक्षण में ऐसी अनेक समस्याएँ सामने आती रहती हैं। एक समस्या के भी अनेक पक्ष हो सकते है। शिक्षक किसी समस्या के एक पक्ष को अपने क्रियात्मक शोध का विषय वना सकता है और उस समस्या के निराकरण के लिए क्रियात्मक शोध सम्बन्धी उपर्युक्त प्रक्रिया को अपना सकता है। यह भी ध्यान रखने की बात है कि प्रक्रिया या क्रियाविधि साधन मात्र है, साध्य नहीं। साध्य तो समस्या का निराकरण है। अतः शिक्षक को सदा ही अपने विवेक, सूझ-वूझ से कार्य करने और यथोचित क्रियाविधि अपनाने की स्वतंत्रता है।

क्रियात्मक शोध की सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि दैनिक शिक्षण योजना में विना किसी व्यतिक्रम या व्यवधान के शिक्षक समस्या के समाधान का प्रयत्न करता है और उचित फल के आधार पर अपनी शिक्षण-क्रिया में सुधार करता है।

कोई शिक्षक अपने कार्यों में सतत सुधार के लिए कितना इच्छुक और प्रयत्नशील है। क्रियात्मक शोध शिक्षक की इस अभिवृत्ति, निष्ठा एवं संलग्नशीलता का भी परिचायक है।

सारांश

क्रियात्मक शोध एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा शोधकर्त्ता अपने कार्यों एवं निर्णयों के निर्देशन, संशोधन एवं मूल्यांकन की दृष्टि से अपनी समस्याओं का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने का प्रयास करता है। समस्या का वैज्ञानिक अध्ययन करना, समस्यागत कठिनाइयों के कारणों का पता लगाना, उचित संकल्पनाएँ करना, उनका प्रयोग करना, सफलता-असफलता के आधार पर सही प्रयोगों का प्रतिपादन करना, निष्कर्षों के आधार पर नियम-निरूपण एवं सामान्यीकरण करना और सही समाधान द्वारा शिक्षण-क्रिया में सुधार लाना ही क्रियात्मक शोध की उपयोगिता है।

क्रियात्मक शोध का क्षेत्र वहुत व्यापक हो सकता है; जैसे, बालकों की आवश्यकताओं का अध्ययन, रुचियों का अध्ययन, अनुशासन सम्बन्धी समस्याएँ, सामाजिक समस्याएँ, सीखने एवं सिखाने का सामाजिक वातावरण, शिक्षकों की समस्याएँ, पाठ्यक्रम निर्माण, अन्य सम्वन्धित समस्याएँ।

क्रियात्मक शोध की क्रियाविधि—समस्या क्षेत्र की पहिचान, विशिष्ट समस्या का चुनाव, समस्या के सम्भाव्य कारणों का निदान, क्रियात्मक संकल्पनाओं का निर्माण, प्रस्तावित कार्य द्वारा निश्चित परिणामों की अपेक्षा करना, क्रियात्मक कार्यक्रम तैयार करना, यह पता लगाने के लिए कि किस सीमा तक लक्ष्यपूर्ति हुई है, तथ्यों एवं सामग्री को एकत्र करना, सामान्यीकरण एवं सामान्य सिद्धान्तों का परवर्ती क्रियात्मक स्थितियों द्वारा परीक्षण।

प्रश्न

1. 'क्रियात्मक शोध' से क्या तात्पर्य है ? मौलिक शोध से वह किस प्रकार भिन्न है ?
2. क्रियात्मक शोध की उपयोगिता पर भाषा-शिक्षण के संदर्भ में प्रकाश डालिए।
3. क्रियात्मक शोध की क्रियाविधि क्या है ? उसके प्रत्येक चरण का विवरण प्रस्तुत कीजिए।
4. भाषा-शिक्षण सम्बन्धी कोई समस्या लेकर क्रियात्मक शोध की क्रिया-विधि का उदाहरण प्रस्तुत कीजिए।

27

शैक्षणिक निदान एवं उपचारी शिक्षण

[शैक्षणिक निदान एवं उपचारी शिक्षण का तात्पर्य, 'क्रियात्मक शोध' और 'शैक्षणिक निदान एवं उपचारी शिक्षण' में अन्तर, शैक्षणिक निदान एवं उपचारी शिक्षण की उपयोगिता, भाषा-शिक्षण में शैक्षणिक निदान का रूप, शैक्षणिक निदान की विधि, उपचारी शिक्षण]

'शैक्षणिक निदान एवं उपचारी शिक्षण' का तात्पर्य

परम्परागत शिक्षा में कक्षा के सभी बालकों को समान समझकर शिक्षा प्रदान की जाती थी और व्यक्तिगत रूप से बालकों की प्रगति का यथोचित ध्यान नही रखा जाता था। फलतः कुछ बालक आगे बढ़ जाते थे और कुछ पिछड़ते चले जाते थे। पिछड़े हुए बालक प्रायः अवहेलना एवं उपेक्षा के पात्र बने रहते थे और उनकी न्यूनताओं को समझने तथा उन्हें दूर करने का कोई उपाय नहीं किया जाता था। किन्तु आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान ने वैयक्तिक भेदो के आधार पर इस सत्य का प्रतिपादन किया है कि सभी बालकों की समान शैक्षिक प्रगति नहीं हो पाती क्योंकि कक्षा में एक साथ ही प्रतिभाशाली, सामान्य एवं मंदबुद्धि के बालक पढ़ते हैं। फिर असमान प्रगति का कारण केवल बुद्धिगत भेद ही नहीं और भी अनेक कारण हो सकते हैं जैसे शारीरिक एवं मानसिक दोष, पारिवारिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ, प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा का अभाव आदि। अतः शिक्षक का यह कर्त्तव्य है कि वह पता लगाए कि किन कठिनाइयों के कारण बालक ठीक प्रकार से नहीं सीख रहा है और उसकी उचित शैक्षिक प्रगति नही हो रही है। **बालकों की सीखने सम्बन्धी इन कठिनाइयों का पता लगाने की प्रक्रिया ही शैक्षणिक निदान (एजुकेशनल डायग्नोसिस) है और इन कठिनाइयों को दूर करते हुए समुचित शिक्षण प्रक्रिया अपनाना ही उपचारी शिक्षण (रिमेडियल टीचिंग) है।**

शैक्षणिक निदान एवं उपचारी शिक्षण एक ही शिक्षण प्रक्रिया के दो अभिन्न पहलू हैं। एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व निरर्थक है। शैक्षणिक निदान ही उपचारी शिक्षण की आधार-भूमि प्रस्तुत करता है, अतः उसके अभाव में उपचारी शिक्षण निराधार प्रक्रिया है। इसी प्रकार उपचारी शिक्षण के अभाव में शैक्षणि

निदान एक अर्थहीन एवं लक्ष्यहीन प्रक्रिया है। अतः दोनों मिलकर ही एक शिक्षण-प्रक्रिया का रूप धारण करते हैं।

'क्रियात्मक शोध' और 'शैक्षणिक निदान एवं उपचारी शिक्षण' में अन्तर

'क्रियात्मक शोध' और 'शैक्षणिक निदान एवं उपचारी शिक्षण' की प्रक्रियाओं में समानता होने का भ्रम होता है पर दोनों भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ है। 'क्रियात्मक शोध' का क्षेत्र व्यापक है। उसके अंतर्गत विद्यालय के सभी प्रकार के कार्यक्षेत्र—शैक्षणिक, सहशैक्षणिक, विद्यालय संगठन, अनुशासन आदि–संबंधी समस्याएँ अध्ययन का विषय बन सकती हैं जबकि 'शैक्षणिक निदान और उपचारी शिक्षण' का क्षेत्र सीमित है। इसका संबंध कक्षा के ऐसे छात्र अथवा कुछ छात्रों से ही रहता है जो किसी विषय के सीखने में कठिनाई का अनुभव करते हैं और ठीक से नही सीख पाते। कभी-कभी ऐसे छात्रों की संख्या चार-छः तक हो सकती है, पर पूरी कक्षा कभी नहीं। 'शैक्षणिक और उपचारी शिक्षण' का सम्बन्ध वस्तुतः उन्ही विद्यार्थियों तक सीमित है जो कुछ कारणों से कक्षा में अन्य बालकों के समान अपेक्षित प्रगति नही कर पाते।

'क्रियात्मक शोध' में अध्ययन का सीमा-क्षेत्र विद्यालय के अंतर्गत ही रहता है पर शैक्षणिक निदान में बालक की कठिनाइयों का पता लगाने के लिए शिक्षण-समस्याओ के साथ-साथ आवश्यकतानुसार बालक के आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं राजनैतिक परिवेश सम्बन्धी कारणों को भी जानने का प्रयत्न किया जाता है।

'क्रियात्मक शोध' मे शिक्षक स्वयं अपने सम्मुख प्रस्तुत समस्या के समाधान के लिए समस्या का अध्ययन करता है और उपयुक्त विधि की खोज करता है। उसका ध्यान अपनी क्रियाओं पर रहता है पर 'शैक्षणिक निदान और उपचारी शिक्षण' में उसका ध्यान बालक की क्रियाओं पर रहता है और उसकी कठिनाइयो का पता लगाकर उन्हे दूर करते हुए वह उपयुक्त शिक्षण-प्रक्रिया अपनाता है।

'शैक्षणिक निदान एवं उपचारी शिक्षण' का महत्त्व एवं उपयोगिता

आधुनिक शिक्षण में 'शैक्षणिक निदान एवं उपचारी शिक्षण' एक नवीन प्रयोग है और इससे उन बालकों को विशेष लाभ है जो किन्ही कारणों से सीखने की क्रिया में पिछड़ जाते है और अपेक्षित प्रगति नही कर पाते। 'शैक्षणिक निदान एवं उपचारी शिक्षण' की उपयोगिताएँ संक्षेप में निम्नांकित है—

(i) शैक्षणिक निदान द्वारा बालकों की सीखने सम्बन्धी कठिनाइयों का पता चल जाता है।

(ii) कठिनाइयों एवं कारणों को दूर करते हुए समुचित शिक्षण-प्रक्रिया अपनाई जाती है।

(iii) शिक्षण-प्रक्रिया प्रभावशाली होती है और बालकों को अपनी शक्ति एवं योग्यतानुसार शैक्षिक प्रगति करने का अवसर मिलता है।

(iv) उपचारी शिक्षण द्वारा व्यक्तिगत छात्रों की कठिनाइयाँ दूर होती हैं और इस क्रिया से अन्य छात्रों के समय आदि की भी क्षति नहीं होती।

(v) पिछड़े बालकों की हीन भावना दूर हो जाती है और वे कुसमंजन (मालएडजस्टमेंट) से बच जाते हैं, उनमें आगे बढ़ने की प्रेरणा जगती है और उनके व्यक्तित्व के समुचित विकास में सहायता मिलती है।

भाषा-शिक्षण में शैक्षणिक निदान का रूप

शिक्षण की सफलता वस्तुतः बालकों के सीखने की सफलता में निहित है। अतः शिक्षक का ध्यान इस बात पर रहता है कि कक्षा में कौन बालक ठीक से ग्रहण कर रहा है और कौन नही। उदाहरणतः भाषा-शिक्षण में यदि कोई बालक शुद्ध उच्चारण नही करता है, वर्तनी की त्रुटियाँ करता है, अथवा शब्दो का अशुद्ध प्रयोग करता है, भावार्थ ठीक प्रकार से नही ग्रहण कर पाता, उसकी भावाभिव्यक्ति में त्रुटियाँ होती है, उसका सस्वर वाचन दोषपूर्ण है आदि-आदि, तो बालक की कठिनाइयों एवं अशुद्धियों के कारणों का पता लगाना आवश्यक हो जाता है। यही शैक्षणिक निदान की आवश्यकता पड़ती है। पहले शिक्षक इन अशुद्धियो का कारण बालक की असावधानी को ही मान लेता था और ध्यान से पढ़ने तथा परिश्रम करने का आग्रह करता था। पर यह ठीक उपचार नहीं था। आधुनिक शिक्षण-प्रक्रिया में वैज्ञानिक दृष्टि से इस समस्या पर विचार किया जाता है। ऐसे बालकों की निदानात्मक परीक्षा ली जाती है और उसके आधार पर उनकी कठिनाइयों का पता लगाया जाता है। उदाहरणतः किसी बालक में अपेक्षित वाचन सम्बन्धी योग्यता नहीं है और वह वाचन में उच्चारण, गति, यति, प्रवाह आदि की दृष्टि से अशुद्धियाँ करता है तो शिक्षक को चाहिए कि इन अशुद्धियों के कारणों का पता लगाए। ये कारण अनेक हो सकते हैं।

1. **बुद्धि की कमी**—बालक मंद बुद्धि का है, अतः वह सामान्य बालकों के साथ सीख नहीं पाता। बुद्धि-परीक्षा द्वारा बालक के इस पक्ष को हम जान सकते है।

2. **भावात्मक दोष**—भावात्मक असंतुलन, व्याकुलता, चिंता आदि से ग्रस्त बालक ठीक प्रकार से नहीं सीख पाता। वह एकाग्रचित्त नहीं हो पाता। स्वस्थ मनःस्थिति न रहने से वह सीख नही पाता। पठन में अरुचि हो जाती है। अभिरुचि-परीक्षणों द्वारा हम बालक की रुचि को जान सकते है।

भावात्मक असंतुलन एवं अस्थिरता के भी अनेक कारण हो सकते हैं–निर्धनता, पारिवारिक परिस्थितियाँ, सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियाँ आदि।

3. **शारीरिक दोष**—चक्षु-दोष, श्रुति-दोष, वागिन्द्रिय-दोष आदि के कारण भी वाचन में त्रुटियाँ हो सकती है। शारीरिक निर्बलता से शीघ्र थकावट आ जाती है और वाचन में अरुचि हो जाती है। शारीरिक विकार से बालक में हीनता की भावना भी उत्पन्न हो सकती है।

4. प्रारम्भिक योग्यता का अभाव—बालक की प्रारम्भिक शिक्षा उचित न होने से बालक विषय से अनभिज्ञ रह जाता है और आगे की शिक्षा के लिए उचित पृष्ठभूमि नही बन पाती। बालक पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान न देने के कारण भी उसमें अपेक्षित योग्यता का विकास नहीं हो पाता।

5. शिक्षण-क्रियाविधि का दोष—कभी-कभी शिक्षण-क्रियाविधि में दोष रहने पर भी बालक ठीक से नही सीख पाता। तेज बालक तो उसका अनुसरण कर लेते है पर कुछ बालक ठीक से ग्रहण नहीं कर पाते।

6. विषय की कठिनाई—जब विषय सामग्री उस बालक के शैक्षणिक स्तर से अधिक उच्च स्तर की होती है तो बालक कठिनाई का अनुभव करता है।

शैक्षणिक निदान की विधि

बालकों की सीखने की कठिनाइयों का पता लगाने के लिए अनेक विधियों का प्रयोग किया जाता है; जैसे, निरीक्षण द्वारा, संचित अभिलेखों द्वारा, निदानात्मक परीक्षणों द्वारा। इनमें निदानात्मक परीक्षण का विशेष महत्त्व है। इसकी क्रियाविधि इस प्रकार है—

(1) शैक्षणिक निदान में सबसे पहली प्रक्रिया है—बालक की न्यूनताओं एवं कमजोरियों की पहिचान। उदाहरण के लिए यदि किसी बालक में सस्वर वाचन सम्बन्धी दोष है तो यह मालूम करना आवश्यक है कि ये दोष किस प्रकार के है—

(i) ध्वनियों एवं शब्दों के उच्चारण में वह अशुद्धियाँ करता है।
(ii) उचित स्वराघात के साथ वह नहीं पढ़ता।
(iii) अर्थान्वितियो की दृष्टि से शब्द समूहों को एक साथ नही पढ़ता।
(iv) वह उचित प्रवाह के साथ नही पढ़ता।
(v) उसकी गति अति तीव्र है अथवा अति मंद।
(vi) वह विराम चिह्नों का ध्यान रखकर नही पढ़ता।
(vii) वह रुक-रुक कर अथवा हकलाकर पढ़ता है।
(viii) वह अति उच्च स्वर मे अथवा अति मंद या अश्रव्य स्वर में पढ़ता है।
(ix) वह शब्दों या कभी-कभी वाक्यांशों को दोहराता है।
(x) वाक्य का अंत होने पर दूसरे वाक्यों का वाचन देर से प्रारम्भ करता है।
(xi) पंक्ति समाप्त होने पर नई पंक्ति का वाचन भी देर से प्रारम्भ करता है।
(xii) चक्षु-गति सुचारु रूप से आगे नहीं बढ़ती, किसी शब्द समूह पर दृष्टि जम जाती है, अथवा चक्षु गति में प्रत्यावर्त्तन (रिग्रेशन) पाया जाता है।

इस प्रकार वाचन में और भी अनेक अशुद्धियाँ हो सकती हैं। बालक से कौन सी अशुद्धियाँ होती हैं, इनकी पहचान शिक्षक को अवश्य कर लेनी चाहिए।

(2) अशुद्धियों एवं न्यूनताओं सम्बन्धी कठिनाइयों एवं कारणों का पता लगाना—वस्तुतः इन कठिनाइयों का पता लगाना ही शैक्षणिक निदान है। इसलिए इस प्रक्रिया का सबसे अधिक महत्त्व है। यदि बालक किसी अवतरण का सस्वर वाचन करता है और कुछ शब्दों का शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारण नहीं कर पा रहा है, तो यह उसकी भाषिक तत्वों—ध्वनियों के शुद्ध उच्चारण—की अज्ञानता है। यदि वह अर्थान्वितियों की दृष्टि से उपयुक्त शब्द-समूहों को एक साथ नहीं पढ़ता है तो यह उसकी बोध सम्बन्धी कठिनाई का द्योतक है। पठन के प्रति अरुचि भी वाचन सम्बन्धी अशुद्धियों का कारण हो सकती है। बालक मंद बुद्धि का भी हो सकता है। चक्षु-दोष, वाक् दोष, श्रवण-दोष आदि भी हो सकते है। भावात्मक असंतुलन भी हो सकता है। पारिवारिक और सामाजिक कारण भी हो सकते है। अतः शिक्षक बालक की इन कठिनाइयों का पता लगाता है। बालक के श्रवण-दोष अथवा वागिन्द्रिय दोष का पता भाषा-प्रयोगशाला (लैंग्वेज लैब) तथा उपचार गृहों (क्लिनिक्स) से आसानी से चल जाता है पर ये साधन अत्यधिक व्ययसाध्य होने के कारण सामान्य माध्यमिक विद्यालयों मे सुलभ नहीं हो सकते। अतः शिक्षक को अपने सीमित साधनों द्वारा ही बालक की कठिनाइयों का पता लगाना पड़ता है।

(3) बालकों की कठिनाइयों का पता लगाने के साथ-साथ शिक्षक अपनी शिक्षण-प्रक्रिया सम्बन्धी न्यूनताओं का भी पता लगाता है। वह स्वयं अपना आदर्श पाठ टेप करके सुनता है और देखता है कि उनका सस्वर वाचन तो (उच्चारण, स्पष्टता, गति, यति, स्वर, प्रवाह आदि की दृष्टि से) दोषपूर्ण नहीं है। यदि उसमें दोष है तो वह सबसे पहले उन दोनों का निवारण करेगा।

शिक्षण-प्रक्रिया के साथ-साथ वह अपने व्यवहारों पर भी विचार करता है कि कहीं उसका व्यवहार तो ऐसा नहीं जो बालक में भय, निराशा या अरुचि का कारण हो। या वह कमजोर बालकों की उपेक्षा तो नहीं करता, आदि-आदि।

इस प्रकार अनेक दृष्टियों से बालकों की कठिनाइयों का निदान करना ही शैक्षणिक निदान की विधि है।

उपचारी शिक्षण

शैक्षणिक निदान का प्रयोजन ही उपचारी शिक्षण है। शैक्षणिक निदान द्वारा बालकों की कठिनाइयों का पता लगाकर उन कठिनाइयों को दूर करते हुए जो शिक्षक-कार्य अपनाया जाना है उसे उपचारी शिक्षण कहते हैं।

उपचारी शिक्षण के भी अनेक रूप हो सकते हैं—बालकों की कठिनाइयों का सामूहिक रूप से निवारण और उचित अभ्यास, वैयक्तिक भेदों के आधार पर

व्यक्तिगत बालक की अशुद्धियों का निवारण, उपचार गृहों अथवा भाषा-प्रयोग-शालाओं मे बालको के उच्चारण एवं भाषण सम्बन्धी प्रशिक्षण और अभ्यास।

उदाहरण के लिए सस्वर वाचन सम्बन्धी पूर्वोल्लिखित कठिनाइयों को जान लेने पर उपचारी शिक्षण के निम्नांकित रूप अपनाए जा सकते है—

(i) सर्वप्रथम शिक्षक को अपना आदर्श वाचन सभी दृष्टियों—शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारण, उचित स्वर, गति, यति, प्रवाह, आरोह-अवरोह आदि—से आदर्श बनाना चाहिए।

(ii) जिन ध्वनियों एवं शब्दों के उच्चारण में अशुद्धियाँ होती हैं, उनके शुद्ध उच्चारण की शिक्षा और अभ्यास कराना।

(iii) शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारण के बाद उचित स्वर, गति, यति, प्रवाह की दृष्टि से भी बालकों को प्रशिक्षित करना और सस्वर वाचन का अभ्यास कराना।

(iv) शब्दार्थ सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करना और अर्थ ग्रहण की योग्यता बढ़ाना।

(v) अच्छे-अच्छे अवतरणों का चयन कर वाचन कराना, वाचन में रुचि उत्पन्न करना, अधिकाधिक वाचन के लिए प्रोत्साहित करना।

(vi) मौखिक रचना सम्बन्धी विविध अभ्यास—भाषण, वाद-विवाद, कविता-पाठ आदि।

इनके अतिरिक्त सस्वर वाचन सम्बन्धी उपचारी शिक्षण में निम्नांकित बातों का भी ध्यान रखना होगा—

(i) दोषपूर्ण सस्वर वाचन करने वाले छात्रों की योग्यता को ध्यान में रखते हुए उनके अनुकूल विषय-सामग्री द्वारा उनका शिक्षण प्रारम्भ करना चाहिए, भले ही कुछ समय के लिए कक्षा स्तर से नीचे उतरना पड़े। पठन सामग्री उनके अनुकूल सरल और रोचक होनी चाहिए जिससे धीरे-धीरे पठन में उसकी रुचि बढ़े, गति बढे और अर्थ ग्रहण की शक्ति भी बढे। वाचन को सोद्देश्य बनाकर ऐसे बालकों में पढ़ने के प्रति प्रेरणा उत्पन्न करनी चाहिए।

(ii) ऐसे अभ्यास दिए जायँ जिनकी उपयोगिता का छात्र भी अनुभव करते चलें।

(iii) बालकों को स्वयं अपनी प्रगति जानने का भी अवसर दिया जाय।

(iv) रोचक एवं उपयोगी पुस्तकों की चर्चा, घटनाओं का वर्णन, साहसिक कहानियाँ, ऐसी कहानियाँ जिनमें कम प्रतिभा वाले बालक भी परिश्रम एवं अध्यवसाय द्वारा महान् बन गए हों, सुनाई जायँ और छात्रों से पढवाई जायँ।

(v) बालक में छिपी हुई किसी विशिष्ट प्रतिभा, योग्यता, कुशलता का उसे आभास कराना जिससे उसकी हीन भावना दूर हो, संकोच और झिझक दूर हो, आत्म सम्मान का भाव पैदा हो और वह निर्भीक बने। अभिनय, वाद विवाद आदि कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए उसे प्रेरित और प्रोत्साहित किया जाय।

इस प्रकार भाषा-शिक्षण के क्षेत्र में बालकों की भाषा सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिए शैक्षणिक निदान एवं उपचारात्मक शिक्षण की प्रक्रिया अपनाई जा सकती है। निस्सन्देह ही यह प्रक्रिया बालकों की सीखने सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने और उन्हें उचित शैक्षिक प्रगति के लिए तैयार करने में उपयोगी सिद्ध होगी।

सारांश

बालकों की सीखने संबंधी कठिनाइयो का पता लगाने की प्रक्रिया शैक्षणिक निदान है और इन कठिनाइयों को दूर करते हुए समुचित शिक्षण-प्रक्रिया अपनाना उपचारी शिक्षण है।

शैक्षणिक निदान एवं उपचारी शिक्षण की उपयोगिताएँ है—बालकों की कठिनाइयों का पता लगाना, कठिनाइयों को दूर करने के लिए समुचित शिक्षण-प्रक्रिया अपनाना, शिक्षण-प्रक्रिया को प्रभावशाली बनाना, पिछड़े बालकों की भावना को दूर करके उनकी शैक्षिक प्रगति का पथ प्रशस्त करना।

बालकों की कठिनाइयों के अनेक कारण हो सकते है—बुद्धि की कमी, भावात्मक दोष, शारीरिक दोष, प्रारम्भिक योग्यता का अभाव, शिक्षण-क्रियाविधि का दोष, विषय की कठिनाई।

शैक्षणिक निदान की विधि—बालक की न्यूनताओं की पहिचान, उनकी कठिनाइयों एवं कारणों का पता लगाना, शिक्षक द्वारा अपनी शिक्षण प्रक्रिया एवं व्यवहारों पर भी विचार करना।

उपचारी शिक्षण—बालकों की कठिनाइयों को दूर करते हुए उचित शिक्षण प्रक्रिया अपनाना। भाषा के क्षेत्र में इसकी विशेष उपयोगिता है।

प्रश्न

1. 'शैक्षणिक निदान एवं उपचारी शिक्षण' से क्या तात्पर्य है ?

2. भाषा-शिक्षण के क्षेत्र में शैक्षणिक निदान एवं उपचारी शिक्षण की क्या उपयोगिता है, सोदाहरण समझाइए।

3. शैक्षणिक निदान की विधि पर प्रकाश डालिए।

28

हिन्दी शिक्षण में इकाई-योजना

[इकाई-योजना का अर्थ, पाठ्यचर्या और इकाई-योजना, इकाई के रूप, इकाई-रचना के सिद्धांत, भाषा-शिक्षण में इकाई-योजना की आवश्यकता एवं उपयोगिता, भाषा-शिक्षण में इकाई-गठन के आधार, इकाई पाठ-योजना : एक नमूना]

"इकाई सार्थक एवं परस्पर सम्बन्धित क्रियाओं की व्यापक शृंखला है जिसका विकास इस रूप में होता है कि बालकों के उद्देश्यों की पूर्ति हो सके। उन्हें महत्त्वपूर्ण शैक्षिक अनुभव प्रदान किए जा सकें और उन्हें वांछित व्यवहार परिवर्तन प्रतिफलित हो सकें।"[1] —बासिंग

इकाई-योजना का अर्थ

इकाई परस्पर सम्बद्ध ज्ञान, अनुभव एवं क्रियाओं का वह संगठित रूप है जो अपने में पूर्ण होता है और जिसके द्वारा निश्चित शैक्षिक उद्देश्यों की पूर्ति एवं अपेक्षित व्यवहार-परिवर्तन में सफलता प्राप्त होती है। अतः वह सोद्देश्य क्रियाओं का संगठन है।

इकाई के रूप में पाठ्य सामग्री को क्रमायोजित करके पढ़ाने की योजना शिक्षा जगत में आधुनिक प्रयोग है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि किसी भी वस्तु का बोध पहले उसके समग्र रूप में ही होता है, फिर उसके विविध पक्षों अथवा अवयवों पर हमारा ध्यान जाता है। गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों ने इसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। उदाहरणतः हम किसी पुष्प की ओर देखें तो पहले उसके समग्र रूप-लावण्य का चित्र हमारे मनस्पटल पर बनता है, फिर उसके विभिन्न अवयवों

---

1. "A unit consists of a comprehensive series of related and meaningful activities, so developed as to achieve pupil-purposes, provide significant educational experiences and result in appropriate behavioural changes."—Bossing

पर हमारा ध्यान जाता है। किसी भी दृश्य या क्रिया का बिम्बग्रहण पहले उसके समग्र रूप का ही होता है और फिर उसके खण्ड रूप का। शिक्षण प्रक्रिया में इस सिद्धांत का प्रयोग इकाई-योजना के रूप में उपयोगी सिद्ध हुआ है।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि कोई भी प्रकरण पहले समग्र रूप में ही बालकों के लिए सहज-ग्राह्य होता है। अतः पाठ्य सामग्री का संगठन एवं क्रमायोजन ऐसी शैक्षणिक इकाइयों में उपयोगी होता है जो अपने-आप में पूर्ण हों और जिनके द्वारा तद्विषयक पाठ्य सामग्री का एक स्पष्ट समग्र रूप बालकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सके और उन्हें दैनिक पाठ-योजना की दृष्टि से उपइकाइयों (सब यूनिट्स) में क्रमायोजित किया जा सके।

इकाई-योजना का अर्थ और भी अनेक रूपों में व्यक्त किया गया है—

"इकाई-योजना शिक्षा की वह विधि है जिसके द्वारा विषय वस्तु को, शिक्षण विधियों को तथा शिक्षण-प्रयुक्तियों को इस ढंग से गठित किया जाता है कि सीखने और सिखाने की परिस्थितियो को प्रभावी बनाया जा सके।"[2]

"किसी केन्द्रीय विचार के आधार पर किसी विषय-वस्तु (इकाई) का उप-विभाजन क्रियाओं के रूप में इस प्रकार करना कि छात्र-छात्राओ को ज्ञान और कौशल की प्राप्ति हो सके।"[3]

राजस्थान राज्य शिक्षा संस्थान, उदयपुर द्वारा प्रकाशित "मातृभाषा शिक्षण में इकाई-योजना (संदर्शिका)" पृ० 1 पर इकाई-योजना का अर्थ इस रूप में स्पष्ट किया गया है—

"बाल-केन्द्रित शिक्षा की धारणा से अभिप्राय विद्यार्थियों को किसी विषय-वस्तु का बोध करा देना मात्र नही है, वरन् शिक्षक कुछ इस प्रकार की परिस्थितियो की नियोजना करता है जिसमें विद्यार्थियों को तदनुकूल प्रतिक्रिया करते हुए अपने स्वकर्तृत्व को पूरा करने का अवसर दिया जाता है। इस प्रकार की शिक्षण-प्रक्रिया से बालक अपने व्यवहार में वांछित परिवर्तन अथवा लक्षित अभियोग्यताएं प्राप्त करता है।"

"इकाई पाठ-योजना इस सम्पूर्ण शिक्षण-प्रक्रिया का एक स्पष्ट चित्र है, जिसमें पाठ्य-इकाई से सम्बद्ध उद्देश्य एवं बालक में संदर्शनीय अपेक्षित योग्यताओं के निश्चय के साथ-साथ उन्हीं के अनुकूल वस्तु, शिक्षण प्रक्रिया और मूल्यांकन को नियोजित किया जाता है।"

पाठ्यचर्या और इकाई-योजना

कक्षा-शिक्षण की दृष्टि से शिक्षक का सर्वप्रथम ध्यान अपने विषय की

---

2. भाई योगेन्द्रजीत—हिन्दी भाषा-शिक्षण, पृ० 243
3. " " " पृ० 243

पाठ्यचर्या पर जाता है। पाठ्यचर्या में विषय सामग्री एवं तदन्तर्गत प्रकरणों, शैक्षणिक उद्देश्यों एवं शिक्षण-युक्तियों का उल्लेख रहता है। हिन्दी शिक्षक से यह अपेक्षित है कि वह पाठ्यचर्या के आधार पर हिन्दी-शिक्षण का कार्यक्रम वर्षभर के लिए तैयार कर ले। इस योजना में सम्पूर्ण पाठ्य विषय को विषय वस्तु की प्रकृति, विधा, भाषा, शैली आदि के साम्य के आधार पर उचित इकाइयो में संगठित किया जाता है और उनके शैक्षणिक उद्देश्यों एव विधियो का भी निश्चय किया जाता है।

इकाई संगठन के बाद दैनिक पाठ-शिक्षण की दृष्टि से प्रत्येक इकाई को उपइकाइयों (पाठों) मे क्रमायोजित किया जाता है। उपइकाइयों के गठन एवं क्रमायोजन में निम्नांकित बातों का ध्यान रखना पड़ता है—

(i) प्रति उपइकाई का शिक्षण एक घण्टे (पीरियड) में समाप्त हो जाना चाहिए।

(ii) इकाई गठन के समय जो उद्देश्य निर्धारित होते हैं वे तो सम्पूर्ण इकाई की दृष्टि से निर्धारित होते हैं, अतः प्रत्येक उपइकाई के विशिष्ट उद्देश्य निर्धारित कर लेने चाहिए।

(iii) प्रत्येक उपइकाई की शिक्षण विधि, शिक्षक एवं शिक्षार्थियों के क्रियाशीलन का भी विचार कर लेना चाहिए।

(iv) पाठ-शिक्षण की दृष्टि से आवश्यक सहायक सामग्री एवं शैक्षिक उपकरणों का भी निश्चय एवं उसकी व्यवस्था कर लेनी चाहिए।

(v) मूल्यांकन के समय और विधि का भी निश्चय कर लेना चाहिए।

इस प्रकार सम्पूर्ण पाठ्यचर्या का आधार लेकर विषय सामग्री का इकाइयो, उपइकाइयों में संगठन एवं क्रमायोजन, शैक्षणिक उद्देश्यों, शिक्षण-विधियो, शिक्षक एवं शिक्षार्थियों के क्रियाशीलन, शिक्षोपकरणों आदि का निश्चय और सम्पूर्ण इकाई के मूल्यांकन आदि की योजना को ही इकाई-योजना की संज्ञा प्रदान की जाती है।

इकाई के रूप

पाठ्यचर्या को इकाइयों में गठित करके दैनिक शिक्षण की दृष्टि से उन्हें क्रमायोजित करना शिक्षण-प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। अतः इकाई के विविध रूपों का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है। रिस्क महोदय ने कास्वेल एवं कैम्पवेल की पुस्तक 'करिकुलम डेवलपमेण्ट' से उद्धृत करते हुए इकाई के प्रमुख प्रकारों का उल्लेख किया है—

1. विषय वस्तु पर आधारित इकाइयाँ[4]—इसके तीन प्रकार हैं—

(i) **प्रकरण-इकाइयाँ[5]**—पाठ्य सामग्री को कुछ शीर्षकों (प्रकरणों या पाठों) के क्रम से आयोजित करना और प्रत्येक शीर्षक के अन्तर्गत तत्संबंधी तथ्यों,

4. Subject matter units 5. The topic units

सूचनाओं, भावों, विचारों, उदाहरणों आदि को संकलित करना ही प्रकरण-इकाई है। इस विधि में परंपरागत पाठ या अध्याय विधि से कोई भिन्नता नहीं प्रतीत होती।

(ii) **सामान्यीकरण इकाई**[6]—विषय सम्बन्धी सामान्य नियमों, सूत्रों, सिद्धांतों अथवा निष्कर्षों के आधार पर इकाई बनाई जाती है और इस बात का ध्यान रखा जाता है कि पहले आवश्यक तथ्य, उदाहरण एवं प्रयोग प्रस्तुत किए जायँ और उनके आधार पर ही छात्र स्वयं नियमों, सिद्धान्तों के सामान्यीकरण पर पहुँच सकें। इस इकाई की योजना आगमन विधि को ध्यान में रखते हुए की जाती है। व्याकरण शिक्षण में सामान्यीकरण इकाई विशेष उपयोगी होती है।

(iii) **वातावरण के किसी विशेष पक्ष पर आधारित इकाई**[7]—विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि शिक्षा के सभी विषय किसी न किसी रूप में वातावरण के ज्ञान पर आधारित हैं। वातावरण शब्द बड़ा व्यापक अर्थ रखता है। वातावरण प्राकृतिक, भौतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि जीवन के सभी पक्षों को आविष्ट किए हुए है। अतः वातावरण के किसी विशेष पक्ष को आधार मानकर अध्ययन सामग्री को इकाइयों में विभक्त किया जा सकता है। पाठ्य सामग्री का सम्बन्ध वातावरण से बने रहने के कारण बालक भी शिक्षा की सोद्देश्यता, रोचकता एवं सजीवता का अनुभव करता है।

2. **अनुभवात्मक इकाइयाँ**[8]—इसके भी तीन प्रकार हैं—

(i) **रुचि केन्द्र पर आधारित**[9]—वर्ग विशेष के बालकों की रुचियों पर आधारित क्रियाएँ एक-एक शीर्षक के अंतर्गत क्रमायोजित की जाती है।

(ii) **प्रयोजन पर आधारित**[10]—रुचि से प्रयोजन उत्पन्न होता है। बालकों में किसी न किसी प्रयोजन को पूरा करने की उत्कंठा जागरित हो जाती है। ऐसे प्रयोजनो का गठन इकाइयों में किया जा सकता है।

(iii) **आवश्यकता पर आधारित**[11]—इन इकाइयों का आधार बालक की आवश्यकताओं को पूरी करने वाली क्रियाएँ हैं।

इकाई रचना के सामान्य सिद्धांत—

इकाइयों की रचना में निम्नांकित सिद्धांतो का ध्यान रखना आवश्यक है—

---

6. The generalisation units
7. The units based on a significant aspect of environment
8. Experience units. 9. The unit based on a centre of interest
10. The unit based on pupil purpose
11. The unit based on pupil need.

(i) इकाइयों की रचना में भौतिक वातावरण, सामाजिक जीवन, कला, विज्ञान, संस्कृति आदि के विविध महत्त्वपूर्ण पक्षों का आधार लेना चाहिए।

(ii) इकाई में इस प्रकार की आवश्यक एवं वांछित क्रियाओं का समावेश रहना चाहिए जिनसे लक्ष्य या लक्ष्यों को सुगमता एवं प्रभावपूर्णता के साथ प्राप्त किया जा सके। यह लक्ष्य बोध, रुचि, योग्यता, मनोवृत्ति, सौन्दर्यानुभूति, आदर्श, व्यवहार आदि के रूप में हो सकता है।

(iii) इकाई के अन्तर्गत शैक्षिक क्रियाओं के चुनाव में बालक के बहुमुखी विकास के सिद्धांत का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए। उनकी वैयक्तिक भिन्नताओ, आवश्यकताओं, रुचियों एवं योग्यताओं का भी ध्यान रखा जाय।

(iv) इकाई सम्बन्धी क्रियाओं अथवा अधिगमानुभवों[12] के चुनाव में यह ध्यान रखना चाहिए कि बालकों को उद्देश्य-निर्धारण करने, योजना तैयार करने तथा पुरोगामिता[13] और सामाजिकता की भावना का विकास करने का अवसर मिले।

(v) इकाई सम्बन्धी क्रियाएँ जीवन की यथार्थ परिस्थितियों के ही द्योतक हों, काल्पनिक न हों।

(vi) इकाई इस प्रकार की हो कि विद्यालय में उपलब्ध साधनों से ही पूरी हो सके, अन्य क्रियाओं से उसका मेल बना रहे। निर्धारित समय में ही पूरा हो जाय और मूल्यांकन में कोई कठिनाई न हो।

भाषा-शिक्षण में इकाई-योजना की आवश्यकता एवं उपयोगिता—शिक्षण-प्रक्रिया को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए इकाई-योजना की आवश्यकता एवं उपयोगिता सभी शिक्षा-विचारक स्वीकार करते है। इस आवश्यकता एवं उपयोगिता के आधार निम्नांकित हैं—

1. पाठ्यचर्या की विषय सामग्री का शिक्षण की दृष्टि से वर्गीकरण एवं क्रमायोजन—यह लिखा जा चुका है कि किसी विषय की पाठ्यचर्या में निर्धारित संपूर्ण विषय सामग्री को शिक्षण की दृष्टि से कुछ इकाइयों में विभक्त करके वार्षिक, मासिक, साप्ताहिक शिक्षण की योजनाएँ बनाई जा सकती है। इससे शिक्षक एवं शिक्षार्थियों के सामने पाठ्य सामग्री की एक स्पष्ट योजना बन जाती है। इकाई-योजना पाठ्य सामग्री के सुव्यवस्थित क्रमायोजन की एक उत्तम विधि है।

2. प्रकरण अथवा पाठ की संश्लिष्टता—प्रभावपूर्ण शिक्षण के लिए आवश्यक है कि पाठ का संश्लिष्ट रूप छात्रों के सम्मुख प्रस्तुत हो। परम्परागत

---

12. Learning experiences.
13. Initiative.

भाषा शिक्षण-प्रक्रिया का एक दोष यह है कि दैनिक पाठ किसी पाठ के अंश मात्र होने पर भी स्वतन्त्र पाठ बन जाते हैं और उनके शैक्षणिक उद्देश्य भी निर्धारित कर लिये जाते है। फिर इन पाठांशों को स्वतन्त्र रूप से पढ़ाए जाने पर उनमें पूर्वापर सम्बन्ध भी नहीं रह जाता और संपूर्ण पाठ का एक संश्लिष्ट रूप सामने नहीं आ पाता। अतः पूरे पाठ या प्रकरण को संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत करने के लिए उसे एक इकाई के रूप में संगठित करना आवश्यक होता है।

3. प्रकृति, विधा एवं भाषा शैली के साम्य के आधार पर पाठ्यसामग्री का संयोजन—इकाई-योजना का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि पाठ्यपुस्तक में यत्र-तत्र बिखरी हुई पाठ्यसामग्री को या पाठों को, जो विषय वस्तु, साहित्यिक विधा, भाषा एवं शैली की दृष्टि से समान उद्देश्यों की संपूर्ति के आधार बन सकते है, उन्हें एक इकाई में संयोजित किया जा सकता है और फिर दैनिक शिक्षण की दृष्टि से उन्हें विविध उपइकाइयों या पाठों में बाँटा जा सकता है। इससे विषय वस्तु सम्बन्धी एकता एवं समग्रता बनी रहती है।

4. स्पष्ट उद्देश्यों का निर्धारण—पाठ्यसामग्री का 'इकाई' के रूप में संगठन होने पर प्रत्येक इकाई के शैक्षणिक उद्देश्यों का स्पष्ट निर्धारण किया जा सकता है। दैनिक शिक्षण की दृष्टि से इकाई का विभाजन उपइकाइयों में होने पर प्रत्येक उप इकाई के विशिष्ट उद्देश्य भी निर्धारित कर लिये जाते है। इकाई-संगठन एवं उप इकाइयों में उनका क्रमायोजन न होने पर प्रतिदिन स्वतन्त्र रूप से पढ़ाए जाने वाले पाठों के शैक्षणिक उद्देश्य आंशिक या एकांगी होते है क्योंकि उनमें पूर्वा-पर सम्बन्ध नहीं रह जाता। पर पूरी 'इकाई' के उद्देश्य स्पष्ट हो जाने पर उसकी उप इकाई का उद्देश्य निर्धारण भी सही, वास्तविक एवं उपयुक्त होता है।

इकाई-योजना के अन्तर्गत उद्देश्य निर्धारण में यह भी लाभ है कि भाषा-शिक्षण के विभिन्न उद्देश्यों—ज्ञान, कौशल, बोध, अभिव्यक्ति, सौन्दर्यप्रियता, मौलिक रचनाशक्ति, अभिरुचि एवं अभिवृत्ति आदि में से उन्हीं उद्देश्यों का उल्लेख किया जाता है जो उप इकाई के पाठों द्वारा पूरे हो सकते है।

5. अपेक्षित योग्यताओं एवं व्यवहार-परिवर्तनों का निर्धारण—उद्देश्य निर्धारण करते समय ही उनसे सम्बन्धित अपेक्षित योग्यताओं एवं व्यवहार-परिवर्तनों का भी निर्धारण कर लिया जाता है। ये योग्यताएँ एवं व्यवहार परिवर्तन ही शैक्षणिक उद्देश्यो की पूर्ति के प्रमाण है। इनके निर्धारण से शिक्षण-प्रक्रिया सोद्देश्य एवं प्रभावपूर्ण बन जाती है।

इन अपेक्षित योग्यताओं का निर्धारण सम्बन्धित पाठ के अधिगमांशों (लर्निंग प्वाइन्ट्स) के आधार पर किया जाता है। इस कारण इकाई-योजना में पाठ्यसामग्री के शिक्षण-बिन्दुओं (टीचिंग प्वाइन्ट्स) के निर्धारण में शिक्षक एवं शिक्षार्थियों के क्रियाशीलन का भी उल्लेख आवश्यक होता है। इसकी सबसे बड़ी

उपयोगिता यह है कि एक ओर तो शिक्षक इस बात से पूर्णतः अभिज्ञ रहता है कि उसे कक्षा में क्या करना है, किस क्रम से पाठ का विकास करना है और इस दृष्टि से वह शिक्षण की तैयारी कर लेता है, दूसरी ओर पाठ-विकास मे वह शिक्षार्थियों को भी सक्रिय संभागी बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील और तत्पर रहता है। परंपरागत शिक्षण-प्रक्रिया में शिक्षक ही सक्रिय रहता है, वह स्वयं ही पठन, व्याख्या, स्पष्टीकरण आदि करता जाता है और शिक्षार्थी निष्क्रिय श्रोता बने रहते है। पर इकाई-योजना में शिक्षक द्वारा प्रस्तुत अधिगम-स्थितियो (लर्निंग सिचुएशन्स), शिक्षार्थियों द्वारा अपेक्षित प्रतिक्रियाओं एवं निष्पन्न होने वाली क्रियाओं का उल्लेख किया जाता है। इससे पाठ-योजना का एक तर्कयुक्त स्पष्ट रूप सामने बना रहता है और छात्र भी सक्रिय बने रहते हैं।

6. शिक्षणक्रम एवं युक्तियों का निर्धारण—शैक्षणिक उद्देश्यों एवं अपेक्षित योग्यताओं के निर्धारण के साथ-साथ शिक्षक शिक्षण विधियों एवं युक्तियों पर भी विचार कर लेता है और पाठ-योजना में उनका उल्लेख करता है। शिक्षण-क्रम मे वह आदर्श पाठ (शिक्षक द्वारा), सस्वर पाठ (बालको द्वारा), मौन पाठ, बोध, भाषा कार्य, अर्थ ग्रहण, समीक्षा, मूल्यांकन आदि का उचित क्रम भी निश्चित कर लेता है और तदनुकूल युक्तियों का अनुसरण करता है। सहायक सामग्री एवं उपकरणों की भी योजना पहले ही बना ली जाती है जिससे उनका प्रयोग भी विधिवत् किया जा सके।

7. मूल्यांकन—इकाई-योजना की उपयोगिता यह भी है कि पाठ्यवस्तु, निर्धारित उद्देश्यों एवं अपेक्षित योग्यताओं को आधार बनाकर उनका सही और विश्वसनीय मूल्यांकन किया जा सकता है। इससे शिक्षक को अपने शिक्षण की सफलता-असफलता का पता लगता रहता है और तदनुसार वह अपनी शिक्षण योजना में वांछित परिवर्तन करता रहता है। इस योजना में मूल्यांकन शिक्षण-प्रक्रिया का आवश्यक एवं अपरिहार्य अंग बन जाता है।

भाषा-शिक्षण में इकाई-गठन के आधार

भाषा एवं साहित्य-शिक्षण में पाठ्यसामग्री का इकाई-गठन किस प्रकार हो, इस सम्बन्ध में भाषा-शिक्षण-शास्त्रियों ने निम्नांकित विचार प्रस्तुत किए है—

1. भाषा-तत्त्व सम्बन्धी ज्ञानात्मक पाठों अथवा व्याकरणिक पाठों में इकाई योजना सरलतापूर्वक व्यवहृत हो सकती है क्योंकि विभिन्न भाषा-तत्त्वों अथवा व्याकरणिक अवयवों के आधार पर 'इकाइयों' का गठन सरल होता है। वर्तनी, उच्चारण, शब्द रचना, वाक्य रचना, विराम चिह्न आदि प्रकरण व्यावहारिक व्याकरण की विभिन्न इकाइयों के रूप में पढ़ाए जा सकते है और दैनिक पाठ-शिक्षण की दृष्टि से प्रत्येक इकाई को उपइकाइयों में बाँटा जा सकता है। संज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि शब्द-भेदों की दृष्टि से भी इकाइयों का गठन किया जा सकता है।

2. गहन अध्ययननिष्ठ पाठों का इकाई-गठन किस प्रकार किया जाय, यह समस्या प्रायः सामने आती रहती है। इस सम्बन्ध में विशेषज्ञों ने अनेक सुझाव प्रस्तुत किए है--

(i) विषय वस्तु के साम्य के आधार पर पाठों का इकाई-गठन किया जा सकता है; यथा, देशभक्ति सम्बन्धी पाठों की इकाई, भौगोलिक पाठों की इकाई, जीव-जन्तु सम्बन्धी पाठों की इकाई, प्रकृति सम्बन्धी पाठों की इकाई, औद्योगिक पाठों की इकाई, वैज्ञानिक पाठों की इकाई, खेल-कूद या मनोरंजनात्मक पाठों की इकाई आदि। विषय वस्तु के आधार पर कविताओं का भी इकाई-गठन हो सकता है।

(ii) साहित्यिक विधाओं के आधार पर भी इकाई-गठन किया जा सकता है; जैसे, वर्णन, निबंध, कहानी, एकांकी, जीवनी, संस्मरण आदि विधाओं के आधार पर विभिन्न इकाइयो का गठन अर्थात् एक विधा के सभी पाठ एक इकाई में गठित हो सकते हैं।

(iii) भाषा-शैली के आधार पर भी पाठों का इकाई-गठन हो सकता है; जैसे, संस्कृतनिष्ठ भाषा, सरल बोलचाल की भाषा, भाव प्रधान शैली, विचार प्रधान शैली, व्यंग्यात्मक अथवा विनोद प्रधान शैली का आधार।

उपर्युक्त प्रकारों (विषय वस्तु, विधा या भाषा-शैली साम्य) के आधार पर गठित इकाइयों में शिक्षण की दृष्टि से अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। विषय वस्तु, विधा अथवा भाषा-शैली का कुछ साम्य रहते हुए भी साहित्यिक पाठों में भाषिक एवं साहित्यिक तत्त्वों की विभिन्नता बनी रहती है और उनमें सूक्ष्मरूप से इतनी अनेकरूपता पाई जाती है कि उन्हें एक इकाई में गठित करना कठिन हो जाता है। विधाओं के आधार पर भी इकाई का गठन कठिन है। 'पंच परमेश्वर', 'आकाशदीप' और 'मिठाई वाला' कहानियाँ किस प्रकार एक इकाई में गठित हो सकती हैं? आचार्य शुक्ल का निबन्ध 'करुणा', हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'अशोक के फूल' और महावीर प्रसाद द्विवेदी का 'साहित्य की महत्ता' क्या एक इकाई बन सकते है? शुक्ल जी के ही दो मनोवैज्ञानिक निबन्धो को विधा, भाषा और शैली में साम्य रहते हुए भी, एक इकाई में गठित करना साहित्यिक अनर्थ होगा।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि गहन अध्ययननिष्ठ पाठों के लिए यही उचित है कि प्रत्येक पाठ को स्वतन्त्र इकाई माना जाय और दैनिक शिक्षण की दृष्टि से उनके पाठांशो को उपइकाई माना जाय। उदाहरणतः 'क्रोध' निवन्ध स्वतः एक इकाई है और यदि उसे अंशों में चार दिन में पढ़ाना है तो वे अंश ही क्रमशः चार उपइकाइयों में पढ़ाए जायेंगे।

3. जहाँ तक द्रुत पाठो का सम्बन्ध है, विषय वस्तु, विधा या भाषा साम्य के आधार पर अनेक पाठों की इकाई गठित हो सकती है क्योकि इन पाठों के शिक्षण में भाषिक तत्त्वों के ज्ञान, कौशलों एवं सूक्ष्म साहित्यिक योग्यताओं की प्राप्ति पर बल नहीं दिया जाता।

4. कभी-कभी एक दिन का पाठ भी अपने-आप में इकाई का रूप ले सकता है, जैसे किसी भाषा तत्त्व—वर्तनी, उच्चारण, लेखक के ज्ञान और अभ्यास की दृष्टि से निर्मित कोई एक अनुच्छेद, जो एक दिन में ही पाठ्य हो, एक इकाई हो सकता है।

5. पाठ्यपुस्तक के अतिरिक्त किसी पर्व, समारोह, खेल-कूद अथवा अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रम को आधार बनाकर भी उससे सम्बन्धित एकाधिक पाठों की एक इकाई बनाई जा सकती है।

तात्पर्य यह है कि शिक्षक को स्वयं ही पाठों की प्रकृति, विधा, भाषा-शैली देखकर इकाई-गठन की संभावनाओं पर विचार करना चाहिए और उचित निर्णय लेना चाहिए।

नीचे डा० संपूर्णानन्द कृत 'समाज और धर्म' नामक निबंध पर आधारित एक 'इकाई पाठ-योजना' का नमूना प्रस्तुत किया जा रहा है।

इकाई पाठ-योजना : एक नमूना

विषय—हिन्दी गद्य (निबंध)

पाठ-शीर्षक—समाज और धर्म (लेखक–डा० संपूर्णानन्द) कक्षा–10

पाठ-विभाजन—उपइकाइयों अथवा दैनिक पाठों के रूप मे

यह सम्पूर्ण निबन्ध एक इकाई के रूप में अध्येतव्य है। संपूर्ण इकाई दैनिक पाठों की दृष्टि से तीन पाठों में विभाजित है। ये पाठ क्रमानुसार इस प्रकार हैं—

1. गहन अध्ययननिष्ठ पाठ :	प्रथम तीन अनुच्छेद—"यदि सभी लोग.......पार्थक्य को उतना ही बढ़ाती है।"
2. ,, ,, ,, :	अनुच्छेद 4, 5 "उदाहरण के लिए.......आकर्षित किया जा सकता है।"
3. ,, ,, ,, :	अनुच्छेद 6 "राष्ट्र का भीतरी संव्यूहन .... उसका यही धर्म है।"

शैक्षणिक उद्देश्य

इस इकाई द्वारा मातृभाषा-शिक्षण के निम्नांकित उद्देश्यों की पूर्ति अपेक्षित है—

1. भाषा-तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना	पाठ 1, 2, 3.
2. विषय वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना	,, ,, ,,
3. सुनकर अर्थ और भाव ग्रहण करना	,, ,, ,,

4. पढ़कर अर्थ या भाव ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त करना (i) मौन वाचन द्वारा (ii) सस्वर वाचन द्वारा	पाठ	1,	2,	3.
5. बोलकर अभिव्यक्त करने की योग्यता प्राप्त करना		,,	,,	,,
6. लिखकर अभिव्यक्त करने की योग्यता प्राप्त करना		,,	,,	,,
7. भाषा एवं साहित्य के प्रति रुचि		,,	,,	,,
8. सद्वृत्तियों का विकास		,,	,,	,,

अभिप्रेरणात्मक उपक्रम

बालक सामान्यतः इस धारणा से अवगत हैं कि धर्म का पालन मानव-जीवन के विकास और उत्कर्ष के लिए आवश्यक है और उसी समाज में मनुष्य सुखी रह सकता है जिसका संगठन धर्ममूलक हो। समाज और धर्म का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है और कैसे सामाजिक संगठन को धर्ममूलक कहा जायगा, इस पाठ द्वारा यह जानने के लिए कुछ प्रश्नो द्वारा छात्रों को उद्बोधित किया जायगा।

आवश्यकतानुसार आज की सामाजिक अव्यवस्था, अराजकता, अनुशासन-हीनता की ओर छात्रों का ध्यान आकृष्ट करके भी 'धर्ममूलक समाज की आवश्यकता' की ओर छात्रों को अभिमुख किया जा सकता है। गीता की पंक्ति "यदा यदा हि धर्मस्य ········सृजाम्यहम्" अथवा तुलसीदास की "जब-जब होंहि धर्म की हानी········" आदि पंक्तियों के आधार पर भी बालको को इस पाठ के अध्ययन के लिए उत्प्रेरित किया जा सकता है।

उद्देश्य एवं अपेक्षित उपलब्धियाँ		शिक्षण-प्रक्रिया			मूल्यांकन	
उद्देश्य	अपेक्षित योग्यताएँ	वस्तु-संकलन	अध्यापक-क्रियाएँ	छात्र-क्रियाएँ	पाठांतर्गत मूल्यांकन	पाठोपरांत मूल्यांकन
1	2	3	4	5	6	7
1. भाषा तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना— (क) उच्चारण	1. छात्र उन्हें पहचान सकेगा । 2. वह इनका पुनःस्मरण कर सकेगा । 3. वह इनके अशुद्ध रूपों की त्रुटियाँ पकड़ सकेगा । 4. वह इनमें अंतर कर सकेगा । 5. वह इनमें संबंध स्थापित कर सकेगा ।	(क) समृद्ध, समृद्धि, युयुत्सु, प्रकृति, व्यवस्था, पुरुषार्थ, मोक्ष, ब्रह्मविवित्सु, संव्यूहन, वैयक्तिक, प्रतिस्पर्धा, मुमुक्षु, उद्बुद्ध, क्षति, संव्यूढ, पार्थक्य, शोषण, सहिष्णुता, निन्द्य, श्रेयस्कर, कुदृष्टि, बहिष्कृत, विभूति, सामर्थ्य, अन्तर्राष्ट्रीय, धर्मविरुद्ध, सर्वोपरि, स्वत्व, याज्ञवल्क्य, धर्माधर्म, इति-कर्त्तव्यता, वैषम्य, प्रपीड़न, प्रवंचन,	(क)(i) आदर्श वाचन (ii) यथावश्यक श्यामपट्ट पर उच्चारण विश्लेषण	(क)(i) अनुकरण वाचन (ii) उच्चारण संशोधन एवं अभ्यास	वस्तु संकलन (क) अनुकरण वाचन के समय उच्चारण की शुद्धता का पता लगाकर	(क) उच्चारण संबंधी मौखिक परीक्षण द्वारा शब्दोच्चारण, वाचन

1	2	3	4	5	6	7
(ख) वर्तनी	6. वह इनके उदाहरण दे सकेगा। 7. वह इनकी तुलना कर सकेगा।	इच्छुकों, अल्पज्ञानी (ख) उपर्युक्त सभी शब्द	(ख) वर्तनी अभ्यास	(ख) वर्तनी अभ्यास	व : (ख) श्यामपट्ट पर शुद्ध वर्तनी लिखने के लिए कहकर	(ख) वस्तु निष्ठ प्रश्ना द्वारा
(ग) शब्द एवं मुहावरे	8. वह इनका विश्लेषण कर सकेगा। 9. वह इनका संश्लेपण कर सकेगा। 10. वह इनका वर्गीकरण कर सकेगा।	(ग) 1. समृद्ध 2. गौणातिगौण 3. गूलर का फूल होना 4. युयुत्सु 5. स्यात् 6. पदे-पदे 7. पुरुषाथ 8. मोक्ष 9. हठात् 10. आत्मसाक्षात्कार 11. ब्रह्म विवित्सु 12. बलात् 13. संव्यूहन 14. आत्मज्ञान 15. अभेद दर्शन 16. प्रतिस्पर्धा 17. मुमुक्षु 18. उद्‌बुद्ध 19. प्रभुराज 20. संव्यूढ 21. हित टकराते हैं 22. शोपण 23. निंद्य 24. श्रेयस्कर 25. सतत 26. कुदृष्टि 27. बहिष्कृत 28. अविभाज्य 29. विभूति 30. योग्य सामग्री 31. वसुन्धरा बलवानों की सपत्ति	(ग) (i) वाक्य प्रयोग विधि एवं शब्दार्थ, शब्द संख्या 1, 4, 5, 6, 10, 12, 13, 16, 18, 20, 21, 22, 23, 24, 25, 26, 27, 29, 30, 32, 33, 36, 37, 38, 39,	(ग) (i) शब्दार्थ ज्ञान एवं अपने वाक्य। में प्रयोग करना	वस्तु संकलन (ग) अर्थ, व्याख्या, प्रयोग संबधी मौखिक अभिव्यक्ति	(ग) (i) शब्दार्थ संबंधी विविध वस्तु निष्ठ प्रश्न (ii) शब्द-रचना संबंधी (उपसर्ग, सन्धि के आधार पर) वस्तु-निष्ठ प्रश्नों द्वारा

1	2	3	4	5	6	7
		समझी जायगी 32. अन्तर्राष्ट्रीय 33. धर्मविरुद्ध 34. अर्थ और काम 35. 'स्व' पर केन्द्रित 36. अंकुश 37. वेध 38. विनियोग 39. श्रीमानों 40. उपजीवी 41. व्यास पीठ 42. इतिकर्त्तव्यता 43. वैषम्य की आग 44. वह ज्वालामुखी एक दिन फूटेगा 45. भस्मसात् 46. प्रपीड़न 47 प्रवंचन 48. ब्रह्मज्ञानी	40, 42, (ii) व्याख्या द्वारा विशिष्ट अर्थ शब्द संख्या 7, 8, 10, 11, 14, 15, 17, 19, 31, 34, 41, 43, 48	(ii) विशिष्ट अर्थ समझना (iii) अर्थ बोध एवं प्रयोग (iv) संधि विच्छेद करना, शब्दाथ जानना (iv) इन शब्दों के सादृश्य पर इन उपसर्गों द्वारा नवीन शब्द-रचना		(ii) विशिष्ट शब्द व्याख्या विविध वस्तुनिष्ठ एवं लघूत्तरात्मक प्रश्नों द्वारा (आत्मज्ञानी ब्रह्मविवित्सु योगी पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) व्यासपीठ, अभेद-दर्शन आत्म-साक्षात्कार आदि विशिष्ट अर्थ सूचक शब्द)
2. विषय वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना— पाठांतर्गत तथ्य, तर्क एवं विचार तथा विषय-प्रतिपादन	1. छात्र इन्हें पहचान सकेगा । 2. वह इनका पुनःस्मरण कर सकेगा । 3. वह इनकी तुलना कर सकेगा ।	निम्नांकित तथ्यों, तर्कों एवं विचारों का बोध— 1. धर्म-पालन से ही सुख और समृद्धि संभव है। 2. आज धर्म का स्थान गौणातिगौण है। 3. स्वार्थियों को स्वार्थ सिद्धि का	बोध परीक्षा तथा वस्तु विश्लेपण सम्बन्धी प्रश्न, आवश्यकतानुसार व्याख्या, भावों एवं विचारों का स्पष्टीकरण	छात्र प्रश्नों के उत्तर देंगे, व्याख्या एवं स्पष्टीकरण के आधार पर भावों एवं विचार को आत्मसात करेंगे	बोध परीक्षा के प्रश्न, वस्तु एवं विचार विश्लेपण सम्बन्धी प्रश्न	(i) विविध वस्तुनिष्ठ प्रश्न (ii) लघूत्तरात्मक प्रश्न (iii) निबंधात्मक प्रश्न

1	2	3	4	5	6	7
	4. वह इनका अंतर बता सकेगा ।	अवसर मिल रहा है ।	(iii) मुहावरे एवं विशिष्ट प्रयोग, शब्द सं० 3, 6, 31, 39, 43, 44			
	5. वह इनका परस्पर सम्बन्ध बता सकेगा ।	4. सदाचारियों के मार्ग में बाधाएँ है ।				
	6. वह इनका संश्लेपण कर सकेगा ।	5. मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ मोक्ष है ।				
		6. बालात् कोई धर्मात्मा नहीं बनाया जा सकता ।	(iv) सन्धि-विच्छेद, शब्द सं० 2, 32, 33			
		7. उपयुक्त सामाजिक संव्यूहन पर वैयक्तिक एवं सामूहिक उत्कर्ष निर्भर है ।				
		8. वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय नैतिक मूल्यों में भेद क्यों ?	(v) उपसर्ग द्वारा शब्द रचना, शब्द सं० 18, 20, 28, 38			
		9. योगी, कवि, कलाकार, विज्ञानी का समाज में स्थान				
		10. 'वीर भोग्या वसुंधरा' के सिद्धांतों से मानव समाज सुखी नहीं रह सकता ।				

1	2	3	4	5	6	7
		11. धर्म मूलक सामाजिक संगठन की आवश्यकता 12. सामाजिक विषमता का निवारण 13. समाज में तप और विद्या का सर्वोपरि स्थान 14. धर्म के सिद्धांत अटल हैं पर देश, काल, पात्र भेद से उसके विनियोग में भेद होता रहता है। 15. धर्ममूलक समाज और अधर्म मूलक समाज के लक्षण और उनकी पहचान 16. व्यास, मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर गांधी का नाम तर्क का स्थान नहीं ले सकता। 17. उपर्युक्त ऋषियों का संक्षिप्त परिचय				

1	2	3	4	5	6	7
		18. धर्म पालन के अभाव में सामाजिक जीवन को खतरा 19. मनुष्य को मनुष्य की भाँति रहने का अवसर दे, यही समाज का धर्म है।				
3. सुनकर अर्थ ग्रहण करना	1. छात्र धैर्य पूर्वक सुन सके। 2. वह सुनने के शिष्टाचार का पालन कर सके। 3. वह मनोयोग पूर्वक सुन सके। 4. वह ग्रहणशीलता की मनःस्थिति बनाए रख सके। 5. वह शब्दों, मुहावरों व उक्तियों का प्रसंग	सम्पूर्ण पाठ	1. शिक्षक द्वारा आदर्श वाचन 2. बोध परीक्षा प्रश्न	1. ध्यान पूर्वक सुनकर अर्थ एवं भाव ग्रहण करना 2. भाव एवं विचार ग्रहण करते हुए बोध प्रश्नो के उत्तर देना		

1	2	3	4	5	6	7
	अनुकूल अर्थ एवं भाव समझ सके ।					
	6. वह स्वराघात, बलाघात एवं स्वर के उतार चढ़ाव के अनुसार अर्थ या भाव ग्रहण कर सके ।					
	7. वह महत्त्वपूर्ण तथ्यों एवं विचारों का चयन कर सके ।					
	8. वह तथ्य, विचारों एवं भावों का परस्पर सम्बन्ध बता सके ।					
	9. वह केन्द्रीय भावों एवं विचारों को ग्रहण कर सके ।					

1	2	3	4	5	6	7
	10. वह सारांश ग्रहण कर सके । 11. वह भावानुभूति कर सके ।					
4. पढ़कर अर्थ या भाव ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त करना 1. सस्वर वाचन 2. मौन वाचन	1. विद्यार्थी शुद्ध उच्चारण, उचित स्वराघात, बलाघात एवं स्वर के उतार-चढ़ाव के साथ पढ़ सके । 2. वह विषयानुरूप गतिपूर्वक पढ़ सके । 3. वह धैर्य पूर्वक पढ़ सके । 4. वह मनोयोग पूर्वक पढ़ सके । 5. वह ग्रहण शीलता की मन:स्थिति बनाए रख सके ।	सम्पूर्ण पाठ	1. शुद्ध एवं प्रभाव पूर्ण वाचन का आदर्श प्रस्तुत करना 2. छात्रों को सोद्देश्य मौन पठन के लिए कुछ प्रश्न देकर मौन पठन का निर्देश देना	1. सस्वर वाचन 2. मौन वाचन (केन्द्रीय भाव एवं अन्य संवद्ध विचारों को समझते हुए, तथा शब्दो एव मुहावरों के प्रसंगानुसार अर्थ और भाव ग्रहण करते हुए)	1. वाचनोपरांत (सस्वर एवं मौन दोनों के संदर्भ में) वोध एवं विचार विश्लेषण सम्बन्धी लघूत्तरात्मक प्रश्न 2. वाचन की गति पर दृष्टि रखकर ।	

1	2	3	4	5	6	7
	6. वह भावानुरूप वाचन कर सके । 7. वह शब्दों, मुहावरो और उक्तियो का प्रसंगानुकूल अर्थ और भाव समझ सके । 8. वह महत्त्वपूर्ण विचारों, भावों एवं तथ्यों का चयन कर सके । 9. वह केन्द्रीय भाव और विचार ग्रहण कर सके ।					
5. बोलकर भावों एवं विचारों को व्यक्त करने की योग्यता प्राप्त करना ।	बोध परीक्षा एवं वस्तु विश्लेपण संबंधी प्रश्नों के उत्तर देते समय— 1. शुद्ध तथा स्पष्ट भाषा में, ध्वनि के आरोह-अवरोह के साथ	सम्पूर्ण पाठ	1. बोध परीक्षा एवं वस्न, विचार विश्लेपणात्मक प्रश्न 2. छात्रों को अपने विचार, प्रश्न या शंकाएँ	1. प्रश्नों के उत्तर 2 आवश्यकतानुसार पठित सामग्री पर अपने विचार, प्रश्न या शकाएँ प्रस्तुत करना ।	1. प्रश्नों के उत्तर सुनकर 2. छात्रों द्वारा प्रस्तुत विचार, प्रश्न या शंकाएँ सुनकर	

1	2	3	4	5	6	7
	उचित स्वर में अपने विचारों को अभिव्यक्त कर सकेगा।		प्रस्तुत करने की स्वतन्त्रता देना			
	2. सुश्रव्य वाणी में अभिव्यक्ति।					
	3. उचित गति के साथ					
	4. उचित विराम के साथ।					
	5. उचित भाव संप्रेषण के साथ।					
	6. व्याकरण सम्मत भाषा का प्रयोग।					
	7. शब्दों, मुहावरों और सूक्तियों का प्रसंगानुकूल प्रयोग।					
	8. विभिन्न रचना वाले वाक्यों का शुद्ध गठन।					

1	2	3	4	5	6	7
6. लिखकर भावों, विचारों को व्यक्त करने की योग्यता ।	1. छात्र सुपाठ्य लिख सकेगा । 2. वह प्रसंगानुकूल उचित गति स लिख सकेगा । 3. वह शब्दों की शुद्ध वर्तनी लिख सकेगा । 4. वह विराम चिन्हो का यथोचित प्रयोग कर सकेगा । 5. वह व्याकरण सम्मत शुद्ध भापा का प्रयोग कर सकेगा । 6. वह लेखन कार्य में अनुच्छेदों का ठीक ध्यान रखेगा । 7. वह प्रसंगानुकूल उचित शब्दों, मुहावरो तथा सूक्तियों का शुद्ध प्रयोग कर सकेगा ।	सम्पूर्ण पाठ	1. छात्रों को समाज और धर्म के परस्पर सम्बन्ध पर (प्रस्तुत निवंध) के आधार पर कुछ प्रश्नों के उत्तर लिखने को कहेगा 2. पाठ में व्यक्त विचारो के प्रति छात्रों को अपनी प्रतिक्रिया लिखने के लिए कहेगा	1. छात्र पठित सामग्री के आधार पर इन प्रश्नों के उत्तर देंग । 2. छात्र अपनी-अपनी प्रतिक्रियाएँ लिखेंगे		1. लिखित उत्तरों का परीक्षण करके 2. ,, ,,

	2	3	4	5	6	7
	8. वह सरल मुहावरेदार भाषा का प्रयोग कर सकेगा । 9. वह वाक्यों में शब्दों, वाक्यांशों तथा उपवाक्यों का क्रम अर्थानुकूल रख सकेगा । 10. वह विभिन्न रचना वाले वाक्यों का शुद्ध प्रयोग कर सकेगा ।					
7. भाषा और साहित्य के प्रति रुचि ।	'मानव-जीवन में धर्म का महत्त्व' सम्बन्धी रचनाएँ पढ़ेंगे ।	(i) रामचरितमानस के उपयुक्त अंश (ii) पत्र-पत्रिकाओं में धर्म एवं नैतिकता सम्बन्धी लेख आदि	छात्रों को गृह कार्य के रूप में पढ़ने के लिए देगा ।	छात्र अतिरिक्त वाचन के रूप में इन्हें पढ़ेंगे ।		पठित सामग्री पर छात्रों के नोट देखकर अथवा प्रश्नों के उत्तर देखकर ।

1	2	3	4	5	6	7
8. सद्वृत्तियों का विकास।	1. सामाजिक रचना में धर्म का महत्त्व समझ सकेंगे और तदनुकूल सामाजिक रचना की आवश्यकता का अनुभव करेंगे। 2. शोषण विहीन समाज की रचना के प्रति विश्वास। 3. धर्मानुकूल आचरण-निःस्वार्थ, त्याग, तपस्या, सहयोग, सहानुभूति आदि की प्रेरणा।	सम्पूर्ण पाठ	अपेक्षित योग्यता सं. 1 और 2 से संबंधित स्थलों की ओर छात्रों का ध्यान आकृष्ट करना	धर्म संबंधी शाश्वत सिद्धांतों के प्रति आस्था एवं धर्ममूलक सामाजिक रचना की आवश्यकता की अनुभूति		धर्म मूलक सामाजिक रचना के सम्बन्ध में छात्रों की प्रतिक्रियाएँ जान कर

संपूर्ण इकाई पाठ-योजना इस प्रकार तैयार कर लेने के बाद दैनिक पाठ-शिक्षण की दृष्टि से विभाजित तीनो पाठांशों की पृथक्-पृथक् पाठ योजनाएँ इसी प्रकार तैयार करनी होंगी। पूरी इकाई पढ़ा लेने के पश्चात् इकाई संप्राप्ति परख पत्र भी शिक्षक तैयार करेगा। इकाई संप्राप्ति परख पत्र में वस्तुनिष्ठ, लघूत्तरात्मक और निबन्धात्मक तीनों प्रकार के प्रश्न होंगे और प्रश्नों की रचना शैक्षणिक उद्देश्यों एवं अपेक्षित योग्यताओं को ध्यान में रखकर की जायेगी। विस्तार-भय के कारण ही यहाँ तीनों पाठों की पाठ-योजनाओं एवं इकाई संप्राप्ति परख पत्र का उल्लेख नहीं किया जा रहा है। प्रस्तुत इकाई पाठ-योजना के आधार पर तीनों दैनिक पाठों की योजनाएँ तैयार की जा सकती है और मूल्यांकन अध्याय में उल्लिखित विधियों के आधार पर इकाई संप्राप्ति परख पत्र की रचना भी की जा सकती है।

सारांश

इकाई परस्पर संबद्ध ज्ञान, अनुभव एवं क्रियाओं का वह संगठित रूप है जो अपने में पूर्ण होता है और जिसके द्वारा निश्चित शैक्षिक उद्देश्यो की पूर्ति एवं अपेक्षित व्यवहार परिवर्तन में सफलता प्राप्त होती है। अतः वह सोद्देश्य क्रियाओ का संगठन है।

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि कोई प्रकरण पहले समग्र रूप में ही बालकों के लिए सहजग्राह्य होता है। अतः पाठ्य सामग्री का संगठन और क्रमायोजन ऐसी अध्याय इकाइयों में होना चाहिए जो अपने-आप में पूर्ण हों और उन्हें दैनिक पाठ-योजना की दृष्टि से उपइकाइयों में क्रमायोजित किया जा सके।

"इकाई योजना शिक्षा की वह विधि है जिसके द्वारा विषय वस्तु को, शिक्षण विधियों को तथा शिक्षण-प्रयुक्तियों को इस ढंग से गठित किया जाता है कि सीखने और सिखाने की परिस्थितियो को प्रभावी बनाया जा सके।"

संपूर्ण पाठ्यचर्या के आधार पर विषय सामग्री का इकाइयों, उपइकाइयों में संगठन एवं क्रमायोजन, शैक्षणिक उद्देश्यो, शिक्षण विधियों, शिक्षक एवं शिक्षार्थियों के क्रियाशीलन, शिक्षोपकरणों और संपूर्ण इकाई के मूल्यांकन आदि की योजना को ही इकाई-योजना की संज्ञा प्रदान की जाती है।

इकाइयों के रूप—प्रकरण इकाइयाँ, सामान्यीकरण इकाई, वातावरण के किसी विशेष पक्ष पर आधारित इकाई, अनुभवात्मक इकाइयाँ आदि।

इकाई-योजना की आवश्यकता—विषय-सामग्री का वर्गीकरण एवं सुव्यवस्थित क्रमायोजन, प्रकरण अथवा पाठ की संश्लिष्टता, प्रकृति, विधा एवं भाषा-शैली के साम्य के आधार पर पाठ्यसामग्री का संयोजन, स्पष्ट उद्देश्यों का निर्धारण, अपेक्षित योग्यताओ एवं व्यवहार परिवर्तनो का निर्धारण, शिक्षण क्रम एवं युक्तियों का निर्धारण, मूल्यांकन।

भाषा-शिक्षण में इकाई गठन—भाषा तत्वों अथवा व्याकरणिक अवयवों के आधार पर इकाई गठन, गहन अध्ययननिष्ठ पाठों का इकाई-गठन, द्रुत पाठों में

विषय वस्तु, विधा एवं भाषा-साम्य के आधार पर इकाई गठन, दैनिक पाठ का भी इकाई का रूप, अनुरंजनात्मक अथवा सांस्कृतिक कार्यक्रम के आधार पर एकाधिक पाठों की इकाई ।

प्रश्न

1. इकाई-योजना का क्या अर्थ और तात्पर्य है ?
2. भाषा-शिक्षण में इकाई-योजना की आवश्यकता और उपयोगिता पर प्रकाश डालिए ।
3. भाषा-शिक्षण में इकाई गठन के क्या आधार हैं ?
4. गहन अध्ययननिष्ठ पाठों की इकाई-गठन किस प्रकार करेंगे ?
5. इकाई पाठ-योजना का एक नमूना प्रस्तुत कीजिए ।

परिशिष्ट–1

पाठ-योजना

विभिन्न प्रकार के पाठों—गहन अध्ययननिष्ठ गद्यपाठ, द्रुतपाठ, कहानी, नाटक, कविता, व्याकरण आदि—के शिक्षण के संदर्भ में तत्सम्बन्धी पाठ-योजना की संक्षिप्त रूपरेखा दी जा चुकी है। पाठ-योजना के नमूने वहाँ नहीं दिए गए हैं। इन सभी प्रकार के पाठों की पाठ-योजनाएँ यहाँ एक साथ दी जा रही है जिससे उनका सापेक्षिक एवं समग्र रूप प्रशिक्षार्थियों के सामने प्रस्तुत हो सके।

पाठ योजना संबंधी सामान्य बातें—

1. शिक्षक को कक्षा में जाने के पहले पाठ-योजना अवश्य तैयार करनी चाहिए। सफल एवं प्रभावपूर्ण शिक्षण के लिए यह नितांत आवश्यक है। पर यह पाठ-योजना मनोकल्पित न होकर सुविचारित, सुनिश्चित एवं लिखित होनी चाहिए।

2. पाठ-योजना एक निर्देशिका मात्र है। उसे शिक्षण का पूर्ण और अंतिम रूप नहीं मानना चाहिए। वह कक्षा-स्थिति के अनुसार सदा परिवर्तनशील है। शिक्षक पाठ-योजना का निर्माता है, दास नहीं। अतः उसमें नमनीयता आवश्यक है। वेस्टवे का यह कथन सही है कि पाठन-विधि कोई पूर्ण शाश्वत प्रतिमा नहीं है, वह परिवर्तनीय वस्तु है।

3. शिक्षक को प्रारम्भ में पूरी पाठ-योजना लिखनी चाहिए। अनुभव बढ़ते जाने पर पाठ-योजना को वह संक्षिप्त कर सकता है। पर यह सदा याद रहे कि अच्छे शिक्षक दीर्घकालीन अनुभव के बाद भी अपने साथ निर्देश-संकेत (गाइड लाइन्स) अवश्य रखते हैं।

4. शिक्षक पाठ-योजना अपने लिए तैयार करता है, निरीक्षक के लिए नहीं।

5. पाठ्य विषय, इकाई, प्रकरण एवं शिक्षण प्रक्रिया आदि का पूर्ण ध्यान रखकर पाठ-योजना बनानी चाहिए।

6. पाठ के विशिष्ट उद्देश्य निर्धारित होने चाहिए और इन उद्देश्यों की पूर्ति का ध्यान रखना चाहिए।

7. उद्देश्य-संपूर्ति की परख के लिए मूल्यांकन का अवसर पाठ-योजना में अवश्य प्रदान करना चाहिए।

8. नवीन तथ्य या सूचनाएँ छात्रों को बता दी जायँ, बलात् उनसे निकलवाने का प्रयत्न उचित नहीं।

9. प्रकरण की प्रस्तावना रोचक, संक्षिप्त और छात्रों के पूर्वज्ञान, अनुभव से सम्बन्धित हो। प्रस्तावना में येन केन प्रकारेण पाठ या प्रकरण का नाम निकलवाने का प्रयत्न उपहासजनक होता है।

10. पाठ-योजना में शिक्षक की क्रियाएँ एवं प्रयुक्त क्रिया-विधियों का उल्लेख भी अपेक्षित है। छात्रों की क्रियाओं, उनके संभावित उत्तर, प्रतिक्रियाएँ आदि का उल्लेख भी अपेक्षित है।

11. बालकों को विशेष रूप से प्रेरणा देने वाली युक्तियों का भी उल्लेख करना चाहिए।

12. आवश्यक उपकरण, उदाहरण एवं उनके प्रयोग, प्रदर्शन विधि का भी उल्लेख होना चाहिए।

13. पाठ-योजना में छात्रों के अनुभवों, दैनिक जीवन की आवश्यकताओ एवं वातावरण की क्रियाओं से पाठ का यदि स्वाभाविक एवं उचित सम्बन्ध स्थापित किया जा सके तो बहुत उत्तम है।

14. मुख्य, प्रेरक, उद्भावक एवं परीक्षा-प्रश्नों का उल्लेख रहना चाहिए। पूरक प्रश्न कक्षा में स्थिति के अनुसार बनाए जा सकते है।

15. पाठ-योजना विस्तृत नहीं होनी चाहिए पर वह अपने में पूर्ण हो और पाठ सम्बन्धी कोई अंश उपेक्षित न रहे।

16. गृहकार्य का उल्लेख अवश्य करें पर वह कक्षा में कराए गए कार्य की आवृत्ति मात्र न हो। उसके द्वारा स्वतन्त्र प्रयोग एवं नये विचार की प्रेरणा मिले।

17. पाठ-योजन बनाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रस्तुत पाठ उस विषय या इकाई के अगले पाठ का आधार अथवा सहायक बन सके।

18. पाठ-योजना में पाठ के विभिन्न भागों या सोपानों में क्रमबद्धता और सुसंबद्धता रहनी चाहिए।

19. पाठ्यसामग्री की शुद्धता, प्रामाणिकता एवं उपयुक्तता का सदा ध्यान रखना चाहिए।

20. दैनिक शिक्षण की पाठ्यसामग्री कक्षा की स्थिति, बालकों की योग्यता, समय, शिक्षण-साधन और उपकरण आदि को देखते हुए निश्चित करनी चाहिए। कुछ शिक्षक एक घंटे मे ही अधिकाधिक सामग्री देने का लोभ संवरण नही कर पाते, फलतः वह पाठ बालकों के लिए बोझिल और अग्राह्य हो जाता है।

भाषा-शिक्षण में पाठ-योजना का सामान्य प्रारूप

पाठ-योजना के सामान्य प्रारूप में प्रकरण, उद्देश्य, सहायक सामग्री, पूर्वज्ञान, प्रस्तावना, क्रियाविधि, प्रस्तुतीकरण, आदर्श पाठ, अनुकरण पाठ, मौन पाठ, बोध प्रश्न, भाषा कार्य, विचार-विश्लेषण, पुनरावृत्ति, मूल्यांकन, श्यामपट्ट लेख, गृह कार्य आदि का उल्लेख किया जाता है। विभिन्न पाठों के अनुसार इनके क्रम में भिन्नता पाई जाती है। सामान्यतः निम्नांकित रूप मान्य हैं—

विषय—

इकाई—

प्रकरण—

कक्षा—

उद्देश्य—

सहायक सामग्री—

प्रस्तावना

विशिष्ट उद्देश्य	शिक्षक क्रियाएँ	छात्र-क्रियाएँ

शिक्षक-क्रिया के अन्तर्गत यथास्थान आदर्श पाठ, वोध प्रश्न, विचार-विश्लेपण आदि का और छात्र-क्रियाएँ के अन्तर्गत यथास्थान अनुकरण पाठ, मौन पाठ, संभावित उत्तर एवं प्रतिक्रियाएँ आदि का उल्लेख किया जाता है।

आगे कुछ पाठ-योजनाएँ दी जा रही हैं। उन्हें भी आदर्श या अंतिम रूप में न मानकर सुझाव या संकेत रूप में ही लेना चाहिए।

पाठ-योजना (1)

गद्य पाठ

राष्ट्रीय झण्डे का सम्मान

राष्ट्रीय ध्वजा ही किसी देश की शान एवं प्राण है। उसके सम्मान से ही देश का सम्मान होता है। इसलिए राष्ट्रीय झण्डे का उचित सम्मान करना हमारा सबसे बड़ा कर्त्तव्य है। इसके मान की रक्षा अपने प्राणों की आहुति देकर भी करनी चाहिए। जब तक किसी राष्ट्र का झण्डा रणक्षेत्र में ठाट से लहराता है, तब तक उस देश की जीत समझी जाती है और मरते-मरते भी सैनिकों के हृदय में उसे देखकर आगे बढ़ने का प्रोत्साहन मिलता है। परन्तु जब झण्डा झुक जाता है या गिरा दिया जाता है, तब उस देश की पराजय समझी जाती है।

राष्ट्रीय ध्वजा हमारे देश की जनता का प्रतीक है। वह हमें उस स्वतन्त्रता की याद दिलाती है जिसे हमने त्याग और बलिदान से प्राप्त किया है। राष्ट्रीय झण्डे के तीन रंग हमारे चरित्र के आधार हैं। एकता, चरित्र बल और आत्मबल का प्रतीक हमारा तिरंगा हमें उन्नति करने के लिए प्रोत्साहित करता है। इसलिए हम सबका कर्त्तव्य है कि राष्ट्रीय झण्डे के मान और मर्यादा की रक्षा के लिए सावधान रहें और इसके लिए वह कार्य करें जिससे देश का सम्मान संसार के सभी देशों में बढ़े।

विषय–हिन्दी गद्य (गहन अध्ययननिष्ठ पाठ)

प्रकरण–राष्ट्रीय झण्डे का सम्मान

कक्षा–7

उद्देश्य—

1–शुद्ध उच्चारण, सम्यक् स्वराघात, ध्वनि का आरोह, अवरोह, विराम एवं गति का ध्यान रखते हुए भावानुरूप सस्वर पठन की योग्यता।

2–अर्थ ग्रहण करते हुए त्वरित गति से मौन पठन की योग्यता।

3–निम्न तथ्यों का बोध—

क–देश के सम्मान में राष्ट्रीय झण्डे का महत्त्व

ख–भारत के राष्ट्रीय झण्डे में तीन रंगों का महत्त्व

ग–राष्ट्रीय झण्डे के प्रति हमारा कर्त्तव्य

4–निम्नांकित शब्दों का बोध—

राष्ट्रीय, सम्मान, आहुति, प्रोत्साहन, पराजय, प्रतीक, मर्यादा, सावधान

5–निम्नांकित पदों की लाक्षणिक अभिव्यक्ति–

देश की शान एवं प्राण, प्राणों की आहुति, ठाट से लहराना, त्याग और बलिदान से प्राप्त करना।

6—**निम्न शब्दों का प्रयोग**—

उचित, आहुति, प्रोत्साहन, प्रतीक, सावधान।

7—**उच्चारण**—

राष्ट्रीय, प्रोत्साहन, प्रतीक, आत्मबल।

8—**सद्वृत्त्यात्मक**—राष्ट्रीय झण्डे के प्रति सम्मान और गौरव की भावना की अनुभूति।

पूर्वज्ञान—छात्र राष्ट्रीय पर्वों पर तिरंगा झण्डा फहराया जाते हुए देख चुके हैं।

प्रस्तावना—छात्रों का ध्यान प्रस्तुत पाठ की ओर आकर्षित करने के हेतु पूर्वज्ञान पर आधारित विषय से सम्बन्धित निम्नलिखित प्रश्न किए जाएँगे—

(1) भारत में स्वतन्त्रता के उपलक्ष्य में कौन-कौन से उत्सव मनाए जाते है?
(15 अगस्त, 26 जनवरी)

(2) इन अवसरों पर राष्ट्रीय झंडा क्यों फहराया जाता है?
(स्वतन्त्रता का चिह्न है)

प्रस्तुतीकरण

हमारा तिरंगा झंडा देखने में भी सुन्दर है तथा यह हमारी स्वतन्त्रता का प्रतीक है। इस गद्य-खंड के प्रथम परिच्छेद का मौन पाठ करके ज्ञात करो कि हमें राष्ट्रीय झंडे का सम्मान क्यों करना चाहिए।

प्रथम अन्विति

"राष्ट्रीय ध्वजा..............समझी जाती है।"

मौन पाठ छात्रों द्वारा

बोध प्रश्न—

(1) हमारा सबसे बड़ा कर्त्तव्य क्या है?
(राष्ट्रीय झंडे का सम्मान करना)

(2) राष्ट्रीय झंडे का सम्मान हमें किस प्रकार करना चाहिए?
(हर प्रकार से, यहाँ तक प्राणों की आहुति देकर भी)

(3) किसी देश की जीत कब तक समझी जाती है?
(जब तक रणक्षेत्र में राष्ट्रीय झंडा लहराता रहे)

(4) राष्ट्रीय झंडे के युद्धक्षेत्र में लहराने से सैनिकों को क्या प्रेरणा मिलती है? (आगे बढ़ने का प्रोत्साहन मिलता है)

भाषा-कार्य तथा स्पष्टीकरण—

(1) राष्ट्रीय ध्वजा को देश की शान और प्राण क्यों कहते है? (अपना राष्ट्रीय झंडा होने से ही देश शानदार समझा जाता है और जिस प्रकार

प्राणहीन शरीर व्यर्थ है, उसी प्रकार झंडा रहित देश परतन्त्र समझा जाता है) (राष्ट्र से राष्ट्रीय)

(2) राष्ट्रीय झंडे का उचित सम्मान क्यों करना चाहिए ?

(देश का सम्मान होता है)

सम्मान का विलोम अपमान

(3) 'उचित' शब्द का प्रयोग अपने वाक्य में करो।

(कुछ लोग चाय मे चीनी उचित मात्रा से अधिक डालते है)

(4) प्राणों की आहुति देने का क्या तात्पर्य है ?

(जिस प्रकार शुद्ध वातावरण बनाने के लिए अग्नि में हवन किया जाता है उसी प्रकार देश की रक्षा के लिए युद्धक्षेत्र में प्राणों का हवन कर देना, प्रसन्नतापूर्वक लड़ते-लड़ते मर जाना)।

(आहुति, हवन, हवन में डालने की सामग्री।)

(प्रयोग—स्वाभिमानी व्यक्ति आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए हँसते-हँसते प्राणों की आहुति दे देते है)]

(5) राष्ट्रीय झंडे के मान की रक्षा प्राणों की आहुति देकर क्यों करनी चाहिए ?

(देश की रक्षा प्राणों से बढ़ कर है)

(6) रणक्षेत्र में झंडे के ठाट से लहराने का क्या तात्पर्य है ?

(देश की विजय हो रही हो, शत्रु हार रहा हो और झंडा सुन्दरता-पूर्वक लहरा रहा हो)

(युद्धक्षेत्र–युद्ध का मैदान, रणक्षेत्र, कर्मक्षेत्र, ठाट-बाट, शान-शौकत)

(7) प्रोत्साहन का अर्थ है ?

(विशेष उत्साह) प्र + उत्साह–प्रोत्साहित

(प्रखर, प्रमोद, प्रवचन)

प्रयोग–मजदूरी बढ़ा देने से मजदूरों को अच्छा काम करने का प्रोत्साहन मिलता है।)

(8) झंडा झुक जाने पर देश की पराजय क्यों समझी जाती है ?

(सेना के हार जाने पर ही झंडा झुकाया जाता है।)

(पराजय—हार, पराजित)

आदर्श पाठ—राष्ट्रीय ध्वजा, कर्त्तव्य, रणक्षेत्र और प्रोत्साहन शब्दों का विशेष रूप से शुद्ध उच्चारण करते हुए अध्यापक द्वारा आदर्श पाठ।

व्यक्त पाठ— छात्रों द्वारा

द्वितीय अन्विति

"राष्ट्रीय झंडा.................... देशों में बढ़े।"

मौन पाठ— छात्रों द्वारा

बोध प्रश्न—

(1) राष्ट्रीय झंडा किस चीज का प्रतीक है ? (देश की जनता का)

(2) वह हमें किस चीज की याद दिलाता है ?
(त्याग और बलिदान से प्राप्त की गई स्वतन्त्रता का)

(3) राष्ट्रीय झंडे के मान की रक्षा के लिए हमें कौन सा कार्य करना चाहिए ?
(वह कार्य जिससे देश का सम्मान संसार के सभी देशों में बढ़े)

(4) राष्ट्रीय झंडे के तीन रंग किन-किन भावों के आधार हैं ?
(एकता, चरित्र बल, आत्मबल)

भाषा-कार्य तथा स्पष्टीकरण—

(1) प्रतीक शब्द का क्या अर्थ है ?
(चिन्ह, प्रतिरूप, वह जो किसी वस्तु का प्रतिनिधित्व करे प्रयोग—राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन भारतीय संस्कृति के प्रतीक थे ।)

(2) राष्ट्रीय झंडे को जनता का प्रतीक क्यों कहा गया है ?
(झंडे के तीन रंग भारत की विविधता के आधार हैं ।)

(3) स्वतन्त्रता को त्याग और बलिदान से प्राप्त करने का क्या तात्पर्य है ?
(स्वतन्त्र होने के लिए तन, धन और परिवार की चिंता न रहे तथा आवश्यकता पड़ने पर मर-मिटने के लिए तैयार हो ।) (स्वतन्त्रता का विलोम परतन्त्रता)

(4) राष्ट्रीय झंडे के मान और मर्यादा के लिए हमें क्यों सावधान रहना चाहिए ?
(इसकी मान-मर्यादा कायम रहने से देश की मान-मर्यादा बनी रहती है। मान-मर्यादा—सम्मान, प्रतिष्ठा)
(सावधान (स + अवधान), इसका विलोम असावधान)
प्रयोग—भीड़ वाले स्थानों तथा मेलों में हमें सावधान रहना चाहिए ।

(5) देश का सम्मान संसार के सभी देशों में किस प्रकार बढ़ सकता है ?
(अच्छे-अच्छे कार्य करने से)

आदर्श पाठ—प्रतीक, स्वतन्त्रता, आत्मबल, मर्यादा, राष्ट्रीय आदि शब्दों के उच्चारण का विशेष रूप से ध्यान रखते हुए आदर्श पाठ ।

सस्वर-पाठ—छात्रों द्वारा । शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारण के साथ भावानुरूप वाचन ।

पुनरावृत्ति—(1) राष्ट्रीय झंडे के सम्मान के लिए हमें क्या करना चाहिए ?

(2) राष्ट्रीय झंडे के तीन रंग किन-किन भावों के प्रतीक हैं ?

(3) निम्नांकित शब्दों में से उपयुक्त शब्द छाँट कर रिक्त स्थान भरो—
पराजय, उचित, बलिदान, स्वतन्त्रता, आहुति

(क) देश की उन्नति के लिए प्रत्येक नागरिक को·······मात्रा में परिश्रम करना चाहिए।··········हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।

(ख) देश के लिए आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राणों की·······देने को तैयार रहना चाहिए। ऐसा न करने पर··········की सम्भावना रहती है।

श्यामपट्ट कार्य–राष्ट्र से राष्ट्रीय, ईय प्रत्यय द्वारा; उदाहरण–प्रान्तीय, भारतीय

सम्मान–प्रतिष्ठा, विलोम–अपमान

उचित का विलोम अनुचित

आहुति–बलि, हवन-सामग्री,

रणक्षेत्र–युद्ध का मैदान

ठाट–शान-शौकत

प्रोत्साहन–(प्र + उत्साह) विशेष उत्साह, 'प्र' उपसर्ग युक्त प्रखर, प्रवचन आदि।

पराजय–हार, विलोम-विजय

प्रतीक–चिह्न, प्रतिरूप, वह जो किसी का प्रतिनिधित्व करे।

स्वतन्त्रता–आजादी, विलोम-परतन्त्रता।

मर्यादा–प्रतिष्ठा

सावधान (स + अवधान), विलोम असावधान

गृहकार्य–राष्ट्रीय झंडे के महत्त्व को पढो और ज्ञात करो कि किस अवसर पर किस रूप में झंडे का प्रयोग करना चाहिए। इसे लिखकर भी लाओ।

पाठ-योजना (2)
(गद्य-पाठ)
गहन अध्ययननिष्ठ

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ

बंगाल में ठाकुर-परिवार साहित्य, संगीत और कला में प्रवीणता के लिए प्रख्यात है। इस घर में सरस्वती और लक्ष्मी अपने स्वाभाविक वैमनस्य को त्याग कर चिरकाल से एक दूसरे का अनुरंजन करती हुई विलास करती रही हैं। रवीन्द्र बाबू के जन्म के समय इस कुल में तत्कालीन बंगाल की धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक जागृति के स्रोत स्वच्छन्दता से परन्तु मर्यादित रूप से, वह रहे थे। कवि के पूज्य पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ब्रह्म समाज के एकेश्वर में दृढ़ विश्वासी होते हुए भी हिन्दू-संस्कृति के संरक्षक थे। उन्ही की संरक्षकता में रवीन्द्र बाबू ने केवल भारत को ही नहीं, वरन् विश्व को भी अपनी मधुर वाणी से निनादित किया।

परतंत्रता के विषादमय वातावरण में रवीन्द्र बाबू ने आत्मानन्द के जो गीत सुनाए उनसे भारतीयों को ही नही, अपितु समस्त मानव-समाज को एक अनिर्वचनीय आह्लाद हुआ। लौकिक स्वरों मे पारलौकिक अथवा आध्यात्मिक भावों को व्यक्त कर उन्होंने विश्व की एकरूपता और एकमयता की बड़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति की। श्रीकृष्ण की वंशी के बाद यह दूसरी मोहक ध्वनि थी जिसने विश्वात्मैक्य का विराट् रूप अंकित कर मानव को विस्मय-विमुग्ध कर दिया।

'शान्तिनिकेतन की पाठशाला में उन्होंने सभी संस्कृतियों को एक ही सूत्र में आबद्ध दिखाकर विश्व समाज का सुखद समारम्भ किया। वे वस्तुतः विश्व के शिक्षक थे अतएव विश्ववन्द्य 'बापू' भी उन्हें 'गुरुदेव' कहकर आत्म-विभोर हो उठे थे। वस्तुतः कवीन्द्र रवीन्द्र भारत की पावन और अक्षय विभूति है।

प्रकरण—विश्वकवि रवीन्द्रनाथ

कक्षा—10।

उद्देश्य–1. अर्थ ग्रहण करते हुए त्वरित गति से मौन पठन की योग्यता।

2. शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारण, सम्यक स्वराघात, ध्वनि का आरोह-अवरोह, विराम एवं गति का ध्यान रखते हुए भावानुरूप सस्वर पठन की योग्यता।

3. वस्तु ग्रहण सम्बन्धी :—

(क) विश्वकवि रवीन्द्रनाथ की प्रकृति, आचरण, विश्वप्रेम आदि आदर्शों से परिचय।

(ख) बंगाल की धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जागृति में उनका योगदान

(ग) उनके आध्यामिक गीतों का प्रभाव ।
(घ) सभी संस्कृतियों में एकता-स्थापना का उनका प्रयास ।

4. भाषा कार्य सम्बन्धी :—

(क) उच्चारण—आध्यात्मिक, अनिर्वचनीय, विश्वात्मैक्य, आह्लाद ।
(ख) शब्दार्थ—प्रवीणता, प्रख्यात, अनुरंजन, स्वच्छन्दता, संरक्षक, एकेश्वर, निनादित, अनिर्वचनीय, पारलौकिक, आध्यात्मिक, विश्वात्मैक्य ।
(ग) शब्द प्रयोग—प्रवीणता, साहित्यिक, तत्कालीन, विषादमय, लौकिक, पारलौकिक, विस्मय-विमुग्ध करना ।
(घ) शब्द रचना-लौकिक, साहित्यिक आदि शब्दों के आधार पर इक प्रत्यय युक्त शब्दों की रचना ।

5. सद्वृत्तियों का विकास-टैगोर के उज्ज्वल आदर्शों-कला-प्रेम, धर्म-प्रेम, मानव-प्रेम एवं सांस्कृतिक एकता आदि से प्रेरणा ग्रहण करना ।

पूर्वज्ञान—बालक रवीन्द्रनाथ टैगोर के नाम से भलीभाँति परिचित हैं। यह भी जानते है कि उन्हें नोबेल पुरस्कार मिल चुका है ।

प्रस्तावना—1. आधुनिक युग में भारत के कौन-कौन से महापुरुष हो चुके हैं ?
2. बंगाल के कुछ महान पुरुषों के नाम बताओ ।
(दादाभाई नौरोजी, राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, रवीन्द्रनाथ टैगोर) ।
3. इनमें से किस महापुरुष को नोबेल पुरस्कार मिला था ?
(रवीन्द्रनाथ टैगोर)

प्रस्तुतीकरण— आज हम लोग रवीन्द्रनाथ टैगोर के सम्बन्ध में एक गद्यांश पढ़ेंगे और यह देखेंगे कि किन गुणों के कारण टैगोर को विश्व में इतनी ख्याति मिली ।

प्रथम अन्विति

"बंगाल में ठाकुर..............................निनादित किया ।"

मौन पाठ—छात्रों द्वारा

बोध प्रश्न— (1) लेखक की दृष्टि से इस लेख में ठाकुर परिवार किन विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध है ?
(सरस्वती और लक्ष्मी दोनो का मेल)
(2) महर्षि देवेन्द्रनाथ की क्या विशेषता थी ?
(ब्रह्म समाज के एकेश्वरवाद में विश्वास)
(3) 'शांतिनिकेतन' में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने क्या आदर्श रखा था ?

भाषा कार्य एवं स्पष्टीकरण

(1) ठाकुर परिवार किन बातों की प्रवीणता के लिए प्रसिद्ध है? (साहित्य, संगीत, कला)

(2) प्रवीणता का क्या अर्थ है? (कुशलता, दक्षता)

(3) 'ता' प्रत्यय लगाकर अन्य शब्द-रचना करो। (पटुता, मानवता, सज्जनता, दयालुता)

(4) 'प्र' उपसर्ग लगे हुए अन्य शब्दों के उदाहरण दो। (प्रख्यात, प्रसिद्ध, प्रदीप्त, प्रशांत, प्रगाढ़)

(5) 'प्रख्यात' का क्या अर्थ है? (प्रसिद्ध)

(6) 'प्रख्यात' को अपने वाक्य में प्रयुक्त करो।

(7) वैमनस्य शब्द से क्या समझते हो? (शत्रुता)

(8) 'स्वाभाविक वैमनस्य' का क्या अभिप्राय है? (नेवले-साँप, चूहे-बिल्ली, मोर-सर्प में स्वाभाविक वैमनस्य होता है; वह शत्रुता जो साधारणतः बनी रहे)

(9) "लक्ष्मी और सरस्वती में स्वाभाविक वैमनस्य है" इसका क्या अभिप्राय है? (जहाँ विद्या है वहाँ धन नहीं, जहाँ धन है वहाँ विद्या नहीं)

(10) 'ठाकुर परिवार में लक्ष्मी और सरस्वती के स्वाभाविक वैमनस्य के त्याग की बात क्यों कही गई है? (विद्या और धन दोनों का एकत्र रहना)

(11) चिरकाल में कौन समास है? (अव्ययीभाव)

(12) 'अनुरंजन का क्या अर्थ है? (अनुराग, प्रेम, मनोरंजन)

(13) 'अनु' के योग से अन्य शब्दों की रचना करो। (अनुरूप, अनुसार, अनुकरण, अनुभव, अनुज)

(14) 'साहित्यिक' किस मूल शब्द से बना हुआ है? (साहित्य से)

(15) 'इक' प्रत्यय से बने अन्य शब्दों के उदाहरण दो। (सामाजिक, व्यावहारिक)

(16) 'इक' प्रत्यय लगने वाले शब्द के प्रारम्भिक स्वर में क्या अन्तर हो जाता है? (अ, आ का 'आ'; इ, ई का 'ऐ'; उ, ऊ का 'औ')

(17) 'तत्कालीन' को अपने वाक्य में प्रयोग करो।

(18) स्वच्छन्दता और स्वच्छन्द में व्याकरण की दृष्टि से क्या अन्तर है? (भाववाचक संज्ञा; विशेषण)

(19) रवीन्द्र बाबू ने किस प्रकार के वातावरण में जन्म लिया था ?
(20) महर्षि देवेन्द्रनाथ किस सम्प्रदाय के पोषक थे ?
(21) ब्रह्म समाज से क्या समझते हो ? (अध्यापकीय कथन)
(22) एकेश्वरवाद का क्या अभिप्राय है ?
(23) संस्कृति से क्या तात्पर्य है ?
(मानव समाज की आध्यात्मिक, बौद्धिक और मानसिक विकास सम्बन्धी साधनाएँ ही संस्कृति कहलाती है)
(24) 'संरक्षक' शब्द को अपने वाक्य में प्रयोग करो।
(25) 'अपनी मधुर वाणी से निनादित किया' का क्या भाव है ?
(मधुर स्वर-लहरी सारे संसार में गूँज उठी)

आदर्श पाठ—अध्यापक द्वारा।

सस्वर पाठ—छात्रों द्वारा।

द्वितीय अन्विति

"परतन्त्रता के........................अक्षय विभूति हैं।"

मौन पाठ—छात्रों द्वारा।

बोध-प्रश्न (1) रवीन्द्र बाबू के गीतों में क्या विशेषता थी ?
(2) 'बापू' ने रवीन्द्र बाबू को 'गुरुदेव' क्यों कहा ?

भाषा कार्य एवं स्पष्टीकरण (1) परतन्त्रता का विलोम बताओ। (स्वतन्त्रता)
(2) 'विषादमय' का विपरीतार्थ बताओ। (आनन्दमय)
(3) परतन्त्रता के वातावरण को विषादमय क्यों कहा गया है ?
(4) 'आत्मानन्द' किन-किन शब्दों के योग से बना हुआ है ?
(आत्मा + आनन्द)
(5) आह्लाद से क्या तात्पर्य है ? (आंतरिक उल्लास)
(6) 'अनिर्वचनीय' किन शब्दों के योग से बना है ?
(अ + निर्वचनीय)
(7) रविबाबू के गीतों में किस प्रकार की अभिव्यक्ति मिलती है ?
(8) विश्वात्मैक्य किन शब्दो से बना है ?
(विश्व + आत्म + ऐक्य)
(9) विराट-रूप में समास बताओ।
(10) विमुग्ध से तुम क्या समझते हो ?

(11) 'वि' का ऐसा प्रयोग करो जिससे अर्थ विपरीत हो जाय ? (देश-विदेश, मुख-विमुख, रूप-विरूप, योग-वियोग)

(12) कृष्ण की वंशो और रवीन्द्रनाथ के गीतों में लेखक ने किस प्रकार की समता दिखाई है ?

(13) 'शांति-निकेतन' में विश्वबन्धुत्व की भावनाओं के लिए टैगोर ने क्या उपाय किया ?

(14) 'विश्ववन्द्य' का क्या तात्पर्य है ? (संसार जिसकी वन्दना करे)

(15) विश्ववन्द्य बापू ने किसको 'गुरुदेव' कह कर विभूपित किया।

(16) अक्षय विभूति से तुम क्या समझते हो ?

(17) रवीन्द्र बाबू को विश्व की पावन एवं अक्षय विभूति क्यों कहा है ?

(18) मनुष्य आत्मविभोर कब हो जाता है ?

आदर्श पाठ—अध्यापक द्वारा।

सस्वर पाठ—छात्रों द्वारा।

पुनरावृत्ति—(1) यह प्रायः क्यों कहा जाता है कि लक्ष्मी और सरस्वती में स्वाभाविक वैमनस्य रहता है ?

(2) रवीन्द्र के विचार किस प्रकार शान्ति निकेतन में परिलक्षित होते हैं ?

(3) 'प्र' और 'वि' उपसर्ग लगे हुए चार-चार शब्दों के उदाहरण दो।

(4) कोष्ठक में से उपयुक्त शब्दों द्वारा निम्नांकित वाक्यों के रिक्त स्थानों की पूर्ति करो।

(प्रख्यात, संरक्षकता, निनादित)

(1) पण्डित जवाहरलाल नेहरू सारे संसार में अपने उच्च मानवीय आदर्शों के लिए.......... है।

(2) उसकी वीणा के मधुर स्वर से सम्पूर्ण वातावरण.......... हो उठा।

(3) विश्ववन्द्य बापू की........में ही भारतीयों ने सत्य और अहिंसा के द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त की।

श्यामपट्ट-कार्य प्रख्यात = प्रसिद्ध।

अनुरंजन = अनुराग, प्रेम, मनोरंजन।

एकेश्वरवाद = वह सम्प्रदाय जिसमें एक ईश्वर की उपासना की जाती है।

निनादित–गुंजित।

अनिर्वचनीय–अकथनीय

आत्मविभोर–अपने में मग्न।

अक्षय विभूति–अमर रत्न।

उच्चारण अभ्यास—आध्यात्मिक, पारलौकिक, विश्वात्मैक्य, आह्लाद।

गृहकार्य–पुस्तकालय से उपलब्ध टैगोर के उपन्यासो और काव्य ग्रंथों की सूची तैयार करो।

पाठ-योजना (3)

कविता

भिक्षुक

स्व० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनो मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी-पुरानी झोली का फैलाता
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,
बाएँ से वे मलते हुए पेट चलते हैं
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।
भूख से सूख ओठ जब जाते,
दाता-भाग्य-विधाता से क्या पाते ?
घूँट आँसुओं के पीकर रह जाते।
चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।

विषय—हिन्दी कविता

प्रकरण—भिक्षुक

कक्षा—7

उद्देश्य—

(1) शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारण के साथ लय, गति, यति आदि का ध्यान रखते हुए सस्वर वाचन की योग्यता।

(2) कवि की कल्पनाओं, मनोभावों एवं अनुभूतियों से परिचय।

(3) अपने देश की सामाजिक विषमताओं की मार्मिक झाँकी और मानवीय भावों का संचार।

(4) प्रस्तुत कविता द्वारा छात्रों के हृदय में दीन-दुखियों के प्रति करुणा का उद्रेक और उनकी सहायता करने की प्रेरणा।

प्रस्तावना–1. मनुष्य कब भीख माँगने के लिए लाचार हो जाता है ?

(जब भोजन का कोई सहारा नहीं रह जाता)

2. भिखारी को देखकर हमारे मन में क्या भाव उठता है ?

(दया आती है)

प्रस्तुतीकरण–भिखारी के दुखद जीवन को देखकर हमारे मन में सहज ही दया का भाव उमड़ पड़ता है। इस स्थिति का वर्णन भावुक कवियों ने अनेक प्रकार से किया है। आज हम महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की 'भिक्षुक' कविता द्वारा इसी स्थिति का अध्ययन करेंगे।

प्रथम आदर्श वाचन—शिक्षक द्वारा

केन्द्रीय भाव ग्रहण–1. इस कविता में कवि ने किस स्थिति का वर्णन किया है ?

(भिखारी की स्थिति का)

2. भिक्षुक के साथ और कौन हैं ? (दो बच्चे)

3. ये बच्चे भिक्षुक के साथ क्या कर रहे हैं ?

(भीख माँग रहे हैं)

शब्द-स्पष्टीकरण

शब्द	अर्थ	भावार्थ
टूक	टुकड़ा	
लकुटिया	लाठी	
मुट्ठी भर दाने		थोड़े से अन्न के दाने
भाग्य विधाता	भाग्य बनाने वाले	धनिक वर्ग
आँसू के घूँट पीना		विवशता से अपना दुःख सहते रहना

(शिक्षक उपर्युक्त शब्दों को कक्षा में स्पष्ट करते हुए श्यामपट्ट पर भी लिख देगा।)

द्वितीय आदर्श वाचन—शिक्षक द्वारा

अनुकरण वाचन—छात्रों द्वारा

भाव-विश्लेषण एवं
भावानुभूति के प्रश्न–1. वह आता में किसकी ओर संकेत है ?

(भिक्षुक की ओर)

2. भिक्षुक को इस प्रकार आता देख कर कवि पर क्या प्रभाव पड़ता है ? (दया से भर जाता है।)

3. 'कलेजे के दो टूक' कथन से कवि किस बात की ओर संकेत कर रहा है ? (हृदय की बेचैनी)

4. उसके पेट और पीठ की क्या स्थिति है ?

(दोनों मिल गए हैं।)

5. किसी व्यक्ति के पेट और पीठ कब मिल जाते हैं ?
(जब वह भूखा रहने से बहुत दुर्बल हो जाता है।)
6. भिक्षुक के हाथ में क्या है ? (लाठी)
7. वह लाठी के सहारे से क्यों चल रहा है ?
(कमजोरी के कारण)
8. वह अपनी फटी-पुरानी झोली को क्यों फैलाता है ?
(एक मुट्ठी दाने के लिए)
9. मुट्ठी भर दाना वह क्यों चाहता है ?
(अपनी भूख मिटाने के लिए)
10. भिक्षुक के साथ और कौन-कौन हैं ? (दो बच्चे)
11. बच्चे क्या कर रहे हैं ? (हाथ फैलाए हुए हैं)
12. वे सदा हाथ क्यों फैलाए रहते हैं ? (भिक्षा पाने के लिए)
13. वे पेट मलते हुए क्यों चलते हैं ? (भूखे हैं)
14. दया-दृष्टि पाने का क्या भाव है ? (सहानुभूति पाना)
15. भूख से ओठ कैसे हो जाते हैं ? (सूख जाते है)
16. उन्हें दाता लोगों से क्या मिलता है ?
(कुछ नहीं)

(क्या पाते ? से कवि का भाव है कि बच्चे कुछ भी नहीं पाते, और यदि कुछ पाते भी है तो वह नही के बराबर है।)

17. 'भाग्य विधाता' किन लोगों को कहा गया है ?
(समाज के धनी वर्ग के लोगों को)
18. उनसे कुछ न पाकर बच्चे क्या करते हैं ?
(आँसू के घूँट पीकर रह जाते हैं।)
19. आँसू के घूँट पीने का क्या भाव है ?
(विवशता से दुःख सहते रहना)

(शिक्षक द्वारा समान भाव की कविता सुनाना —

श्वानों को मिलता दूध, वस्त्र
भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की गोदी से चिपक, ठिठुर
जाड़े की रात विताते हैं।)

20. खाने को कुछ न मिलने पर बच्चे क्या कर रहे हैं ?
(झूठे पत्तल चाट रहे है)
21. उनके समीप और क्या है ? (कुत्ते)
22. कुत्ते वहाँ क्यों खड़े हैं ? (पत्तलों के लिए)

23. जूठी पत्तलों के लिए बच्चों को किन के साथ लड़ाई करनी पड़ रही है ? (कुत्तों के साथ)

24. इन जूठे पत्तलो को समाज का कौन सा वर्ग फेंकता है ? (धनी वर्ग)

25. कवि ने इस कविता में समाज के किन दो वर्गों की ओर संकेत किया है ? (धनी और गरीब)

26. इन दोनों वर्गों के जीवन में कैसी विषमता है ? (एक अन्नदाता बना हुआ है और दूसरा भिखारी)

तृतीय आदर्श पाठ—शिक्षक द्वारा

अनुकरण पाठ—कुछ छात्रों द्वारा

भावानुभूति सम्बन्धी

प्रश्न —

1. भिक्षुक की दयनीय दशा को देखकर तुम पर क्या प्रभाव पड़ता है ?
2. ऐसे दीन लोगों के दुःख दूर करने के लिए तुम क्या करोगे ?
3. धनिकों को दाता और भाग्य विधाता क्यों कहा गया है ?
4. इस कविता द्वारा कवि क्या संदेश देना चाहता है ?

गृहकार्य–इस कविता को पढ़कर तुम्हारे मन में जो भाव उठते हों उन्हें लिखकर ले आओ।

पाठ-योजना (4)

कविता

भारत

सुना है दधीचि का वह त्याग, हमारी जातीयता विकास।
पुरन्दर ने पवि से लिखा, अस्थि-युग का मेरा इतिहास॥
सिन्धु-सा विस्तृत और अथाह, एक निर्वासित का उत्साह।
दे रही अभी दिखाई भग्न, मग्न रत्नाकर में वह राह॥
विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म की रही धरा पर धूम।
भिक्षु होकर रहते सम्राट्, दया दिखलाते घर-घर घूम॥
हमारे संचय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव।
वचन में सत्य, हृदय मे तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव॥
वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान।
वही है शान्ति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य सन्तान॥
जियें तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे, यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष॥

विषय–हिन्दी कविता

प्रकरण–भारत

कक्षा–10

उद्देश्य–(1) श्री जयशंकर प्रसाद की प्रस्तुत कविता 'भारत' द्वारा भारत के उज्ज्वल अतीत का बोध कराते हुए छात्रों के हृदय में स्वस्थ राष्ट्रप्रेम की भावना का उद्रेक एवं अनुभूति कराना।

(2) दधीचि, राम, अशोक, हर्ष आदि महापुरुषों की अंत:कथाओं का बोध कराना।

(3) निम्नांकित मर्मस्पर्शी स्थलों की भावानुभूति :—

(i) पुरंदर ने पवि से है लिखा

(ii) सिंधु-सा विस्तृत और अथाह, एक निर्वासित का उत्साह।

(iii) विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म की रही धरा पर धूम।

(iv) हमारे संचय में था दान।

पूर्वज्ञान—छात्रों ने भारत के गौरवपूर्ण अतीत के सम्बन्ध में अनेक कहानियाँ एवं कविताएँ पढ़ी है और इतिहास के माध्यम से भी उनका सामान्य ज्ञान है।

प्रस्तावना–1. प्राचीन भारत के गौरव के सम्बन्ध में कोई कविता सुनाओ।
(छात्रों के न सुनाने पर शिक्षक स्वयं सुनाएगा)
(प्राचीन काल में भारत सभ्यता और संस्कृति के उच्च शिखर पर था। उस काल के अनेक महापुरुषों ने अपने त्याग, तपस्या, दानशीलता और सत्यप्रेम का परिचय देकर उच्च मानवीय आदर्शों की प्रतिष्ठा की थी। ऐसे भारत पर हमें सदा गर्व रहेगा।)

प्रस्तुतीकरण–आज हम लोग जयशंकर प्रसाद की 'भारत' कविता द्वारा भारत के उसी उज्ज्वल अतीत की झलक देखने का प्रयास करेंगे।

आदर्श पाठ–शिक्षक द्वारा कविता का प्रभावपूर्ण वाचन।

केन्द्रीय भाव ग्रहण–(1) कवि ने प्राचीन भारत की महिमा किस रूप में दिखाई है?
(2) भारतवर्ष के प्रति हमारा क्या कर्त्तव्य है?

द्वितीय आदर्श पाठ-शिक्षक द्वारा

भाव ग्रहण, व्याख्या एवं रसानुभूति के प्रश्न–1. दधीचि ने कौनसा त्याग किया था?
(शिक्षक दधीचि के त्याग की कथा बताएगा)

2. 'हमारी जातीयता विकास' का क्या आशय है?
(त्याग और तपस्या द्वारा हमारे जातीय गुणों का विकास)

"देश-प्रेम वह पुण्य क्षेत्र है,
अमल असीम त्याग से विलसित।
आत्मा के विकास से जिसमें,
मनुष्यता होती है विकसित॥"

शिक्षक इस कविता द्वारा मानवीय गुणों के विकास की ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित कर सकता है।

3. 'पुरन्दर' किसके लिए प्रयुक्त हुआ है? (इन्द्र)
4. इन्द्र को पुरन्दर क्यों कहा जाता है?
(पुर नाम के राक्षस का वध किया था)
5. 'पवि' का क्या अर्थ है? (वज्र)
6. 'अस्थि-युग' से क्या तात्पर्य है?
(वह युग जिसमें अस्थियों के शस्त्रास्त्रों का प्रयोग होता था।)
7. 'पुरन्दर ने पवि से है लिखा' में कौन सा भाव निहित है?
(साधारण लेखनी से लिखित इतिहास काल के प्रहार से नष्ट हो जाता है, पर त्याग रूप वज्र से लिखित इतिहास अजर-अमर रहता है।)

8. 'पुरन्दर ने पवि से है लिखा' में कौन सा अलंकार है ? (अनुप्रास)
9. 'निर्वासित' का क्या अर्थ है ? (निकाला हुआ)
10. 'निर्वासित' किस के लिए प्रयुक्त हुआ है ? (राम)
(छात्रों से राम के वनवास की कथा कहलवाना अथवा आवश्यकता पड़ने पर स्वयं बताना)
11. रत्नाकर किसे कहते हैं ? (समुद्र)
12. समुद्र को रत्नाकर क्यों कहते हैं ? (शिक्षक द्वारा स्पष्टीकरण)
13. 'राम के उत्साह' को कवि ने किस के समान बताया है ? (समुद्र के समान अथाह और विस्तृत)
14. राम का उत्साह समुद्र के विस्तार और गहराई से भी अधिक क्यों कहा गया है ?
15. 'एक निर्वासित' शब्द के प्रयोग से भावाभिव्यक्ति में क्या सौन्दर्य आ गया है ?
16. 'सिन्धु-सा विस्तृत' में कौन सा अलंकार है ?
(उपमा, 'उत्साह' उपमेय, 'सिन्धु' उपमान, 'से' वाचक, 'विस्तृत' धर्म)
17. 'लोहा' किसके लिए प्रयुक्त हुआ है ? (अस्त्र, तलवार)
18. हमारे देश में तलवार की विजय को विजय क्यों नहीं कहा जाता था ?
(शारीरिक शक्ति की विजय की अपेक्षा धार्मिक और प्रेम की विजय को अधिक महत्त्व)
19. सच्ची विजय क्या मानी जाती थी ? (धर्म की विजय)
20. 'विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म की रही धरा पर धूम' पंक्ति किस घटना की ओर संकेत करती है ? (कलिंग-विजय)
21. 'भिक्षु होकर रहते सम्राट' से हमें किस सम्राट का स्मरण होता है ? (अशोक)
22. 'दया दिखलाते घर-घर घूम', इस पंक्ति से महान अशोक के किस कार्य की ओर संकेत होता है ? (बौद्ध धर्म प्रचार)
23. 'धर्म की रही धरा पर धूम' में कौन सा अनुप्रास है ? (वृत्य अनुप्रास)

24. 'हमारे संचय में था दान' से क्या आशय है ?
(दान की कामना से ही धन-संचय करते थे ।)
25. यह पंक्ति हमें किस सम्राट का स्मरण कराती है ?
(सम्राट हर्ष)
(संगम स्नान एवं सर्वस्व दान की कथा का उल्लेख)
26. अतिथियों के प्रति हमारे हृदय में क्या भाव था ?
27. 'अतिथि थे सदा हमारे देव' इसमें किस अतिथि-विशेष की ओर संकेत है ? (ह्वेनसांग । 'अतिथिदेवो भव' की प्राचीन उक्ति का भी उल्लेख)
28. 'प्रतिज्ञा में रहती थी टेव' से क्या आशय है ?
(हम हमारी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहते थे–हरिश्चन्द्र, भीष्म, दशरथ आदि के उदाहरण)
29. कवि आज के भारतवासियों को क्या कहकर उत्साहित कर रहा है ?
30. इस कविता द्वारा वह हमें क्या संदेश दे रहा है ?

तृतीय आदर्श पाठ–शिक्षक द्वारा
सस्वर पाठ–कतिपय छात्रों द्वारा
श्यामपट्ट लेख–पुरन्दर–इन्द्र, पवि–वज्र, रत्नाकर–समुद्र,
निर्वासित–राम के लिए
भिक्षु होकर रहते सम्राट–अशोक के लिए
संचय में था दान–हर्ष के प्रति
गृहकार्य–इस कविता को कण्ठस्थ करो और इससे तुम्हें जो प्रेरणा मिलती है उसे लिखो ।

पाठ-योजना (5)

विषय—निबन्ध-रचना

प्रकरण—ग्राम्य-जीवन

कक्षा—8

उद्देश्य—1. छात्र ग्राम्य-जीवन की परिस्थितियों—आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, स्वास्थ्य, सफाई आदि समस्याओं से परिचित हो सकें और इनके सम्बन्ध में सरल एवं शुद्ध भाषा में अपने विचार व्यक्त कर सकें।

2. आज के ग्राम्य-जीवन की समस्याओं के समाधान के सम्बन्ध में भी सोच सकें और अपनी प्रतिक्रियाएँ प्रकट कर सकें।

पूर्वज्ञान—छात्र ग्राम्य जीवन से साधारणतः परिचित हैं।

प्रस्तावना—1. हमारे देश का मुख्य पेशा क्या है ? (कृषि)

2. कृषि करने वालों को क्या कहते हैं ? (कृषक)

3. कृषक कहाँ रहते हैं ? (ग्रामों में)

4. गाँवों में लोग किस प्रकार जीवन व्यतीत करते हैं ?

प्रस्तुतीकरण—हमारे देश की अस्सी प्रतिशत जनता गाँवों में निवास करती है। वहाँ का जीवन नगरों के जीवन से बिल्कुल भिन्न है। वहाँ नगर की अनेक सुख-सुविधाएँ—पानी, बिजली, यातायात के साधन आदि नहीं हैं। आज हम लोग ग्राम्य-जीवन पर विचार करेंगे और उस पर एक निबन्ध लिखेंगे।

विषय-विस्तार एवं

विचार प्रकाशन—निम्नांकित प्रश्नों द्वारा छात्रों से निबन्ध सम्बन्धी भाव एवं विचार सामग्री प्रकाशित कराई जायेगी और साथ-साथ उसके संकेत-बिन्दु भी श्यामपट्ट पर लिखे जायेंगे।

(1) भारत की अधिकतर जनता कहाँ रहती है ? (ग्रामों में)

(शिक्षक कथन–गांधी जी कहा करते थे कि सच्चा भारत तो गाँवों में निवास करता है। यह ठीक भी है क्योंकि अधिकतर जनता गाँवों में ही रहती है और यदि भारत की सच्ची तस्वीर कहीं देखने को मिलती है तो इन्हीं गाँवों में।)

(2) गाँव के लोगों को खेतों पर कैसा जीवन व्यतीत करना पड़ता है ? (बहुत कठिन और श्रमपूर्ण)

यहाँ शिक्षक इस सम्बन्ध में एक कवि की उक्ति प्रस्तुत कर सकता है—

"बरसा रहा है रवि अनल भूतल तवा-सा जल रहा,
है चल रहा सन-सन पवन तन से पसीना ढल रहा।
देखो कृषक शोणित सुखा कर हल तथापि चला रहे,
किस लोभ से इस आँच में वे निज शरीर जला रहे।"

(3) इस पद्य मे कवि ने किसका वर्णन किया है ?

(गामीण किसानों का)

(4) गाँव के रहने वाले किस प्रकार अपना जीवन निर्वाह करते है ?

(खेती करके)

(5) हमारे देश में कृषि की क्या स्थिति है ? (दयनीय)

(6) दूसरे देश की अपेक्षा हमारे देश की पैदावार में क्या अन्तर है ?

(हमारे देश की पैदावार निम्न स्तर की है)

(7) पैदावार बढ़ाने के लिए सरकार क्या प्रयत्न कर रही है ?

(वैज्ञानिक यंत्र, खाद, बीज, सिचाई आदि की व्यवस्था)

(8) हमारे देश में खेती करने का कौनसा प्राचीन ढंग है ?

(हल और बैलो द्वारा)

(9) कृषक कौन-कौन पशु रखता है ? (गाय, बैल, भैंस आदि)

(10) इन पशुओं का आर्थिक महत्त्व क्या है ?

(गाय-भैंस से दूध मिलता है, बैल हल खींचता है, गोबर से खाद और ईंधन दोनों प्राप्त होता है।)

(11) हमारे देश में पशुओं की क्या दशा है ? (गिरी हुई है)

(12) उसकी दशा में सुधार के लिए क्या प्रयत्न किए जा सकते है ?

(चारे का उत्पादन, नस्ल-सुधार और चिकित्सा की व्यवस्था)

(13) किसान को खेती में कितने माह तक कार्य करना पड़ता है ?

(6 माह तक)

(14) बाकी समय इनका क्या कार्य रहता है ?

(छोटे-छोटे उद्योग-धन्धे करना)

(15) ग्रामो में कौन-कौन से छोटे उद्योग-धन्धे पाये जाते है ?

(तेल पेरना, सूत कातना, चटाई बुनना आदि)

(16) अन्य देशों में.उद्योग-धन्धों की क्या स्थिति है ?

(बहुत उन्नत अवस्था मे)

(17) ग्रामों में शिक्षा की क्या व्यवस्था है ?

(प्राथमिक और जूनियर हाई स्कूल)

(18) सरकार ग्रामों में शिक्षा के लिए क्या प्रयत्न कर रही है ?
(स्कूल और पुस्तकालय का निर्माण)

(19) ग्रामों में स्वास्थ्य और सफाई का क्या प्रबन्ध है ?
(नहीं के बराबर)

(20) अस्वच्छता से स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है ?
(स्वास्थ्य गिर जाता है)

(21) इससे कौन-कौन सी बीमारियाँ फैलती हैं ?
(हैजा, मलेरिया, चेचक आदि)

(22) इसके लिए ग्रामों में क्या प्रबन्ध किया जा सकता है ?
(व्यायामशाला, चिकित्सालय आदि)

(23) शहरों में खाने के लिए अनाज कहाँ से आता है ? (ग्रामों से)

(24) गाँवों में सामान लाने के क्या साधन हैं ?
(बैलगाड़ी, घोड़े आदि से)

(25) गाँवों में यातायात की क्या स्थिति है ? (कच्ची सड़क)

(26) सरकार यातायात के विकास के लिए क्या प्रबन्ध कर रही है ?
(जगह-जगह पक्की सड़क)

(27) ग्रामवासी एक दूसरे के प्रति कैसा व्यवहार रखते हैं ?
(सहयोग एवं सहानुभूति पूर्ण)

(28) ग्रामवासियों के आपसी झगड़े का निपटारा कौन करता है ?
(ग्राम पंचायत)

(29) ग्रामवासियों को इससे क्या लाभ हुआ ? (खर्चे की बचत हुई)

(30) किसान अपने अवकाश के समय क्या मनोरंजन करते हैं ?
(गीत गाना, मेला, नाटक आदि)

(31) इन कार्यों को हम क्या कहते हैं ?
(मनोरंजक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम)

(32) इस कार्य को हम क्यों महत्त्व देते हैं ?
(अवकाश के सदुपयोग की शिक्षा)

(33) ग्रामों की अपेक्षा शहरों में इसकी प्रगति कैसी है ?
(शहरों में काफी विकास हुआ है)

श्यामपट्ट कार्य—(1) भारत ग्रामों का देश

(2) खेती

(अ) सिचाई
(ब) खाद
(स) बीज
(द) वैज्ञानिक यंत्र

(3) पशुपालन
  (अ) गाय, बैल, भैंस,
  (ब) पशु की उन्नति
    (1) चारे का उत्पादन
    (2) नस्ल-सुधार
    (3) चिकित्सा का प्रबन्ध
(4) उद्योग धन्धे
(5) शिक्षा
  (अ) स्कूल की स्थापना
  (ब) पुस्तकालय एवं वाचनालय
(6) स्वास्थ्य एवं सफाई
  (अ) पौष्टिक भोजन
  (ब) व्यायाम
  (स) अस्पताल
(7) यातायात
(8) ग्राम पंचायत
(9) मनोरंजन के साधन

निरीक्षण कार्य—अध्यापक छात्रों को निबन्ध लिखने का आदेश देगा, छात्र लिखना प्रारम्भ कर देंगे और अध्यापक निरीक्षण कार्य करेगा। निबन्ध लिख लेने पर कापियाँ एकत्र कर ली जाएँगी और उचित संशोधन किया जायेगा।

पाठ-योजना (6)

व्याकरण

प्रकरण—'इक' प्रत्यय के योग से शब्द-रचना

कक्षा—9

उद्देश्य—1. छात्र हिन्दी शब्द-रचना में प्रत्यय के महत्त्व को समझ सकें।

2. छात्र विभिन्न स्वरों से प्रारम्भ होने वाले शब्दों में 'इक' प्रत्यय के योग से शब्द-रचना सम्बन्धी परिवर्तनों का ज्ञान प्राप्त कर सकें।

पूर्व ज्ञान—छात्रो को कुछ प्रत्ययों का ज्ञान है परन्तु 'इक' प्रत्यय के योग से शब्द-रचना का सम्यक् ज्ञान नही है।

प्रस्तावना—लपेट पट पर निम्नांकित उदाहरण प्रस्तुत किए जाएँगे और उन पर छात्रो से प्रश्न पूछे जाएँगे—

उदाहरण—1. हमारे **समाज** में अनेक अन्धविश्वास प्रचलित है।

2. **सामाजिक** विकास के लिए उन अन्धविश्वासों को दूर करना आवश्यक है।

3. अहिंसा परम **धर्म** है।

4. अशोक का **धार्मिक** प्रचार-कार्य प्रशंसनीय है।

5. प्रत्येक भाषा का अपना विशिष्ट **साहित्य** होता है।

6. प्रत्येक भाषा की **साहित्यिक** गतिविधि भिन्न होती है।

तुलना एवं प्रश्न—1. (क) 'समाज' किस शब्दांश के योग से 'सामाजिक' बन गया है? (इक से)

(ख) 'इक' लगाने से समाज के प्रथम वर्ण 'स' में आप क्या परिवर्तन देखते है? ('स' का 'सा' अर्थात् 'अ' का 'आ')

2. (क) 'धर्म' किस शब्दांश के योग से 'धार्मिक' बन गया है? ('इक' के योग से)

(ख) 'इक' लगाने से धर्म के प्रथम वर्ण 'ध' में आप क्या परिवर्तन देखते है? ('ध' का 'धा' अर्थात् 'अ' का 'आ')

3. (क) 'साहित्य' किस शब्दांश के योग से 'साहित्यिक' बन गया है? ('इक' के योग से)

(ख) 'इक' लगने से साहित्य के प्रथम वर्ण 'सा' में आप क्या परिवर्तन देखते हैं? (कोई परिवर्तन नहीं, 'सा' का 'सा' अर्थात् 'आ' का 'आ')

नियम-निर्धारण—ऐसे शब्दांशों या ध्वनि समूहों को, जो शब्द अन्त में लगकर शब्द-रचना में सहायक होते हैं और मूल शब्द के रूप और अर्थ में परिवर्तन ला देते है, प्रत्यय कहते है।

आज हम लोग 'इक' प्रत्यय का प्रयोग विस्तार से पढ़ेंगे।

प्रस्तुतीकरण—अभी हम लोगों ने 'इक' प्रत्यय के योग से कुछ शब्दों की रचनाएँ देखी हैं। अब हम विभिन्न स्वरों से प्रारम्भ होने वाले शब्दों के साथ 'इक' प्रत्यय का योग देखेंगे।

प्रथम अन्विति

'अ' और 'आ' से प्रारम्भ होने वाले शब्दों में 'इक' का योग

उदाहरण—(लपेट-पट पर लिखित)

1. (क) **समय** बड़ा बलवान है।
   (ख) आज हमारे सामने अनेक **सामयिक** समस्याएँ हैं।
2. (क) आपत्तियों का सामना **साहस** के साथ करना चाहिए।
   (ख) बालकों को **साहसिक** कहानियाँ बहुत अच्छी लगती है।
3. (क) बालकों से अच्छे **व्यवहार** की आदत डालनी चाहिए।
   (ख) **व्यावहारिक** कुशलता ही जीवन की सफलता का आधार है।

तुलना एवं विश्लेषण—

1. (क) 'सामयिक' शब्द का मूल शब्द क्या है? (समय)
   (ख) 'समय' शब्द किस प्रत्यय के योग से 'सामयिक' बन गया है? ('इक' के योग से)
   (ग) 'समय' शब्द में 'इक' प्रत्यय से 'स' का आप क्या रूप देख रहे है? ('स' का 'सा' अर्थात् 'अ' का 'आ')
2. (क) 'साहसिक' शब्द का मूल शब्द क्या है? (साहस)
   (ख) 'साहस' शब्द किस प्रत्यय के योग से 'साहसिक' बन गया है? (इक)
   (ग) 'इक' लगने से साहस के प्रथम वर्ण 'सा' का आप क्या रूप देख रहे हैं? (सा का सा अर्थात् आ का आ)
3. (क) 'व्यावहारिक' शब्द का मूल शब्द क्या है? (साहस)
   (ख) 'व्यवहार' शब्द में किस प्रत्यय के योग से 'व्यावहारिक' बन गया है? (इक)
   (ग) 'इक' लगने से व्यवहार के प्रथम संयुक्त वर्ण 'व्य' में क्या परिवर्तन हो गया है? ('व्य' का 'व्या' अर्थात् अ का आ)

2. निम्नांकित शब्दों के 'इक' हित रूप लिखिए—
पारिवारिक, पौराणिक, मध्यकालिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक, औपचारिक।

श्यामपट्ट कार्य–

'इक' प्रत्यय के योग से शब्द का प्रथम वर्ण यदि

अ या आ है तो आ	इ, ई, ए है तो ऐ	उ, ऊ, ए है तो औ
अर्थ + इक = आर्थिक	विज्ञान + इक = वैज्ञानिक	पुराण + इक = पौराणिक
मास + इक = मासिक	जीव + इक = जैविक	मूल + इक = मौलिक
व्यवहार + इक = व्यावहारिक	देह + इक = दैहिक	योग + इक = यौगिक

गृहकार्य–इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ से प्रारम्भ होने वाले दो-दो शब्दों में 'इक' प्रत्यय लगाकर शब्द-रचना कीजिए।

परिशिष्ट–2

संदर्भ पुस्तकों की सूची

1. भाषा-विज्ञान : डा० भोलानाथ तिवारी
2. सामान्य भाषा विज्ञान : डा० बाबूराम सक्सेना
3. भाषा शास्त्र की रूपरेखा : डा० उदयनारायण तिवारी
4. भाषा विज्ञान की भूमिका : प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा
5. भाषा और भाषिकी : श्री देवीशंकर द्विवेदी
6. भारतीय भाषा विज्ञान : श्री किशोरीदास वाजपेयी
7. भाषा शास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोश : श्री राजेन्द्र द्विवेदी
8. भाषा-विज्ञान कोश : डा० भोलानाथ तिवारी
9. तुलनात्मक भाषा विज्ञान : डा० पी० डी० गुणे
10. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी : डा० सुनीति कुमार चटर्जी
11. नागरी अंक और अक्षर : डा० गौरीशकर हीराचन्द ओझा
12. हिन्दी भाषा का इतिहास : डा० धीरेन्द्र वर्मा
13. हिन्दी भाषा और लिपि : ,, ,, ,,
14. हिन्दी भाषा : डा० भोलानाथ तिवारी
15. देवनागरी लिपि, स्वरूप, विकास और समस्याएँ : श्री भगवानदास तिवारी
16. भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन : डा० ब्रजेश्वर शर्मा (संपादक)
17. भाषा तत्व और वाक्य प्रदीप : डा० सत्यप्रकाश वर्मा
18. वृहत् पर्यायवाची कोश : डा० भोलानाथ तिवारी
19. हिन्दी मुहावरा कोश : ,, ,, ,,
20. हिन्दी व्याकरण : कामता प्रसाद गुरु
21. हिन्दी शब्दानुशासन : किशोरीदास वाजपेयी
22. राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण : किशोरीदास वाजपेयी
23. शब्दार्थ ज्ञान कोश : रामचन्द्र वर्मा
24. शब्द साधना : ,, ,,
25. शब्द दर्शन : ,, ,,

26. हिन्दी शब्द मीमांसा : किशोरीदास वाजपेयी
27. शब्दों का अध्ययन : डा० भोलानाथ तिवारी
28. हिन्दी क्रियाओं का अर्थपरक अध्ययन : डा० के. जी. रस्तोगी
29. हिन्दी में प्रत्यय विचार : डा० मुरारीलाल उप्रेती
30. हिन्दी में समास रचना : श्री रमेशचन्द्र
31. अच्छी हिन्दी प्र० एवं द्वि० खण्ड : श्री विश्वनाथ टंडन
32. अच्छी हिन्दी : श्री रामचन्द्र वर्मा
33. हिन्दी प्रयोग : ,, ,, ,,
34. अच्छी हिन्दी कैसे लिखें : डा० भगीरथ मिश्र
35. राष्ट्र भाषा का शुद्ध रूप : डा० निगमानन्द परमहंस
36. राष्ट्रभाषा की समस्या : डा० रामविलास शर्मा
37. राष्ट्रभाषा हिन्दी : समस्याएँ और समाधान : प्रो. देवेन्द्र नाथ शर्मा
38. शिक्षा और भाषा : डा० रामशकल पांडेय
39. भाषा शिक्षण तथा भाषा विज्ञान : केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा
40. भाषा की शिक्षा : आचार्य सीताराम चतुर्वेदी
41. हिन्दी शिक्षण विधि : रघुनाथ सफाया
42. भाषा शिक्षण की नवीन विधियाँ : डा० लक्ष्मीलाल के. ओड़
43. हिन्दी भाषा शिक्षण : भाई योगेन्द्र जीत
44. हिन्दी शिक्षण : रमन विहारी लाल
45. हिन्दी शिक्षण कला : रामखेलावन चौधरी
46. राष्ट्रभाषा की शिक्षा : श्रीधर नाथ मुखर्जी
47. हिन्दी शिक्षण : सावित्री सिंह
48. मातृभाषा शिक्षण : डब्ल्यू. एम. रायबर्न
49. मातृभाषा का अध्यापन : भूदेव शास्त्री
50. मातृभाषा शिक्षण : के० क्षत्रिया
51. मातृभाषा शिक्षण : आर० एस० श्रीवास्तव
52. अन्य भाषा शिक्षण : महावीर सरन जैन
53. नया शिक्षक (भाषा शिक्षण, वर्ष 9, अंक 2, 3, 1966, 67), शिक्षा विभाग राजस्थान, बीकानेर
54. मातृभाषा शिक्षण में इकाई योजना (संदर्शिका) : राजस्थान राज्य शिक्षा संस्थान, उदयपुर

55. Language, Its Nature, Development and Origin : O. Jespersen
56. Linguistics—The Study of Language : Ch. e. Fries
57. Language : Bioomfield Leonard
58. Outline of Linguistic Analysis : Bernard Block & George L.Trager
59. Linguistics of India : Ram Gopal
60. The Science of Language : Max Muller
61. The Study of Language : J. B. earroll
62. Language and Education : F. D. Flower
63. The Improvement of Voice and Diction : J. Kisenson
64. Language and Scripts of Ancient India : Bhattacharyya, Harendra Kumar
65. Introduction to Descriptive Linguistics : Gleason, H. A.
66. Practical Speech Training for Schools : Bennett Rodney
67. Reading, Writing and Speech Problems in Children : Orton Samuel Torrey
68. Thought and Language : Ballard P. B.
69. The Scientific Study and Teaching of Languages : Palmer, H. E.
70. The Principles of Language : ,, ,, ,,
71. Oral Method of Teaching Language : ,, ,, ,,
72. Teaching of Poetry : Hadow
73. Modern Language Learning : Findlay
74. Literature Teaching iu Schools : John Eades
75. Suggestions for the Teaching of Mothertongue : Ryburn
76. The Teaching of Modern Language : UNESCO, Problems in Education series.
77. Language Through Literature : Masengill, Jeanne Addison
78. Language in Thought and Action : Hayakawa, I. A.

79. Theory and Practice of Language Teaching : Kiltson, E. C.

80. Language Teaching–A Scientific Approach : Lado Robert

81. How to Increase Reading Ability : Harris Albert

82. The Teaching of Reading : Menzel, E. W.

83. Teaching Reading–A Challenge : NCERT Publication

84. Concept of Evaluation in Education : „ „

85. Preparation and Evaluation of Text book in Mothertongue : „ „